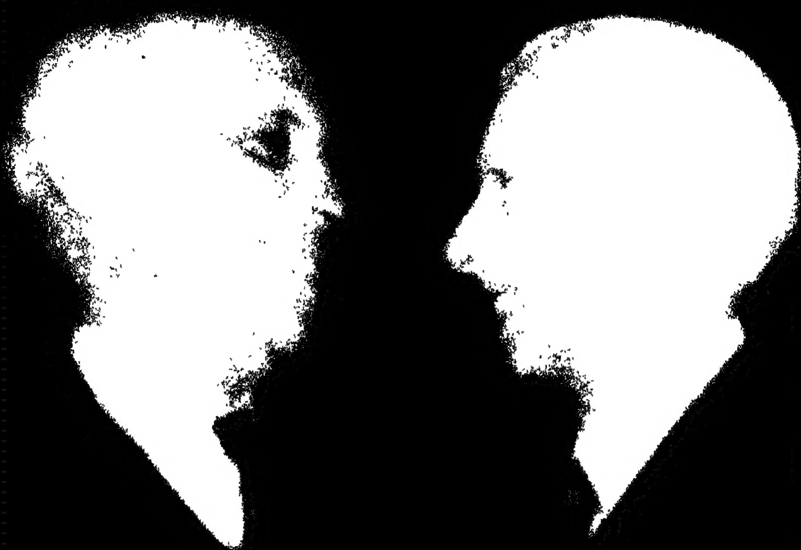
सुचेता महाजन



स्वाधीनता और विभाजन

भारत में औपनिवेशिक सत्ता का पतन

स्वाधीनता और विभाजन

स्वाधीनता और विभाजन

भारत में औपनिवेशिक सत्ता का पतन

सुचेता महाजन

अनुवादक
रामकिशन गुप्त



ग्रंथ शिल्पी

ISBN : 81-7917-008-X

श्यामबिहारी राय द्वारा ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7,
सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110 092
से प्रकाशित तथा निधि लेज़र प्वाइंट, दिल्ली 110032 से टाइप सेट
होकर नाइस प्रिंटिंग प्रेस, दिल्ली 110 051 में मुद्रित

माई जी के लिए

हममें से कितने लोग यह समझते हैं कि इन महीनों में महात्मा गांधी की मौजूदगी भारत के लिए क्या मायने रखती है। पिछले पचास से अधिक सालों में भारत और भारत की स्वतंत्रता के लिए उन्होंने जो शानदार सेवा की है, उसे हम सब जानते हैं। लेकिन पिछले चार महीनों में उन्होंने जो कार्य किया है, उससे बड़ी कोई सेवा नहीं हो सकती। विघटित होते हुए विश्व में वे संकल्प की चट्टान और सत्य का प्रकाश स्तंभ बने रहे। उनका दृढ़ मद्धिम स्वर भीड़ के कोलाहल से ऊपर उठकर सही कर्म का मार्ग दिखाता रहा।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह
में दिया गया जवाहरलाल नेहरू का भाषण
13 दिसंबर 1947

इस मायावी दृश्य सदृश ही गायब होंगी
मेघ चुंबित ऊंची-ऊंची मीनारें,
आलीशान महल, पूजा के पावन मंदिर
बल्कि समूची सृष्टि, कि जिस पर फैली है,
वैभव की बह लीला; सब कुछ मिट जाएगा ऐसे,
जैसा हमने देखा अभी दृश्य, यह मिटते;
एक चिह्न भी हाय देखने को न मिलेगा,
और स्वयं हम भी क्या हैं,
बस मिथ्या स्वप्नों की छायाएं
और हमारा यह लघु जीवन,
बंदी है उस चिर निद्रा का।

'दि टेम्पेस्ट' ऐक्ट IV, दृश्य I
शेक्सपीयर

विषयानुक्रम

आभार

इस पुस्तक को तैयार करने के दौरान मुझ पर अनगिनत ऋण चढ़े। सौभाग्य से मैं जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय (नई दिल्ली) के इतिहास अध्ययन केंद्र (सीएचएस) की विद्यार्थी रही हूं जिसने अध्यापकों और विद्यार्थियों के रूप में समकालीन भारत को कतिपय सर्वोत्कृष्ट मनीषी दिए हैं। यहां का संकाय भारतीय इतिहास की विभूतियों की सूची लगती है। कुछेक नाम लिए जा सकते हैं: जैसे सर्वपल्ली गोपाल, बिपन चंद्र, रोमिला थापर, सतीश चंद्र। इस केंद्र ने भारत में इतिहास लेखन की आत्मविश्वासी, स्वतंत्र रूप में और आत्मसजगता के साथ उपनिवेशवाद-विरोधी परंपरा का नेतृत्व किया। इमसे इतिहास लेखन के इस क्षेत्र पर ऑक्सब्रिज के विद्वानों (आक्सफोर्ड-कैंब्रिज) का वर्चस्व समाप्त हुआ। सी एच एस के विद्यार्थी समाज विज्ञान स्कूल की पांचवीं मंजिल से निचली मंजिलों पर स्थित अपेक्षाकृत कम प्रतिष्ठित विषयों, मसलन राजनीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र के विद्यार्थियों की ओर बड़े गर्व से देखते थे।

प्रो. एस. गोपाल ने इस काम को पूरा कराने में अत्यंत संयम और दृढ़ता का परिचय दिया। मैंने जो कुछ भी उनको दिया, उसे उन्होंने पढ़ा। इसमें मुश्किल से पढ़ने लायक धुंधले डाटमैट्रिक्स कंप्यूटर से निकले पन्ने भी हुआ करते थे जिन्हें मैं अकसर आधी रात के बाद इंडिया इंटरनेशनल सेंटर की प्रसन्न रहने वाली रिसेप्शनिस्ट के पास इस हिदायत के साथ छोड़ आती थी कि अगली सुबह छह बजे मद्रास की फ्लाइट पकड़ने के लिए जब प्रो. गोपाल सेंटर को छोड़ें तो ये उन्हें दे दिए जाएं। उन्होंने बीच-बीच में लंबे समय तक गायब हो जाने वाले और मेहनत के साथ लिखने के बजाए हमेशा बहस के लिए लालायित रहने वाले मेरे जैसे विद्यार्थी के सभी प्रकार के व्यवहार को अनुशासित किया। अलंकृत भाषा में लिपटे अधपके विचारों को वे तुरंत खारिज़ कर देते थे। इसमें कोई शक नहीं कि प्रोफेसर गोपाल जैसे निर्देशक मिलना किस्मत की बात थी।

बौद्धिक शंका और व्यक्तिगत निराशा के क्षणों में प्रोफेसर बिपन चंद्र संकल्प की चट्टान बन जाते हैं। गत दो दशकों में मेरे विचारों को रूप देने में उनका सबसे गहरा प्रभाव रहा है। उनके एक पाठ्यक्रम ने मेरी दिलचस्पी की दिशा ही बदल दी। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी के रूप में मैं आर्थिक इतिहास पढ़ने ज़े.एन.यू. गई थी, लेकिन मैंने चुन लिया बीसवीं सदी के मध्य के राजनीतिक इतिहास को और उसमें भी सबसे अधिक विवादास्पद अंश अर्थात उपनिवेशवाद, राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता के अंतिम चरण को। बिपन का व्याख्यान दोपहर बाद 3 बजे शुरू होता था और शाम को बत्तियां जल

जाने के बाद ही अहसास होता था कि मैं तीन घंटे से उन्हें सुन रही हूं। राष्ट्रीय किसान और मजदूर आंदोलनों के सक्रिय कार्यकर्ताओं का इंटरव्यू (राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास संबंधी आई सी एस एस आर/जे एन यू के प्रोजेक्ट के अंतर्गत जिस पर इंडियाज स्ट्रगल फॉर इनडिपेंडेंस प्रमुख रूप से आधारित हैं) लेने वाली उनकी टीम के सबसे जूनियर सदस्य के रूप में मुझे स्वतंत्रता आंदोलन के उन उथल-पुथल भरे दिनों का उल्लासपूर्ण अनुभव मिला। तीन वर्ष तक जबानी इतिहास को लगातार खाने, पीने और ओढ़ने के बाद मैं इतनी जबर्दस्त इंटरव्यूकर्ता बन गई कि मेरा आदर्श वाक्य बदलकर 'जितना पुराना उतना ही बेहतर' बन गया और मेरा पहला सवाल होता था 'गांधी जी के बारे में सबसे पहले आपने कब सुना?' हमारे घुमंतू सर्कस में छह प्रमुख सदस्य, कई सहयोगी, कुछ पति/पत्नी और संबंधित क्षेत्र से आए जे एन यू के विद्यार्थी थे जिन्होंने बिपन के आह्वान पर निष्ठापूर्वक दुभाषिया बनना स्वीकार कर लिया था। हमने सब जगह शिविर लगाए—कारसगोड जैसे छोटे कसबों के फटेहाल होटलों में, फाइलेरिया बीमारी ग्रस्त रामचंद्रपुरम में, अन्नासलाई के एम एल ए होस्टल में और पाली हिल के पेंटहाउस में।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन पर शोध में लगे दोस्तों की बदौलत राष्ट्रीय आंदोलन 'हाई' दिल्ली में बनी रही। ऐसा लगता था कि हम सभी ज्ञानेश कुदेसिया, विसालाक्षी मेनन, एन्थनी थॉमस, सलिल मिश्रा, विनीता दामोदरन, मेधा मलिक और नीरजा सिंह, कुछ वक्त के 1930 और 1940 के दशकों में पहुंच गए हैं। हमारी निश्चित दिनचर्या थी, तीन घंटे का फिल्म शो, माइक्रो फिल्म रीडर के सत्रों के लिए शार्ट हैंड और कुट्टी की कैंटीन में वडे और चाय के लंबे दौर।

1984 में नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय में 'भारत में स्वाधीनता संग्राम, 1945–47' विषय पर गोष्ठी में प्रोफेसर रविंदर कुमार ने मुझे आमंत्रित किया। मेरे शोध के अपेक्षाकृत प्रारंभिक दिनों में इससे मेरा बहुत उत्साहवर्धन हुआ। प्रोफेसर पार्थसारथी गुप्ता ने बड़ी उदारतापूर्वक मुझे संदर्भ साहित्य उपलब्ध कराया।

नेहरू स्मारक पुस्तकालय, नई दिल्ली; राष्ट्रीय अभिलेखागार, नई दिल्ली; बिहार राज्य अभिलेखागार, पटना; दि महाराष्ट्र आरकाइव्ज, बंबई; दि तमिलनाडु स्टेट आरकाइव, मद्रास; दि सेक्रेटेरिएट रिकार्ड रूम, त्रिवेंद्रम; दि इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन; दि कैंब्रिज साउथ एशिया आरकाइव, न्यूफील्ड कॉलेज, आक्सफोर्ड में अभिलेखागार, चर्चिल कॉलेज आरकाइव, कैंब्रिज के निर्देशक, लाइब्रेरियनों और अभिलेखागार के कर्मचारियों का मैं आभार व्यक्त करती हूं। पटना में ताराबाबू और इंडिया आफिस लाइब्रेरी में डेविड ब्लेक ने विशेष रूप से मदद की। मैं श्री भारतभूषण, कार्यपालक संपादक, दि हिंदुस्तान टाइम्स के प्रति आभार व्यक्त करती हूं जिन्होंने 1945–47 के दौरान इस अखबार में छपे शंकर और अहमद के कार्टूनों को छापने की इजाजत दी।

शोध और लेख के लिए सहायता कई क्षेत्रों से मिली। ऐतिहासिक अध्ययन केंद्र

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से मुझे 1979–84 वर्षों के लिए यू.जी.सी./ जे.एन.यू. शोध फेलाशिप मिली। राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास के लिए आई सी एस एस आर/जे एन यू के प्रोजेक्ट के फलस्वरूप मुझे उस समय के कई महत्वपूर्ण और कम विख्यात सक्रिय कार्यकर्ताओं का इंटरव्यू लेने और त्रिवेंद्रम, मद्रास, हैदराबाद, बंबई और पटना में सामग्री को देखने का अवसर मिला। दि चार्ल्स वैलेस (इंडिया) ट्रस्ट से लंदन, आक्सफोर्ड और कैंब्रिज में शोध करने में सहायता मिली।

मेहमान नवाजी, सूचना, मार्गदर्शन, वृत्तांत और पथप्रदर्शन के लिए मैं पटना में आर.एस. शर्मा, निडोबरुलु में अतलुरी मुरली, कोजिकोट में गोपालन कुट्टी, लखनऊ में अमृता दास, फार्मॅर और कैंब्रिज में विनीता दामोदरन और रिचर्ड ग्रोव, लंदन में अन्ना ब्राउन, मधु और अजय शर्मा और ऑक्सफोर्ड में एलेक्स टिकैल और रेचल के प्रति आभार व्यक्त करती हूं। अनुभा बैनर्जी ने अपनी बारीक संपादकीय नजर से पांडुलिपि को देखा। अंतिम वर्ष में लगभग दैनिक संकट (चाहे वह शीर्षक को लेकर हो, चाहे कवर अथवा वाक्यांश संबंधी विवाद को लेकर हो) से निपटने में विक्रम मेनन ने हास्य-विनोद, समझ, सद्बुद्धि (और जब किसी से भी बात नहीं बनी तो जिमखाना में डबल व्हिस्की) द्वारा मदद की। ज्योर्तिमय शर्मा ने व्यक्तिगत डॉक्टर, निजी संपादकीय सलाहकार, संकट मोचक और कठोर मालिक का कार्य किया। लक्ष्मी ने गैर वक्त और असुविधाजनक स्थानों पर टाइप किया। सुकृता और जयंत ने अपना घर और कंप्यूटर तथा संजय ने अपना कार्यालय मेरे हवाले कर दिया। मैं सेज पब्लिकेशन्स में तेजेश्वर सिंह, ओमिता गोयल और जया चौधरी की आभारी हूं जिन्होंने अपना पूरा सहयोग दिया और मुझ जैसे अड़ियल लेखक को बर्दाश्त किया।

शोध मेरे लिए हमेशा एक 'पारिवारिक कार्य' रहा। मेरे पिता विद्याधर महाजन ने अपना आशुलिपिक इस हिदायत के साथ मुझे दिया था कि वह उनकी न्यायालय की अपीलों की तरह मुझसे डिक्टेशन ले। इस प्रकार उन्होंने मुझ जैसे सुस्त और धीमे शोधकर्ता की सहायता करने का प्रयास किया। मेरे तर्कों को छपा हुआ देखकर वे अवश्य गौरवान्वित महसूस करते हालांकि लाहौर में 1947 के उपद्रवग्रस्त दिनों में आर.एस.एस. के प्रति उनके लगाव को देखते वे मेरे विचारों को आदर्शवादी और अयथार्थवादी बताकर खारिज़ कर देते। मुझे खेद है कि इस पुस्तक को लिखने में मैंने इतना समय लगा दिया कि वे इसे देखने के लिए जीवित नहीं रहे। मेरी मां हमेशा ही मेरे लिए शक्ति और प्रेरणा का स्रोत रही हैं। तीन बच्चों के भार और अपने पति के विरोध के बावजूद अध्यापन और शैक्षिक प्रशासन में मौन तथा दृढ़ता के साथ लगे रहने की उनकी स्मृति से उन दिनों मुझे बहुत ताकत मिली जब मैं शोध, अध्यापन और बच्चों के पालन-पोषण के बीच झूल रही थी। मृदुला और आदित्य ने भरपूर प्रोत्साहन, समय और सहायता दी। उन्होंने अपना काम छोड़कर मेरी आवश्यकता के अनुसार मित्रों, संपादकों, सलाहकारों अथवा

उत्साहवर्धकों का कार्य किया। अजय की मांग थी कि पुस्तक अकादमिक इतिहास कम हो और इसे सीधे दिल से लिखा जाए। बोध ने मेरे लिए जो कुछ किया है, उसके लिए यदि मैं उनको धन्यवाद दूं तो वह इसे मेरी धृष्टता समझेंगे, शायद शोध से मेरा ध्यान बराबर हटाते रहने के दायित्व को वे स्वीकार करेंगे। मुझे आशा है कि मेरे बच्चे वरुण और श्रीकांत कभी इस पुस्तक के सरोकारों के भागीदार बनेंगे। लेकिन इस समय तो वे इस बात को लेकर खुश हैं कि पुस्तक पूरी हो गई है और अब वे जितनी देर चाहें कंप्यूटर पर अलादीन खेल सकते हैं।

प्रस्तावना

एक

1940 के दशक के दौर के उथलपुथल भरे इतिहास में तकरीबन खतरनाक किस्म की समसामयिकता है। 1947 में जो मुद्दे दांव पर लगे थे, वे वर्तमान और भविष्य के मुद्दे थे। भारतीय राज्यव्यवस्था की दिशा क्या हो, भारत के भावी राष्ट्र का आधार क्या हो जैसे सवालों पर धर्मनिरपेक्ष और सांप्रदायिक ताकतें बंटी हुई थीं। 1990 के दशक में बैठ कर यदि हम स्वतंत्रता और विभाजन के घटनाक्रम को देखें तो वह स्वतंत्रता के बाद की कथा के प्रारंभिक दशक लगते हैं। 1940 के दशक को देखने की एक नई खिड़की हमारे सामने खुलती है। पिछले दृश्य के बजाए यह पूर्व दृश्य लगता है। गांधी की हत्या हिंदू राज्यव्यवस्था के समर्थकों और धर्मनिरपेक्ष राज्यव्यवस्था के समर्थकों के बीच पहली बड़ी मुठभेड़ के रूप में सामने आती है। बाबरी मसजिद, 1992 और भाजपा/विहिप जैसे संगठनों का 1995 में दुबारा उठ खड़ा होना जैसी बातें आगे के घटनाक्रम हैं। जब गांधी निंदा की जाती है और गांधी के गुजरात में गोडसे को रक्षक के रूप में महिमा मंडित किया जाता है तो हत्या के पीछे के खतरनाक़ इरादे उजागर हो जाते हैं। हत्या की राजनीति राष्ट्रीयता (राष्ट्रत्व) की जमीन पर संघर्ष का एक रूप थी। यह संघर्ष कम नहीं हुआ है, उसमें ज्यादा उग्रता आई है।

धर्मनिरपेक्ष और सांप्रदायिक ताकतों के बीच चल रहे इस संघर्ष को समसामयिक प्रासंगिकता के साथ इस पुस्तक में प्रस्तुत किया गया है। राष्ट्रीय नेतृत्व सांप्रदायिक ताकतों से उस समय किस प्रकार निपटता है, क्या हमारे देखने के लिए आज इसमें कुछ है? तेजी से बदलते हुए हालात में धर्मनिरपेक्ष ताकतों ने जिस अदम्य साहस के साथ सांप्रदायिक ताकतों की चुनौती स्वीकार की है, वह हमारे लिए प्रेरणादायक है। दूसरे, भारत की आजादी की लड़ाई के दौरान सांप्रदायिक ताकतों द्वारा कई तरह के दृष्टिकोण अपनाए गए। मसलन पूरी तरह से निंदा के दृष्टिकोण से लेकर, दमन, सहअस्तित्व का दृष्टिकोण और कभी-कभी उनको साथ लेने का दृष्टिकोण शामिल है। यह हमारे स्वाधीनता आंदोलन का बहुत बड़ा स्वदेशी अनुभव है जिसका उपयोग हम समकालीन संकट से निबटने के लिए कर सकते हैं। बिहार के 1946 के दंगे विभिन्न दृष्टिकोणों के दिलचस्प उदाहरण हैं। एक ओर जवाहरलाल नेहरू ने हिंदू दंगाइयों पर गोली चलाने का आदेश दिया और उन पर बम गिराने तक की धमकी दे डाली तो दूसरी ओर गांधी ने हिंदुओं के लिए नैतिक दंड के लिए ऐसा नुस्खा अपनाया जिसमें इसके बाद उन्होंने करनी के

लिए पश्चात्ताप किया। दृष्टिकोणों की यह भिन्नता महत्वपूर्ण है क्योंकि हाल के दिनों में जब रेडिकल समूहों ने सांप्रदायिक ताकतों को 'भगवा पलटन' अथवा 'फासिस्ट गून्स' कहा तो उनको सहानुभूति का लाभ मिला है।

एक स्तर पर इस पुस्तक में सांप्रदायिकता के विरुद्ध धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद के संघर्ष का अन्वेषण किया गया है जो आज बहुत गंभीर राजनीतिक प्रश्न है। सांप्रदायिक और धर्मनिरपेक्ष ताकतों के बीच आज के विवाद में 1940 के दशक को लेकर मेरी बहस धर्मनिरपेक्ष ताकतों की ओर से एक हस्तक्षेप है। भारतीय राष्ट्र आज भी बनने की प्रक्रिया में है। स्वतंत्र शासन की स्थापना की दिक्कतों के पहले साल में धर्मनिरपेक्ष ताकतों ने सांप्रदायिक चुनौती को जिस तरह अशक्त बना दिया था, वह मौजूदा सांप्रदायिक अभियान से निबटने के लिए बहुत प्रासंगिक है। आज यह और भी अधिक जरूरी हो गया है। इसलिए कि उत्तरआधुनिकता के दौर में बुद्धिजीवी जगत में विचारधारा से पीछा छुड़ाना और अराजनीतिक बनना फैशन बनता जा रहा है। भारतीय जनमानस द्वारा संजोए गए और उन्हीं के द्वारा समर्थित आदर्शों, मूल्यों, सिद्धांतों और खासतौर से राष्ट्रवाद, धर्मनिरपेक्षता और बहुलवाद का आंतरिक महत्व समाप्त किया जा रहा है।

हैरानी की बात तो यह है कि औपनिवेशिक मालिकों के चले जाने के आधी सदी बाद भी राष्ट्रवाद को बदनाम करना फैशन बना हुआ है। उदारतापूर्वक दी गई छात्रवृत्तियां यह सुनिश्चित करती हैं कि—ऑक्सब्रिज, शिकागो अथवा इनसे भी कुछ कमतर दर्जे के कैनबरा से निकलने वाले विचारों का दबदबा कायम रहे। कुछ समय बाद कटु निंदा का रूप बदल जाता है। कैंब्रिज विचारधारा ने भी बहुत पलटी खाई है। 1960 के दशक में वह राष्ट्रवाद पर प्रत्यक्ष और सामने से हमला करता था और राष्ट्रवादी क्षेत्र में राजनीति को 'मुर्गों की लड़ाई' कह कर उसे बदनाम किया जाता था। जब इसका भाव गिर गया तो प्रांत और इलाके के तोपखाने से हमला किया गया। अखिल भारतीय इतिहास को छोड़ दिया गया क्योंकि इसमें कथित रूप से सामान्य बातें थीं। प्रांतीय तथा स्थानीय क्षेत्रों पर जोर देने का परोक्ष अर्थ यह हुआ कि अखिल भारतीय राजनीति और राष्ट्रवादी सरोकार फिजूल हो गए हैं।

साम्राज्यवादी इतिहास लेखन से सबालटर्न दृष्टि से लिखे गए इतिहास का घनिष्ठ संबंध है, इस बात को काफी व्यापक रूप से स्वीकार किया जाता है। सबालटर्न इतिहासकारों ने राष्ट्रवाद की यह कह कर निंदा की है कि वह निम्नवर्गीय (सबालटर्न) प्रतिरोध, लिंग और संस्कृति के वास्तविक मुद्दों से कटा हुआ है। भारतीय स्वाधीनता संग्राम के विराट नाट्य दृश्य में भारत के विभाजन (स्वाधीनता का नहीं) का इतिहास महत्वहीन और असंगत मूलभाव बनकर रह गया है।[1] इस दौर के सारे इतिहास लेखन को (इसमें कट्टर मार्क्सवादी भी हैं) सरकारी, अभिजनवादी और विभाजन के प्रामाणिक भोगे हुए अनुभव से शून्य बता कर खारिज कर दिया गया है। राष्ट्रीय आंदोलन के लिए

एकत्र किए गए अपशब्दों के शब्दकोश में अपना योगदान करते हुए सबालटर्न विचारधारा के लेखकों ने उसे 'सरकारी' अभिजनवादी और आधुनिकतावादी कहा है। यह ठीक वैसे ही है जैसे रूढ़िवादी वामपंथियों के प्रिय शब्द थे : 'बुर्जुआ' और 'समझौतापरस्त' और ऑक्सब्रिज इतिहासकारों के प्रिय शब्द थे : सर्वसत्तावादी (टोटैलिटेरियन) और बहुसंख्यावादी। ज्ञानेंद्र पांडेय ने यह कह कर इतिहासकार के शिल्प (मार्क ब्लाख का शब्द) की निंदा की है उसने खासतौर से ऐसे मामलों में सहज अनुभव नहीं किया। 'विभाजन की विभीषिका' 1946-47 के दंगों की भयानकता और दुखदर्द और नृशंसता को लगभग पूरी तरह से रचनाकारों और फिल्म निर्माताओं के लिए छोड़ दिया गया। इतिहासकार के लिए (नए शानदार आख्यान के रूप, इतिहास के रूप में नहीं) पीड़ितों, विशेषकर समाज द्वारा परित्यक्त विक्षिप्तों और अपहृत स्त्रियों आदि की कहानियां रह गईं।

बुर्जुआ और मजदूर वर्ग दोनों ही तरह के इतिहास लेखन की आलोचना की गई और कहा गया कि समुदाय के मुकाबले ये राष्ट्र और वर्ग को तरजीह देते हैं, बिलकुल वैसे ही जैसे इसके पहले वामपंथी रूढ़िवादी इतिहासकारों ने राष्ट्रीय आंदोलन को यह कहकर फटकारा था कि वह वर्ग के महत्वपूर्ण मुद्दे से ध्यान बंटाता है। तरीका वही है, जो राष्ट्र से प्रांत पर जाने के लिए अपनाया गया था। यह कहकर राष्ट्र के इतिहास पर ध्यान केंद्रित करने की निंदा की जाती है कि वह समुदाय जैसी पहचान के दूसरे महत्वपूर्ण सूचकों पर बल देने से ध्यान हटाता है। पांडेय की शिकायत है कि विभाजन के इतिहास में सांप्रदायिक कलह और सांप्रदायिक हिंसा की उपेक्षा कर दी गई है अथवा उसको कम महत्व दिया गया है। समुदाय को महत्वपूर्ण मानने के नतीजे हमारे सामने हैं। 1990 के दशक में भारत में असहिष्णुता बढ़ी है जिसे समुदायों के 'अधिकारों' की रक्षा बता कर वैध ठहराया जाता है।

राष्ट्रवाद पर इस नवीनतम हमले की विलक्षण खूबी है कि यह हमला विभिन्न विचारधारा वाले विद्वानों के ओर से हुआ है लेकिन यह सभी कैंब्रिज सबालटर्न वंशावली से जुड़े हुए हैं। आयशा जलाल ने स्वयं सबालटर्न इतिहास को एक जगह कूड़ा कहा[2] है, लेकिन धर्मनिरपेक्ष इतिहास लेखन की उन्होंने भी आलोचना की है और कहा है कि उसमें संप्रदाय के मुकाबले राष्ट्र को महत्व दिया गया है और सांस्कृतिक अंतर को सांप्रदायिकता बताकर हाशिए पर डाल दिया गया है। धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद और धार्मिक सांप्रदायिकता को समझने की दोहरी पद्धति को इसकी वजह बताया जाता है।[3]

एक अन्य रणनीति अपना कर दो महत्वपूर्ण भागीदारों यानी औपनिवेशिक शासन और मुसलिम लीग की भूमिका से ध्यान हटाकर उसे हिंदू सांप्रदायिकता के विश्लेषण पर केंद्रित कर दिया जाता है। आयशा ज़लाल का कहना है कि 1947 के विभाजन को मुसलिम राजनीति का अंतिम ध्येय कहना 'इतिहास लेखन संबंधी गलती' है। कांग्रेसी

नेतृत्व केंद्र पर औपनिवेशिक शासन के तंत्र पर काबिज होने के लिए लालायित था। वह अखिल भारतीय स्तर पर मुसलिम लीग के साथ न तो सत्ता बांटने के लिए तैयार था और न ही लचीले संघीय अथवा परिसंघीय ढांचे के भीतर मुसलिम बहुसंख्यक प्रांतवाद को स्वीकार करना चाहता था। कहना चाहिए कि इसके बजाए वह हिंदू महासभा के साथ ताल में ताल मिला कर विभाजन और धर्मनिरपेक्ष भारत के राष्ट्र-राज्य के शासन के दायरे से बाहर लीग और मुसलिम बहुल क्षेत्र दोनों को निकालने के लिए तैयार था।[4] इसका समर्थन करते हुए सुगत बोस भी इसका दायित्व कांग्रेस पर डाल देते हैं: 'आखिरकार भारत और आयरलैंड दोनों में ही राष्ट्रवादी नेतृत्व उपनिवेशवादी मालिकों की तरह धार्मिक भेद की समस्या का संतोषजनक समाधान के लिए समझौता नहीं कर सके।' बोस का मानना है कि इस 'राजनीतिक असफलता' का कारण 'भारतीय राष्ट्र का हिंदू स्वभाव में पगा होना है।'[5]

भारतीय सांप्रदायिकता के दो रूप हैं। वह संस्थाबद्ध और संगठित एक ताकत है। साथ ही वह एक विचारधारात्मक प्रवृत्ति भी है। प्राय: इन दोनों के बीच फर्क नहीं किया जाता है। विचारधारा के स्तर पर कांग्रेस जैसी धर्मनिरपेक्ष पार्टी के भीतर भी यह प्रवृत्ति मौजूद थी और जब हम कांग्रेस को हिंदू महासभा जैसी सांप्रदायिक पार्टी की बराबरी में रखते हैं तो हमारा ऐसा करना गैर विचारधारात्मक और अनैतिहासिक हो जाता है। कांग्रेस ने अपने हिंदू और मुसलमान लोगों के बीच जो संघर्ष किया, इसमें उसकी अनदेखी हो जाती है।

आयशा जलाल ने भारत के विभाजन में पंजाब की भूमिका का विवेचन किया है। इस विवेचन में वे हिंदू सांप्रदायिकता को मुख्य रूप से दोषी मानती हैं।[6] पंजाब के विभाजन का सूत्र लाला लाजपत राय की 1924 की योजना में खोजती हैं। आयशा का आरोप है कि लाहौर संकल्प में 'राष्ट्र का दर्जा' की मांग को कम महत्व दिया गया जिसमें राष्ट्रीय दर्जे की मांग की गई थी, संप्रभु शासन की नहीं (वास्तविकता यह है दोनों में बहुत सूक्ष्म अंतर है)। ऐसा करते हुए पाकिस्तान के विरुद्ध प्रांतीय हिंदू महासभा द्वारा प्रेरित सिख प्रतिक्रिया को वे पंजाब के विभाजन की ऐतिहासिक महत्वपूर्ण अंग मानती हैं। अखिल भारत के मुकाबले क्षेत्र को तरजीह दी गई है...

मसलन पंजाब के ऊपर अखिल भारतीय समाधान को थोपने को कहा गया कि इससे पंजाब को हिंसा की आग में झोंकने को एकमात्र कारण माना गया है। इसका संकेत यह हुआ कि विभिन्न समुदायों को अगर उनके हाल पर छोड़ दिया जाता तो वे कोई मैत्रीपूर्ण समाधान खोज लेते।

जलाल का दावा कि कांग्रेस विभाजन चाहती थी, इस विचार का आगे चल कर जया चटर्जी बंगाल विभाजन के आंदोलन से जोड़ कर देखती हैं। सामान्यत: विभाजन को मुसलिम अल्पसंख्यकों की अलगाववादी राजनीति का परिणाम बताया जाता है

लेकिन बंगाल के मामले में हिंदुओं ने अपना समानांतर अलगाववाद विकसित किया था। कांग्रेस हाईकमान के बारे में आम तौर पर यह कहा जाता है (लेकिन गलत है) कि उसने अनिच्छा से विभाजन को मौन स्वीकृति दी.....बंगाल कांग्रेस ने सांप्रदायिक आधार पर अपने प्रांत के बंटवारे के लिए सफल अभियान चलाया था।[7] उनका तर्क है कि कांग्रेस और हिंदू महासभा में कोई अंतर नहीं था। सदस्यता और नीति दोनों ही मामलों में कांग्रेस और महासभा के बीच अंतर चौथे दशक में मिट गए थे।..... चौथे दशक में हिंदू महासभा कांग्रेस का पुछल्ला थी लेकिन अब उनकी भूमिका बदल गई थी। विभाजन के लिए दोनों संगठनों ने मिल कर काम किया लेकिन अभियान चलाने में निस्संदेह कांग्रेस की नुमाया भूमिका थी। जया चटर्जी इस मूल्यांकन के समर्थन में कोई प्रमाण देना अथवा इसके विपरीत तथ्यों जैसे कि बंगाल में 1945-46 के चुनाव में कांग्रेस के हाथों महासभा की घोर पराजय आदि पर विचार करना जरूरी नहीं समझतीं। वास्तव में एक लचर तर्क के द्वारा चटर्जी यह दावा करती हैं कि कांग्रेस की विजय और महासभा के पराजय से भी यही सिद्ध होता है कि कांग्रेस सांप्रदायिक बन गई है। वही अब प्रतिबद्ध हिंदू मतदाताओं की पसंदीदा पार्टी बन गई है।

सांप्रदायिक गुटों और धर्मनिरपेक्ष पार्टी, दोनों के लिए 'हिंदू राष्ट्रवाद' पद के मौजूदा आम प्रयोग से भी राष्ट्रवाद की वैधता को धक्का लगा है। इसका प्रयोग विनिर्दिष्ट रूप से हिंदू हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टियों जैसे कि हिंदू महासभा, आर.एस.एस. और बी.जे.पी. के साथ-साथ कांग्रेस जैसी मुख्य धारा वाली राष्ट्रीय पार्टियों के लिए भी किया जाता है जिनकी धर्मनिरपेक्ष विचारधारा है लेकिन जिनके समर्थक कुल जनसंख्या में बहुलता के कारण प्रमुख रूप से हिंदू ही हैं। इस वर्गीकरण के अंतर्गत गांधी 'हिंदू राष्ट्रवाद' के उदार, अनेकतावादी रूप को अपनाते हैं जबकि सावरकर इसके एकदम उलटे रूप को। हिंदू राष्ट्रवाद शब्द के प्रयोग के राजनीतिक अर्थ नकारात्मक हैं। धर्मनिरपेक्षवादियों और संप्रदायवादियों को हिंदू राष्ट्रवाद की एक ही छतरी के नीचे रखने से हिंदू संप्रदायवादियों को कुछ राष्ट्रवादियों को अपना मानने का खेल खेलने का मौका मिल जाता है। उदाहरण के लिए हिंदू संप्रदायवादियों का यह दावा कि पटेल 'हममें से एक' थे। यह बात बड़ी आसानी से भुला दी जाती है कि नेहरू की तरह पटेल ने भी भारत को हिंदू राज्य बनाने के सुझाव को एकदम नामंजूर कर दिया था। 'मेरा मानना है कि हिंदुस्तान को हिंदू राज्य और हिंदू धर्म को राज्य का धर्म बनाने पर विचार करना संभव नहीं है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि यहां कुछ अल्पसंख्यक हैं जिनकी सुरक्षा हमारी बुनियादी जिम्मेदारी है। जाति अथवा विश्वास का ध्यान किए बगैर शासन सबके लिए होना चाहिए।'[8]

धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता में विचारधारा का जो महत्वपूर्ण अंतर है, इससे उसको काफी नुकसान हुआ है। वास्तविकता को स्पष्ट रूप से तोड़-मरोड़कर,

ऐतिहासिक रूप से परस्पर विरोधी सांप्रदायिकता और राष्ट्रवाद की बराबरी कर दी जाती है। इसके फलस्वरूप सांप्रदायिकता को वैध बना दिया जाता है और भारतीय राष्ट्रवाद को गलत रूप में रखते हुए इसके शक्तिशाली धर्मनिरपेक्षतावादी झुकाव की अनदेखी कर दी जाती है। हमारे असंख्य देशवासियों के लिए सांप्रदायिकता विरोधी अर्थ में धर्मनिरपेक्षतावाद (जैसा कि भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान इसकी कल्पना की गई थी) एक गहरी आस्था था, राष्ट्रवाद का अभिन्न पहलू था, एक मूल्य था जिसे अगस्त 1947 के कठिन दिनों में गंभीर उकसावे के बावजूद नहीं त्यागा गया। हिंदू राष्ट्र की बेसुरी मांगों के बीच धर्मनिरपेक्ष राज्यतंत्र की स्थापना के लक्ष्य को थामे रखा गया और कांग्रेस पार्टी ने अंतरिम सरकार में एक मुसलिम को नामित करने के अपने अधिकार को छोड़ने से इनकार कर दिया। जब यह मांग की गई कि मुसलिम लीग से समझौते के हित में राष्ट्रवादी मुसलिमों को त्याग दिया जाए तो गांधीजी ने बहुत उपयुक्त उत्तर देते हुए कहा कि 'कोई व्यक्ति अधिकार तो छोड़ सकता है लेकिन कर्तव्य नहीं छोड़ सकता।' इस संदर्भ में टी.एन. मदान द्वारा धर्मनिरपेक्षतावाद को तुरंत खारिज कर दिया जाना आश्चर्यजनक लगता है कि 'यह धरती से जुड़ा अपना और सुविचारित जीवन दर्शन नहीं.....बल्कि केवल एक रणनीति है'[9] अथवा पार्थ चैटर्जी का[10] यह कहकर धर्मनिरपेक्षतावाद को अस्वीकार करना कि वह हिंदू सांप्रदायिकता से लड़ने का पर्याप्त आधार नहीं है। आश्चर्य की बात यह भी है कि धर्मनिरपेक्षतावाद पर हमला केवल सांप्रदायिकतावादियों की ओर से नहीं किया गया बल्कि भारत की बहुलवादी परंपरा के तथाकथित समर्थकों ने भी इस पर आक्रमण किया है। अपने को 'धर्मनिरपेक्षता विरोधी' कहने और गांधी को अपना होने का दावा करने वाले इन लोगों की दलील है कि धर्मनिरपेक्षतावाद भारत के लिए उपयुक्त नहीं है[11] क्योंकि यह राष्ट्रीय आंदोलन द्वारा प्रबोधनोत्तर पश्चिम से लिए गए आधुनिकतावादी विचारों का हिस्सा है। अंशत: यह समस्या इसलिए पैदा हुई है क्योंकि भारत में धर्मनिरपेक्षता के अध्ययन के लिए राष्ट्रीय आंदोलन और उसके बाद के समय में धर्मनिरपेक्षता के ऐतिहासिक व्यवहार को आधार न बनाकर धर्मनिरपेक्षता की पश्चिमी शास्त्रीय परिभाषा को अंगीकार किया गया है जिसका अर्थ है धर्म और राजनीति का अलगाव। यह अंशत: इसलिए भी है क्योंकि जिन्हें हम 'अच्छे पुराने दिनों' का विचार कहा करते थे उन्हें घिस-घिसकर वह अर्थ दे दिया जाता है जो उनके मूल अर्थ से बिलकुल विरोधी होता है। यदि विचारों को निरपेक्ष न मानकर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उनका अध्ययन किया जाए तो स्पष्ट होगा कि धर्मनिरपेक्षतावाद भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन के विशिष्ट ऐतिहासिक संदर्भ से उभरने वाला विचार है। क्या धर्मनिरपेक्षतावाद राष्ट्रीय आंदोलन के व्यापक बहुधर्मी आधार से उभरने वाली जरूरत नहीं थी? पश्चिम में धर्मनिरपेक्षतावाद का चाहे जो भी मूल रहा हो, भारत में इसकी जड़ें स्वतंत्रता के लिए भारतीयों के संघर्ष में देखी जा सकती हैं।

दो

दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति से लेकर भारत को स्वतंत्रता मिलने तक का कालखंड बहुत संकटपूर्ण था जिसमें साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन और उपनिवेशवादी शासन के तर्क पूरी तरह से उजागर हुए। अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ने के निर्णय के बारे में यह गलत धारणा है कि यह सिर्फ विभिन्न दिशाओं से सामूहिक दबावों का नतीजा था। इतिहासकार का काम है कि वह इन विभिन्न दबावों की तुलनात्मक ताकतों का निष्पक्षता से मूल्यांकन करे। अधिक उद्यमी इतिहासकार एक और कारक खोज सकता है। यह स्वाभाविक है क्योंकि अगर आप किसी टुकड़े को निरंतर देखते रहें तो वह उस संपूर्ण के बराबर लगने लगेगा जिसका वह हिस्सा है। काफी लंबे समय तक इतिहासकार इस विश्वास के साथ कौंध बत्ती (फ्लैशलाइट) लिए एक दो अंधेरे कोनों में भटकते रहे हैं कि इन कोनों में प्रकाश से एक दिन पूरा कमरा जगमगा उठेगा। मुझे कुछ बड़ी खिड़कियां खोल देने की उम्मीद है ताकि स्वच्छ, बराबर प्रकाश अंदर आ सके।

सूचना का अत्यंत प्रचुर भंडार इंडियन नेशनल आर्मी (आई.एन.ए.)[12], दि रॉयल इंडियन नेवी (आर.आई.एन.) विद्रोह[13], किसान आंदोलन[14] और मजदूर संघर्षों[15] के नेताओं तथा कांग्रेस और लीग के नेताओं[16] तथा ब्रिटिश अधिकारियों[17] की आत्मकथाओं और जीवन वृत्तों में उपलब्ध है। दुर्भाग्य से इन भागीदारों के वृत्तांतों को लेकर आम समस्या यह है कि वे अपनी-अपनी भूमिकाओं को ऐतिहासिक रूप में निर्णायक मानते हैं लेकिन उनके वास्तविक योगदानों को देखते हुए प्राय: वह सही नहीं लगती।

लार्ड माउंटबेटन अपने इस दावे के लिए विख्यात हैं कि उन्होंने अकेले भारत के इतिहास की दिशा तय की लेकिन जाहिरा तौर पर यह दावा वास्तविकता से दूर है।[18] मौलाना आजाद लगातार यह दिखाना चाहते हैं कि प्रत्येक स्थिति में केवल उनका रुख सही था, किस प्रकार नेहरू की व्याख्या गलती थी तथा सरदार पटेल ने किस प्रकार उनका अपमान और उनकी उपेक्षा की।[19] नेताओं ने उन कार्रवाइयों के महत्व को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया जिनमें उन्होंने भाग लिया–इन आंदोलनों के इतिहासकारों में भी यही प्रवृत्ति मिलती है। उदाहरण के लिए गौतम चट्टोपाध्याय का यह मानना है कि कलकत्ता में रशीद अली दिवस प्रदर्शन (जिसे उन्होंने सक्रिय रूप से आयोजित किया) अत्यंत क्रांतिकारी क्षण 'दि आलमोस्ट रिवोल्यूशन' था।[20] आर.आई.एन. के सुब्रतो बैनर्जी का दावा था कि 'आर.आई.एन. विद्रोह ने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी[21], जबकि एक अन्य सक्रिय भागीदार बी.सी. दत्त का कहना है कि 'हमें स्वतंत्रता शीघ्र मिलने का यह संभवत: अकेला सबसे बड़ा कारण था।'[22] आई.एन.ए. इतिहासकारों और बोस के जीवनी लेखकों ने इस दावे का कड़ा विरोध किया है। उदाहरण के लिए हफ टोए का तर्क है कि 'आई.एन.ए. ने ही अपने असाधारण विघटन कार्य द्वारा भारत में ब्रिटिश शासन को शीघ्र समाप्त करवाया।'[23] इसी प्रकार दिलीप के. रॉय का कहना

है कि यदि नेताजी और आई.एन.ए. का प्रयास नहीं होता तो 'हमारी स्वतंत्रता कम से कम एक दशक के लिए और टल जाती।'[24]

अंग्रेजों ने किस कारण से भारत छोड़ा, इसके स्रोत खोज करते समय साम्राज्यवादी परंपरा के इतिहासकारों ने कुछ सामान्य निष्कर्ष निकाले हैं। उनका तर्क है कि भारत में ब्रिटिश साम्राज्य के हित कम हो रहे थे, वह रक्षा या वाणिज्य अथवा वित्त के क्षेत्र में साम्राज्य के हितों की रक्षा की भूमिका नहीं निभा पा रहा था और पिछले वर्षों में ब्रिटिशों के लिए बोझ बन गया था।[25] उदाहरण के लिए यह तर्क दिया जाता है कि दूसरे विश्वयुद्ध के दौरान भारत का रक्षा खर्च ब्रिटेन ने उठाया।[26] बहरहाल इस दृष्टिकोण को गंभीर चुनौती दी गई है कि भारत में साम्राज्य के हित घटने लगे थे अथवा भारत ब्रिटेन के लिए बोझ बनता जा रहा था। इसके विपरीत यह तर्क दिया गया है कि ब्रिटिश शासन की समाप्ति से ठीक पूर्व और विशेषकर युद्ध के दौरान, ब्रिटिश साम्राज्यवादी नियंत्रण बहुत कठोर बना दिया गया था और भारत का आर्थिक शोषण कई गुना बढ़ गया था।[28]

साम्राज्यवादी इतिहास लेखन की एक महत्वपूर्ण कमजोरी यह है कि वह भाारत में चल रही व्यापक राजनीतिक गतिविधियों की अनदेखी कर देता है और यूरोप केंद्रिक परंपरा के अनुसार अपने देश की घटनाओं पर अपने को केंद्रित करता है। उदाहरण के लिए डेविड पोटर का विश्वास है कि 'उपनिवेशवाद की समाप्ति का खुलासा गुलाम देश की सीमाओं के भीतर रहकर नहीं किया जा सकता।' इतिहासकार 'अब तक उपनिवेशवाद की समाप्ति जैसी राजनीतिक घटनाओं का संतोषजनक ब्योरा इसलिए नहीं दे पाए हैं क्योंकि वे इसे सही जगह नहीं देख पा रहे थे।'[29] सही कारण जानने के लिए जो खजाने की कुंजी उनके हाथ लगती है वह है जन शक्ति की कमी।

जैसा कि हम आगे चलकर देखेंगे, भारतीय सिविल सेवा (आई.सी.एस.) के लिए ब्रिटिश भर्ती बंद हो जाने से ब्रिटिश शासन की समाप्ति की बात तो छोड़िए आई.सी.एस. भी कमजोर नहीं हुई। साम्राज्यवादी प्रभुत्व के पतन की यह बहुपक्षीय प्रक्रिया 1946 के प्रारंभ में अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई। जनवरी 1946 के अंत में भारत को कैबिनेट मिशन भेजने का निर्णय लिया जाना इस बात का सूचक है कि ब्रिटिश नीति निर्माताओं को यह आभास हो गया था कि अंत निकट है और स्वशासन देना अब कुछ ही समय की बात रह गई है। एक जनवरी 1946 का पेथिक लॉरेंस बयान इस नए स्वर का सूचक है।

यहां तक कि साम्राज्यवादी परंपरा जिन इतिहासकारों ने केवल भारतीय राजनीति के अध्ययन के लिए अपने को समर्पित किया, इनमें से भी कइयों, जैसे आर.जे. मूर[30] का भी विचार है कि 'भारतीय राजनीतिक विकास को रूप देने वाली ब्रिटिश नीतियां महानगरीय परिवर्तनों से जुड़ी थीं।' राष्ट्रवादी राजनीतिक गतिविधियों को सत्ता हस्तांतरण की तथाकथित ब्रिटिश नीति की प्रतिक्रिया भर माना गया–इस प्रक्रिया की एकमात्र

समस्या हिंदुओं और मुसलमानों के बीच फूट बताई गई है। न तो इस बात को माना गया कि राष्ट्रीय आंदोलन भारतीय आवाम के साम्राज्यवाद से बुनियादी विरोध का सूचक है और न ही इस बात का कि स्वतंत्रता देने के ब्रिटिश निर्णय का यही सबसे महत्वपूर्ण कारण है।

राष्ट्रवादी इतिहास लेखन की परंपरा[31] में आने वाली बहुत सी पुस्तकों और जीवनियों में यह स्वीकार किया गया है कि राष्ट्रवाद भारत से ब्रिटिश पलायन का केंद्रीय कारण है। लेकिन इस कालखंड पर विचार करते समय वे 1945 और 1947 के बीच सांविधानिक वार्ताओं के सैलाब और अंग्रेजों, कांग्रेस तथा अन्य राजनीतिक समूहों द्वारा अपनाए गए रुख में इतना खो जाते हैं कि वे आई.एन.ए. के आंदोलन और आर.आई.एन. के विद्रोह जैसी जन गतिविधियों की ओर ध्यान ही नहीं दे पाते।

वामपंथी परंपरा[32] में आने वाले इतिहास और टीकाएं इस काल के बारे में साम्राज्यवादी और राष्ट्रवादी लेखन की दोनों ही धाराओं का इस अर्थ में त्रुटियों को दूर करती हैं कि उनका केंद्र बिंदु सांविधानिक घटनाओं और राजनीतिक वार्ताओं पर न होकर व्यापक जन गतिविधियों पर है।[33] बहरहाल जिस राजनीतिक गतिविधि ने राष्ट्रवादी नेतृत्व तथा ब्रिटिश सरकार का ध्यान आकृष्ट किया तथा उनके राजनीतिक निर्णयों और रुखों को प्रभावित करने वाली मानी गई वे थीं जिनमें कम्युनिस्टों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई अथवा जिसमें मजदूरों और किसानों का आर्थिक संघर्ष शामिल था अथवा जो अहिंसा की कांग्रेसी सीमाओं के बाहर हुआ करती थी, उदाहरण के लिए तीन विद्रोह, दो कलकत्ता में नवंबर 1945 और फरवरी 1946 (आई.एन.ए. मामलों से संबद्ध) और एक फरवरी 1946 में बंबई तथा कुछ दूसरे नगरों में (आर.आई.एन. हड़ताल से संबद्ध)।

उनका तर्क कुछ इस प्रकार होता है: इन जन संघर्षों और हिंसक विद्रोहों की रेडिकल संभावनाओं से भयभीत कांग्रेस देश की एकता की कीमत पर भी साम्राज्यवाद के साथ वार्ता और समझौते के मार्ग पर चल पड़ी।[34] अंग्रेजों ने भी राजनीतिक ताकतों के रेडिकल गठजोड़ को सत्ता सौंपने के बजाए कांग्रेस के साथ समझौता और लेन-देन करना अधिक ठीक समझा।[35] अंततः सत्ता हस्तांतरण में अंग्रेजों तथा कांग्रेस के हित एक हो गए। सत्ता जन संघर्ष और अधिग्रहण के समानांतर 'क्रांतिकारी' मार्ग के जरिए प्राप्त करने के बजाए लेन-देन और समझौते के बुर्जुआ मार्ग से प्राप्त की गई।[36]

ऊपर बताए गए सभी दृष्टिकोणों की एक सामान्य विशेषता यह है कि उन सभी ने इस अवधि में आम जनता की राष्ट्रवादी गतिविधियों के सैलाब की पूरी तरह से उपेक्षा कर दी है। हमारा मानना है कि युद्ध के बाद की राजनीतिक घटनाओं के तात्कालिक कारणों की खोज में लगे इतिहासकार को इन अधिकांशतः शांतिपूर्ण, निचले स्तर पर चलने वाली राजनीतिक गतिविधियों (उदाहरण के लिए आई.एन.ए. के मामले पर आंदोलन और 1945–46 का चुनाव अभियान) की ओर ध्यान देना होगा जो स्थानीय

दायरे और सामाजिक वर्गों की भागीदारी की दृष्टि से बहुत व्यापक थी। कुछ नगरों में हिंसक विद्रोह तथा कुछ क्षेत्रों में मजदूरों और किसानों के मूलत: आर्थिक संघर्षों से इसका पूरा उत्तर नहीं मिल सकता।

इस काल संबंधी किसी भी महत्वपूर्ण लेखन में इस बात पर कोई चर्चा नहीं की गई कि 1945 में अपनी तथा अंग्रेजों की समग्र स्थिति के बारे में कांग्रेस की क्या राय थी जो कि बातचीत के लिए उसके तैयार होने का आधार बनी। इसका भी कोई विश्लेषण नहीं किया गया है कि राष्ट्रीय आंदोलन ने किस प्रकार साम्राज्यवादी प्रभुत्व को कमजोर बनाया और साम्राज्यवादी ढांचे के स्तंभों को हिला कर रख दिया।

हमारे विचार से राष्ट्रवादी ताकतों के चुनौतीपूर्ण रुख के कारण साम्राज्यवादी सत्ता के पीछे हटने की प्रक्रिया लंबी थी जिसने इस प्रसंग में केंद्रीय भूमिका अदा की थी। प्रशासनिक तंत्र पंगु हो गया। इस प्रकार यह संघर्ष दूसरे विश्वयुद्ध की समाप्ति के समय अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। प्रभुत्व के प्रतिरोध में राष्ट्रवादी ताकतों का यह संघर्ष भारतीय आवाम के मन में चल रहा था। राष्ट्रवादी ताकतों का कठोर होता रुख तथा निष्ठावादियों का बदलता रुख राष्ट्रवादी आंदोलन की सफलता का सूचक था। आई.एन.ए. के मुकदमों को लेकर जबर्दस्त विरोध तथा आर.आई.एन. विद्रोह तथा चुनाव अभियान से उपजी उत्तेजना इसके साफ संकेत थे। एक ओर हिलोरे लेते जन समुदाय का, राष्ट्रवादी भावनाओं की पराकाष्ठा का, प्रगाढ़ता और जोश का लेखा चित्र है। दूसरी ओर ब्रिटिश आई.सी.एस. अधिकारियों के गिरते मनोबल का, सरकारी सेवारत भारतीयों की बदलती निष्ठा का और सशस्त्र सेनाओं में हलचल का लेखा चित्र है।

हालांकि सत्ता के कमजोर होने की प्रक्रिया धीमी थी लेकिन आमतौर पर यह माना जाता है कि उस बिंदु पर यह 1942 के बाद ही पहुंचा जहां से वापस आना नामुमकिन था। इसके लिए मैंने निम्नलिखित चार उदाहरण चुने हैं जिनके बारे में भिन्न ऐतिहासिक मत हैं:

1. 1942 में भारत के देहाती इलाकों में ब्रिटिश प्रभुत्व के क्षय से अंग्रेजों ने यह बात समझ ली कि भारत में उनके शासन के दिन गिनती के रह गए हैं।[37]
2. भारत की स्वतंत्रता के लिए लेबर पार्टी की प्रतिबद्धता को देखते हुए अधिकांश परंपरागत इतिहास लेखन, जुलाई 1945 के चुनावों में लेबर पार्टी की विजय को भारत की स्वतंत्रता के लिए निर्णायक मानता है। हमें अकसर यह याद दिलाया जाता है कि चर्चिल साम्राज्य की समाप्ति को कभी स्वीकार नहीं करता। इसके विपरीत पार्थसारथी गुप्ता[38], अनिता इंद्रसिंह[39] और बी.आर. टोमलिंसन[40] का विचार है कि स्वयंशासी देशों और स्वतंत्र पूर्व उपनिवेशों के नेता के रूप में ब्रिटेन के विश्व पर प्रभाव के बारे में लेबर पार्टी की कल्पना उतनी ही भव्य और भ्रामक थी जितनी बहुत से कंजरवेटिव लोगों की थी।

3. तीसरा अवसर है आर.आई.एन. विद्रोह जिसे (विद्वानों द्वारा विपरीत प्रमाण दिए जाने के बावजूद)[41] अभी भी भारत को कैबिनेट मिशन भेजे जाने के निर्णय के साथ जोड़ा जाता है।[42]
4. 20 फरवरी 1947 का वक्तव्य जिसमें जून 1948 की अंतिम तारीख की घोषणा की गई। पलायन की समय-सीमा तय करने की वजह से इसे निर्णायक माना जाता है।[43]

साम्राज्यवादी चेतना में परिवर्तन के क्षण को पकड़ने की दिशा में कुछ स्पष्ट समस्याएं हैं। उपनिवेशवादियों की परिकल्पना में स्पष्टता कुछ चरणों में आई। यह तर्क अकसर दिया जाता है जो संभवत: गलत है कि 1942 निर्णायक क्षण था, अथवा यह वह क्षण था जब जुलाई 1945 में ब्रिटेन में चुनाव हुए अथवा फरवरी 1946 का वह क्षण था जब रॉयल इंडियन नेवी ने विद्रोह किया अथवा 20 फरवरी 1947 को नीति संबंधी वक्तव्य का क्षण। कोई एक क्षण निर्णायक नहीं था।

हम 1942 के बजाए 1944 से शुरुआत क्यों करते हैं ? इसलिए नहीं कि हमारे विचार से 1942 नहीं, बल्कि 1945 में विश्व युद्ध की समाप्ति, स्वतंत्रता के मार्ग पर एक मोड़ था। 1942 का आंदोलन उनके भाग्य का परमोत्कर्ष अथवा अधोबिंदु था (इस बात पर निर्भर करता है कि उसे किस नजरिए से देखा जाता है भारतीय अथवा ब्रिटिश)। ऊपर से देखने पर यह दावा लगता है। समाचार पत्रों और सरकारी रिपोर्टों के अनुसार अखिल भारतीय आंदोलन एक पखवाड़े में दबा दिया गया। पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार ने भी कुछेक सप्ताहों में घुटने टेक दिए। बंबई के जुझारू विद्यार्थियों ने सितंबर के अंत में अपने झंडे नीचे कर दिए। सतारा और मिदनापुर की टॉर्च जलती रही और लपटें इस हद तक उठती रही कि गांधी को जेल से चुनौती देनी पड़ी। 1943 के आरंभ में उनके 21 दिन के उपवास ने सब कुछ शांत कर दिया। वास्तव में 1942 के आंदोलन की 'असफलता' और ब्रिटिश नीति की 'सफलता' को सिद्ध किया जा सकता है बशर्ते कि हम तथ्यों तक सीमित रहें। लेकिन कभी-कभी वास्तविकता का बोध वास्तविकता से अधिक प्रदीप्त होता है।

अंग्रेज 1942 को लेकर उत्साहित हो सकते हैं और होना भी चाहिए। विद्रोह कुचल दिया गया था, राजनीति निष्क्रिय हो चुकी थी और युद्ध प्रयास जारी था। इसके बावजूद '1857 के बाद सबसे ज्यादा गंभीर उपद्रव' की बात की गई और वह भी शक्तिशाली वायसराय लिंलिथगो द्वारा। '1942 में क्या हुआ' और 'क्या हो सकता था' दो अलग बातें थीं और समझदार अंग्रेजों ने पहले नहीं दूसरे के आधार पर योजना बनाई। युद्ध के बाद भविष्य के लिए योजना 1944 के अंत में ही बननी शुरू हो गई थी जब युद्ध का अंत निकट नजर आ रहा था। नया वायसराय वावेल युद्धोत्तर समस्याएं शुरू होने से पहले ही राजनीतिक समझौता करना चाहता था।

तीन

फोकस का एक अन्य क्षेत्र स्वतंत्रता का स्वरूप यानी विभाजन है। सत्ता संभालने वाले लोगों को इस बात का कब और कैसे भान हुआ कि स्वतंत्रता विभाजन के रूप में होनी चाहिए? माउंटबेटन का दावा है कि यही रूप संभव था। लेकिन उसके दावे को स्वीकार करने का कोई कारण नहीं है। अनिता इंद्रसिंह और पार्थसारथी गुप्ता ने दिखाया है कि साम्राज्य की समाप्ति के बाद दक्षिण एशिया में अपने रणनीतिक रक्षा हितों को बरकरार रखने के लिए वे संयुक्त भारत ही चाहते थे। तो फिर महामहिम की सरकार (एच.एम.जी.) ने एकता के पक्ष में दृढ़तापूर्वक हस्तक्षेप क्यों नहीं किया? अथवा विभाजन का भागीदार बनने के बजाए यह मामला भारतीयों पर क्यों नहीं छोड़ दिया गया? क्या यह हिंदू और मुसलमानों के समझौता विहीन मतभेदों के चलते हुआ था जैसा कि अंग्रेजों का दावा है अथवा वे अपने को अपने अतीत से काट कर दक्षिण एशिया में अपने भावी हितों को खतरे में नहीं डालना चाहते थे?

अंग्रेजों ने 'बांटो और भागो' का निर्णय कब लिया? क्या दो देश और शीघ्र सत्ता हस्तांतरण वाली 3 जून की योजना माउंटबेटन-नेहरू के बीच 'सौदा' थी जैसा कि आर.जे. मूर ने दावा किया है?[44] इस विचार के साथ दिक्कत यह है कि इस ब्रिटिश फैसले का उत्तरदायित्व कांग्रेस पर डाल दिया जाता है। यदि खेल के अंतिम मैच में कांग्रेस की चली जैसा कि मूर ने दावा किया है तो अंतिम परिणाम एकता के बजाए विभाजन क्यों हुआ?

कुछ साल पहले पाकिस्तान की विद्वान महिला आयशा जलाल ने न केवल जिन्नाह, बल्कि एक तरह से अंग्रेजों को भी विभाजन की जिम्मेदारी से मुक्त कर दिया।[45] उनका दावा है कि परंपरागत धारणा के विपरीत कांग्रेस विभाजन चाहती थी, जिन्नाह इसके विरुद्ध थे। जिन्नाह ने पाकिस्तान की मांग इसलिए रखी ताकि वे केंद्र में सम्मानजनक स्थिति पाने के लिए सौदा कर सकें। लेकिन सर्वसत्तावादी कांग्रेस की नजर मजबूत केंद्र पर लगी थी, उसने पंजाब और बंगाल को जाने दिया जिन पर इसका बहुत कम नियंत्रण था। अनिता इंद्रसिंह ने इस बारे में स्थिति को पूरी तरह से स्पष्ट किया है: 'यह कि जिन्नाह प्रभुता संपन्न पाकिस्तान चाहते थे, लाहौर में उनके इस आग्रह से स्पष्ट है भारत की समस्या अंतर संप्रदाय की नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय है और इसे इसी रूप में लिया जाना चाहिए।'[46]

कांग्रेस और 1940 के दशक में सांप्रदायिक समस्या के बारे में अधिकांश लेखन में दो पहलू गायब हैं। प्रथम इसमें कांग्रेस एकजुट इकाई के रूप में आती है। इसके सदस्यों में प्रतिक्रिया और रवैए संबंधी विषमता की ओर ध्यान नहीं दिया गया है। कुछेक कांग्रेसियों में 'हिंदू' झुकाव था, लेकिन कांग्रेस मंत्रालयों ने हिंदू उपद्रवियों के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की। पटेल समेत राष्ट्रीय नेताओं ने हिंदू सांप्रदायिकों की मांग के अनुसार कांग्रेस को

हिंदू संस्था बनाने अथवा भारत को हिंदू देश बनाने से इनकार कर दिया।

दूसरे वे सांप्रदायिकता को मुसलिम सांप्रदायिकता मानते हैं और हिंदू सांप्रदायिकता द्वारा खड़ी की गई बाधाओं की उपेक्षा कर देते हैं।

हमने हिंदू सांप्रदायिकता के विकास और कांग्रेस पर इसके दबाव पर विस्तार से चर्चा की है जैसा कि विभाजन संबंधी साहित्य में चित्रित किया गया है। विभाजन पर कांग्रेस का रुख मुसलिम सांप्रदायिकता के मकड़जाल के सामने पीछे हट जाने वाला नहीं है। हिंदू सांप्रदायिकता ने मार्ग का दूसरा छोर अवरुद्ध कर दिया था। उदाहरण के लिए पाकिस्तान की मांग के विरुद्ध जन अभियान का विकल्प पार्टी के सदस्यों सहित हिंदुओं में सांप्रदायिक भावनाएं फैलने के कारण अवरुद्ध हो गया। लीग नेताओं का हाजिर जवाब था कि बिहार और उत्तर प्रदेश में हिंदू भीड़ द्वारा उपद्रव बंगाल में लीग द्वारा उकसाए गए मुसलमानों के व्यापक रूप से निंदित कृत्य से कम अमानवीय नहीं था। जब कांग्रेस ने पंजाब और बंगाल के विभाजन की मांग का इस आधार पर समर्थन किया कि वह वास्तविक अल्पसंख्यक भय को प्रकट करता है तो उसकी यह कह कर आलोचना की गई कि वह महासभा के पदचिह्नों पर चल रही है, क्योंकि महासभा कुछ अलग कारणों से इसकी पहले ही मांग कर चुकी थी। कांग्रेस के बारे में यह कहा जा सकता है कि वह एक खतरनाक किनारे के साथ संकरे मार्ग पर चल रही थी—उसकी एक आंख ऊपर टंगे पत्थरों पर थी और दूसरी नीचे गहरी खाई पर।

अब यह सवाल उठता है कि कांग्रेस ने विभाजन को क्यों स्वीकार कर लिया? यह तो स्वाभाविक लगता है कि लीग ने अपना हिस्सा प्राप्त करने के लिए जोर देकर इसकी मांग की और अंग्रेजों ने इसे स्वीकार कर लिया क्योंकि उन्होंने जो जाल बुना था उस जाल से वे बाहर नहीं निकल सके। लेकिन भारतीय राष्ट्र की हामीदार कांग्रेस ने देश का बंटवारा क्यों स्वीकार कर लिया, इस प्रश्न के बहुत उत्तर आए हैं। नेहरू और पटेल द्वारा विभाजन स्वीकार कर लिए जाने का कारण शीघ्र तथा आसानी से सत्ता प्राप्त करने की उनकी भूख को बताया जाता है। ऐसा करके उन्होंने आवाम के साथ धोखा किया। ऐसा माना जाता है कि गांधी के परामर्शों की उपेक्षा की गई। यह तर्क दिया जाता है कि गांधी ने महसूस किया कि उनके शिष्यों ने उन्हें धोखा दिया है और वे अपना जीवन समाप्त करना चाहते थे लेकिन उन्होंने बहादुरी के साथ अकेले सांप्रदायिक उन्माद का सामना किया, जिसे माउंटबेटन ने 'एक व्यक्ति सीमा बल'[47] कहा है।

इस दौरान गांधी का दृष्टिकोण कांग्रेस से भिन्न और अधिक वैयक्तिक अवश्य था लेकिन उसके बिलकुल विरुद्ध नहीं था जैसा कि अकसर दावा किया जाता है। उनका भागीरथ प्रयास विभाजन को क्यों नहीं रोक सका? यह कहने के बाद कि वे इसके लिए अपना जीवन दे देंगे गांधी ने कांग्रेसियों से विभाजन स्वीकार करने के लिए क्यों कहा? विभाजन की वास्तविकता को लेकर ये प्रश्न बहुत महत्वपूर्ण हैं।

चार

इस पुस्तक में आगे कालक्रमिक के बजाए विषयक प्रस्तुतीकरण को तरजीह दी गई है। भाग एक में जुलाई 1945 तक की कहानी को लिया गया है। अध्याय एक में युद्ध के अंतिम वर्ष में राष्ट्रवादी गतिविधि और सरकार के रुख पर चर्चा की गई है। यह 1942 के कठोर दमन और युद्ध के बाद फिर से शुरू की जाने वाली शांतिकालीन राजनीतिक गतिविधियों के बीच संक्रमणकाल है। अध्याय दो में वावेल प्रस्ताव तैयार होने, महामहिम की सरकार द्वारा इसे हिचकिचाहट के साथ स्वीकार कर लिए जाने, शिमला सम्मेलन और जिन्नाह के अड़ियलपन के कारण उसके विफल हो जाने का विवरण दिया गया है।

अगले अध्याय तीन, चार और पांच भाग दो साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद में हैं। अध्याय तीन में भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की सामान्य तथा 1945 में विशेष साम्राज्यवादी विरोधी नीति पर चर्चा की गई है। यह नीति कांग्रेस द्वारा अपनी और अंग्रेजों की ताकत के जायजे पर आधारित है। आई.एन.ए. बंदियों की रिहाई के लिए आंदोलन पर विशेष फोकस के साथ युद्ध के बाद के छह महीनों में राष्ट्रवादी गतिविधियों का वर्णन किया गया है। अध्याय चार में राजनीतिक गतिविधि के एक अन्य सूत्र को पकड़ा गया है जिसे वाम लेखन में अकसर 'जन आंदोलन' कहा गया है। हमने इन आंदोलनों के स्वरूप और महत्व, इन आंदोलनों के राष्ट्रीय आंदोलन के साथ संबंध और कांग्रेस रणनीति पर इसके प्रभाव के बारे में चर्चा की है। अध्याय पांच की शुरुआत ब्रिटिश शासन के स्वरूप की चर्चा के साथ की गई है। इसके बाद इसमें साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन के प्रति उपनिवेशवादी नीति के अंतिम दशक में उपनिवेशवादी शासन के बढ़ते संकट में राष्ट्रवादी ताकतों की भूमिका की खोज की गई है। यह अध्याय कैबिनेट मिशन भेजे जाने के पीछे दीर्घकालिक और तात्कालिक कारणों पर चर्चा के साथ समाप्त होता है। इस संदर्भ में जन अभियानों विशेष रूप से आर.आई.एन. विद्रोह के प्रभाव पर चर्चा की गई है।

भाग तीन : साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता में ब्रिटिश नीति के दृष्टिकोण से प्रारंभिक 1946 से अगस्त 1947 के कालखंड को समेटा है। अध्याय छह में 1946 के वसंत काल से पतझड़ के दौरान भावी रणनीतिक आग्रहों तथा मौजूदा राजनीतिक बाध्यताओं से प्रभावित एकता प्रयोगों पर विचार किया गया है। अध्याय सात पलायन के लिए समय सीमा तय करने वाले 20 फरवरी 1947 के बयान के स्वरूप लिए जाने की खोजबीन करता है। इसमें यह बताया गया है कि मध्य-1946 से वावेल ने किस प्रकार इनकी असफल पैरवी की और किस प्रकार इसे अंतिम वायसराय माउंटबेटन को दिए गए निर्देशों में शामिल किया गया। अध्याय आठ का फोकस 'विभाजन करो और छोड़ दो' और इसके समय, कारणों और परिणामों पर है।

अध्याय नौ, दस और ग्यारह वाले भाग चार का विषय राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता है। इसमें अल्पसंख्यक और बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के विभिन्न चेहरों पर चर्चा की गई है। अध्याय नौ में 1940 से 1947 के दौरान मुसलिम सांप्रदायिकता के बढ़ते ज्वार के सामने कांग्रेस के कदम-दर-कदम पीछे हटने को लिया गया है। इस दौरान ऐतिहासिक घटनाएं हैं—1946 के चुनाव, अगस्त 1946 से लीग की 'सीधी कार्रवाई', संघर्षरत अंतरिम सरकार और लीग द्वारा संविधान सभा का विच्छेदन। अध्याय दस में हिंदू सांप्रदायिकता पर कांग्रेस की प्रतिक्रिया के बारे में चर्चा की गई है जो इस बात पर निर्भर करती थी कि यह सांप्रदायिकता बहुसंख्यकों की ओर से है जैसे कि बिहार में उपद्रव अथवा पंजाब और बंगाल प्रांतों के विभाजन की मांग के पीछे इन प्रांतों में हिंदू अल्पसंख्यक भय को लेकर है। अध्याय ग्यारह में कांग्रेस पार्टी, कांग्रेस मंत्रालयों और नवजात भारत राष्ट्र की धर्मनिरपेक्षता को नष्ट कर देने में हिंदू सांप्रदायिक ताकतों की 'सफलता' और 'असफलता' का जायजा लिया गया है।

अंतिम खंड विभाजन को कांग्रेस और गांधी के दृष्टिकोण से देखता है–भाग तीन ने ब्रिटिश पक्ष को प्रस्तुत किया था और भाग चार में मुसलिम और हिंदू सांप्रदायिक दृष्टिकोण को। अध्याय बारह में कांग्रेस द्वारा विभाजन को स्वीकार कर लिए जाने के पीछे विभिन्न कारणों, व्याख्या, आशाओं और कमजोरियों पर चर्चा की गई है। अध्याय तेरह में इस बात पर चर्चा की गई है कि भारत के विभाजन को टालने के लिए असफल प्रयास करने के बाद गांधी ने उसे क्यों स्वीकार कर लिया।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. ज्ञानेंद्र पांडेय, *दि प्रोज़ ऑफ अदरनेस*, सबालटर्न स्टडीज एस्सेज इन ऑनर ऑफ रणजीत गुहा, वॉल्यूम 8, नई दिल्ली, 1994, पृ. 188–221.
2. आयशा जलाल, 'सेक्यूलरिस्ट्स, सबालटर्न्स एंड दि स्टिग्मा आफ 'कम्युनलिज्म' : पार्टिशन हिस्टीरिओग्राफी रिविजिटेड,' *माउर्न एशियन स्टडीज* (इसके बाद एम.ए.एस.) वॉल्यूम 30.3, 1996, पृ. 681-89.
3. आयशा जलाल, 'एक्सप्लोडिंग कम्युनलिज्म : दि पॉलिटिक्स ऑफ मुसलिम आइडेंटिटी इन साउथ एशिया', सुगत बोस और आयशा जलाल संपादित *नेशनलिज्म, डेमोक्रेसी एंड डेवेलपमेंट; स्टेट एंड पॉलिटिक्स इन इंडिया*, दिल्ली 1997, पृ. 90.
4. वही पृ. 93, 95.
5. सुगत बोस 'नेशन, रीज़न एंड रिलीजन : इंडियाज इनडिपेंडेंस इन इंटरनेशनल पर्सपैक्टिव' *इकॉनोमिक एंड पॉलिटिकल वीकली* (इसके बाद ई.पी.डब्ल्यू.) वॉल्यूम 33.31, 1 अगस्त 1998, पृ. 2090–97.
6. आयशा जलाल, 'नेशन, रीजन एंड रिलीजन : पंजाब्स रोल इन दि पार्टिशन ऑफ इंडिया' *ई. पी. डब्ल्यू.*, वॉल्यूम 33.32, 8 अगस्त 1998, पृ. 2183–190.
7. जया चैटर्जी, *बंगाल डिवाइडेड : हिंदू कम्युनलिज्म एंड पार्टिशन 1932–1947*, कैंब्रिज, 1996, पृ. 266.
8. टुबी.एम. बिड़ला, 10 जून 1947, दुर्गादास संपादित *सरदार पटेल्स कॉरेसपोंडेंस*, 1945–50 (इसके बाद एस.पी.सी.) वॉल्यूम 4, अहमदाबाद, 1971–74.
9. टी.एन. मदान, 'विदर इंडियन सेक्यूलरिज्म' *एम.ए.एस* वॉल्यूम 27.3, 1993, पृ. 667–97.

10. पार्थ चैटर्जी, 'सेक्यूलरिज्म एंड टॉलरेशन, 'ई.पी.डब्ल्यू. वॉल्यूम 29, 28 जुलाई 1994 पृ. 1968–777.
11. आशिष नंदी, 'दि पॉलिटिक्स आफ सेक्यूलरिज्म एंड दि रिकवरी आफ रिलीजियस टॉलरेंस' वीना दास संपादित, *कम्यूनिटीज रॉयट्स एंड सरवाइवर्स इन साउथ एशिया*, दिल्ली, 1990, पृ. 69–93.
12. शाहनवाज खान, *माई मेमोरीज आफ आईएनए एंड इट्स नेता जी*, नई दिल्ली, 1946, ए.सी. चैटर्जी, *इंडियाज स्ट्रगल फॉर फ्रीडम*, कलकत्ता, 1947, तथा एस.ए. अय्यर, *स्टोरी आफ दि आई.एन.ए.*, दिल्ली, 1972.
13 बी.सी. दत्त, *म्यूटिनी ऑफ दि इन्नोसेंट्स*, बंबई, 1971, तथा सुब्रता बैनर्जी, *दि आर.आई.एन. स्ट्राइक*, नई दिल्ली, 1981.
14. उदाहरण के लिए देखें, सुनील सेन, *एग्रेरियन स्ट्रगल इन बंगाल, 1946–47*, नई दिल्ली, 1972, तेलंगाना आंदोलन के लिए; पी सुंदरैया, *तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल एंड इट्स लैसन्स*, कलकत्ता, 1972; सी राजेश्वर राव, *दि हिस्टोरिक तेलंगाना स्ट्रगल-सम यूजफुल लेसन्स फ्रॉम इट्स रिच एक्सपीरिएंस*, नई दिल्ली, 1972; राजबहादुर गौड, *ग्लोरियस तेलंगाना आर्म्ड स्ट्रगल*, नई दिल्ली, 1973 तेलंगाना संघर्ष के लिए. वार्लिस के लिए देखें एस.वी परुलेकर, *रिवोल्ट आफ दि वार्लिस*, बंबई, 1947.
15. केरल में नारियल जटा मजदूरों के संघर्ष के लिए देखें, के.सी. जॉर्ज, *इमॉर्टल पुन्नाप्रा वयालार*, नई दिल्ली, 1975.
16. मौलाना आजाद, *इंडिया विन्स फ्रीडम : एन ऑटोबायोग्राफिकल नरेटिव*, कलकत्ता, 1959; राजेन्द्र प्रसाद *ऑटोबायोग्राफी*, बंबई, 1957; तथा सी. खलिकज्जमान, *पाथवे टु पाकिस्तान*, लाहौर 1961.
17. पेंडरेल मून संपादित *वावेल : दि वाइस रॉयस जर्नल* (इसके बाद वावेल्स जर्नल) नई दिल्ली, 1977; तथा सर एफ. टकेर, *व्हाइल मेमोरी सर्व्स*, लंदन, 1950 इस अवधि के लिए मूल्यवान हैं लॉर्ड इस्मे, *मेमोएर्स*, लंदन, 1960 भी देखें.
18. लेपियर और कॉलिन्स को दिए गए इंटरव्यू में माउंटबेटन के अतिशयोक्तिपूर्ण बयान विख्यात हैं. इस पर पूरी दो पुस्तकें आधारित हैं.
19. आजाद, *इंडिया विन्स फ्रीडम*.
20. गौतम चट्टोपाध्याय, 'दि अलमोस्ट रिवोल्यूशन : ए केस स्टडी ऑफ इंडिया इन फेब्रुअरी, 1946' *एस्सेज इन ऑनर आफ प्रो. एस.सी. सरकार*, नई दिल्ली, 1776.
21. बैनर्जी, आर.आई.एन. स्ट्राइक, पृ. vii.
22 दत्त, *म्यूटिनी आफ इन्नोसेंट्स*, पृ. 266.
23. हफ टोए, *दि स्प्रिगिंग टाइगर : सुभाषचंद्र बोस*, बंबई, 1974, पृ. 191.
24. दिलीप के. राय, *नेताजी : दि मैन*, बंबई, 1966, पृ. 197.
25. जॉन गैलेघर, *दि डिक्लाइन, रिवाइवल एंड फॉल आफ ब्रिटिश एंपायर*, अनिल सील द्वारा संपादित, कैंब्रिज, 1982, जॉन गैलेघर और अनिल सील 'ब्रिटेन एंड इंडिया बिटविन दि वार्स,' *एमएएस वॉल्यूम* 15.3, 1981, पृ. 387–414, आई.एम. ड्रमोंड, *ब्रिटिश इकॉनोमिक पालिसी एंड दि एंपायर*, 1919–1939, लंदन 1972; क्लाइव डेवे 'दि एंड आफ दि इंपिरियलिज्म आफ फ्री ट्रेड : दि इक्लिप्स आफ दि लंकाशायर लॉबी एंड दि कन्सेशन आफ फिस्कल ऑटोनामी टू इंडिया' क्लाइव डेवे और ए.जी. हॉपकिन्स संपादित *इंपिरियल इंपेक्ट : स्टडीज इन दि इकॉनोमिक हिस्ट्री आफ अफ्रीका एंड इंडिया*, लंदन, 1978. बी.आर. टोमलिंसन ने थोड़ा भिन्न मत व्यक्त किया है 'इंडिया एंड दि ब्रिटिश एंपायर, 1935–47', *दि इंडियन इकॉनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू* (इसके बाद आई.ई.एस.एच.आर.) वॉल्यूम 13.3, 1975, पृ. 331–52. टोमलिंसन ने 'फैंसी फुटवर्क' विचारधारा का विरोध किया है जो अउपनिवेशीकरण को एक ऐसे तकनीक के रूप में देखता है जिसके द्वारा ब्रिटेन के अधिकतम लाभ के लिए औपचारिक साम्राज्य को अनौपचारिक बना दिया जाता है. वह मानता है कि साम्राज्य की समाप्ति के लिए महानगरीय अर्थव्यवस्थाओं में परिवर्तन के अतिरिक्त

एक भारतीय कारण भी था. यह भारतीय फैक्टर राष्ट्रवादी दबाव नहीं बल्कि उपनिवेशवादी सरकार द्वारा जनता पर बराबर बढ़ाए जा रहे वित्तीय भार के प्रति असंतोष था. बीआर टोमलिंसन, 'कॉन्ट्रेक्शन आफ इंगलैंड : नेशनल डिक्लाइन एंड लॉस ऑफ एंपायर', *जर्नल ऑफ इंपीरियल एंड कॉमनवेल्थ हिस्ट्री* (इसके बाद जे.आई.सी.एच.) वॉल्यूम 11.1, 1982, पृ. 58–72.

26 गैलेघर एंड सील 'ब्रिटेन एंड इंडिया बिटविन दि वार्स', पृ. 144.

27. वासुदेव चैटर्जी, 'बिजीनेस एंड पॉलिटिक्स इन दि 1930 एस; लंकाशायर एंड दि मेकिंग आफ दि इंडो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेंट, 1939' एम.ए.एस., वॉल्यूम 15.3, 1981, पृ 527–29. एंड ओउसेप माथेन, 'मॉनिटरी आसपेक्ट्स आफ दि इंटर वार इकॉनोमी आफ इंडिया', अप्रकाशित पी.एच डी. शोधग्रंथ, ऐतिहासिक अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 1980

28. आदित्य मुकर्जी, 'दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास, आसपेक्ट्स आफ इट्स इकॉनोमिक, पॉलीटिकल एंड आइडिओलॉजिकल डेवेलपमेंट इन दि कॉलोनियल पीरियड, 1930–47' सब्यसाची भट्टाचार्य और रोमिला थापर संपादित *सिचुएटिंग इंडियन हिस्ट्री*, नई दिल्ली, 1986, पृ. 239–82.

29. डेबिट पोटर, 'मैन पावर शॉर्टेज एंड दि एंड आफ कॉलोनियलिज्म : दि केस आफ दि इंडियन सिविल सर्विस', एस.ए.एस., वॉल्यूम 7.1, 1973, पृ. 47–731. साइमन एप्सटीन अकेला ब्रिटिश इतिहासकार है जिसने प्राधिकार के कम होने में राष्ट्रवादी दबाव की भूमिका को स्वीकार किया है देखें साइमन एप्सटीन, 'डिस्ट्रिक्ट आफीसर्स इन डिक्लाइन, इरोजन आफ ऑथर्टी इन दि बॉम्बे कंट्रीसाइड 1919–47', एम.ए.एस., वॉल्यूम 16.3, 1982, पृ. 493–518.

30 आर.जे. मूर, 'रीसेंट हिस्टोरिकल राइटिंग ऑन दि मॉडर्न ब्रिटिश एंपायर एंड कॉमनवेल्थ : लेटर इंपोरियल इंडिया' जे.आई.सी.एच., वॉल्यूम 4.1. 1975, पृ. 55–76 देखें उसकी *क्राइसिस आफ इंडियन यूनिटी*, 1971--1940, नई दिल्ली, 1974; और *एस्केप फ्रॉम एंपायर : दि इटली गवर्नमेंट एंड दि इंडियन प्रॉब्लम*, ऑक्सफोर्ड, 1983.

31 ताराचंद, *हिस्ट्री ऑफ दि फ्रीडम मूवमेंट इन इंडिया*, वॉल्यूम 4, नई दिल्ली, 1972; रामगोपाल, *हाऊ इंडिया स्ट्रगल्ड फॉर फ्रीडम*, बॉम्बे, 1967, तथा कई अन्य.

32. इस श्रेणी में तीन तरह का लेखन आता है : भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (सी.पी.आई.) के आफिशियल इतिहास और समीक्षाएं, कम्युनिस्ट नेताओं का लेखन तथा कुछ वामपंथी इतिहासकारों द्वारा किया गया काम. एम. फारूकी, *इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल एंड दि कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1974, मोहित सेन, *रिवोल्यूशन इन इंडिया, पाथ एंड प्रॉब्लम्स*, नई दिल्ली, 1977, आर.पी. दत्त, *इंडिया टुडे*, बंबई, 1949, *वी वी. बालाबुशेविच* और *ए.एम. दियाकोव*, *कंटेंपोरेरी हिस्ट्री ऑफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1964; सुमित सरकार 'पॉपुलर मूवमेंट्स एंड नेशनल लीडरशिप, 1945–47' ई पी.डब्ल्यू., वॉल्यूम 17.14–17 15 अप्रैल 1982 पृ. 677–89; अजित रॉय, 'सोशोपॉलिटिकल बैकग्राउंड ऑफ माउंटबेटन अवार्ड', *दि मार्क्सिस्ट रिव्यू*, वॉल्यूम 16.5–16.7, 1982, 171–91.

33. कुछ युद्धोत्तर विद्रोहों पर केवल वामपंथी लेखन में विस्तार से चर्चा की गई है. जन *मिलिटेंसी* की वीरतापूर्ण गाथा को चित्रित करने के लिए इन संघर्षों को लिया गया है.

34. जन 'अतियो' के डर ने कांग्रेस नेताओं को वार्ता और समझौते का मार्ग पकड़े रहने तथा अंत में आवश्यक कीमत के रूप में विभाजन को स्वीकार करने के लिए बाध्य किया', सुमित सरकार, *मॉडर्न इंडिया, 1885–1945*, नई दिल्ली, 1983, पृ. 414. 'साम्राज्यवाद से समझौते के साथ विभाजन का खतरा जुड़ा था, राष्ट्रीय नेतृत्व उसके मुकाबले क्रांतिकारी विजय से अधिक भयभीत थे' चट्टोपाध्याय, *आलमोस्ट रिवोल्यूशन*, पृ. 428.

35. 'साम्राज्यवादी पुराने तरीके से शासन नहीं चला सकते थे इसलिए चालाक साम्राज्यवादियों ने राष्ट्रीय नेतृत्व को सत्ता सौंपकर रणनीति के तौर पर पीछे हटने का फैसला किया.'

जी अधिकारी, *कम्युनिस्ट पार्टी एंड इंडियाज पाथ टु नेशनल रीजनरेशन एंड सोशलिज्म*, नई दिल्ली, 1964.

36. गांधी के नेतृत्व में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने ब्रिटिश शासन से सत्ता हस्तांतरण और उप महाद्वीप द्वारा क्रांतिकारी वर्ग एवं जन संघर्ष के रूप में मिलिटेंट मार्ग अपनाने को टालने के लिए समझौते का अहिंसक मार्ग अपनाया. ए.आर. देसाई, संपादित *पेजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया*, बंबई, 1979, पृ. XX.
37. चंदन मित्रा, 'कॉनटुअर्स आफ पॉपुलर प्रोस्टेट्स : दि क्विट इंडिया मूवमेंट आफ 1942', *ए हिस्ट्री आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस, 1885–1947* पर सेमिनार में प्रस्तुत पर्चा, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (अबके बाद एन.एम एम एल.) नई दिल्ली, 22–24 जुलाई 1985
38. पार्थसारथी गुप्ता, 'इंपोरियल स्ट्रेटेजी एंड दि ट्रांसफर आफ पावर, 1939–51', एके गुप्ता संपादित, *मिथ एंड रीयलिटी : स्ट्रगल फॉर फ्रीडम इन इंडिया*, 1945–47, नई दिल्ली, 1987, पृ. 1–53.'
39. अनिता इंद्रसिंह, *दि ऑरिजिन्स ऑफ दि पार्टिशन ऑफ इंडिया, 1936–1947*, नई दिल्ली, 1987.
40. बी.आर. टोमलिंसन, 'इंडो-ब्रिटिश रिलेशन्स इन दि पोस्ट कॉलोनियल एरा : दि स्टेलिंग बलेंसेज नेगोशिएशन्स 1947–49', जे.आई.सी.एच , वॉल्यूम 13.3, मई 1985, पृ. 142–62.
41 पार्थसारथी गुप्ता, *इंपीरियलिज्म एंड दि ब्रिटिश लेबर मूवमेंट 1914–64*, लंदन, 1975,पृ. 292.
42. दत्त, *इंडिया टुडे* और बालाबुशेविच और दियाकोव, *कॉनटेंपोरेरी हिस्ट्री ऑफ इंडिया*.
43. अनिता इंद्रसिंह 'डी कॉलोनाइजेशन इन इंडिया : दि स्टेटमेंट आफ 20 फैब्रुअरी 1947', *इंटरनेशनल हिस्टोरिकल रिव्यू* (इसके बाद आई.एस.आर.) वॉल्यूम 6.2, 1984, पृ. 191–209.
44. आर.जे मूर., *एंडगेम्स ऑफ एंपायर : स्टडीज आफ ब्रिटेन्स इंडियन प्राब्लम*, दिल्ली, 1988
45. आयशा जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन : जिन्नाह दि मुसलिम लीग एंड दि डिमांड फॉर पाकिस्तान*, कैंब्रिज, 1985.
46 वह मौलाना आजाद द्वारा अपनी आत्मकथा, *इंडिया विन्स फ्रीडम* में दिए सामान्यत: स्वीकृत इस तर्क (और उनसे पहले रेगिनाल्ड कूपलैंड के तर्क) को अस्वीकार करती हैं कि यदि कांग्रेस 1937 में उत्तर प्रदेश में लीग के साथ सम्मिलित सरकार बना लेती तो विभाजन से बचा जा सकता था. 'प्रांतीय लीगियों और कांग्रेस के बीच बातचीत के प्रति जिन्नाह के विरोध से स्पष्ट है कि इस बारे में असफलता मार्च 1940 में प्रभुतासंपन्न मुसलिम देश की उनकी मांग का कारण नहीं हो सकती थी', सिंह, *ऑरिजिन्स ऑफ पार्टिशन*, पृ. 24.
47. संध्या चौधुरी, *गांधी एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1984; सरकार, *मॉडर्न इंडिया*, एंड बिमल प्रसाद, *गांधी नेहरू एंड जे.पी. : स्टडीज इन लीडरशिप*, दिल्ली, 1984.

भाग एक

पृष्ठभूमि

अध्याय एक

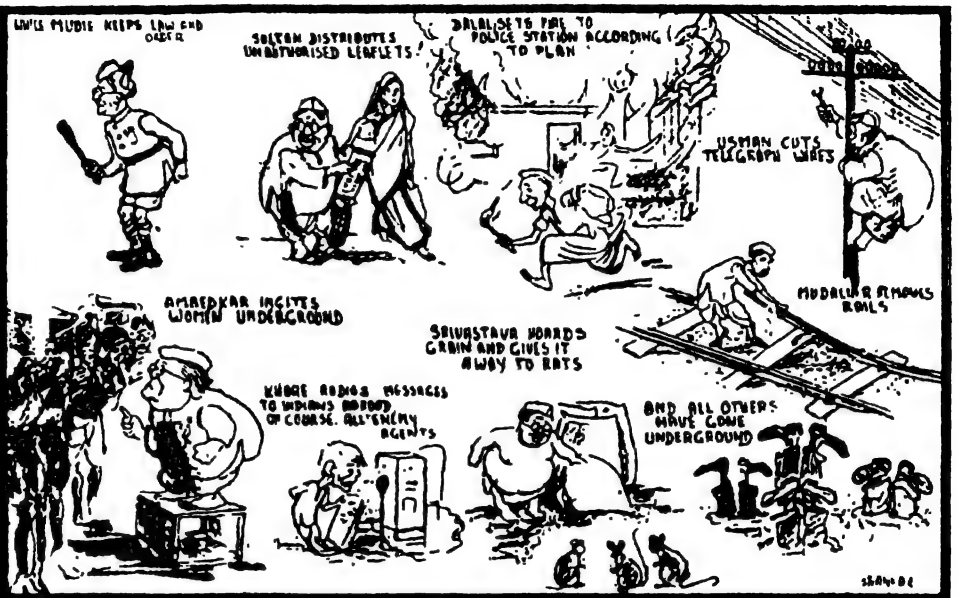
युद्ध के अंत में राष्ट्रवादी गतिविधियां और सरकार की प्रतिक्रिया

भारत छोड़ो आंदोलन के बाद राजनीतिक माहौल में पूरी तरह से उदासी छा गई थी। इसको देखते हुए प्रशासन ढीला हो सकता था। अभूतपूर्व दमन के कारण जन आंदोलन का भट्टा बैठ गया था। भूमिगत आंदोलन ने भारत छोड़ो की मशाल बुलंद की हुई थी। वह भी अब बिखर चुका था। 1944 के शुरू में गतिविधियों के नाम पर कांग्रेसियों ने अपने सजायाफ्ता साथी कार्यकर्ताओं और उनके परिवारों के लिए राहत और कानूनी सहायता समितियां बना दी थीं। कस्तूरबा गांधी स्मारक निधि के लिए 75 लाख रुपए का चंदा इकट्ठा करने के लिए पूरे देश में समितियों की बाढ़ सी आ गई थी। यह राशि गांधी के 75 वें जन्मदिन पर उन्हें पेश की जाने वाली थी।[1] सरकार ने निधियों और सदस्यों के बारे में जानकारी इकट्ठी की। संदेह व्यक्त किया गया कि इनसानी सेवा की आड़ में कांग्रेस को फिर से खड़ा किया जा रहा है और भूमिगत आंदोलनों को पैसा भेजा जा रहा है। लेकिन इस संबंध में किसी भी कार्रवाई के बारे में नहीं सोचा गया।

राजनीतिक माहौल इतना उजाड़ था कि सेहत की बिना पर 6 मई 1944 को गांधी को रिहा कर दिया गया।[2] उम्मीद की जा रही थी कि गांधी की रिहाई से मृत भूमिगत आंदोलन में दुबारा जान आ जाएगी। लेकिन भूमिगत कार्यकर्ताओं को आत्म समर्पण की सलाह देकर उन्होंने आशाओं पर पानी फेर दिया।[3] जुलाई 1944 से वे निर्माण कार्य में लग गए जो शीघ्र ही कांग्रेसजनों की मुख्य गतिविधि बन गया। कांग्रेस पर जारी प्रतिबंध को देखते हुए निर्माण कार्य की महत्वपूर्ण भूमिका राजनीतिक हो गई। इसने लोगों को संगठित किया तथा राजनीतिक अभिव्यक्ति का नया साधन बनकर सामाजिक बदलाव की कोशिश के रूप में अपना योगदान किया। निर्माण कार्य राष्ट्रवादी राजनीतिक मंच बन गया। इस पर साम्राज्यवादी विरोधी मुद्दे उठाए जाते थे। आलोचना का विषय अकसर सरकारी नीतियां हुआ करती थीं। सामूहिक ड्रिलों और सार्वजनिक बैठकों पर प्रतिबंध, सरकार के बचत अभियान और लेवी योजना का विरोध किया जाता था। इसके बाद युद्ध फंड में पैसा देने से इनकार और विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार किया गया।

सरकार ने इस नए राजनीतिक घटनाक्रम को गंभीरता से लिया। निर्माण कार्य में बराबर बढ़ोत्तरी के बारे में प्रांतों से प्राप्त रिपोर्टें व्हाइटहॉल को भेजी जाती थीं। दि ऑल इंडिया स्पिनर्स एसोसिएशन, दि ऑल इंडिया विलेज इंडस्ट्रीज एसोसिएशन, कस्तूरबा गांधी स्मारक

CONGRESS RESPONSIBILITY



इस बात का खतरा है कि जो लोग गांधी के इस रचनात्मक कार्यक्रम से सहमत नहीं हैं वे तोड़फोड़ की अपनी गतिविधियों के लिए इसको खोल की तरह इस्तेमाल कर सकते हैं —सर फ्रांसिस मुदी

स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 17 अप्रैल 1945

निधि जैसी एसोसिएशनों[4] के बारे में राय थी कि ये 'नए नाम से पुरानी कांग्रेस समितियां ही हैं।' निर्माण कार्य कांग्रेस के प्रभाव को फिर से बढ़ाने और संगठन को फिर से खड़ा करने के लिए 'कवर', 'घटाटोप' या 'बहाने' के रूप में देखा गया।[5]

ये सभी कदम भविष्य के लिए उठाए गए थे और इनका लक्ष्य मजबूत संगठन बनाना था ताकि 'सरकार से संघर्ष' की आवाज उठाते ही उसे जन आंदोलन में बदला जा सके।[6] सरकार की नीतियों की आलोचना तथा संगठन को फिर से खड़ा किए जाने से युद्ध कोशिशों को धक्का लग सकता था। गांधी द्वारा भूमिगत आंदोलन की खुले आम आलोचना और उनके तथाकथित इस मत के बावजूद कि यह सरकार से लड़ाई का समय नहीं है, अफसरों को यही लगता था कि संगठन का इस्तेमाल लड़ाई के लिए होगा। लेकिन अफसरों के लिए युद्ध के बाद की स्थिति अधिक महत्वपूर्ण थी। आशंका थी कि युद्ध खत्म होने और राजनीतिक आजादी का माहौल आने के बाद रिहा किए गए बंदियों 'के हाथों में' बढ़ते हुए असंतोष और सक्रिय संगठन का बारूद होगा।[7]

बाधाओं के बावजूद यदि कांग्रेस ने निर्माण कार्यक्रम की आड़ में अपना काम जारी रखा तो भारतीय अवाम ने प्रमुख राष्ट्रवादी पार्टी पर प्रतिबंध के बावजूद स्वतंत्रता दिवस, राष्ट्रीय सप्ताह समारोहों और चिमुर-अस्ती जानबख्शी आंदोलन में भारी संख्या में भाग लेकर अपनी राष्ट्रीय भावनाओं का इजहार किया। परंपरा से स्वतंत्रता दिवस 26 जनवरी को आयोजित किए जाते थे और भड़कावे का कोई काम न करने के गांधी के निश्चय के अनुसार ये आयोजन शांतिपूर्ण होते थे। झंडा फहराना, स्वतंत्रता दिवस शपथ को पढ़ना, कांग्रेस के छोटे झंडों की बिक्री और वाणिज्यिक संस्थाओं का बंद रहना सामान्य बातें हुआ करती थीं।[8] राष्ट्रीय साप्ताहिक दिवस भी ऐसे ही मनाए जाते थे। जन सभाओं में कांग्रेस का झंडा फहराया जाता था तथा कांग्रेसी नेताओं की रिहाई और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना के लिए संकल्प पास किए जाते थे। खादी पर जोर और कताई राष्ट्रीय सप्ताह की खास बात हुआ करते थे। चरखा मुकाबले और दंगल आयोजित किए जाते थे तथा कताई प्रदर्शन और प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती थी। बंबई, पूना और नागपुर में खादी नुमाइशें लगाई जाती थीं। पंजाब में खादी बेची जाती थी। चरखा प्रशिक्षण केंद्र स्थापित करने जैसी स्थायी गतिविधियों की सूचना भी होती थी। कुल मिलाकर गतिविधि चुपचाप चलाई जाती थीं।[9]

चिमुर और अस्ती में मृत्यु दंड से पूरे राष्ट्र में सहानुभूति की लहर दौड़ गई।[10] इसमें अवाम की दिलचस्पी जनवरी में शुरू हुई और अप्रैल में ऊंचाई पर पहुंच गई। पूना, दिल्ली, मद्रास, अमृतसर, बंगाल और पंजाब के शहरों, केंद्रीय प्रांतों और बरार के बंबई, बुरहानपुर, गोंडा और अकोला जिलों, पेशावर, कटक जिलों और बर्दवान में जनसभाएं आयोजित की गईं जिनमें मौत की सजा को कम करने की अपील या मांग करते हुए संकल्प पारित किए गए।[11] अगस्त 1945 में नए विदेशमंत्री लॉर्ड पैथिक लॉरेंस ने इस आधार पर मौत की सजा को कम करने का आग्रह किया कि आदेश दिए जाने के बाद बहुत समय बीत

चुका है, कत्ल बगैर सोचे-विचारे किए गए और सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि यह नई बनी लेबर सरकार की ओर से तोहफा होगा। वावेल को डर था कि इस कदम से सशस्त्र सेनाओं, सिविल सेवाओं तथा निष्ठावान लोगों का हौसला पस्त होगा। लेकिन वह इस बात से सहमत था कि सजा सुनाने के बाद 'काफी देरी को देखते हुए' एक इनसानी उपाय के रूप में सजा कम करने की सिफारिश करना ठीक रहेगा।[12]

जैसा कि हमने देखा, कांग्रेस पर प्रतिबंध के बावजूद रचनात्मक कार्य जारी रहा और राष्ट्रीय भावनाएं अपने आप अभिव्यक्त होती रहीं। इसी प्रकार कांग्रेस के रूप में राष्ट्रवादी विरोध का मुख्य चैनल बंद हो जाने पर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी, मजदूर संगठन, विद्यार्थी यूनियनों और महिला सम्मेलनों की राजनीतिक गतिविधियों के रूप में सहायक चैनल खुल गए। इसके दो महत्वपूर्ण पहलू थे। इनका काफी राजनीतीकरण हो गया था जो कि पूरे देश में बड़ी संख्या में किसान सम्मेलन, विद्यार्थी बैठकें और श्रम सम्मेलन आयोजित किए जाने से जाहिर है। इन समूहों के संगठनों ने अपने सदस्यों की संख्या बढ़ाई, नई शाखाएं खोलीं, प्रशिक्षण क्लासें और स्टडी सर्किल चलाए और समितियां आदि बनाईं। कम्युनिस्टों ने मजदूर हड़तालों में मुस्तैदी से भाग लिया, मजदूरों और किसानों के सम्मेलन बुलाए और जबरदस्त प्रोपेगंडा किया।[13]

दूसरा पहलू इन संगठनों द्वारा अपनाया गया राजनीतिक रुख है। यह समूह विशेष के हितों पर केंद्रित नहीं था। उनकी भी वही मांगें थीं, कांग्रेस नेताओं और कार्यकर्ताओं की रिहाई और राष्ट्रीय सरकार की स्थापना। बहुत कम किसान सम्मेलनों में यह मांग उठाई गई।[14] जनवरी से मई के दौरान ऐसे कुल 23 सम्मेलन आयोजित किए गए जिनमें से छह कांग्रेस[15] और नौ कम्युनिस्टों (जिन्होंने राष्ट्रवादी रवैया अपनाया)[16] के तत्वावधान में आयोजित किए गए। इससे जाहिर है कि इनके समर्थन का आधार काफी व्यापक रहा होगा। मजदूर संगठनों में से भी केवल चार ने यह मांग उठाई।[17] उन्नीस विद्यार्थी सम्मेलनों और यूनियनों ने भी पूना, बंबई, बरेली और लाहौर में यह मांग उठाई।[18]

कम्युनिस्टों ने मई दिवस के अवसर पर मद्रास, बंबई और कलकत्ता में प्रचार बैठकों और अपने नियंत्रण में किसान और मजदूर संगठनों के सम्मेलनों में मनाए गए स्वतंत्रता दिवसों में अपनी राष्ट्रवादी मांग उठाई।[19] दि नेशनल लिबरल फैडरेशन आफ इंडिया ने भी इन मांगों का समर्थन किया।[20] एफ आई सी सी आई, दि ऑल फ्रंटियर पॉलिटिकल कॉन्फ्रेंस तथा विदेश से लौटने पर इंडियन साइंटिस्ट मिशन, एक महिला सम्मेलन और धुलिया में एक साहित्यिक सम्मेलन तथा तरनतारन में एक सिख दिवान में ये मांगें उठाई गईं।[21]

सी पी आई के कांग्रेस हिमायती रुख को देखते हुए सरकार को उसके प्रति अपनी नीति पर फिर से विचार करना पड़ा। प्रतिबंध के संभावित प्रभावों पर भी विचार किया गया। डर था कि इस कार्रवाई से उसकी गतिविधियां भूमिगत हो जाएंगी और पार्टी को

शहीद का चोला मिल जाएगा। कुल मिलाकर पार्टी को वैध बनाए रखने और तटस्थ नीति पर कायम रहने का फैसला किया गया। सरकार को यह भी उम्मीद थी कि सी पी आई को कांग्रेस पर हावी 'कैपिटलिस्ट क्लिक' के खिलाफ काम करने के लिए भी प्रोत्साहित किया जा सकता है।[22]

इस प्रकार इस चरण में राष्ट्रवादी गतिविधियों ने राष्ट्रीय मुद्दों और स्वतंत्रता की मांग के लिए जन समर्थन का रूप लिया। यह राष्ट्रवादी ताकत का प्रदर्शन मात्र था, ब्रिटिश हुकूमत पर हमला नहीं। कांग्रेस पर प्रतिबंध और लोगों को मोबिलाइज करने की किसी भी कोशिश के न होने के बावजूद पिछले वर्षों के दौरान एकजुटता का प्रदर्शन कांग्रेस द्वारा राष्ट्रवादी भावना को मजबूत कर दिए जाने का सूचक था। युद्ध में फंसे प्रशासन द्वारा कांग्रेस पर प्रतिबंध जैसी बाधाएं खड़ी कर दिए जाने के कारण संगठित गतिविधियां निर्माण कार्य तक ही सीमित रहीं। लेकिन प्रतिबंधों द्वारा दबाया गया राष्ट्रवादी आंदोलन स्वतंत्रता दिवस समारोह और चिमुर-अस्ती मामलों के समय अपने आप फूट पड़ता था। सभी वर्गों की गतिविधियों में 'राष्ट्रीयता की मौजूदगी ने झंडा बुलंद रखा।'

राष्ट्रवादी गतिविधियों ने अंग्रेजों द्वारा दिए गए सीमित दायरे के अनुसार स्वयं को ढाल लिया। अंग्रेजों की नीति भी इन गतिविधियों के स्वरूप के अनुसार ही तय की जाती थी। गतिविधियां भड़काने वाली नहीं हुआ करती थीं और उनसे कानून और व्यवस्था को खतरा भी नहीं हुआ करता था। इसलिए उनसे निपटने के लिए बहुत कोशिशों की जरूरत नहीं होती थी। राष्ट्रवादी ताकत में लगातार बढ़ोत्तरी सरकार के लिए चिंता का विषय थी लेकिन सरकारी नीति केवल निगरानी तक सीमित थी। संगठनात्मक ताकत का उपयोग भविष्य में किया जाना था। इसलिए अंग्रेजों की नजर भी भविष्य पर टिकी थी। सरकार का ध्यान युद्ध के बाद कार्यों और नए हालात के लिए योजना बनाने पर केंद्रित था। समझौते के लिए राजनीतिक धरातल तैयार करना सबसे बड़ा काम था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. देखें राहत और कानूनी सहायता समितियों पर टिप्पणियां, टिप्पणियों के परिशिष्ट; डायरेक्टर इंटैलिजेंस ब्यूरो (अब के बाद डी आई बी) के सहायक निदेशक (एस) बेवेरिज की टिप्पणी 15 जनवरी 1944; और टोटेनहम, अतिरिक्त सचिव, गृह विभाग, 1944, होम पॉलिटिकल (इसके बाद होम पॉल) 4/1/44, नेशनल आरकाइब्ज आफ इंडिया (इसके बाद एन ए आई) नई दिल्ली की टिप्पणियां. कस्तूरबा स्मारक निधि पर चर्चा होम पॉल 4/3/44 में की गई है .
2. सभी प्रांतों को गृह विभाग का तार, 5 मई 1944, होम पॉल 33/19/44.
3. देखें गांधी और अरुणा आसफ अली के बीच पत्र व्यवहार 9 जून और ः अगस्त 1944, जवाहरलाल नेहरू पेपर्स (इसके बाद जे.एन. पेपर्स), एन एम एम एल, नई दिल्ली. गांधी के रवैए के कारण सरकार ने भूमिगत आंदोलन के दक्षिणपंथी हिस्से ऑल इंडिया सत्याग्रह कौंसिल के खिलाफ कार्रवाई की योजना को मुलतवी कर दिया, बेवेरिज, सहायक निदेशक (एस), डी आई बी, 16 अगस्त 1944, होम पॉल 4/4/44.

4. वावेल से आमरे, 25 फरवरी 1945, एन. मानसर्घ ई.डब्ल्यू.आर., लंबी और ई पी. मून, संपादित, *कॉन्सटिट्यूशनल रिलेशन्स बिटविन ग्रेट ब्रिटेन एंड इंडिया : ट्रांसफर आफ पावर, 1942-47* (इसके बाद *टी पी*), लंदन 1970-83, वॉल्यूम 5, पृ. 615; टाइनम (गवर्नर, सी पी और बरार) से वावेल, उद्धरण, 23 नवंबर 1944, वही, पृ. 219; एसोसिएटिड प्रेस आफ इंडिया (इसके बाद ए पी आई) की नागपुर से रिपोर्ट 11 दिसंबर 1944 में सामाजिक कार्यकर्ताओं की दुनिया में सबसे बड़ी संस्था के निमाण पर टिप्पणी की गई है. इस समिति में तालीमी संघ, चरखा संघ, विलेज इंडस्ट्रीज एसोसिएशन और गौसेवा संघ के सदस्य होंगे.
5. टाइनम ने वावेल को खबरदार किया है कि 'ग्रामीण उत्थान के घटाटोप पर भरोसा नहीं किया जा सकता' जो कि 'गांधी की धोखेबाजी है,' 7 जनवरी 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 5, पृ. 378 और 379. 'वास्तव में पंजाब में कांग्रेस पुनर्गठन के नेता कोई रचनात्मक कार्य कर ही नहीं सकते, मई 1945 के बाद के पखवाड़े के लिए पंजाब फोर्टनाइटली रिपोर्ट (इसके बाद एफ आर), होमपॉल 18/5/45. 'कांग्रेस ममर्थक भारत में दूसरे स्थानों की तरह यहां अपनी ताकत बढ़ाने के लिए काफी बड़े पैमाने पर कोशिश कर रहे हैं', ग्लेंसी (पंजाब गवर्नर) से वावेल उद्धरण, 24 जनवरी 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 5, पृ. 616. लगभग सभी जिलों ने 'गांधी के निर्माण कार्य' की आड़ में कांग्रेस गतिविधियों में तेजी आने की रिपोर्ट दी है. अब यह साफ होता जा रहा है कि कांग्रेसी कार्यकर्ताओं का लक्ष्य उनकी सभा को गैरकानूनी एसोसिएशन घोपित करने का मौका दिए बगैर बिखरे पड़े कांग्रेस संगठन को फिर से खड़ा करना है (मार्च 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, होमपॉल 18/3/45).
6. 'मुझे इसमें कोई शक नहीं कि इनका (पुनर्गठन उपायों का) उद्देश्य कांग्रेस को फिर से ऐसी स्थिति में लाना है जिससे कि वह सरकार को जोखिम में डाल सके', टाइनम से वावेल, उद्धरण 23 नवंबर 1944. वावेल ने पुष्टि की 'वास्तविक लक्ष्य सरकार से संघर्ष के लिए तैयारी है', वावेल से आमरे, 25 फरवरी 1945, वही पृ. 615; मि. गांधी का कहना है कि 'निर्माण कार्य का बुनियादी लक्ष्य आवाम की सामाजिक और आर्थिक दशा को सुधारना है, लेकिन औसत कांग्रेसी कार्यकर्ता यही मानता है कि यह संघर्ष के अगले दौर के लिए तैयारी के रूप में कांग्रेस के प्रभाव को बढ़ाना है,' फरवरी 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/2/45.
7. गवर्नर सम्मेलन के आखिरी दिन राजनीतिक हालात पर जैनकिन्स की टिप्पणी, 31 अगस्त 1944, वही, पृ 2; और वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944, *टी पी*, वॉल्यूम 5, पृ. 38.
8. गांधी ने बड़े समारोहों के बजाए निर्माण कार्यों पर फोकस करने वाले निजी किस्म के समारोहों की सलाह दी, *दि हिंदुस्तान टाइम्स* (इसके बाद एच टी), 25 जनवरी 1945. फरवरी 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए सी पी और बरार की एफ आर भी देखें.
9. माटुंगा (बंबई), हुबली, लखनऊ, हाथरस, गुड़गांव, मद्रास, पंजाब, सिंध, दिल्ली और अजमेर में बैठकों की खबर मिली. पंजाब के क्रांतिकारियों, भगतसिंह, राजगुरु और सुखदेव का ठाणा, महद (कोलाबा), जलगांव (ईस्ट खानदेश) में सम्मान किया गया, देखें *एचटी*, 8,10,20 अप्रैल 1945; अप्रैल 1945 के पहले पखवाड़े के लिए पंजाब, मद्रास, सिंध, दिल्ली, अजमेर की एफ आर और अप्रैल 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई की एफ आर देखें, होमपॉल 18/4/45. देखें *एचटी*, 12, 13 और 20 अप्रैल 1945; और अप्रैल 1945 के पहले पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, होमपॉल 18/4/45. अप्रैल 1945 के पहले पखवाड़े के लिए मद्रास, बंबई, यू.पी, पंजाब और सी.पी. तथा बरार एफ आर और अप्रैल 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए यू.पी., पंजाब और सी.पी. और बरार एफ आर, वही, सभी ने जोश की कमी की सूचना दी है.
10. चिमुर और अस्ती केंद्रीय प्रांतों के क्रमश: चंदा और वर्धा जिलों में कसबे थे. यहां के लोग 9 अगस्त 1942 को कांग्रेस नेताओं की गिरफ्तारी पर विरोध प्रकट कर रहे थे. उन्होंने पुलिस फायरिंग का जबरदस्त

जवाब दिया. चिमुर में चार और अस्ती में पांच ब्रिटिश अधिकारी मारे गए. यहां छह प्रदर्शनकारी भी मारे गए. पुलिस स्टेशनों और सरकारी इमारतों को नुकसान पहुंचा, सेना द्वारा कड़ा दमन शुरू किया गया. भारी पैमाने पर गिरफ्तारियां की गईं, सामूहिक जुर्माने किए गए, महिलाओं से बलात्कार आम बात बन गई. गिरफ्तार लोगों में से कइयों को सजा सुनाई गई. चिमुर के नौ और अस्ती के छह कैदियों को मौत की सजा सुनाई गई. देखें गोविंद सहाय, 42 रिबेलियन, दिल्ली, 1947, पृ 369 और 373; तथा संपादक की टिप्पणी *टी पी*, वॉल्यूम 5, पृ. 713

11 अप्रैल 1945 के पहले पखवाड़े के लिए पंजाब, बंबई, सी.पी. और बरार, एन डब्ल्यू एफ पी और उड़ीसा की एफ आर, होमपॉल 18/4/45. दिल्ली स्टॉक एंड शेयर ब्रोकर्स एसोसिएशन, सिल्क मर्चेंट्स चेंबर, बनारस, केसरगंज मर्चेंट एसोसिएशन और कानपुर आइरन एंड हार्डवेयर मर्चेंट्स एसोसिएशन ने अपील की. करांची की सैंतालीस कारोबार एसोसिएशनों ने अपना सरोकार जताते हुए वाइसरॉय को तार भेजे और रावलपिंडी के कारोबारियों ने भी ऐसा ही किया. देखें *एचटी*, 4,5, और 12 अप्रैल 1945

12. पैथिक लॉरेंस से वावेल, 10 अगस्त 1945, वावेल से पैथिक लॉरेंस 11 अगस्त 1945; और पैथिक लॉरेंस से वावेल, 15 अगस्त 1945. *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ 43, 46, 44 और 68.

13 जनवरी से मई के दौरान पूरे देश में कुल 23 किसान सम्मेलन हुए. बंबई, गुंटूर, पंजाब, बर्दमान, जबलपुर, मैमनसिंह आदि में नौ बड़े विद्यार्थी सम्मेलन आयोजित किए जाने की सूचना मिली. मद्रास, अहमदाबाद, नागपुर, शोलापुर, असम और अजमेर में सात मजदूर सम्मेलन हुए देखें विभिन्न प्रांतों की जनवरी से मई की एफ.आर., होमपॉल 18/1/45 से 18/5/45.

14 3 दिसंबर 1944 को कंभैपुरा में आनंद तालुका किसान सम्मेलन, कृषक पार्टी की बैठकें फरीदपुर और बोगरा में हुईं, देखें जनवरी 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/1/45; और मार्च 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर होमपॉल 18/3/45.

15 बेलगाम, सूरत, पटना, बंबई, ठाणा और बर्दवान जिले, देखें फरवरी 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/4/45; मई 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बिहार एफ आर और मई 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई और बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/5/45.

16 ठाणा, किस्तना, पूर्वी खानदेश, कनारा, रत्नगिरी और नागपुर जिले.

17. ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (ए आई टी यू सी) अधिवेशन, मद्रास, टैक्सटाइल लेबर यूनियन बैठक, अजमेर; छतक में बंगाल सिमेंट कंपनी की लेबर यूनियन की बैठक और गुजरात ट्रेड यूनियन कांग्रेस (टी यू सी), अहमदाबाद; जनवरी 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, होमपॉल 18/1/45; मार्च 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए अजमेर एफ आर होमपॉल 18/3/45; मई के पहले पखवाड़े के लिए असम एफ आर; मई 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/5/45.

18. जनवरी 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/1/45; और फरवरी 1945 के पहले पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, होमपॉल 18/2/45.

19 अहमदाबाद, शोलापुर, सूरत, पूर्वी खानदेश, रुद्रपुर, बंबई और बंगाल की एफ आर फरवरी 1945 के लिए, होमपॉल 18/245; फरवरी 1945 के पहले पखवाड़े के लिए पंजाब और उड़ीसा एफ आर, वही, मई 1945 के पहले पखवाड़े के लिए मद्रास, बंबई और बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/5/45.

20. 'न्यूज फ्राम इंडिया', 26 मार्च 1945, होमपॉल 97/45.

21. एफ आई सी सी आई का 18वां वार्षिक सत्र, 3 -4 मार्च 1945; होमपॉल 87/45 *एच टी*, 22 और 23 अप्रैल 1945; 22 फरवरी 1945 की ए पी आई रिपोर्ट, होमपॉल 97/45; 22 दिसंबर 1944 को महाराष्ट्र प्रॉविंसियल विमन कॉन्फ्रेंस का 18वां अधिवेशन और 24 तथा 25 दिसंबर 1944 को महाराष्ट्र लिटरेरी कॉन्फ्रेंस का 28वां अधिवेशन, जनवरी 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/1/45; *एच टी*, 23 जनवरी 1945.

22. प्रांतीय सरकारों को टोटेनहाम के सरक्युलर दिनांक 21 अगस्त 1944 का यही सार था. होमपॉल 7/5/44 से उद्धरण. होमपॉल 7/2/44, 7/1/45 तथा के डब्ल्यू और 7/6/44 भी देखें यह भी देखें - संजय भट्टाचार्य, 'दि कॉलोनियल स्टेट एंड दि कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया, 1942-5, ए रिएप्रेज़ल', साउथ एशिया रिसर्च (इसके बाद एस ए आर), वॉल्यूम 15 1, 1995.

अध्याय दो

राजनीतिक प्रस्ताव की योजना, शिमला सम्मेलन और इसकी असफलता

अगस्त 1944 में गवर्नरों के सम्मेलन में राजनीतिक कार्रवाई का सुझाव दिया गया। यह सुझाव युद्ध के बाद के संभावित हालात को ध्यान में रखकर दिया गया था। अफसरों को विश्वास था कि 'भारत शांत है और उसे युद्ध के खत्म होने तक शांत रखा जा सकता है।'[1] भारत सरकार को भविष्य उजाड़ नजर आ रहा था। राजनीतिक और आर्थिक दोनों ही क्षेत्रों में चुनौतियां सामने नजर आ रही थीं। युद्ध के खत्म होने के बाद सशस्त्र सेनाओं से लोग, फैक्टरी मजदूर और क्लर्क[2] भारी तादात में बेकार होंगे लेकिन आर्थिक संकट से कोई छुटकारा नजर नहीं आ रहा था।[3] युद्ध के खत्म हो जाने पर राजनीतिक प्रतिबंध भी हटाए जाने जरूरी थे। उग्र कांग्रेसियों सहित सभी राजनीतिक बंदियों को रिहा किया जाना था। आशंका थी कि वे मुसीबत खड़ी करेंगे।[4] युद्ध के दौरान लोगों में दबा असंतोष उभर कर सामने आएगा। जन आंदोलन के लिए सारा सामान मौजूद था : सरकार विरोधी नेतृत्व, फिर से पैदा हुआ संगठनात्मक आधार और असंतुष्ट तथा युद्ध से थकी जनता। खराब स्थिति का एक कारण यह था कि राष्ट्रवाद के उफान को थामने का काम जर्जर प्रशासन को करना था। 'राज की स्टील फ्रेम' कही जाने वाली भारतीय सिविल सेवा बहुत खराब हालत[5] में थी और उसे लगभग 'मर चुकी' ताकत[6] माना जाता था। सरकार लगातार यह चेतावनी दे रही थी कि चुनौती का सामना करने की उसकी ताकत तेजी से कम हो रही है और जल्दी ही ऐसी स्थिति आने वाली है जब उस पर हालात को काबू में करने की जिम्मेदारी तो होगी लेकिन इसे पूरा करने के लिए उसके पास कोई शक्ति नहीं होगी।[7] इस संभावित विस्फोटक स्थिति से निपटने के लिए सरकार ने अगस्त 1944 से राजनीतिक पहल की योजना बनाई।[8] युद्ध समाप्त होने से पहले सरकार लीग और कांग्रेस को सांविधानिक राजनीति में लाना चाहती थी।[9] इस प्रस्तावित पहल का बुनियादी उद्देश्य राजनीतिक ताकत को तोड़-फोड़ से हटाकर सांविधानिक क्षेत्र की ओर मोड़ना था।[10] इस पहल के दो और फायदे मिलने वाले थे। यह उम्मीद की जा रही थी कि सरकार में एक साथ काम करके ही कांग्रेस और लीग भारत के भावी संविधान पर सहमत हो सकती है।[11] इसके अलावा यह उम्मीद भी थी कि भारत के सवाल को कामयाबी के साथ निपटा लिए जाने से साम्राज्य की भावी सुरक्षा मजबूत होगी, पूर्व में अंग्रेजों की इज्जत बढ़ेगी और भारत कॉमनवेल्थ में रहेगा। वावेल ने चर्चिल को चेतावनी दी 'भारत का भविष्य ऐसा मुद्दा है जो युद्ध के बाद ब्रिटिश कॉमनवेल्थ और ब्रिटिश

HE HAS SWALLOWED IT



शिमला सम्मेलन खत्म हो चुका है

स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 15 जुलाई 1945

प्रतिष्ठा को तय करेगा यानी भारत को गंवाकर और उसे अपने खिलाफ करके हम पूर्व में व्यापारिक बैंगमैन बनकर रह जाएंगे।'[12] पूरी दुनिया में जनमत को अपनी ओर किया जा सकेगा और अपनी ओर से पहल की जा सकेगी।[13]

राजनीतिक पहल कब की जाए, इसे महत्वपूर्ण समझा गया। वावेल चाहता था कि पहल यूरोप में युद्ध की समाप्ति के साथ की जाए ताकि रिहा नेताओं को राष्ट्रीय विरोध भड़काने का मौका न मिले।[14] लेकिन कुछ समय बाद उसने यह कार्य फौरन करने के लिए कहा क्योंकि उसका मानना था कि यदि एक स्थिर, संक्रमणकालीन सरकार को युद्ध की समाप्ति से पहले कुछ देर काम करने का मौका मिल जाए तो इससे नरम दल के लोगों को सांविधानिक ढांचे में जमने का मौका मिल जाएगा। वावेल व्यावहारिक अंतरिम शुरुआत करना चाहता था जिससे अधिक प्रातिनिधिक सरकार बनाई जा सके। वाइसरॉय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल में कांग्रेस और लीग सहित सभी बड़ी पार्टियों और दलों के प्रतिनिधियों को शामिल किया जाना था और प्रांतों में साझी सरकारें बनाई जानी थीं अर्थात यह व्यवस्था चुनाव होने और संविधान सभा बन जाने तक जारी रहनी थी।[15] 'भावना में परिवर्तन' को आवश्यक समझा गया और अंत में कुछ अहानिकर उपाय करने का सुझाव दिया गया।[16] लेकिन किसी सांविधानिक परिवर्तन और कौंसिल के मुकाबले वाइसरॉय के अधिकारों को कम करने का कोई इरादा नहीं था। साथ ही संसद, विदेशमंत्री और वाइसरॉय के संबंधों में परिवर्तन का भी कोई इरादा नहीं था। किसी भी वास्तविक पहल जैसे भारतीय सशस्त्र सेनाओं के भारतीकरण, विदेशी और रक्षा मामलों को भारतीयों को देने, भारत में इंगलैंड का उच्चायुक्त नियुक्त करने और कैदियों की रिहाई को अनावश्यक तथा शुरू में ही बहुत दे देना बताकर नामंजूर कर दिया गया।[17] दिलचस्पी केवल इस बात में थी कि साझी सरकार चल पड़े तथा इसके लिए किसी कानून अथवा संसदीय बहस अथवा स्वतंत्र उपनिवेश का दर्जा देने की जरूरत न पड़े। संक्षेप में यह कार्य बगैर किसी बतंगड़ और परिवर्तन के पूरा करने का विचार था।

होम सरकार ने युद्ध के बाद के हालात – बढ़ती चुनौतियां और उनसे निपटने के लिए घटती क्षमता के बारे में भारत सरकार के जायजे को स्वीकार कर लिया। लेकिन वह भारत सरकार की इस उम्मीद से सहमत नहीं थी कि राजनीतिक पहल के फलस्वरूप सरकार में रोजाना की भागीदारी से पार्टियों में सांप्रदायिक सहमति बनेगी और अंग्रेजों की इज्जत बनी रहेगी। होम सरकार का मानना था कि भारत से मिली रिपोर्टों से ऐसा नहीं लगता कि वहां हालात इतने खराब हो रहे हैं जिससे शीघ्र कार्रवाई की जरूरत हो।[18]

वावेल की योजना के बारे में आमरे की बुनियादी आपत्ति यह थी कि युद्ध के दौरान राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधियों को निमंत्रण देना खतरनाक हो सकता है विशेषकर उस हालात में जब 1945 और 1946 के पूर्व में महत्वपूर्ण कार्रवाई की जानी हो।[19] महामहिम की सरकार ने भारतीयों के साथ बातचीत करके अनौपचारिक प्रस्ताव देने के वावेल के

विचार को नामंजूर कर दिया।[20] यह महसूस किया गया कि इससे भारत का पूरा प्रशासन ही गड़बड़ा जाएगा,[21] निष्ठावान लोग और राजा भयभीत हो जाएंगे और पंजाब पर बुरा असर पड़ेगा।[22] भय था कि बातचीत से 'कांग्रेस के भाव बढ़ेंगे'[23] और वह 'वापस खड़ी हो जाएगी' इससे अन्य राजनीतिक तत्वों को 'परस्पर विरोधी मांगों के लिए शोर मचाने' का मौका मिलेगा।[24] सामान्यत: दोहरा खतरा महसूस किया गया। अनौपचारिक बातचीत से अंग्रेजों को इच्छा से अधिक देना पड़ सकता है[25] और वाइसरॉय की हैसियत के बारे में अनिश्चितता से निर्णय लेने पर उसका नियंत्रण समाप्त हो सकता है।[26]

होम सरकार ऐसा प्रस्ताव करना चाहती थी जो स्पष्ट और निश्चित बयान के रूप में हो और जिसमें परिवर्तनों का ब्योरा दिया गया हो।[27] महामहिम की सरकार अपने निर्णय[28] की साफ-साफ घोषणा करना चाहती है और बताना चाहती थी कि यह पक्का है और इस पर सौदेबाजी नहीं होगी।[29] वावेल के दृष्टिकोण के विपरीत सभी परिवर्तनों का खुले तौर पर घोषित करने का इरादा था।[30] नए प्रस्तावों के बारे में विचार था कि इनसे, विशेष रूप से वीटो के प्रतिबंधित प्रयोग से व्यवहार में वाइसरॉय के अधिकार कम हो जाएंगे।[31] लेकिन इस मुद्दे पर चुप रहने की वावेल की राय[32] के विपरीत इंडिया कमेटी इस परिवर्तन की घोषणा सार्वजनिक रूप से करना चाहती थी।[33] इसी प्रकार वाइसरॉय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल में राजनीतिक पार्टियों के प्रतिनिधियों के नामांकन को बुनियादी सांविधानिक परिवर्तन के रूप में देखा गया।[34] यह महसूस किया गया कि इरादे की आम घोषणा से पहले संसद का अनुमोदन प्राप्त करना बहुत जरूरी है।[35] वाइसरॉय के लिए हिदायतों का एक नया दस्तावेज[36] और औपचारिक बयान संसद में पास कराए जाने के लिए तैयार किए गए।[37] इंडिया कमेटी का विचार था कि नए प्रस्तावों और उनके अंतर्गत उपायों के लिए सांविधानिक प्रथाओं में भारी परिवर्तन[38] करना होगा। लेकिन वावेल का मानना था कि इसके लिए किसी भी प्रकार के सांविधानिक परिवर्तन की जरूरत नहीं है।[39] वावेल बगैर किसी बहस और चर्चा के चुपचाप आगे बढ़ना चाहता था क्योंकि उसके विचार से बहस और चर्चा से घबराहट पैदा होगी[40] लेकिन इंडिया कमेटी योजना के महत्व पर बल देना चाहती थी।[41] वह तो यह तक दिखाना चाहती थी कि योजना से केंद्र के बारे में 1935 के ऐक्ट का वह अंश लागू होगा जो अभी तक कार्रवाई के लिए लिया भी नहीं गया है।[42]

भारतीय नेताओं से बातचीत के लिए आदेशपत्र और अनुमति के लिए इंगलैंड आने के वावेल के आग्रहों को महामहिम की सरकार ने ठुकरा दिया।[43] मार्च 1945 में वावेल ने तुरंत इंगलैंड जाने के अपने इरादे की घोषणा की। उसे वहां जाने की अनिच्छा से इजाजत दी गई। प्रारंभिक बहस में दृष्टिकोण संबंधी बुनियादी मतभेद सामने आए।[44] कुछ लोगों ने यहां तक कहा कि वाइसरॉय को तुरंत भारत वापस भेज दिया जाए।[45] दूसरों का मानना था कि वाइसरॉय समय से पहले जरूर आया है लेकिन उसे खाली हाथ न भेजा जाए। वावेल की मूल योजना से काफी अलग एक राजनीतिक प्रस्ताव तैयार किया गया।[46]

इंडिया कमेटी ने निर्णय का दायित्व कैबिनेट पर छोड़ दिया लेकिन स्पष्ट किया कि यदि कैबिनेट राजनीतिक पहल करने की आवश्यकता समझे तो वावेल नहीं बल्कि एंडरसन की योजना को स्वीकार किया जाए।[47] सामने खड़े चुनावों को देखते हुए आमरे ने चर्चिल से आग्रह किया कि संयुक्त सरकार के टूटने से पहले भारतीय मुद्दे को सुलटा लिया जाए। उसका तर्क था कि इससे 'भारत के मामले पर सोशलिस्ट पार्टी हमारे खिलाफ लाभ नहीं उठा सकेगी - एटली और क्रिप्स को संसद में इसका स्वागत करना होगा'[48] लेकिन चर्चिल ने तब तक पहल की पैरवी करने से मना कर दिया जब तक कि वह 'गुणों के आधार पर ठोस न हो'।[49] चर्चिल इसके लिए केवल तब सहमत हुआ जब वावेल ने यह स्पष्ट किया कि पहल का अत्यधिक सीमित दायरा है और इससे वास्तव में कुछ नहीं[50] दिया जाने वाला है। उसने तीन शर्तें रखीं— कौंसिल से शासकीय तत्व को हटाने के लिए कोई कानून नहीं होगा, भारतीय सेना के भारतीकरण को सार्वजनिक न बनाना, प्रस्ताव की शर्तों पर कोई बातचीत नहीं होगी।[51] संसद ने योजना का अनुमोदन कर दिया और वावेल जिस राजनीतिक पहल के लिए जोर दे रहा था और जिसके लिए अनुमति उसे एक साल से नहीं मिल रही थी उसके लिए निर्देश के साथ वह जून 1945 के शुरू में भारत के लिए चल पड़ा। कैबिनेट ने जो योजना मंजूर की वह न तो वावेल के मूल प्रस्ताव के अनुसार थी और न पूरी तरह से इंडिया कमेटी की योजना के अनुसार थी। वह दोनों का अजीब मिश्रण थी। चर्चिल जैसे कंजरवेटिव की नजरों में यह काफी सीमित थी। यह काफी स्पष्ट और दृढ़ भी थी। चर्चिल को भरोसा दिलाया गया था कि यह नाकामयाब हो जाएगी। यदि ऐसा हुआ तो बगैर कुछ दिए राजनीतिक पहल किए जाने का लाभ मिल जाएगा। यदि इसे मंजूर कर लिया गया तो भारतीयों को प्रशासन में शामिल करने के अलावा कोई नुकसान नहीं होगा। प्रस्ताव बातचीत के लिए नहीं खुला था। इसलिए समझौते के लिए वाइसरॉय द्वारा कुछ रियायतें दे दिए जाने का खतरा भी नहीं था।

इंडिया कमेटी की योजना मुश्किल से समझ में आने वाली थी। कुछ ठोस राजनीतिक रियायतों को वीटो करके योजना के राजनीतिक अंश को कम कर दिया गया था। इन रियायतों को इसलिए रखा गया था ताकि प्रस्ताव को उदार और भारतीय पार्टियों के लिए स्वीकार्य बनाया जा सके। यदि उन्हें ठुकरा दिया गया तो जनमत का लाभ मिलेगा। सशस्त्र सेनाओं के भारतीकरण के महत्वपूर्ण खंड को निकाल दिया गया था। प्रस्ताव की घोषणा के साथ ही राजनीतिक बंदियों की इकतरफा रिहाई की बात में संशोधन कर दिया गया। अब यह रिहाई प्रस्ताव को स्वीकार कर लिए जाने के बाद बातचीत द्वारा होनी थी। भारत में इंगलैंड का उच्चायुक्त नियुक्त करने और विदेशी मामले भारतीय एग्जीक्यूटिव कौंसिलर को देने की संकेतात्मक विशेषताएं रख ली गई थीं। इंडिया कमेटी का राजनीतिक दृष्टिकोण चर्चिल की सख्त कसौटी पर पास हो गया। वाइसरॉय और संसद की शक्तियों को कम करने के अंश को निकाल दिया गया। लेकिन संसदीय मंजूरी की आवश्यकता पर बल को स्वीकार

कर लिया गया और इंडिया कमेटी की इच्छा के अनुसार पहल को अंतिम सांविधानिक पहल, क्रिप्स प्रस्ताव के साथ जोड़ दिया गया। इंडिया कमेटी के पूरे दृष्टिकोण का सर्वाधिक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि इसका बल दृढ़ सरकारी निर्णय की स्पष्ट घोषणा पर था जो किसी तरह की बातचीत के लिए नहीं खुला था। इस बात को चर्चिल ने विशेष रूप से रेखांकित किया था और इसे प्रस्ताव में शामिल किया गया था।

इस प्रकार इंडिया कमेटी का दृष्टिकोण तो सलामत रहा लेकिन विषय वस्तु नहीं। वावेल की योजना का बुनियादी मर्म तो रहा लेकिन उसका तरीका नहीं रहा। वावेल योजना के नाम से जानी जाने वाली इस अंतिम योजना के अंतर्गत एक सम्मेलन बुलाने की व्यवस्था की गई। वावेल के मूल प्रस्ताव के अनुसार राजनीतिक दृष्टिकोण के दो महत्वपूर्ण पहलू अर्थात योजना को औपचारिक न बनाना और संसद द्वारा उसकी मंजूरी से बचना अंतिम योजना में शामिल नहीं थे। अब उसे होम सरकार का स्पष्ट आदेश दिया गया था जिसके अंतर्गत उसे संसद द्वारा मंजूर किए गए सरकारी फैसले की घोषणा करनी थी। बातचीत के लिए कोई छूट नहीं थी, कौंसिल के ठीक से चलने के लिए कोई ढील नहीं दी जा सकती थी। वावेल को कोई श्रेय नहीं दिया गया। वावेल योजना कोई अस्पष्ट आदेश या खुली छूट नहीं थी जिससे भारत के संकट का समाधान किया जा सके। वावेल सितंबर 1944 से इसी की मांग कर रहा था। वावेल योजना के सीमित राजनीतिक अंश को इंडिया कमेटी योजना के दृढ़ राजनीतिक दृष्टिकोण के साथ जोड़ दिया गया।

II

संसदीय बहस के रूप में अगली बाधा को सफलतापूर्वक पार कर लिया गया और सभी पक्षों ने 'योजना का समर्थन' किया। नई राजनीतिक पहल और शिमला में सम्मेलन बुलाने के प्रस्ताव के नीतिगत बयानों की घोषणा भारत के लिए विदेशमंत्री और वाइसरॉय द्वारा 14 जून 1945 को एक साथ की गई।[52] कांग्रेस और लीग को छोड़कर शेष राजनीतिक समूहों के नेताओं ने निमंत्रण को मंजूर कर लिए जाने की सूचना भेजी।[53] उनके इस रवैए को वावेल ने 'शुरुआती जोड़-तोड़' और 'दिखावा' बताया जो कि 'स्वाभाविक' और 'अपेक्षित' है लेकिन इससे उसने आमरे के सामने यह स्वीकार किया कि वह 'बहुत आशावान नहीं है।'[54] 24 जून को आजाद, गांधी और जिन्नाह से बातचीत के बाद[55] शिमला सम्मेलन निर्धारित तारीख 25 जून 1945 को शुरू हुआ।

केवल दो दिन बाद वावेल ने आमरे को खबरदार किया कि 'हम सम्मेलन के नाजुक मोड़ पर पहुंच गए हैं।' मुख्य रुकावट कांग्रेस का रुख नहीं है। उसे 'सहयोगी और तर्कसंगत' बताया गया। रुकावट जिन्नाह का रवैया है। सम्मेलन शुरू होते ही जिन्नाह ने अपनी स्थिति का संकेत दे दिया और दावा किया कि मुसलमानों को नामित करने का अधिकार केवल उसके पास रहेगा।[56] किसी करार तक पहुंचने के वावेल के प्रयास जारी रहे। उसने पार्टियों

से नामों की सूची भेजने के लिए कहा जिनसे वाइसरॉय नामों का चयन कर सके। लेकिन अपनी योजना के भविष्य के बारे में उसकी उम्मीद काफी टूट गई और उसने असफलता की संभावना को स्वीकार किया। जिन्नाह का सहयोग न मिलने की हालत में कांग्रेस तथा दूसरे लोगों के साथ एग्जीक्यूटिव कौंसिल बनाने की आकस्मिकता पर भी विचार किया गया। लेकिन उसने स्पष्ट किया कि इस तरह की कौंसिल व्यवहार्य नहीं होगी।[57] होम सरकार वाइसरॉय के इस विचार से सहमत थी कि जिन्नाह का दावा मंजूर नहीं किया जा सकता। लेकिन साथ ही 'असफलता' से बचने को भी महत्वपूर्ण माना गया क्योंकि उन्हें 'डर था कि असफलता की पूरी जिम्मेदारी मुसलिमों पर आ जाएगी' और लीग को 'प्रगति में रुकावट करार दे दिया जाएगा।'[58]

जो थोड़ी-बहुत उम्मीद थी वह जिन्नाह द्वारा अपनी सूची न दिए जाने के साथ खत्म हो गई।[59] समझौते की बात करते हुए वावेल ने स्वयं गैर-लीगी और गैर-कांग्रेसी मुसलिम चुनने की बात की लेकिन जिन्नाह ने इसे स्वीकार नहीं किया।[60] जिन्नाह ने उस समय तक किसी नाम पर बात करने से इनकार कर दिया जब तक कि वाइसरॉय मुसलिमों के नाम केवल लीग द्वारा दिए जाने की बात स्वीकार नहीं कर लेता।[61] उसने अपनी इस मांग को मनवाने पर भी जोर दिया कि 'एक विशेष उपाय के रूप में कोई भी ऐसा फैसला जिस पर मुसलिमों को आपत्ति हो तब तक कौंसिल में न लिया जाए जब तक कि दो-तिहाई बहुमत न हो।'[62] अंततः वावेल ने जिन्नाह के दोनों ही दावों को नामंजूर कर दिया।[63] इससे सम्मेलन विफल हो गया, क्योंकि वावेल के विचार से केवल कांग्रेस और गैर-लीगी मुसलिमों के साथ बनाई गई सरकार 'काम नहीं (नहीं पर बल) करेगी।'[64] वावेल ने यह कहते हुए कि 'विफलता की जिम्मेदारी मेरी है' सम्मेलन की अंतिम बैठक 14 जुलाई 1945 को बुलाई और विफलता की औपचारिक घोषणा की।[65]

III

शिमला सम्मेलन के अध्ययन से ब्रिटिश नीति की 'सांप्रदायिक' जड़ें स्पष्ट नजर आती हैं। ये जड़ें प्रस्ताव की शर्तों, सम्मेलन की वास्तविक कार्रवाई, उसकी विफलता और यहां तक कि बाद में उसके पोस्ट मार्टम में देखी जा सकती हैं। प्रस्ताव में ही राजनीति की सांप्रदायिक अवधारणा काम कर रही है। 'सवर्ण हिंदुओं' और मुसलिमों को एक जैसा माना गया और इसी प्रकार कांग्रेस और लीग को दो समुदायों का प्रमुख प्रातिनिधिक पार्टियों के रूप में एक जैसा माना गया। मुसलिमों का एकमात्र प्रवक्ता होने के जिन्नाह के दावे की वैधता को सरकार द्वारा नामंजूर कर दिए जाने से एकबारगी ऐसा लग सकता है कि ब्रिटिश-नीति सांप्रदायिक नहीं है, लेकिन यह भी उसके सांप्रदायिक मानदंडों से परे नहीं है। जिन्नाह के आग्रह को ठुकराने का कारण यह नहीं था कि सरकार कांग्रेस द्वारा नामित मुसलिमों को शामिल करना चाहती थी। कारण कुछ और था। वह पंजाब के मुसलिमों को उनकी

निष्ठा का इनाम देना चाहती थी। लीग से चार नामांकन और यूनियनिस्टों से एक नामांकन का वावेल का दूसरा प्रस्ताव सांप्रदायिकतावादियों और निष्ठावानों के दावों के बीच संतुलन का प्रयास था। इस तरह के संतुलन की कार्रवाई भी ब्रिटिश शासन की विशेषता रही है। '4 जमा 2' का फार्मूला 'वास्तव में कांग्रेस को एक गैर हिंदू, धर्मनिरपेक्ष संगठन मानने से इनकार करना और जिन्नाह की इस दलील को स्वीकार करना था कि वह भी उतनी ही सांप्रदायिक है जितनी कि लीग।'[66]

सम्मेलन की विफलता को जिस तरह से लिया गया उससे भी सांप्रदायिक ताकतों से अंग्रेजों की राजनीतिक एकजुटता उजागर होती है। वावेल ने बार-बार यह घोषणा की कि जिन्नाह की मांगें नाजायज हैं, लेकिन इसके बावजूद लीग को राजनीतिक गुमनामी में डालने के बजाए उसने अपने ही प्रस्ताव को त्यागकर सम्मेलन की विफलता की घोषणा कर डाली। उसने तुरंत सरकार बनाने की कांग्रेस की इच्छा की उपेक्षा कर दी और बाद में लीग को जाने की अनुमति दे दी। जिन्नाह को ब्रिटिश पहल को तबाह करने की छूट देकर सरकार ने दिखा दिया कि उसके लिए जिन्नाह की इच्छाएं ही सबसे ऊपर हैं।[67] शासन ने एक बार फिर सांप्रदायिकता को संरक्षण दे दिया। महत्वपूर्ण बात यह है कि जिन्नाह और लीग को विफलता की जिम्मेदारी से केवल सार्वजनिक तौर पर ही मुक्त नहीं किया गया। निजी गोपनीय पत्र-व्यवहार में भी बातचीत की विफलता का जायजा लेते समय लीग से ध्यान हटा दिया गया और यह बताया गया कि यह विफलता इस 'सांप्रदायिक' ब्रिटिश विचार की वैधता का एक और प्रमाण है कि भारत में राजनीतिक प्रगति का मुद्दा हिंदू-मुसलिम फूट से जुड़ा है। इस सिलसिले में पहली बात तो यह है कि अंग्रेजों की मान्यता के अनुसार भारत में राजनीतिक प्रगति दो समुदायों के बीच असहमति के कारण अवरुद्ध हुई, 'समस्या भारत के भीतर है।'[68] दूसरी बात यह है कि सम्मेलन की विफलता का एक वास्तविक आधार देखा गया। वह था सांप्रदायिक असहमति जो 'मुसलिमों के इस सच्चे भय से उपजी है कि कांग्रेस के शासन का मतलब है हिंदू राज।'[69] इस प्रकार सवाल किसी एक व्यक्ति की हठ अथवा अड़ियलपन का नहीं था। सम्मेलन और उसकी विफलता के बाद के जायजे में वावेल ने जिन्नाह की हठ को 'वास्तविक कारण' के रूप में हटाकर 'मुसलिमों के वास्तविक अविश्वास'[70] को 'गहरा कारण' मान लिया। कांग्रेस के रुख को पहले 'सहयोगी और तर्कसंगत'[71] माना गया था। अब उसका जिक्र तक नहीं था।

चेष्टा किया जाना महत्वपूर्ण बात थी। इसके परिणाम से कुछ फर्क नहीं पड़ता। जो इस पहल के सख्त खिलाफ थे उन्होंने भी इसके महत्व को स्वीकार किया। इसकी तुलना क्रिप्स प्रस्ताव से की गई जिसने विफल होने के बावजूद भारत में राजनीतिक पहल के लिए पुकार को शांत कर दिया। यह बात इंडिया कमेटी को सही लगी।[72] पिछले वर्ष के प्रयास बेकार हो जाने के बाद भविष्य के लिए योजना बननी शुरू हुई। वावेल ने बातचीत के विफल हो जाने की सूचना प्रांतीय गवर्नरों को दी और आगे की रणनीति पर विचार करने के लिए

उन्हें नई दिल्ली बुलाया। केंद्र सरकार के भविष्य, बंदियों की रिहाई, केंद्रीय और प्रांतीय चुनावों के समय, गवर्नर के शासन के तहत मंत्रिमंडल फिर से बनाने जैसे खास मुद्दों के बारे में नीतियां बनाई जानी थीं।[73] उसका मानना था कि 'विभागों का कार्य बदतर' हो जाने के कारण भारत सरकार 'प्रशासन तंत्र के रूप में कमजोर' हो गई है। उसकी एग्जीक्यूटिव कौंसिल में ऐसे सात सदस्य थे जिन्होंने उसके प्रस्तावों का समर्थन नहीं किया और उसे 'अपने भारतीय सहयोगियों में अलग-अलग अथवा सामूहिक रूप में कोई विश्वास नहीं था।' उसने 'राजनीतिक परिवर्तन' के लिए चुनावों का अनुमोदन कर दिया था लेकिन उनके 'जोर आजमाइश और सांप्रदायिक कड़वाहट' का रूप लेने की आशंका मन को परेशान कर रही थी।'[74]

पहले और बाद के हालात का जायजा लेते हुए यथास्थिति बनाए रखना और सर्वमान्य नीति के लिए मुश्किल प्रक्रिया एक बार फिर शुरू करना भविष्य के कार्यक्रम में शामिल था। ब्रिटिश अफसरों ने पहल की और फिर उसे विफल होने दिया। निकट भविष्य में और पहल करने का कोई विचार नहीं था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. वार कैबिनेट इंडिया कमेटी (इसके बाद डब्ल्यू सी आई कॉम) के सामने वावेल, 26 मार्च 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 5, पृ. 733 साथ ही वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944, वही, पृ 37. जे.एच.वोइग्ट, *इंडिया इन दि सेकेंड वर्ल्डवार*, नई दिल्ली, 1987 में शिमला सम्मेलन पर अध्याय देखें.
2. वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944. *टी पी*, वॉल्यूम 5. पृ 37
3. वही. साथ ही, वावेल से आमरे, 15 मार्च, 1945, वही, पृ. 696
4. वावेल से चर्चिल, वावेल से चर्चिल में संलग्न, 24 अक्तूबर 1944, वही, पृ 126.
5. वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944, वही पृ. 37.
6. वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, वही पृ. 733.
7. वावेल से चर्चिल, वावेल से आमरे के साथ संलग्न, 24 अक्तूबर 1944 वही पृ 126.
8. वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944 वही पृ. 37.
9. वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने 26 मार्च 1945 वही पृ 733.
10. वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944 वही पृ. 127
11. वावेल से चर्चिल, वावेल से आमरे के साथ संलग्न, 24 अक्तूबर 1944, वही पृ. 127.
12. वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 26 मार्च 1945, वही, पृ. 733.
13. वावेल कैबिनेट के सामने, 31 मई 1945, वही, पृ 1073.
14. वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944, वही, पृ. 37.
15. वावेल से आमरे, 20 सितंबर 1944, वावेल से आमरे, 20 दिसंबर 1944; वावेल से आमरे, 11 फरवरी 1945; वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 26 मार्च 1945; वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 27 मार्च 1945; वावेल से आमरे, 26 अक्तूबर 1944, वही पृ. 37, 314, 540ख,733,760 और 139.
16. ये उपाय थे : (क) भारत को अपनी सरकार देने के महामहिम की सरकार के इरादे की घोषणा, (ख) यह घोषणा कि महामहिम की सरकार स्वयं पर भारत के ऋण को नामंजूर नहीं करना चाहती, (ग) स्टेर्लिंग बकाया पर भारत को जहाज देना, (घ) युद्ध के बाद भारतीय नौसेना के लिए आधुनिक जहाजों का

वायदा, (ङ) भारतीय उच्चायुक्त का दर्जा बढ़ाना, (च) संयुक्त राज्य अमरीका में भारतीय प्रतिनिधि का दर्जा बढ़ाना, (छ) भारतीय मामलों की जिम्मेदारी डोमिनियन कार्यालय को देना. देखें वावले से आमरे, 26 अक्तूबर 1944, वही, पृ 140.

17. वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 5 अप्रैल 1945 वही, पृ. 832; 'मुझे काफी भरोसा है कि भारतीय विदेश विभाग पोर्टफोलियो की आशा नहीं कर रहे है अथवा वे इसे इस समय विशेष रूप से चाहते हैं। सम्मेलन में हम इसे लेकर सौदा कर सकते हैं.' वावेल द्वारा डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर, 17 अप्रैल 1945, वही, पृ 896. साथ ही देखें डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने वावेल, 18 अप्रैल 1945, वही, पृ. 898-99, 901

18 वाइसरॉय के प्रस्तावों मे 'गांधी फिर जनता के स ने आ गए, वे राजनीतिक तौर पर नाकामयाब हो चुके थे. इनसे उनका महत्व बढ़ गया'. डब्ल्यू सी आई कॉम बैठक, 6 दिसंबर 1944, वही, पृ. 276. गाधी के आंदोलन के बारे में अपने विचार व्यक्त करते हुए स्वयं वावेल ने कहा कि 'देश शांत है' और 'कानून और व्यवस्था को कोइ खास खतरा नहीं है', वावेल से आमरे, 25 फरवरी 1945, वही, पृ. 616. 'सरकुलेट की गई रिपोर्टों में इस बात का थोड़ा सा भी संकेत नहीं है कि भारत में स्थिति किसी भी रूप में खराब हो रही है, अथवा इसमें देरी से कोई फर्क पड़ा है, यह महत्वपूर्ण तथ्य है', एटली से आमरे, 13 मार्च 1945, वही, पृ.686. ग्रिग को भी 'कुछ करने का' कोई कारण नजर नहीं आया विशेषकर तब जब 1930 के दशक के प्रारंभ से अब तक 'भारत में ऐसी शांति कभी नजर नहीं आई अथवा कांग्रेस की इज्जत इतनी कम नहीं हुई', ग्रिग डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 18 अप्रैल 1945, वही, पृ. 396-97 ग्रिग डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 23 अप्रैल 1945, वही, पृ. 932

19 आमरे से वावेल, 10 अक्तूबर, वही, पृ. 97

20 एंडरसन डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 29 मार्च 1945, वही, पृ. 780

21 ग्रिग डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 18 अप्रैल 1945, वही, पृ. 904.

22 ग्रिग डब्ल्यू सी आई काम के सामने, 25 अप्रैल 1945, वही, पृ. 962

23. ग्रिग डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 23 अप्रैल 1945, वही, पृ. 962.

24. ग्रिग डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 23 अप्रैल 1945, वही, पृ. 938

25 एटली डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 3 अप्रैल 1945, वही, पृ. 815. वावेल की योजना 'फैसले के प्रस्ताव के रूप में नही है बल्कि बातचीत की शुरुआत के रूप में है जिसकी किसी भी प्रकार का अंत हो सकता है', ग्रिग डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 23 अप्रैल 1945, वही, पृ. 933.

26 'वाइसरॉय की योजना में एक खतरा था. संसद के अनुमोदन अथवा किसी औपचारिक अधिनियम के बगैर हम ऐसी स्थिति में चले जाएंगे जिसमें वाइसरॉय मंत्रियों के विचारों का पालन करने की परंपरा को मानने के लिए बाध्य हो जाएगा', एटली डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 5 अप्रैल, 1945, वही, पृ. 842 'स्पष्ट स्थिति के अभाव में सामान्य बयानों का सहारा लेने की प्रवृत्ति बढ़ेगी और वाइसरॉय डोमिनियन गवर्नर जनरल बन कर रह जाएगा और बातचीत के टूट जाने के भय से दबाव में आ जाएगा', एटली डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, वही, पृ 904 'क्या नए कदम से वाइसरॉय की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा और स्थिति का अहसास होने से पहले उसके अधिकार और शक्तियां कम नहीं हो जाएंगी और क्या तब तक बहुत देर नहीं हो चुकी होगी ?' भारत की सांविधानिक स्थिति पर अंतिम डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर, 27 अप्रैल 1945, वही, पृ. 981.

27. इस प्रश्न पर एकमत था एंडरसन ने 'इस बात को बहुत महत्व दिया कि निर्णय के अनुसार जो कुछ भी किया जाए वह एकदम साफ और सामने हो' और इसके लिए 'स्पष्ट बयान' दिया जाए, एंडरसन डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने 3 और 5 अप्रैल 1945, वही, पृ. 817, 833. साइमन का विचार था कि 'हम जो कुछ करें, वह स्पष्ट हो', साइमन डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 5 अप्रैल 1945, वही, पृ. 840. क्रिप्स

ने इस बात पर बल दिया कि 'सब कुछ औपचारिक ढंग से किया जाए और इसके लिए हाउस आफ कॉमन्स में ध्यान से तैयार किया गया बयान दिया जाना चाहिए' क्रिप्स डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 10 अप्रैल 1945, वही, पृ. 857. ग्रिज 'जल्दी से जल्दी स्पष्ट प्रस्ताव' के पक्ष में था, ग्रिग डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 18अप्रैल, 1945, वही, पृ. 904. भारत की सांविधानिक स्थिति के बारे में डब्ल्यू सी आई कॉम की अंतिम रिपोर्ट में स्पष्ट प्रस्तावों को तरजीह दिए जाने की स्पष्ट झलक है 'वाइसरॉय की योजना में बातचीत की निश्चित सीमाएं नहीं बताई गई हैं लेकिन प्रस्तावित बयान में ये कड़ाई के साथ तय की जाएंगी.' डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर, 27 अप्रैल 1945, वही, पृ. 982-83.

28 क्रिप्स ने इस बात पर बल दिया कि महामहिम की सरकार स्वयं यह घोषणा करे कि भारत के सवाल पर वह एक फैसले पर पहुंच गई है, क्रिप्स डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने 29 मार्च 1945, वही, पृ 276

29. आमरे ने डब्ल्यू सी आई कॉम के योजना मसौदे को इस आधार पर स्वीकार कर लेने का आग्रह किया कि 'बातचीत का कोई सवाल नहीं है और बयान न बदले जाने वाला प्रस्ताव हो ' कैबिनेट इससे सहमत हो गई, कैबिनेट बैठक, 30 मई 1945, वही, पृ. 1066.

30. भारत में सांविधानिक स्थिति के बारे में अंतिम डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर में यह कहा गया है 'इसे सार्वजनिक कर दिया गया है ताकि सब इसके स्वरूप को पहचान सकें और इसके अंतर्गत परिवर्तनों के महत्व को समझ सकें.' 27 अप्रैल 1945, वही, पृ. 983.

31. एटली और ग्रिग ने वाइसरॉय की नई हैसियत की तुलना सांविधानिक प्रमुख अथवा डोमिनियन गवर्नर जरनल से की, डब्ल्यू सी आई कॉम बैठक, 26 मार्च और 10 अप्रैल, वही, पृ क्रमशः 733, 849

32 वावेल को 'कमेटी के प्रस्ताव के अनुसार कानून द्वारा औपचारिक रूप में कुछ देने का कारण नजर नहीं आया,' वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 5 अप्रैल 1945, वही, पृ 837, 'यदि गवर्नर जनरल की शक्तियों को किसी भी रूप में कम करने की घोषणा की जाने वाली है तो उनका बिलकुल भी प्रयोग न करने के लिए दबाव बढ़ेगा,' इसलिए बेहतर होगा कि 'मसौदा बयान की धारा 27 के अलावा घोषणा में वाइसरॉय की शक्तियों के बारे में कुछ न कहा जाए', वावेल द्वारा डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर, 17 अप्रैल 1945, वही, पृ. 896; वावेल द्वारा डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर, 21 अप्रैल 1945, वही, पृ. 921; 'वाइसरॉय की शक्तियों को कम करने के प्रस्ताव की घोषणा से बातचीत बहुत मुश्किल हो जाएगी,' वावेल युद्ध कैबिनेट के सामने, 23 अप्रैल 1945, वही, पृ. 936.

33 आमरे ने यह माना कि वाइसरॉय की सीमित शक्तियों की सार्वजनिक घोषणा से उसकी स्थिति कमजोर होगी लेकिन फिर भी उसका यह मानना था कि प्रातिनिधिक एग्जीक्यूटिव कौंसिल में वाइसरॉय की हैसियत में संभावित परिवर्तन की सूचना संसद को दी जानी चाहिए, आमरे द्वारा डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर, 20 अप्रैल 1945, वही, पृ. 915 एंडरसन का दूसरा विचार था; उसका मानना था कि प्रातिनिधिक एग्जीक्यूटिव कौंसिल को खुले तौर पर मान्यता देने से वाइसरॉय की हैसियत कम होगी और इसके फलस्वरूप वाइसरॉय की हैसियत को मजबूत करने के लिए सांविधानिक परिवर्तन करना होगा, एंडरसन डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 23 अप्रैल 1945, वही, पृ.932. उसका तर्क था कि वाइसरॉय के कार्यों की सीमा बांधने के बारे में एक पैरा बयान में होना चाहिए, नहीं तो स्थिति तेजी से खराब होगी, एंडरसन डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 25 अप्रैल 1945, वही, पृ. 962. भारत में सांविधानिक स्थिति के बारे में अंतिम डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर में सिफारिश की गई है कि प्रातिनिधिक एग्जीक्यूटिव कौंसिल के अधिकारों में बढ़ोत्तरी और वाइसरॉय की शक्तियों में कमी को खुले तौर पर स्वीकार किया जाना चाहिए, 27 अप्रैल 1945, वही, पृ. 979.

34. एटली डब्ल्यू कॉम के सामने, 27 मार्च 1945, वही, पृ. 760.

35. '.. औपचारिक अधिनियम अथवा संसदीय अनुमोदन के बगैर चीजें उसी दिशा में और तेजी से जाएंगी जिसका कि उसे डर है', एटली डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 5 अप्रैल 1945, वही, पृ. 836; एटली

डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 18 अप्रैल 1945, वही, पृ. 897

36. आमरे द्वारा डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर, 2 अप्रैल 1945, वही, पृ. 805.
37. वाइसरॉय की घोषणा का क्रिप्स का मसौदा; महामहिम की सरकारी की घोषणा का आमरे द्वारा तैयार किया गया मसौदा ज्ञापन; डब्ल्यू सी आई कॉम के ससद को बयान का क्रिप्स द्वारा तैयार किया गया मसौदा; क्रिप्स द्वारा तैयार डब्ल्यू आई सी कॉम द्वारा स्वीकार और प्रधानमंत्री को भेजा गया अंतिम मसौदा; डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर्स, 31 मार्च, 2,11 और 25 अप्रैल 1945, वही, पृ. क्रमश: 796, 803, 866, 952.
38. एंडरसन ने घोषणा की कि डब्ल्यू आई सी कॉम 'का दृष्टिकोण ऐसा नहीं है जिसमें सांविधानिक परिवर्तन की जरूरत न हो,' एंडरसन डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 5 अप्रैल 1945, वही, पृ. 833 क्रिप्स ने रूपरेखा बताते हुए कहा कि एग्जीक्यूटिव कौंसिल के गठन के पीछे बहुत बड़ा सांविधानिक परिवर्तन है', इंडिया कमेटी के संसद को बयान का क्रिप्स द्वारा तैयार किया गया मसौदा, 11 अप्रैल 1945, वही, पृ. 868. 'ऐसा लगता है कि लॉड वावेल को अपनी योजना के सांविधानिक आशय के बारे में ज्ञान नहीं है, एटली डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 10 अप्रैल 1945, वही, पृ. 851. आमरे का मानना था कि '...यह पहले ही घटित हो चुकी बात में महत्वपूर्ण प्रगति है', जबकि एंडरसन का मानना था कि 'कमेटी का यह विचार है कि वाइसरॉय द्वारा प्रस्तावित तरीके का अर्थ है सांविधानिक परिवर्तन', आमरे और एंडरएन डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 18 अप्रैल 1945, वही, क्रमश: पृ. 899, 900.
39. 'परंपराओं अथवा संविधान में परिवर्तन का जहां तक सवाल है उसकी नीति और लक्ष्य इन परिवर्तनों से बचना था' वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 27 मार्च 1945, वही, पृ. 761; '. . संविधान में परिवर्तन जरूरी नहीं था, यह आगे बढ़ना मात्र था', वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 18 अप्रैल 1945, वही, पृ. 901.
40. वावेल डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, 5 अप्रैल 1945, वही, पृ. 832.
41 एंडरसन डब्ल्यू सी आई कॉम कें सामने, 18 अप्रैल 1945, वही, पृ. 897; 'प्रस्तावित बयान का सार यह है कि इसे सार्वजनिक कर दिया जाए ताकि सभी इसके स्वरूप को पहचान सकें और परिवर्तनों के महत्व को समझ सकें', भारत में सांविधानिक स्थिति के बारे में डब्ल्यू सी आई कॉम का अंतिम पेपर, 27 अप्रैल 1945, वही, पृ 983.
42. क्रिप्स ने प्रस्ताव को बार-बार 1935 के अधिनियम से जोडा, क्रिप्स डब्ल्यू सी आई कॉम के सामने, वाइसरॉय की घोषणा के बारे में क्रिप्स का मसौदा ; डब्ल्यू सी आई कॉम द्वारा संसद को बयान का क्रिप्स द्वारा तैयार किया गया मसौदा; डब्ल्यू सी आई कॉम पेपर्स, 29 और 31 मार्च और 11 अप्रैल 1945, वही, पृ. क्रमश: 776, 797, 866.
43. देखें चर्चिल से आमरे को नोट, 1 जनवरी 1945, वही, पृ. 347; आमरे से वावेल, 5 जनवरी 1945, वही, पृ. 365; आमरे से वावेल, 11 जनवरी 1945, वही, पृ. 392
44 बहस डब्ल्यू सी आई कॉम की 26, 27 और 29 मार्च, 3, 5, 10, 18, 23 और 25 अप्रैल 1945 को आयोजित बैठकों में हुई, वही, पृ. क्रमश: 733, 760, 776, 832, 849, 897, 932, 962.
45. साइमन, ग्रिग और बटलर इसके प्रवक्ता थे .
46. एंडरसन, एटली और क्रिप्स इसके प्रस्तावक थे .
47. भारत में सांविधानिक स्थिति के बारे में डब्ल्यू सी आई कॉम का अंतिम पेपर, वही, पृ. 979.
48. आमरे से चर्चिल, 23 मई 1945, वही, पृ. 1057.
49. चर्चिल कैबिनेट के सामने, 30 मई 1945, वही, पृ. क्रमश: 1069, 1073.
50. वावेल कैबिनेट के सामने, 31 मई 1945, वही, पृ. 1073.
51. कैबिनेट निष्कर्ष, 31 मई 1945, वही, पृ. 1083

52. भारत के लिए विदेशमंत्री द्वारा दिया गया एच एम जी का नीति बयान; और नई दिल्ली में फील्ड मार्शल विस्काउंट वावेल का प्रसारण, 14 जून 1945, वही, पृ. क्रमशः 1118 और 1122.
53. वाइसरॉय और गांधी तथा वाइसरॉय और जिन्नाह के बीच तारों के आदान-प्रदान को वावेल ने आमरे के सामने दोहराया, 16 जून 1945, वही, पृ. क्रमशः 1129, 1131. गांधी ने कहा कि कांग्रेस में अब उनकी कोई शासकीय स्थिति नहीं है लेकिन यदि वाइसरॉय चाहें तो वे सम्मेलन के पहले और उसके दौरान वहां मौजूद रह सकते हैं, गांधी से वावेल, 16 जून 1945, वही, पृ. 1132. जिन्नाह ने कहा कि वह अपनी कार्य समिति को इकट्ठा नहीं कर सका है इसलिए सम्मेलन को स्थगित कर दिया जाए, जिन्नाह से वावेल, 16 जून 1945, वही, पृ. 1132.
54. वावेल से आमरे, 17 जून 1945, वही, पृ. 1136.
55. वावेल मे आमरे, 25 जून 1945, वही, पृ. 1151.
56. वावेल से आमरे, 25, 27 और 28 जून 1945, वही, पृ क्रमशः 1153-54, 1166 और 1170.
57. वावेल से प्रांतीय गवर्नरों को, 30 जून 1945, वही, पृ. 1175.
58. कैबिनेट निष्कर्ष, 10 जुलाई 1945, आमरे से वावेल, 10 और 11 जुलाई 1945, वही, पृ. 1221, 1224 और 1228.
59. जिन्नाह से वावेल, 9 जुलाई 1945, वही, पृ. 1213.
60. वावेल से आमरे, 10 जुलाई 1945, वही, पृ. 1214-15.
61. कैबिनेट निष्कर्ष, 10 जुलाई 1945, वही, पृ. 1221
62. वावेल से आमरे, 11 जुलाई 1945, वही, पृ. 1225.
63. 'मैंने जिन्नाह को बताया कि मैं ये शर्तें स्वीकार नहीं कर सकता ..इसलिए सम्मेलन विफल हो गया ' आमरे के प्रयोग के लिए शिमला सम्मेलन के बारे में भेजा गया नोट, वावेल से आमरे के साथ संलग्न, 15 जुलाई 1945, वही, पृ. 1262.
64. वावेल से प्रांतीय गवर्नरों को, 30 जून 1945, वही, पृ. 1175.
65. सम्मेलन में वावेल के बयान का पाठ जो कि आमरे को सूचित किया गया, 13 जुलाई 1945, वही, पृ. 1239.
66. एस. गोपाल, जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी, वाल्यूम 1, नई दिल्ली, 1976, पृ. 304.
67. वही.
68. वावेल से आमरे, 12 जुलाई 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 5, पृ. 1236-37.
69. वावेल से किंग जॉर्ज षष्टम, 19 जुलाई 1945, वही, पृ. 1279.
70. सम्मेलन में वावेल के बयान का पाठ जो कि आमरे को सूचित किया गया, 13 जुलाई 1945, वही, पृ. 1239; और वावेल से आमरे, 14 जुलाई 1945, वही, पृ. 1248
71. वावेल से आमरे, 27 जून 1945, वही, पृ. 1167.
72. आमरे ने वावेल को यकीन दिलाया : 'यह सफल हो या असफल, हमारी इस बात को उचित बताया जाएगा कि भारत के लिए अंततः किसी संविधान पर सहमति होने तक हमने उसे आगे बढ़ाने के लिए पूरा-पूरा प्रयास किया', वावेल से आमरे, 18 जून 1945, वही, पृ. 1141.
73. वावेल से प्रांतीय गवर्नरों को, 11 जुलाई 1945, वही, पृ. 1227.
74. वावेल से आमरे, 22 जुलाई 1945, वही, पृ. 1287-88.

भाग दो

साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद

अध्याय तीन

कांग्रेस की रणनीति और राष्ट्रवादी जन गतिविधियां

कुल मिलाकर कांग्रेस की रणनीति उपनिवेशवादी शासन के स्वरूप की पहचान पर आधारित थी : 'भारत में उपनिवेशवादी शासन के अर्ध-आधिपत्यवादी स्वरूप ने कांग्रेस को बहुआयामी संघर्ष के जरिए जवाबी आधिपत्य कायम करने के लिए प्रेरित किया।'[1] अहिंसा पर बल का मुख्य कारण भी संघर्ष का आधिपत्यवादी स्वरूप ही था क्योंकि जन प्रचार और आंदोलन तथा जन संघर्ष के अहिंसक लेकिन गैर-कानूनी और सांविधानिक तरीके द्वारा ही ब्रिटिश शासन की आधिपत्यवादी जड़ों को खोखला किया जा सकता था।

कांग्रेस की राजनीतिक रणनीति 'संघर्ष - विराम - संघर्ष'[2] के रूप में रही है। यह 'आधिपत्य के लिए एक लंबी लड़ाई थी' जिसमें जन संघर्ष था और बीच-बीच में सांविधानिक लड़ाई के दौर चले थे। यह एकदम बगावत करके सत्ता हथियाना नहीं था, यह 'चालबाजी का युद्ध' नहीं बल्कि 'हैसियत का युद्ध'[3] था। कांग्रेस ने अहिंसक जन आंदोलन और इसके साथ ही सांविधानिक रियायतों के लिए सांविधानिक संघर्ष, बातचीत और समझौते का मार्ग इसलिए नहीं अपनाया 'क्योंकि यह कथित रूप में बुर्जुआ पार्टी थी, बल्कि इसलिए अपनाया क्योंकि मौजूदा हालात में उसे ही सबसे अधिक कारगर रणनीति समझा गया।'[4]

इस दायरे के भीतर जन आंदोलन शुरू करने से पहले संघर्ष के सांविधानिक मार्ग का पता लगाना जरूरी था। गांधी ने इसे अपनी नायाब भाषा में इस प्रकार स्पष्ट किया है :[5]

> सत्याग्रही का पहला और आखिरी काम सम्मानपूर्ण मार्ग के अवसर की तलाश है...यदि नेताओं में अहिंसा की भावना जीवित है तो वे इस तरह के मार्ग की पूरी संभावना और आवश्यकता पर विश्वास रखें...हमारा लक्ष्य वही रहे, लेकिन हमें संपूर्ण से कम के लिए बातचीत के वास्ते भी तैयार रहना चाहिए बशर्ते कि वह कम अंश संपूर्ण की प्रकार का हो तथा विस्तार की स्वाभाविक संभावना रखता हो।

कांग्रेस नीति के बारे में अखिल भारतीय कांग्रेस समिति के 1945 में एक रेसोल्यूशन द्वारा इस रणनीति को दोहराया गया :[6]

> बातचीत और समझौते का मार्ग अपनाना शांतिपूर्ण नीति का बुनियादी उसूल है जिसे

WHO SAYS WE'RE NERVOUS?



स्रोत दि हिंदुस्तान टाइम्स, 14 नवंबर 1945

> कांग्रेस किसी भी हद तक भड़काए जाने के बावजूद छोड़ नहीं सकती। यह पूर्ण अथवा संशोधित असहयोग से भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए जब तक संभव हो कांग्रेस का मार्ग बातचीत और समझौते का रहे और जब आवश्यक हो तब असहयोग और सीधी कार्रवाई की जाए।

1945 में कांग्रेस की नीति ब्रिटेन में स्थिति तथा साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन की अवस्था के बारे में नेताओं के जायजे के अनुसार तय की जाती थी। 'युद्ध ने एशिया और यूरोप को हिला दिया है...ग्रेट ब्रिटेन दोयम स्थिति में खिसक चुका है। उसे अब सहायक की भूमिका निबाहनी पड़ेगी। ब्रिटेन अब हारी हुई लड़ाई लड़ रहा है। उसकी साम्राज्यवादी ताकत का स्रोत अब सूख रहा है।'[7] 1942 के आंदोलन और उसके दमन ने राष्ट्रीय आंदोलन के एक नए चरण की शुरुआत की है : '... पिछले तीन वर्षों ने हमारे लोगों पर गहरा प्रभाव छोड़ा है और इनमें बहुत बदलाव आया है। लोगों की भावनाओं को बहुत भड़काया गया है। उनमें से अधिकांश की आत्मा में दृढ़ता आई है।'[8] विभिन्न नीतियों के मामले में सरकार के अलग-थलग पड़ जाने को अमृत बाजार पत्रिका के संपादकीय में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है :[9]

> भारत ब्रिटिश संबंधों के इतिहास में सरकार कभी इतनी अकेली नहीं पड़ी है जितनी वह आई एन ए मुकदमे, इंडोनेशिया में भारतीय सेनाओं के प्रयोग, मलाया और सिंगापुर में भारतीयों को चुपचाप सजा-ए-मौत तथा दिल्ली के लाल किले और लाहौर के किले में भारी संख्या में लोगों को यातना की अखबारों में गंभीर रिपोर्टों के मामलों पर पड़ी है। इन घटनाओं ने लोगों की भावनाओं को गहराई तक मथ दिया है ...

राष्ट्रीय नेताओं ने लेबर सरकार द्वारा किए गए परिवर्तनों के अर्थों को समझा। सरकार ने 'बगैर किसी बतंगड़ के सांविधानिक मामलों को सुलटाने की इच्छा जताई।' यह सब कुछ बिगाड़ने और लटकाए रहने की चर्चिल की चालबाजियों के उलट था। क्रिप्स मिशन और शिमला सम्मेलन के रूप में दो राजनीतिक पहलों में चर्चिल ने यही किया था।[10] वाइसरॉय को फौरन लंदन बुलाया गया और उससे बातचीत के बाद एक नीति बयान तैयार किया गया। 19 सितंबर 1945 को इस बयान की घोषणा की गई। घोषणा में चुनाव कराने और संविधान सभा बनाने की बात कही गई। यह 'उसे बनाने की केवल बातों'[11] से आगे बढ़ना था। नवंबर में भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी ने क्रिप्स के अनुमोदन के बाद अमृत कौर के सुझावों को स्वीकार कर लिया। ये सुझाव थे : गांधी के साथ वाइसरॉय की बात, लंदन में बातचीत के लिए नेहरू और जिन्नाह को निमंत्रण और एक संसदीय शिष्टमंडल भेजना। वाइसरॉय ने पहले दो सुझावों को नामंजूर कर दिया।[12] 1 जनवरी 1946 के विदेशमंत्री के बयान में निकट भविष्य में स्वशासन देने के लेबर सरकार के वायदे को दोहराया गया।[13] एक खास नीति के तहत लेबर सरकार, विशेष रूप से विदेशमंत्री पैथिक लॉरेंस ने पहल

की और नागरिक अधिकारों की बहाली,[14] समय-समय पर समीक्षा के बाद बंदियों की रिहाई,[15] कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी और फॉरवर्ड ब्लाक सहित सभी राजनीतिक पार्टियों पर प्रतिबंध हटाने,[16] युद्ध के समय के विशेष अध्यादेशों को रद्द करने[17] और चिमुर-अस्ती के दोषियों की मौत की सजा को कम करने[18] के लिए वाइसरॉय पर दबाव डाला और इसमें उसे थोड़ी सफलता भी मिली।

नए माहौल को देखते हुए नेहरू ने भविष्यवाणी की कि 'अंग्रेज दो से पांच साल के भीतर भारत छोड़ देंगे', काटजू ने आगाह किया कि 'आजादी हमारी उम्मीद से पहले आ रही है' और पंत को भारत की शीघ्र पूरी आजादी'[19] की उम्मीद लगी। राष्ट्रीय आंदोलन की अवस्था के बारे में कांग्रेस की राय राष्ट्रवादी ताकतों के मूल्यांकन पर आधारित थी। भारी दमन के बावजूद लोग 'भारत छोड़ो' के नारे पर अपने आप उठ खड़े हुए थे। लोगों में थोड़ी कड़वाहट जरूर थी लेकिन उनके मन में संकल्प था।[20] नेताओं के स्वागत के लिए उमड़ा[21] उत्साही जन समूह, सभाओं और प्रदर्शनों (चाहे वे चुनाव सभाएं हों या चिमुर-अस्ती के दोषियों और इंडियन नेशनल आर्मी के बंदियों के लिए दया की मांग के लिए सभाएं हों)[22] में भारी भीड़, आई एन ए के लोगों की रिहाई के लिए आंदोलन का अजमेर, असम, सिंध, उड़ीसा और कुर्ग[23] जैसे राजनीतिक दृष्टि से अपेक्षाकृत निष्क्रिय क्षेत्रों तथा कांग्रेस के अनुयायियों से अलग लोगों - निष्ठावान, जमींदार, सेवा और सेना जैसे हलकों में फैलना राष्ट्रीय आंदोलन के फैलने का सूचक है।

ब्रिटिश शासन के जल्दी ही समाप्त हो जाने के बारे में कांग्रेस की उम्मीद तथा राष्ट्रवादी ताकतों के लगातार आगे बढ़ते जाने से विश्वास हो गया था कि 'संघर्ष-विराम-संघर्ष' की जद्दोजहद में जीत नजदीक आ रही है। शीघ्र समझौते की उम्मीद में पार्टी ने चुनाव लड़ा। ऐसा मंत्रिमंडल बनाने तथा संविधान सभा के स्वरूप के बारे में बातचीत के लिए प्रतिनिधि चुनने के इरादे से किया गया। सामान्य रवैया तो साफ था लेकिन ब्रिटिश नीति के कुछ पहलू परेशान कर रहे थे और इनकी वजह से अंतिम समझौते के रूप को लेकर कुछ शंकाएं पैदा हो रही थीं। शिमला सम्मेलन से युद्ध के दौरान का दमन और गतिरोध जरूर खत्म हुआ लेकिन इसकी विफलता ने फिर यह साबित कर दिया कि ब्रिटिश नीति उसी पुराने ढर्रे पर चल रही है - पहले मुसलिम लीग के अड़ियलपन को बर्दाश्त करना और फिर सांविधानिक प्रगति में रुकावट का दोष सांप्रदायिक फूट के मत्थे मढ़ देना।[24] लेबर सरकार ने सकारात्मक रुख के संकेत जरूर दिए थे लेकिन अभी तक यह साफ नहीं हुआ था कि उपनिवेशवादी स्वयं सरकार के बारे में उसका रुख साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से जुड़ा तथा सांप्रदायिक ताकतों के इस्तेमाल के रवैए से अलग था या नहीं। कुल मिलाकर 1945 की दूसरी छमाही के दौरान ब्रिटिश नीति से इस बात का संकेत तक नहीं मिलता कि नीति- निर्माताओं को ब्रिटिश स्थिति में परिवर्तन का अहसास हो गया है।

इसलिए कांग्रेस ने जन आंदोलन की तैयारी करना आवश्यक समझा ताकि चुनाव के

बाद बातचीत से आजादी न मिलने की हालत में आंदोलन छेड़ा जा सके। सरकार के खिलाफ असंतोष को इस ओर मोड़ा गया तथा चुनाव के मंच का प्रयोग सरकारी कार्यों तथा नीतियों जैसे कि 1942 की ज्यादतियों, आई एन ए मुकदमों, इंडोनेशिया में भारतीय सेनाओं के प्रयोग की आलोचना और 'पार्टी को फिर से खड़ा करने के लिए किया गया।'[25] कांग्रेसी नेताओं ने लोगों से अगले संघर्ष के लिए तैयार रहने के लिए कहा।[26] इसने अफसरों को हैरत में डाल दिया।

कांग्रेस बातचीत द्वारा समझौता करने के लिए भी तैयार थी और आगे चलकर जन आंदोलन के लिए तैयारी भी कर रही थी। वह समझौता और संघर्ष दोनों ही मार्गों को खुला रखना चाहती थी। समय से पहले संघर्ष छेड़ना कांग्रेस की सामान्य रणनीति के खिलाफ था। वह सीधी कर्रवाई से पहले सांविधानिक संभावनाओं का पता लगाना चाहती थी। आर आई एन विद्रोह और कैबिनेट मिशन के बारे में अपनी टिप्पणियों में गांधी ने इसे साफ तौर पर जाहिर किया है।'शासकों ने' भारतीय शासन' के हक में अपना शासन' छोड़ने' की मंशा जताई है। हृदय में तकलीफ और असंतोष को जाहिर करके हम एक क्षण के लिए भी इसमें देरी न करने दें।' उन्होंने अरुणा आसफ अली को लिखा : 'क्या सरकारी शिष्टमंडल इस महान राष्ट्र को धोखा देने के लिए आ रहा है ? इंतजार करने से क्या बिगड़ जाएगा ?'[27]

1945-46 में कांग्रेस को महत्वपूर्ण अंतिम समझौते की संभावना अधिक नजर आ रही थी। मिलिटेंसी इस संभावना के खिलाफ जा सकती थी। इस तरह की कार्रवाई से अफसरों के साथ सीधी मुठभेड़ हो जाती और उन्हें बातचीत बंद करने और समझौते का मार्ग बंद करने का बहाना मिल जाता। एक खतरा और था। यदि कांग्रेस इस तरह के संघर्ष को बढ़ावा देती और समय से पहले जन आंदोलन छेड़ देती तो इसका मतलब होता सांविधानिक मार्ग की संभावनाओं को जाने बगैर ही उसे छोड़ देना। इससे सांप्रदायिक और प्रतिक्रियावादी ताकतों का रास्ता साफ हो जाता। सरकार बड़ी आसानी से उनके साथ समझौता कर लेती। इस माहौल में रणनीति के तहत राष्ट्रीय आंदोलन का मुख्य आग्रह राष्ट्रवादी एकजुटता के प्रदर्शन पर था। इससे अंग्रेजों पर किसी भी प्रकार के हमले के बगैर लोगों में जोश बना रहा और तैयारी होती रही।

सबसे पहले हम इस अवधि में जन राजनीतिक गतिविधियों के खास चेहरे को नजदीक से देखेंगे। बाद के अध्याय में यह देखेंगे कि कांग्रेस और ब्रिटिश नीतियों से इन गतिविधियों का क्या संबंध था और उन पर इनका क्या प्रभाव पड़ा। जैसा कि हमने पिछले अध्याय में देखा है 'भारत छोड़ो' आंदोलन के बाद राजनीतिक माहौल में काफी शांति थी। कांग्रेसी बुनियादी तौर पर निर्माण कार्य में लगे हुए थे। इससे कांग्रेस संगठन को फिर से खड़ा करने में मदद मिली। इसके अलावा स्वतंत्रता दिवस और राष्ट्रीय सप्ताह मनाया जाता था, चिमुर-अस्ती बंदियों की रिहाई के लिए अभियान छेड़ा जाता था तथा कम्युनिस्टों और

अन्य लोगों द्वारा आयोजित किसान और मजदूर सम्मेलनों में राष्ट्रवादी मांगों को उठाया जाता था।

युद्ध के तुरंत बाद राष्ट्रवादी गतिविधि के ग्राफ में एक नई बात देखने को मिली। वर्ष 1945 के बीच में संक्रमण की स्थिति थी। राजनीतिक माहौल शांत हो रहा था। युद्ध के दौरान राजनीतिक गतिविधि ने निर्माण कार्य और विभिन्न सामाजिक और राजनीतिक समूहों में राष्ट्रीय भावना का रूप लिया था। यह गतिविधि अब समाप्त हो गई। निर्माण कार्यक्रम समाप्त हो गया लेकिन इससे बने संगठन को बरकरार रखा गया और उसने कांग्रेस के लिए चुनावी मशीनरी का काम किया। जून 1945 राष्ट्रवादी गतिविधि का संक्रमण समय था। युद्ध के दौरान बहुत छोटे पैमाने पर अपने आप होने वाली राजनीतिक अभिव्यक्ति का स्थान खुली, सीधी, तीव्र ब्रिटिश विरोधी राजनीतिक गतिविधि ने ले लिया था। आई एन ए आंदोलन और आर आई एन विद्रोह ने शहीदी दिवस अथवा आजादी सप्ताह जैसी सभी राजनीतिक गतिविधियों को पीछे धकेल दिया।

इस समय बेमिसाल जन उत्तेजना का एक कारण और था। लोगों की तीन सालों से दबी पड़ी राजनीतिक ऊर्जा उभर कर सामने आ रही थी। इसके बाद अतिरिक्त राजनीतिक रुकावटें भी दूर कर दी गई थीं। जून 1945 में नेताओं की रिहाई के साथ ही यह सिलसिला शुरू हो गया था। अपनी विफलता के बावजूद शिमला सम्मेलन का आयोजन, लेबर पार्टी का सत्ता में आना, इसके बाद चुनावों की घोषणा, लोक मंत्रिमंडलों की स्थापना की उम्मीद बदलाव की सूचक थीं। अंग्रेजों द्वारा सही समय पर किए गए इन कार्यों के अलावा नए सिरे से राष्ट्रवादी कदम भी उठाए गए। आई एन ए बंदियों की रिहाई के लिए अभियान से 'गुमराह देशभक्तों' को भारी समर्थन मिला। 1942 के आंदोलन के दौरान ज्यादतियों के दोषी अधिकारियों को सजा देने के लिए कांग्रेस ने आंदोलन चलाया। इससे सामान्य जनता में अफसरों का भय कम हुआ। आर आई एन ने अधिक नाटकीय ढंग से लोगों को डर से 'मुक्त' किया।

युद्ध के बाद के राजनीतिक उल्लास की पहली अभिव्यक्ति युद्ध के खत्म होने से पहले ही हो गई थी। यह पूर्वी थिएटर में शिमला सम्मेलन बुलाए जाने के रूप में हुई। नए राजनीतिक प्रस्ताव के बारे में 14 जून 1945 को वावेल के प्रसारण में कांग्रेस कार्यसमिति के सदस्यों की रिहाई की घोषणा भी की गई ताकि वे आगामी सम्मेलन में भाग ले सकें। यह खबर सुनकर उन सभी जेलों में भारी संख्या में लोग जमा हो गए जहां कांग्रेसी नेताओं को अहमदनगर किले से निकाल कर रखा गया था।[28] व्यक्तिगत रूप से बधाई देने के साथ-साथ लोगों ने कई इलाकों में जश्न मनाए।[29]

21 और 22 जून 1945 को बंबई में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक के लिए आए कांग्रेसी नेताओं का बड़े जोश के साथ स्वागत किया गया। केंद्रीय प्रांतों से गुजरकर बंबई जा रहे नेताओं की स्टेशनों पर जय-जयकार की गई।[30] खराब मौसम के बावजूद दस

हजार लोग विक्टोरिया टर्मिनस पहुंचे।[31] कांग्रेस अध्यक्ष के तीन वर्ष बाद शहर में आने के अवसर पर नगर निगम स्कूल 25 जून को बंद रहे।[32] 20 जून को जब नेहरू बंबई पहुंचे तो पांच लाख लोगों ने मानसून बारिश में सड़कों पर खड़े होकर उनका स्वागत किया।[33] शिमला तथा रास्ते में आने वाले अन्य शहरों में स्वागत और आवभगत का काम शुरू हो गया। शहर से गुजरने वाले नेताओं का स्वागत इस समय दिल्ली की मुख्य गतिविधि बन गया था।[34] कालका जाने के लिए गांधी और आजाद जब अंबाला से गुजरे तो भारी भीड़ ने उनकी जय-जयकार की।[35] गांधी को लेकर रेलगाड़ी जब शिमला पहुंची तो भीड़ काबू के बाहर हो गई और उसने उनके डिब्बे में घुसने की कोशिश की।[36] नेहरू जब शिमला पहुंचे तो लोग उनकी एक झलक पाने के लिए पेड़ों और पहाड़ियों पर चढ़े हुए थे।[37]

शिमला सम्मेलन के विफल हो जाने और जल्दी ही राजनीतिक प्रगति की उम्मीदें टूट जाने के बावजूद लोगों का जोश एक महीने बाद तक कम नहीं हुआ। लाहौर में लोगों के 'भारी जोश' से नेहरू दंग रह गए थे।[38] नवंबर 1945 में केंद्रीय एसेंबली और 1946 के शुरू में प्रांतीय एसेंबलियों के लिए चुनाव अभियानों के दौरान नेताओं को लोगों के मिजाज का पता चला। 1936-37 की तरह ही 1945-46 के दौरान भी चुनाव अभियान का मुख्य आकर्षण नेहरू ही थे। उन्होंने लगभग पूरे देश का दौरा किया। उन्होंने स्वीकार किया कि उन्होंने 'पहले कभी इतनी भीड़ और इतनी जबर्दस्त उत्तेजना नहीं देखी।'[39] नेहरू के विचार से यह भारी भीड़ नेताओं की लोकप्रियता और कांग्रेस की बढ़ती ताकत का सबूत थी।[40]

राष्ट्रवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति का एक और तरीका था राष्ट्रीय नेताओं और राष्ट्रीय आंदोलन की महत्वपूर्ण घटनाओं की वर्षगांठ अथवा नेताओं की पुण्यतिथि मनाना। 1 अगस्त 1945 को तिलक की 25वीं पुण्यतिथि तिलक दिवस के रूप में मनाई गई। बंबई के लगभग सभी जिलों, यू पी के कई स्थानों विशेष रूप से मेरठ, हापुड़ और कानपुर, पंजाब और केंद्रीय प्रांतों तथा बरार के अधिकांश जिलों, सिंध के अधिकांश जिलों, शहरों तथा अजमेर और बियावर में सभाएं आयोजित की गईं, जुलूस निकाले गए, प्रभात फेरियां निकाली गईं और झंडे फहराए गए।[41] 1942 में कांग्रेस कार्यकर्ताओं की गिरफ्तारी की तीसरी वर्षगांठ के अवसर पर 9 अगस्त 1945 को शहीदी दिवस मनाया गया। इस मौके पर सभाएं की गईं, झंडे फहराए गए, जुलूस निकाले गए, क्लासें छोड़ी गईं और हड़तालें की गईं।[42] शहीदी दिवस स्वतंत्रता सप्ताह का पहला दिन था। यह सप्ताह 9 से 15 अगस्त 1945 तक मनाया गया। इस दौरान राजनीतिक बंदी दिवस, स्वतंत्रता दिवस, विद्यार्थी मांग दिवस, चरखा प्रदर्शन दिवस, राष्ट्रीय एकता दिवस और छुआछूत विरोधी दिवस मनाए गए।[43]

लोगों के जोश की अभिव्यक्ति का एक तीसरा तरीका भी था। वह केंद्रीय और प्रांतीय एसेंबलियों के लिए कांग्रेस द्वारा चुनाव अभियान के दौरान देखने को मिला। चुनाव अभियान की व्यापकता का अंदाजा चुनाव सभाओं की संख्या और उनमें उमड़ने वाली भीड़ से

लगाया जा सकता है। सामान्य बैठक में 500,00 से अधिक लोग होते थे और बड़े नेताओं द्वारा संबोधित की जाने वाली बड़ी बैठकों में एक लाख और उससे अधिक लोग होते थे। प्रांतीय चुनावों में सामान्य सीटों पर कांग्रेस को भारी जीत हासिल हुई। उसने कुल 1585 सीटों (सामान्य और विशेष सीटों) में से 923 सीटों पर जीत हासिल की। 38 में से 23 लेबर सीटें जीत कर भारी बहुमत प्राप्त किया लेकिन मुसलिम सीटों पर वह मुसलिम लीग से बुरी तरह हारी।[44] चुनाव अभियान के दो बड़े मुद्दे थे – 1942 का दमन और आई एन ए बंदियों पर मुकदमा।

चुनाव अभियान दो पहलुओं पर फोकस था – 1942 के शहीदों का गुणगान और शासकीय ज्यादतियों की निंदा। 'उपद्रवों के लिए कांग्रेस की जिम्मेदारी' विषय पर सरकार के आरोपपत्र के अपने लंबे जवाब में गांधी ने 1943 में ही यह कह दिया था कि 1942 के दौरान हिंसा राज की 'सिंह जैसी हिंसा' द्वारा भड़काई गई थी, इसलिए उचित थी।'[45] 1945 में कांग्रेस नेताओं ने लोगों द्वारा बहादुरी के साथ किए गए मुकाबले की तारीफ की। शहीदों के स्मारक बनाए गए तथा 1942 के पीड़ितों के लिए राहत फंड फिर से शुरू किए गए। प्रेस और चुनाव बैठकों में सरकार की कार्रवाई की कड़ी आलोचना की गई। दमन की कहानियों को फिर से याद किया गया, इसके लिए जिम्मेदार अफसरों की अकसर नाम लेकर निंदा की गई तथा जांच और सजा की धमकियां दी गईं।

लेकिन लोगों का ध्यान मुख्य रूप से सुभाषचंद्र बोस की इंडियन नेशनल आर्मी के उन सदस्यों के भाग्य की ओर लगा हुआ था जो पूर्वी क्षेत्र में युद्ध के दौरान अंग्रेजों द्वारा पकड़े गए थे। सरकार द्वारा अगस्त 1945 के अंत में यह घोषणा की जानी थी कि आई एन ए सदस्यों में से केवल उन पर मुकदमा चलाया जाएगा जो वहशीपन और जुर्म में भागीदार होने के दोषी पाए जाएंगे। लेकिन इस बारे में बयान जारी होने से पहले नेहरू ने 16 अगस्त 1945[46] में श्रीनगर में एक बैठक में छूट की मांग की जिससे ऐसा लगा कि बयान सरकारी की किसी प्रकार की दयालुता के कारण नहीं बल्कि उनके कहने पर दिया जा रहा है।[47]

नेहरू ने उन्हें गुमराह देशभक्त बताते हुए मांग की कि भारत में 'जल्दी होने वाले बड़े परिवर्तनों' के अंग्रेजों के वायदे के मद्देनजर प्रशासन उनके साथ समझदारी से व्यवहार करे।[48] दूसरे कांग्रेसी नेताओं ने भी इस मुद्दे को उठाया। युद्ध के बाद 21 और 23 सितंबर 1945 तक बंबई में हुए अपने पहले अधिवेशन में ए आई सी सी ने सख्त शब्दों वाले रेसोल्यूशन में इस मुद्दे पर अपने समर्थन की घोषणा की।[49] आई एन ए बंदियों की पैरवी का काम कांग्रेस ने लिया। लाल किले के ऐतिहासिक मुकदमे में नेहरू, आसफ अली, भूलाभाई देसाई और के.एन. काटजू पेश हुए। कांग्रेस ने आई एन ए राहत और जांच समिति बनाई। समिति लोगों की रिहाई के बाद उन्हें थोड़ा पैसा और खाना देती थी और उनके रोजगार के लिए कोशिश करती थी।[50] कांग्रेस ने पैसा इकट्ठा करने के लिए केंद्रीय आई एन ए फंड समिति, मेयर्स फंड बंबई, ए आई सी सी, प्रांतीय कांग्रेस समिति कार्यालयों

और शरत बोस को प्राधिकृत किया।[51] पूरे देश में सभाओं में कांग्रेस के मंच से आई एन ए का मुद्दा प्रमुख रूप से उठाया जाता था। कई बार तो यह फैसला करना मुश्किल हो जाता था कि यह आई एन ए मुद्दे पर सभा है या चुनाव सभा। नेहरू ने आई एन ए मामले की बहुत पहले पैरवी शुरू कर दी थी। बाद में कांग्रेस ने भी विभिन्न रूपों में इसे अपना लिया था। अत: यह आरोप सही नहीं लगता कि कांग्रेस आई एन ए मामले में अचानक कूद पड़ी और उसने इसे चुनावी नाटकबाजी[52] के रूप में इस्तेमाल किया।

आई एन ए आंदोलन कई मामलों में ऐतिहासिक घटना थी। इसलिए उस पर फोकस किया गया। जिस पैमाने पर अथवा जिस शिद्दत के साथ आई एन ए बंदियों की रिहाई का अभियान चलाया गया वह बेमिसाल था। यह इसके बारे में अखबारों में छपी खबरों तथा अन्य तरह से प्रचार, बदला लेने की खुले आम धमकियों और भारी संख्या में बड़ी बैठकों से स्पष्ट है।[53] शुरू में अखबारों में 'गुमराह' लोगों को माफ करने की अपीलें छपती थीं लेकिन नवंबर 1945 में लाल किले में पहला मुकदमा शुरू होते ही अखबारों के संपादकीयों में आई एन ए लोगों की बहादुर देशभक्तों के रूप में जय-जयकार और सरकारी रवैए की निंदा की जाने लगी।[54] अंतर्राष्ट्रीय खबरों को छोड़कर आई एन ए मुकदमों और आई एन ए अभियान की खबरों को पहले छापा जाने लगा।[55] भारी तादाद में पैंफलेट बांटे जाते थे। इनमें से सबसे ज्यादा लोकप्रिय पैंफलेट था 'गद्दार नहीं देशभक्त'।[56] अजमेर में बिल्डिंगों की दीवारें 'जय हिंद' और 'भारत छोड़ो' से अटी पड़ी थीं।[57] पूरी दिल्ली में जगह-जगह धमकी भरा यह वाक्य लिख दिया गया था कि प्रत्येक आई एन ए आदमी की मौत की सजा के लिए '20 अंग्रेजी कुत्तों' को मारा जाएगा।[58] राजमुंदरी में एक सभा में एक वक्ता ने चेतावनी दी कि फांसी पर चढ़ाए गए हरेक आई एन ए व्यक्ति के लिए 100 गोरों को अपनी जान गंवानी पड़ेगी।[59] बनारस में एक जनसभा में यह घोषणा की गई 'यदि आई एन ए आदमियों को नहीं छोड़ा गया तो यूरोपीय बच्चों से बदला लिया जाएगा।'[60]

इस मुद्दे में जनता की दिलचस्पी का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि अक्तूबर 1945 के पहले पखवाड़े में अकेले केंद्रीय प्रांतों और बरार में हुई 160 राजनीतिक सभाओं में आई एन ए मुद्दे पर चर्चा की गई।[61] पूरे देश में आई एन ए दिवस और सप्ताह मनाए गए। इनके दौरान हड़तालें की गईं, पैसा इकट्ठा किया गया, बाजार बंद किए गए और भारी जुलूस निकाले गए। यू.पी. में आगरा, बनारस, कानपुर, लखनऊ, फिरोजाबाद और इलाहाबाद, पंजाब में अमृतसर और लाहौर तथा बंबई, मद्रास, पटना, बियावर और क्वेटा में 12 नवंबर आई एन ए दिवस के रूप में मनाया गया।[62] 5 से 11 नवंबर तक बंबई शहर, यू.पी. और उड़ीसा में आई एन ए सप्ताह का आयोजन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[63] विभिन्न क्षेत्रों में बड़ी सभाओं में 50000 के आसपास लोग आते थे। देशप्रिय पार्क, कलकत्ता में सबसे बड़ी बैठक हुई। इसे आई एन ए राहत समिति ने आयोजित किया तथा शरत बोस, नेहरू और पटेल ने संबोधित किया। सभा में दो से लेकर तीन लाख लोगों ने हिस्सा लिया। नेहरू ने इसकी संख्या 5-7 लाख बताई।[64]

आई एन ए अभियान की दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि यह देश के बहुत बड़े हिस्से में फैला और इसमें समाज के विभिन्न तबकों और राजनीतिक पार्टियों ने हिस्सा लिया। इसके दो पहलू थे। एक तो यह कि आंदोलन बहुत दूर-दूर तक फैल गया और दूसरे यह कि आई एन ए के प्रति हमदर्दी की भावना समाज के उन तबकों तक फैल गई जो राष्ट्रवादी घेरे के बाहर थे। शासकों के लिए यह गंभीर परेशानी की बात थी। आई एन ए मुद्दे के प्रति लोगों की व्यापक रूप से दिलचस्पी की बात डाइरेक्टर, इंटेलीजेंस ब्यूरो ने भी स्वीकार की है : 'किसी और मामले में भारतीय जनसमूह की इतनी दिलचस्पी और हमदर्दी पैदा नहीं हुई।'[65] नेहरू ने इसका समर्थन किया : 'भारतीय जनसमूह ने आजाद हिंद फौज के सवाल पर एकजुटता की जो भावना दिखाई है उसकी और कोई मिसाल भारत के इतिहास में देखने को नहीं मिलती।'[66] दिल्ली, बंबई, मद्रास, पंजाब, यू.पी. और बंगाल आंदोलन के मुख्य केंद्र थे। विभिन्न कसबों और शहरों में सभाएं आयोजित की गईं। ध्यान देने की बात यह है कि आंदोलन कुर्ग,[67] बलूचिस्तान,[68] और असम[69] जैसे दूरदराज़ के इलाकों तक फैल गया। 'सुदूर गांवों से' सभी जातियों, रंगों और धर्मों[70] के लोगों द्वारा 'चिंता जताए जाने' और भारी सहानुभूति की खबरें मिल रही थी।' सामाजिक और राजनीतिक दृष्टि से आंदोलन बहुत फैल गया था। यह नगर समितियों से लेकर सैनिकों तक और राजनीतिक पार्टियों में कांग्रेस और मुसलिम लीग से लेकर अकालियों और जस्टिस पार्टी तक फैल गया था।

भागीदारी कई तरह से होती थी। कुछ लोग चंदा देते थे, कुछ सभाएं आयोजित करते अथवा उनमें भाग लेते थे, दुकानदार अपनी दुकानें बंद करते थे और राजनीतिक पार्टियां तथा संगठन बंदियों की रिहाई की मांग करते थे। नगर समितियां, देश से बाहर गए भारतीय और गुरुद्वारा समितियां जी खोलकर चंदा दे रही थीं। इस पर नेहरू ने टिप्पणी की कि 'पैसा सभी तबकों से अपने आप आ रहा है।'[71] शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी ने 7000 रु. का चंदा दिया और 10000 रु. आई एन ए राहत के लिए रख छोड़े।[72] शासकीय संस्थाओं ने अपनी क्षमता के हिसाब से चंदा दिया। यह शासन के लिए बहुत खीज की बात थी। मद्रास में एक जिला बोर्ड, पूना शहर नगर पालिका और कानपुर शहर फंड ने एक-एक हजार रु. का चंदा दिया। बंबई और कलकत्ता के फिल्म कलाकारों, कैंब्रिज मजलिस और अमरावती के तांगे वालों ने उल्लेखनीय चंदा दिया।[73]

अभियान में विद्यार्थियों की भूमिका उल्लेखनीय रही। उन्होंने सभाओं और रैलियों का आयोजन किया तथा कक्षाओं का बहिष्कार किया। दक्षिण में सलेम से लेकर उत्तर में रावलपिंडी, पूर्व में कलकत्ता और कटक से लेकर पश्चिम में बंबई और पूना तक पूरे देश से उनकी भागीदारी के समाचार मिले।[74] यू.पी. और पंजाब के विभिन्न शहरों, बंबई, मद्रास, पटना और क्वेटा में मुकदमे के पहले दिन 5 नवंबर 1945 को तथा आई एन ए दिवस और सप्ताह में व्यापारिक संस्थाएं, दुकानें और बाजार बंद रहे।[75] 16 नवंबर को धमनगांव और

शोलापुर में किसान सम्मेलनों और 29 दिसंबर 1945 को हैदराबाद में अखिल भारतीय महिला सम्मेलन के दसवें सत्र में रिहाई की मांग उठाई गई।[76] टकर ने लिखा है कि 'भारत में एक अथवा दो वर्ष के प्रवास के लिए आए अंग्रेज बुद्धिजीवियों ने भी सही और गलत और आई एन ए लोगों की गलती की मात्रा में गहरी दिलचस्पी दिखाई।'[77] भागीदारी के नए-नए तरीके अपनाए गए। आई एन ए बंदियों की दुर्दशा के प्रति सहानुभूति दिखाते हुए पंजाब के कुछ गांवों में दिवाली नहीं मनाई गई।[78] केंद्रीय प्रांतों और बरार में सामाजिक और धार्मिक अवसरों पर आई एन ए के पक्ष का प्रचार किया गया।[79] कलकत्ता में एक गुरुद्वारा 'आई एन ए की ओर से राजनीतिक गतिविधि का केंद्र'[80] बन गया।

व्यापक सामाजिक भागीदारी के अलावा महत्वपूर्ण बात यह है कि अलग-अलग विचारधाराओं और मतभेदों वाली राजनीतिक पार्टियों ने एक जैसा रुख अपनाया। मुसलिम लीग[81], भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी[82], यूनियनिस्ट पार्टी[83], अकाली[84], जस्टिस पार्टी[85], रावलपिंडी के अहरार[86], राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ [87], हिंदू महासभा और सिख लीग[88] ने विभिन्न मात्रा में आई एन ए का समर्थन किया। मुसलिम लीग अब्दुल रशीद पर क्रूरता का मुकदमा शुरू किए जाने के बाद देरी से मैदान में उतरी। वावेल ने उनके रुख को इस प्रकार स्पष्ट किया : 'इसके पीछे साफ तर्क यह है कि पहले आई एन ए मुकदमे में दया कांग्रेस के दबाव के कारण दिखाई गई थी। अब अब्दुल रशीद (रशीद अली) के केस में लीग यह दिखाना चाहती थी कि आंदोलन के मामले में वह भी पीछे नहीं है।'[89]

शुरू में कम्युनिस्ट आधे मन से आई एन ए मामले से जुड़े। यह पीपुल्स वार के शुरू के संपादकीयों से स्पष्ट हो जाता है।[90] लेकिन नवंबर के आखिर में कम्युनिस्ट विद्यार्थियों ने कलकत्ता में आई एन ए जुलूसों का नेतृत्व करना शुरू कर दिया और पुलिस से मुठभेड़ शुरू कर दी। राजनीतिक पार्टियों में से कांग्रेस ने ही मुख्य रूप से आई एन ए अभियान का नेतृत्व किया और इसमें भाग लिया। वावेल ने नोट किया है कि 'सभी पार्टियों ने एक जैसा रवैया अपनाया है लेकिन दूसरों के मुकाबले कांग्रेस आगे है।'[91]

आई एन ए आंदोलन की एक ध्यान देने योग्य विशेषता थी राज के परंपरागत रक्षकों पर उसका प्रभाव। सरकारी कर्मचारी, निष्ठावान लोग और यहां तक कि सशस्त्र सेनाएं आई एन ए समर्थन की भावना में बह गईं। कई सरकारी अफसरों ने इसे चिंता की बात बताया। उत्तर पश्चिम सीमाप्रांत के गवर्नर ने चेतावनी दी 'हमारे पक्ष वाले बहुत से भारतीय रोजाना ब्रिटिश विरोधी खेमे में चले जाते हैं।' इंटेलीजेंस ब्यूरो के डाइरेक्टर ने पाया कि 'आई एन ए के प्रति हमदर्दी केवल उन लोगों में नहीं है जो सरकार के खिलाफ हैं' और 'आई एन ए के लोग परंपरागत निष्ठावान परिवारों से हैं।'[92] पंजाब के मामले से यह बात स्पष्ट हो जाती है। फरवरी 1946 तक रिहा किए गए 48.07 प्रतिशत आई एन ए लोग इसी प्रांत से थे। रिहा हुए लोगों के अपने गांवों को लौटने और अन्य असंख्यों के बारे में लगातार अनिश्चितता के कारण आई एन ए मुद्दे ने उन तबकों और लोगों का ध्यान अपनी ओर

आकृष्ट कर लिया 'जो अभी तक राजनीतिक असर से अछूते थे।' बहुत से आई एन ए अधिकारी अपने क्षेत्र के 'प्रभावशाली परिवारों' से थे। इसकी वजह से भी स्थानीय दिलचस्पी बढ़ी।[93] लाल किले में जिन तीन लोगों पर सबसे पहले मुकदमा चलाया गया उनमें से एक पी.के. सहगल पंजाब उच्च न्यायालय के भूतपूर्व जज दिवान अदरुराम का बेटा था।[94] इन भूतपूर्व जजों और 'पदवीधारी सज्जनों' ने 'युद्धकालीन देशद्रोह' के दोषी लोगों की पैरवी करते समय उनका गुणगान नहीं किया। उन्होंने सरकार से अपील की कि भारत और ब्रिटेन के अच्छे संबंधों की खातिर इन मुदकमों को बंद किया जाए।[95] पी.एन. सपरु जैसे उदारवादियों का यही रुख था।[96] सामान्यतः सरकारी अधिकारी यदि सहानुभूति दिखाते थे तो छुपकर लेकिन केंद्रीय प्रांतों और बरार के रेलवे अधिकारियों को चंदा इकट्ठे करते हुए देखा गया।[97]

सशस्त्र सेनाओं की ओर से इस मामले को समर्थन सरकार के लिए सबसे बड़ी चिंता की बात थी। आई एन ए मुद्दे के प्रति सशस्त्र सेनाओं के लोगों की हमदर्दी उम्मीद से कहीं ज्यादा थी। इसने इस सरकारी धारणा को ध्वस्त कर दिया कि निष्ठावान सिपाही आई एन ए 'गद्दारों' के बहुत खिलाफ हैं। कुछ मामलों में सैनिकों ने सीधा समर्थन किया। उन्होंने सभाओं में हिस्सा लिया और चंदा भेजा। लेकिन इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि दया की मांग के लिए उनके समर्थन ने सरकारी नीति के बदले जाने में निर्णायक भूमिका अदा की। सहजवां स्टेशन पर सिख सिपाहियों ने गोविंद बल्लभ पंत की जयकार की और अपनी लारियों पर कांग्रेस का झंडा लगाया। रॉयल इंडियन एयर फोर्स (आर आई ए एफ) के लोगों ने कोहाट में शाहनवाज की सभाओं में भाग लिया तथा यू.पी. और पंजाब में सेना के जवानों ने आई एन ए सभाओं में भाग लिया। वे अकसर वर्दी पहने हुए होते थे।[98] कलकत्ता, कोहाट, इलाहाबाद, बामरौली और कानपुर में आर आई ए एफ के लोगों ने आई एन ए रक्षा कोष में चंदा दिया। यू.पी. में अन्य सैनिकों ने भी ऐसा ही किया।[99]

खुले समर्थन के इन उदाहरणों के अलावा भारतीय सेना में 'आई एन ए के प्रति समर्थन की भावना बढ़ती ही जा रही थी।'[100] सशस्त्र सेनाओं में आई एन ए के लिए हमदर्दी के बारे में कमांडर-इन-चीफ का मूल्यांकन बहुत हैरतंगेज है।[101] इसमें बताया गया है कि शत-प्रतिशत इंडियन कमीशन्ड अधिकारियों के मन में हमदर्दी थी, किंग्स कमीशन्ड भारतीय अधिकारियों में मतभेद था, यू.पी. रॉयल इंडियन एयर फोर्स '100 प्रतिशत आई एन ए' थी, अन्य भारतीय सैनिक कुल मिलाकर उदासीन लेकिन हमदर्दी लिए हुए थे। सेना का उच्च अफसर वर्ग इस हमदर्दी के महत्व को समझता था। कमांडर-इन-चीफ ने शुरू में इस आधार पर सख्त सजा देने की तजवीज की कि 'सेना में आम भावना यह होगी कि इन पर (आई एन ए बंदियों पर) गद्दारों के रूप में भी मुकदमा चलाया जाए।'[102] लेकिन नवंबर के बाद में उसका विचार बदल गया और उसने व्हाइटहॉल को सूचित किया कि 'सेना में आममत रहम के पक्ष में हैं।'[103] जब पहले तीन आई एन ए बंदियों की सजा कम की गई तो

सेना की 'बड़ी बहुसंख्या' ने इस 'दया' पर 'खुशी' जताई।[104] इससे ब्रिटिश अधिकारियों में खलबली मच गई। लेफ्टीनेंट जनरल टकर का यह बयान साफ तौर पर डराने वाला लगता है कि 'आई एन ए मामले से भारतीय सेना के पूरे किले के ढह जाने का डर है।'[105] लेकिन जैसा कि वावेल ने आजाद को बताया इसमें कोई शक नहीं था कि इससे 'सेना के हौसले और अनुशासन को धक्का लगा।'[106]

आंदोलन की बेमिसाल तीव्रता और उसके फैलाव के अलावा आई एन ए मामले का महत्वपूर्ण राजनीतिक अर्थ था। दिलचस्प बात यह है कि इस मुद्दे पर कोई बहस नहीं हुई कि आई एन ए लोगों का काम सही था या गलत। सवाल यहां पर आकर टिका कि अंग्रेजों को भारतीयों के मामलों पर फैसला करने का हक है या नहीं। नेहरू ने अकसर इस बात पर बल दिया कि यदि अंग्रेज भारत-ब्रिटिश संबंधों में परिवर्तन की घोषणा के प्रति सच्चे हैं तो उन्हें यह मामला भारतीयों पर छोड़कर अपनी भलमनसाहत दिखानी चाहिए। उदार तबकों ने भी भविष्य में भारत-ब्रिटिश संबंधों के हित में अपील की। ऐसा लगता था कि चुनौती दी जा रही है - हम आई एन ए लोगों की कारगुजारी की पैरवी नहीं करेंगे, हम मानते हैं कि वे गुमराह हैं लेकिन फिर भी हम कहते हैं कि उन्हें छोड़ दिया जाए, वरना हम यह कहेंगे कि भारत छोड़ने के आपके वायदे झूठे हैं। अंग्रेजों ने आई एन ए मुद्दे के राजनीतिक अर्थ को समझ लिया। उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत के गवर्नर ने आग्रह किया कि मुकदमों को बंद किया जाए। साथ ही उसने चेतावनी दी कि दिन पर दिन यह मामला पूरी तरह से 'भारतीय बनाम अंग्रेज' बनता जा रहा है।[107]

संदर्भ और टिप्पणियां

1. आदित्य मुखर्जी, 'दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास', कांग्रेस रणनीति के व्यापक विश्लेषण के लिए देखें बिपन चंद्र की *इंडियन नेशनल मूवमेंट : लोंग टर्म डाइनैमिक्स*, नई दिल्ली, 1988.
2. चंद्र, *लोंग टर्म डाइनमिक्स*, पृ. 129
3. मृदुला मुखर्जी, 'पीजेंट मूवमेंट्स एंड नेशनल मूवमेंट', जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में 'नेशनलिज्म एंड नेशनल मूवमेंट्स' विषय पर आयोजित इंडो-जीडीआर सेमिनार में प्रस्तुत पर्चा, मार्च 1988.
4. मुखर्जी, 'इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास', पृ. 275.
5. कलेक्टेड वर्क्स आफ महात्मा गांधी (इसके बाद एम जी सी डब्ल्यू), वॉल्यूम 69, नई दिल्ली, 1977, पृ. 323.
6. कांग्रेस नीति के बारे में 22 सितंबर 1945 को स्वीकार किया गया ए आई सी सी रेजोल्यूशन, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, मार्च 1940 से सितंबर 1946: कांग्रेस, ए आई सी सी और कार्य समिति के रेजोल्यूशन, महासचिव, ए आई सी सी द्वारा प्रकाशित, नई दिल्ली, 1946.
7. फाइल सं. जी-20/1942-45, अखिल भारतीय कांग्रेस समिति कागजपत्र (इसके बाद ए आई सी सी पेपर्स) एन एम एम एल. नई दिल्ली.
8. नेहरू से विजयलक्ष्मी पंडित, 26 जुलाई 1945, एस.गोपाल संपादित, *जवाहरलाल नेहरू सेलेक्टेड वर्क्स* (इसके बाद *जे एन एस* डब्ल्यू), वॉल्यूम-14, नई दिल्ली, 1981, पृ. 61. बंबई में 22 सितंबर 1945 को उनका भाषण भी देखें, *बॉम्बे क्रोनिकल*, 23 सितंबर 1945.

9. *अमृत बाजार पत्रिका*, 15 नवंबर 1945, एन एम एम एल.
10. 'भारत की समस्या को लेकर कैबिनेट बहुत गंभीर है और उसे सुलझाना चाहती है' वावेल से प्रांतीय गवर्नर, 21 सितंबर 1945, *टी पी*, वाल्यूम-6, पृ. 286-88.
11. प्रांतीय गवर्नरों को वाइसरॉय का पत्र, 21 सितंबर 1945, वही, पृ. 230.
12. भारत .एवं बर्मा कैबिनेट कमेटी की बैठक, 19 नवंबर 1945 और वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 23 नवंबर 1945, वही, पृ. 501 एफ एफ और 524.
13. लॉर्ड पैथिक लॉरेंस का भारत को नववर्ष संदेश, इंडियन इनफोर्मेशन, मुख्य सूचना अधिकारी द्वारा प्रति पखवाड़ा प्रकाशित, भारत सरकार, 15 जनवरी 1946, वॉल्यूम 18.176, पृ. 59.
14. विदेशमंत्री ने 21 सितंबर और 11 अक्तूबर को यह मामला वाइसरॉय के साथ उठाया, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 264-69, 289 और 334-35.
15. विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 20 अक्तूबर, 31 अक्तूबर और 2 नवंबर 1945, वही, पृ. 412, 427 और 431.
16. विदेशीमंत्री से वाइसरॉय, 23 अगस्त और 11 अक्तूबर 1945, वही, पृ. 143 और 334.
17. देखें विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 21 सितंबर, 19 अक्तूबर और 20 दिसंबर 1945, वही, पृ. 289, 364 और 667.
18. पैथिक लॉरेंस से वावेल, 10 अगस्त 1945, वही, पृ. 43.
19 अक्तूबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर, होमपॉल 18/10/45, एन ए आई, नई दिल्ली; और *एच टी*, 7 और 22 अक्तूबर 1945.
20. अमीनचंद से महासचिव, ए आई सी सी, 3 अप्रैल 1946, फाइल पी-16/1942-6, ए आई सी सी पेपर्स.
21. देखें फुटनोट 28 और 29.
22. देखें होमपॉल 18/8/45 से 18/11/45.
23 हमने इस अध्याय में आगे आई एन ए आंदोलन के संदर्भ में इस पर चर्चा की है.
24. शिमला सम्मेलन और उसके परिणामों पर चर्चा के लिए अध्याय दो देखें.
25. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 6 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 452.
26. बंबई में एक भाषण में नेहरू ने कहा 'हम आजादी की आखिरी लड़ाई के लिए तैयारी करें।', *एच टी* 12 नवंबर 1945. पटेल ने भी यही बात कही. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 6 जनवरी 1945, *टी पी*, पृ. 450-54. 3 नवंबर 1946 को नागपुर में एक जनसभा में पंडित रविशंकर शुक्ल ने कहा :
अब हम अंग्रेजों की बातों का भरोसा नहीं कर सकते. अब हम उनके झांसे में नहीं आएंगे, हम कांग्रेस की संगठनात्मक शक्ति को बढ़ाएंगे। यदि अंग्रेज अपनी बातों पर कायम हैं और हमारा विश्वास जीतना चाहते हैं तो हमारे सबसे बड़े नेता, महात्मा गांधी के साथ समझ पैदा करें . लेकिन हम लोगों से आजादी की लड़ाई के लिए तैयारी करने के लिए कहते रहेंगे और कांग्रेस से आह्वान मिलते ही संघर्ष छेड़ देंगे (फाइल 1, सं. 16, जे एम जी. बेल पेपर्स (इसके बाद बैल पेपर्स), कैंब्रिज साउथ एशियन आरकाइव, यू के)
27. *एच टी*, 24 फरवरी 1946 और *अमृत बाजार पत्रिका*, 28 फरवरी 1946.
28. जून 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए यू.पी.एफ.आर., होमपॉल 18/6/45; आजाद, *इंडिया विन्स फ्रीडम*, पृ. 100; और प्रसाद, आत्मकथा, पृ. 565.
29. पूरी प्रेजीडेंसी में बहुत सारे प्रदर्शन किए गए और जुलूस निकाले गए. जून 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, होमपॉल 18/6/45. रिहाई के समाचार से पूरे बंबई प्रांत में खुशी की लहर दौड़ गई. जून 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर. वही. *एच.टी.*, 22 और 24 जून 1945 भी देखें .
30. वही, 23 जून 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए सी.पी. और बरार एफ आर, होमपॉल 18/6/45.

31. जून 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, वही, 18/6/45.
32. वही.
33. वही.
34. जून 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए दिल्ली एफ आर, वही, 18/6/45.
35. अंबाला और कालका में गांधी के स्वागत के लिए लगभग पूरा शहर उमड़ पड़ा, *एच टी*, 25 जून 1945. लोगों ने आजाद की कार को घेर लिया और उनका निकलना मुश्किल हो गया, आजाद, *इंडिया विन्स फ्रीडम*, पृ. 105.
36. *एच टी*, 25 जून 1945.
37. वही, 2 जुलाई 1945.
38. नेहरू से विजयलक्ष्मी पंडित, 26 जुलाई 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 60.
39. 9 जनवरी 1946 को कराची में नेहरू का प्रेस इंटरव्यू, वही, पृ. 614; जवाहरलाल नेहरू. *भारत एक खोज*, नई दिल्ली 1981, पृ. 693.
40. बंबई में नेहरू का भाषण, 24 सितंबर 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 292.
41 *एच टी*, 1 और 2 अगस्त 1945; और अगस्त 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई, यू.पी., पंजाब, सीपी और बरार, सिंध और अजमेर एफ आर,.होमपॉल 18/8/45.
42. *एच टी*, 10,11,13-16 अगस्त 1945; अगस्त 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई, सी.पी. बरार, असम और अजमेर एफ आर, होमपॉल 18/8/45 देखें मद्रास सरकार, अंडर सेक्रेटरी की सेफ फाइल, 89/45, 27.8.1945, तमिलनाडु स्टेट आरकाइव्ज मद्रास
43. *एच टी*, 6 और 20 अगस्त 1945, अगस्त 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई, मद्रास, यू.पी., बंगाल और पंजाब एफ आर तथा दूसरे पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ.आर.,होमपॉल 18/8/45.
44 देखें वही, 18/11/45 से 18/12/46; एन.एन. मित्रा, *दि इंडियन एनुअल रजिस्टर*, एन एनुअल डाइजेस्ट आफ पब्लिक एफेयर्स इन इंडिया, जनवरी से जून 1946, वॉल्यूम-1, कलकत्ता, 1946; और फाइल 26/1946, ए आई सी सी पेपर्स.
45. देखें सुचेता महाजन, 'ब्रिटिश पॉलिसी टुवड्र्स गांधीज़ फास्ट 1943' अप्रकाशित सेमिनार पर्चा, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1981.
46. श्रीनगर में सिखों के एक समूह को नेहरू का संबोधन, 16 अगस्त 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 66.
47. 'इस मामले में गांधी और नेहरू गहरी दिलचस्पी ले रहे हैं ... हमें विश्वास है कि बयान जनता की उम्मीद से अधिक उदार होगा. यदि इसमें देरी की गई और आंदोलन जोर पकड़ता गया तो नीति बयान का महत्व बहुत कम हो जाएगा और हमें रक्षात्मक बनना पड़ेगा।' विदेशमंत्री का गवर्नर जरनल (युद्ध विभाग), 21 अगस्त 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 14, पृ. 111.
48. श्रीनगर में नेहरू का भाषण, 19 अगस्त 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 332.
49. आई एन ए पर रेजोल्यूशन, ए आई सी सी अधिवेशन, 23 सितंबर 1945, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, *मार्च 1940 से सितंबर 1946: बींग दि रेजोल्यूशन पास्ड बाई दि कांग्रेस, दि ए आई सी सी एंड दि वर्किंग कमेटी*, पृ. 47.
50. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए पंजाब और सिंध एफ आर, होमपॉल 18/11/45; दिसंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए उड़ीसा एफ आर, वही, 18/12/45; दिसंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, वही, 18/12/45.
51. प्रेस के लिए नेहरू का बयान, 16 नवंबर 1945, इलाहाबाद, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 352-53.

52. के.के. घोष, *दि इंडियन नेशनल आर्मी, सेकेंड फ्रंट आफ दि इंडियन इनडिपेंडेंस मूवमेंट*, मेरठ, 1969, पृ 210; सुमित सरकार 'पॉपूलर मूवमेंट्स', पृ. 679. कांग्रेस द्वारा 'तलवार भांजे' जाने की बातें.
53. अभियान की ये मुख्य विशेषताएं थीं. इन पर हम अलग से चर्चा करेंगे.
54. *दि सर्चलाइट* के 27 अगस्त 1945 के संपादकीय में कहा गया कि आई एन ए 'दिल खोलकर क्षमा का साफ मामला है', *दि लीडर* के 13 अक्तूबर 1945 के संपादकीय में घोषणा की गई 'कि आई एन ए के लोग अपने देश की आजादी के लिए लड़े और उनके देशवासी उन्हें राष्ट्रीय वीरों के रूप में देखते रहेंगे...'
55. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी और पंजाब एफ आर और नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/11/45.
56. अक्तूबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए दिल्ली एफ आर, वही, 18/10/45.
57. दिसंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए अजमेर एफ आर, वही, 18/12/45.
58. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए दिल्ली एफ आर, वही, 18/11/45 और दिसंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी एफ आर, वही, 18/12/45.
59. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, वही, 18/11/45.
60. हॉलेट, गवर्नर यू.पी. से वावेल, 19 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 507.
61. आई एन ए स्थिति पर, डाइरेक्टर इंटेलीजेंस ब्यूरो को नोट, भारत सरकार, गृह विभाग से सचिव, राजनीतिक विभाग, इंडिया आफिस, 20 नवंबर 1945 के साथ संलग्न, वही, पृ. 512 जिन कांग्रेस सभाओं में आई एन ए मुख्य मुद्दा था उनके बारे में देखें मद्रास सरकार, अंडर सेक्रेटरी सेफ फाइल 3 ए/6 2 1946.
62. *एच टी*, 14 और 15 नवंबर 1945; नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी., बंगाल और अजमेर एफ आर, होमपॉल 18/11/45.
63 नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई, यू.पी.और उड़ीसा एफ आर, वही
64. दिसंबर 1945 के पहल पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, वही, 18/12/45.
65. देखें फुटनोट 61
66 पटना में नेहरू का भाषण, 24 दिसंबर 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 280
67 नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए कुर्ग एफ आर, होमपॉल 18/11/45.
68 नवबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए बलूचिस्तान एफ आर, वही.
69. नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए असम एफ आर, वही.
70. पटना में नेहरू का भाषण, 24 दिसंबर 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 279-80. साथ ही आई एन ए स्थिति पर डाइरेक्टर, इंटेलीजेंस ब्यूरो का नोट, 20 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 512.
71. प्रेस को नेहरू का बयान, 16 नवंबर 1945, इलाहाबाद, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यम 14, पृ. 352-53.
72. अक्तूबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, होमपॉल 18/10/45.
73. *एच टी*, 21, 22, 29 नवंबर 1945; नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/11/45; और दिसंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े सी पी और बरार एफ आर दिसंबर 1945, वही, 18/12/45.
74 *एच टी*, 27, 30 और 31 अक्तूबर तथा 4, 6 और 9 नवंबर 1945; नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े की मद्रास, बिहार, उड़ीसा और अजमेर एफ आर तथा नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास, बंबई, अजमेर और सी पी और बरार एफ आर, वही, 18/11/45.
75. *एच टी* 2, 3 और 16 नवंबर 1945.
76. दिसंबर 1945 के पहले सप्ताह के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/12/45 और मित्रा, *इंडियन एनुअल*

रजिस्टर, जुलाई - दिसंबर 1945, पृ. 36.

77. टकर, *व्हाइल मेमोरी सर्व्स*, पृ. 54.
78. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, होमपॉल 18/11/45.
79. नवंबर और दिसंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए सी पी और बरार एफ आर, वही, 18/11/45 और 18/12/45.
80 टकर, *व्हाइल मेमोरी सर्व्स*, पृ. 77
81. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी और पंजाब एफ आर, होमपॉल 18/8/45.
82. दिसंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए मद्रास और पंजाब एफ आर तथा दिसंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, वही, 18/12/45.
83. *एच टी*, 27 अक्तूबर 1945.
84 नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, होमपॉल, 18/11/45.
85 नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, वही.
86 *एच टी*, 6 नवंबर 1945.
87 नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर , होमपॉल 18/11/45.
88. आई एन ए स्थिति के बारे में नोट, डाइरेक्टर इंटेलीजेंस ब्यूरो, भारत सरकार, गृह विभाग से सचिव, राजनीतिक विभाग, इंडिया आफिस, 20 नवंबर 1945 के साथ संलग्न, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 512.
89 वावेल से पैथिक-लॉरेंस, 27 नवंबर 1946, वही, पृ 969.
90 *पीपुल्स वार* के 28 अक्तूबर 1945 के संपादकीय में आई एन ए लोगों के गुणगान के खिलाफ चेतावनी दी गई, 'ब्रिटिश आतंक के शिकार लोगों की पैरवी करते हुए क्या हम उन विचारों का प्रचार और उन तत्वों का गुणगान कर सकते हैं जिनका हमने फासीवाद समर्थक प्रतिक्रियावादी बताकर मुकाबला किया था ?'
91 वावेल से पैथिक लॉरेंस, 27 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 552.
92 कनिंघम से वावेल, 27 नवंबर 1945, वही, पृ 546, और आई एन ए स्थिति पर नोट, डाइरेक्टर, इंटेलीजेंस ब्यूरो, भारत सरकार, गृह विभाग से सचिव, राजनीतिक विभाग, इंडिया आफिस, 20 नवंबर 1945 के साथ संलग्न, वही, पृ. 514.
93. प्रेम चौधरी, 'दि कांग्रेस ट्राइम्फ इन साउथ-ईस्ट पंजाब: इलेक्शन्स आफ 1946', *स्टडीज़ इन हिस्ट्री* (इसके बाद एस आई एच), वॉल्यूम 2.2, 1980, पृ. 91 और 95. साथ ही निरंजन सिंह गिल के साथ इंटरव्यू, अमृतसर 2 और 3 अप्रैल 1985.
94. पी के. और लक्ष्मी सहगल के साथ इंटरव्यू, कानपुर, 23 सितंबर 1986.
95. एक भूतपूर्व जज कुंवर दलीपसिंह ने टिप्पणी की 'इनमें से किसी भी गुमराह आदमी के साथ सख्ती से बहुत से भारतीयों के मन अमिट नफरत पैदा हो जाएगी', 'गद्दार नहीं देशभक्त' में उद्धृत, संलग्न होमपॉल 33/27/45
96. पी.एन. सपरु और एच.एन. कुंजरु का बयान, इलाहाबाद, वही.
97. दिसंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए सी पी और बरार एफ आर, वही, 18/12/45.
98. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर, वही, 18/11/45; फरवरी 1946 के पहले पखवाड़े के लिए एन डब्ल्यू ई पी एफ आर, वही, 18/2/96; मार्च 1946 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर, वही 18/3/96; और ग्लांसी से वावेल, उद्धृत, 16 जनवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 807.
99. नवंबर 1945 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर, होमपॉल 18/11/45; फरवरी 1946 के पहले पखवाड़े के लिए एन डब्ल्यू एफ पी एफ आर, वही, 18/2/46, और हालेट से वावेल, 19 नवंबर 1945.

टी पी, वाल्यूम, पृ. 506.

100. आचिनलैक से वावेल, 26 नवंबर 1945, जे. कॉनेल ऑचिनलैक लंदन, 1949 में उद्धृत पृ. 806. दिसंबर 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर में कुछ सैनिकों के बीच आई एन ए लोगों के प्रति सहानुभूति को नोट किया गया, होमपॉल 18/12/45.
101. राजनीतिक स्थिति की जानकारी, 20 फरवरी 1946, चौधरी 'दि कांग्रेस ट्राइम्फ इन साउथ -ईस्ट पंजाब' में उद्धृत, पृ. 92.
102. 'तथाकथित इंडियन नेशनल आर्मी की स्थिति के बारे में जानकारी' आचिनलैक, 31 अक्तूबर 1945, वावेल से पैथिक लॉरेंस, 2 नवंबर 1945 के साथ संलग्न, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 436.
103. ऑचिनलैक से वावेल, 24 नवंबर 1945, वही, पृ. 538.
104 सभी सेना कमांडरों को कमांडर-इन-चीफ का गोपनीय और कार्मिक पत्र, 12 फरवरी 1946, ऑचिनलैक से वावेल, 13 फरवरी 1946 के साथ संलग्न, वही, पृ. 939.
105. टकर, *व्हाइल मेमोरी सर्व्स*, पृ. 43.
106. आजाद और आसफ अली के साथ वावेल का इंटरव्यू, 10 मार्च 1946, *वावेल्स जर्नल*, पृ. 222.
107. कनिंघम, गवर्नर, एन डब्ल्यू एफ पी से वावेल, 27 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 188.

अध्याय चार

जन आंदोलन : मिथक और यथार्थ

इस अध्याय में हमारे विचार का केंद्र बिंदु आई एन ए के मुकदमे, आर आई एन बगावत और मजदूर, किसान तथा आदिवासी आंदोलनों से आई जन लहर होगा। उनका स्वरूप, महत्व और प्रभाव क्या था ? हम ऐसे कुछ सवालों का जवाब देने की कोशिश करेंगे। कुछ इतिहासकारों, विशेषकर वामपंथी इतिहासकारों के अनुसार ये ही जन-गतिविधियों का रूप लिए हुए थीं। कांग्रेस के रुख और ब्रिटिश नीति पर इनके प्रभाव के बारे में भी कुछ दलीलें दी गई हैं। इसलिए इनका अलग से विश्लेषण ठीक रहेगा। ब्रिटिश नीति पर इनके प्रभाव की चर्चा अगले अध्याय में की जाएगी। यह अध्याय उपनिवेशवादी शासन और नीति के बारे में है।

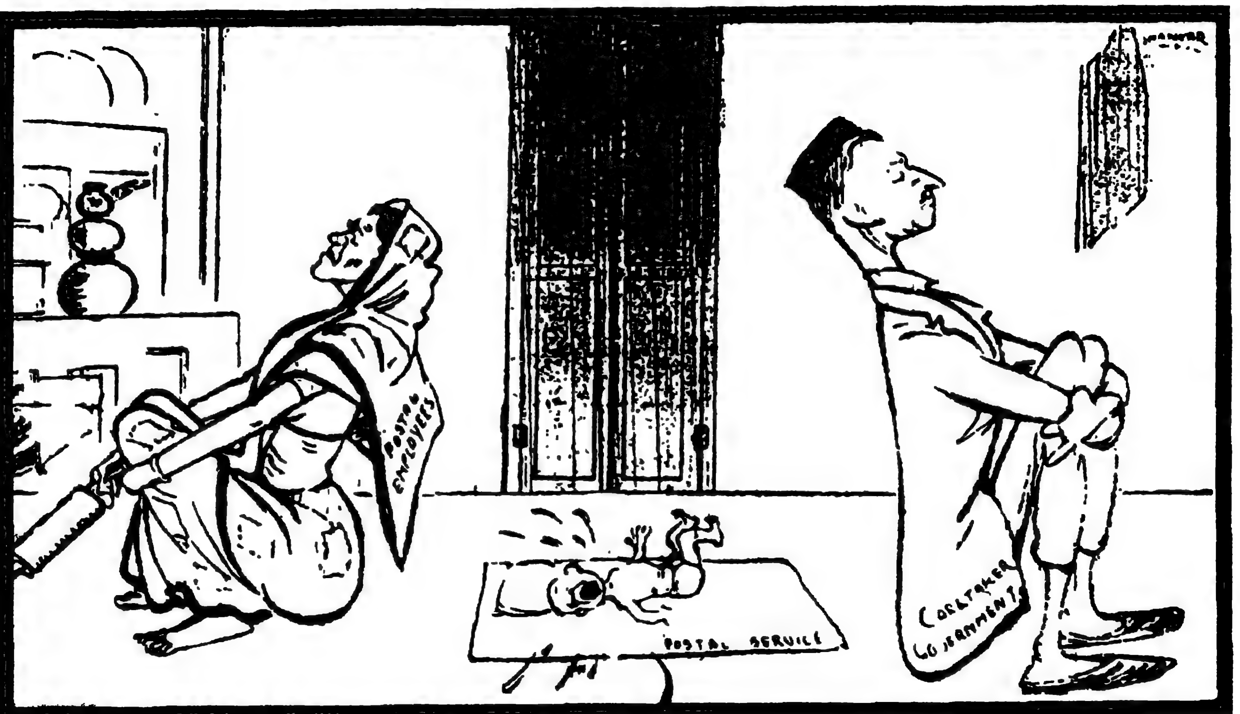
1945-46 की सर्दियों में जन लहर

इस अध्याय में हम तीन आंदोलनों का विश्लेषण करेंगे। ये हैं - आई एन ए के सवाल पर 21 से 23 नवंबर 1945 तक कलकत्ता में प्रदर्शन, 11 से 13 फरवरी तक कलकत्ता में रशीद अली दिवस विद्यार्थी प्रदर्शन और रॉयल इंडियन नेवी हड़ताल जो 18 फरवरी 1946 को बंबई से शुरू हुई और कराची, मद्रास, विशाखापट्टनम आदि तक फैल गई। हमने जन राष्ट्रवादी गतिविधियों के बारे में पहले की गई चर्चा से इन्हें अलग रखा है क्योंकि इन सभी आंदोलनों में शासन के साथ सीधा और हिंसक टकराव हुआ था जबकि इस अवधि की दूसरी गतिविधियां आम तौर पर शांतिपूर्ण रहीं। इन तीनों लहरों का घटनावार ब्योरा देने के बजाए हम कुछ मोटे शीर्षों के अंतर्गत उनका विश्लेषण करेंगे। ये शीर्ष हैं - आंदोलन का पैटर्न, इसकी विशेषताएं और स्वाभाविक सीमाएं। हम इनकी तुलना सामान्य राजनीतिक गतिविधियों से भी करेंगे।

मोटे तौर पर इन आंदोलनों के तीन चरण थे। पहले चरण में एक वर्ग द्वारा सरकार को चुनौती दी गई जिसके जवाब में सरकार ने दमन किया। दूसरे चरण में दमन की प्रचंडता से नाराज शहर के दूसरे वर्ग आंदोलन से जुड़ गए। तीसरे चग्ण में देश के दूसरे हिस्सों के लोगों ने आंदोलन के लिए अपनी एकजुटता दिखाई।

पहले चरण के तहत नवंबर और फरवरी में कलकत्ता में प्रदर्शनों के दौरान छात्रों की (आई एन ए बंदियों की रिहाई के मामले पर) पुलिस से मुठभेड़ हुई। नाविकों ने विद्रोह किया तथा सरकार के सामने समर्पण करने इनकार कर दिया। 21 नवंबर 1945 को छात्रों

BETWEEN TWO STRIKERS



स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 12 जुलाई 1946

ने एक जुलूस निकाला। इसमें ज्यादातर फारवर्ड ब्लॉक के और कुछ संख्या में स्टुडेंट फेडरेशन तथा इसलामिया कॉलेज के छात्र थे। वे 'जय हिंद' और 'मार्शल बोस जिंदाबाद' के नारे लगा रहे थे। पुलिस ने जुलूस को सत्ता केंद्र डलहोजी स्क्वेयर से गुज़रने से रोका। जब छात्र नहीं हटे तो पुलिस ने उन पर लाठीचार्ज किया। जवाब में छात्रों ने ईंट और पत्थर फेंके। इसके बदले में पुलिस ने गोली चलाई जिससे दो छात्रों की मृत्यु हो गई और 52 घायल हो गए।[1]

11 फरवरी 1946 को छात्रों ने आई एन ए बंदियों के मामले, विशेष रूप से अब्दुल रशीद को सात साल की सजा के मामले को फिर उठाया।[2] मुसलिम लीग के छात्रों ने जुलूस का नेतृत्व किया। कांग्रेस और कम्युनिस्ट छात्रों ने उनका साथ दिया। धर्मतल्ला स्ट्रीट में कुछ छात्रों को गिरफ्तार कर लिया गया। इससे उत्तेजित होकर छात्रों ने डलहौजी स्क्वेयर के आसपास लागू धारा 144 का उल्लंघन किया। उन पर लाठीचार्ज किया गया और कइयों को गिरफ्तार भी किया गया।[3]

आर आई एन विद्रोह के मामले में सबसे पहले बंबई और कराची के नाविकों ने हड़ताल की। उनके साथ सहानुभूति दिखाते हुए मद्रास, विशाखापट्टनम, कलकत्ता, दिल्ली, अंडमान और बहरीन के नाविकों तथा आर आई ए एफ और भारतीय सेना की कुछ यूनिटों ने हड़ताल की। 18 फरवरी को एच एम आई एस तालवाड़ के 1100 नौसेना नाविक जातीय भेदभाव, शोषण और स्वयं को दिए जाने वाले बेकार खाने के विरोध में हड़ताल पर चले गए। तालवाड़ की दिवारों पर 'भारत छोड़ो' लिखने के कारण गिरफ्तार किए गए साथी नाविकों की रिहाई की मांग भी की गई।[4] 19 फरवरी तक हड़ताली नाविकों की संख्या 7000 हो गई। समुद्रतट, कैसल और फोर्ट बैरकों के नाविक, जहाजों के नाविकों से मिल गए। उनमें से बहुत से अपनी लॉरियों पर कांग्रेस का झंडा लगाकर पूरी बंबई में घूमे। उन्होंने अंग्रेजों और पुलिसमैनों को धमकियां दीं, दुकानों की खिड़कियों के शीशे तोड़े और नारे लगाए।[5] 24 फरवरी को कैसल बैरकों में नाविकों और सेना के बीच जमकर लड़ाई हुई।[6] 19 तारीख को बंबई हड़ताल के बारे में खबर मिलने पर कराची में नाविकों ने हड़ताल की। इसमें एच एम आई एस हिंदुस्तान एक अन्य जहाज और तीन समुद्र तट संस्थान शामिल थे। सेना ने जहाजों को घेर लिया और घटना का भयानक अंत हुआ। नाविकों ने जहाजों से बंदूकें चला दीं। लेकिन वे सेना के सामने कैसे टिक पाते। छह नाविक मारे गए और बाकी को गिरफ्तार कर लिया गया।[7]

अन्य नाविकों की हड़तालें संकेतात्मक थीं और हमदर्दी दिखाने के लिए की गई थीं। 21 फरवरी को मद्रास में 85 और विशाखापट्टनम में 600 नाविकों ने हड़ताल की। कलकत्ता में सात दिन तक हड़ताल चली और सेना द्वारा लंबी घेराबंदी के बाद आत्मसमर्पण हुआ। दिल्ली में लगभग 80 नाविकों ने हड़ताल की। कोचीन, जामनगर, अंडमान, बहरीन और अदन में हड़तालें हुईं। कुल मिलाकर 20000 नाविक इन आंदोलनों में शामिल हुए और

78 जहाज तथा 20 समुद्र तट प्रतिष्ठान प्रभावित हुए।[8] लेकिन नौसेना हड़ताल से सशस्त्र सेनाओं में बगावत नहीं हुई और आम मत के खिलाफ प्रशासन ने बगावत को दबाने के लिए सेनाओं का सफलतापूर्वक उपयोग किया। लेकिन जबलपुर में सिपाहियों ने हमदर्दी दिखाते हुए हड़ताल की और कोलाबा छावनी में कुछ 'असंतोष'[9] देखने को मिला। अपने हालात से असंतुष्ट आर आई ए एफ लोगों ने अधिक जोरदार समर्थन किया। मैरिन ड्राइव, अंधेरी, सिओन, पूना, कलकत्ता, जैसोर और अंबाला यूनिटों ने सहानुभूति दिखाते हुए हड़ताल की।[10]

दूसरे चरण में कलकत्ता और विद्रोह के दूसरे केंद्रों पर जनता संघर्ष में शामिल हो गई और सरकार के खिलाफ कार्रवाई ने व्यापक रूप ले लिया। इस चरण की दो महत्वपूर्ण विशेषताएं थीं – हिंसा और ब्रिटिश विरोधी भावना का भारी पैमाने पर इजहार तथा शहर में कामकाज को थोड़े समय के लिए ठप्प कर देने की जन कार्रवाई की क्षमता। विरोध सभाएं और रैलियां आयोजित की गईं, सड़कों पर रुकावटें खड़ी की गईं, यूरोपियनों पर हमला किया गया तथा छात्रों और मजदूरों ने हड़तालें कीं। नवंबर प्रदर्शनों के दौरान जनता ने 22 और 23 नवंबर 1945 को कलकत्ता में विरोध प्रकट किया और वैलिंगटन स्क्वेयर में बहुत बड़ी सभा आयोजित की गई।[11] फरवरी 1946 में गिरफ्तारी के एक घंटे के भीतर ट्रैफिक रुक गया और दुकानें बंद हो गईं। बंबई में लोगों ने शुरू में नाविकों को खाना दिया और बाद में उनके साथ मिलकर सरकारी इमारतों और यूरोपियनों की दुकानों पर हमला किया। उन्होंने सेना को नाविकों को गिरफ्तार करने से भी रोका।[12] कराची और मद्रास में भी बड़ी सभाएं की गईं, हड़तालें की गईं और सरकारी संस्थानों और पुलिस पर हमले किए गए।[13] नवंबर में 'जबर्दस्त ब्रिटिश विरोधी भावना'[14] सेना और पुलिस कार्मिकों, पुलिस और सेना की गाड़ियों तथा यूरोपियन लिबास पहनने वाले भारतीयों पर हमला करके प्रकट की गई।

फरवरी 1946 में कलकत्ता में जबर्दस्त जन कार्रवाई हुई। सरकारी संस्थाओं और यूरोपियन अधिकारियों को खासतौर पर निशाना बनाया गया। पुलिस स्टेशनों, डाकखानों, दुकानों और यहां तक कि वाई डब्ल्यू सी ए केंद्रों पर हमला किया गया और उन्हें जला दिया गया। सड़कों पर बड़े पैमाने पर बाधाएं खड़ी की गईं और सड़कों पर पुलिस के साथ लड़ाई आम बात बन गई।[15] बंबई में भी यही सब कुछ दोहराया गया। वहां सेना-लॉरी, ट्राम, बसें, रेलवे स्टेशन, बैंक, अनाज की दुकानें और ब्रिटिश सिपाही जनता के आक्रोश का निशाना बने।[16] सरकारी आंकड़ों के अनुसार बंबई में 30 दुकानें, 10 डाकखाने, 10 पुलिस चौकी, अनाज की 64 दुकानें और 1200 स्ट्रीट लैंप नष्ट हुए।[17]

ब्रिटिश-विरोधी हिंसा के अलावा इस जन कार्रवाई की एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसने शहरों को पूरी तरह से ठप्प कर दिया। नवंबर 1945 में बंगाल के गवर्नर ने 'सामुदायिक जीवन' के लगभग 'ठप्प' हो जाने की बात कही।[18] पूरी यातायात व्यवस्था

प्रभावित हुई। निजी कारों को छात्रों ने रोका, सेना तथा सरकारी गाड़ियों को रुकावटें खड़ी करके रोका गया। रेलों को रोकने के लिए लोग पटरियों पर लेट गए। ट्रामें सी पी आई नियंत्रित यूनियन ने रुकवा दीं। हड़तालों से कलकत्ता कारपोरेशन, स्कूलों, कालेजों और बाजारों पर भी असर पड़ा।[19] फरवरी 1946 में लगभग यही पैटर्न दोहराया गया। लेकिन इस समय सेना की गाड़ियों, कारों और ट्रामों को जलाना आम बात हो गई। टालीगंज ट्राम डिपो जला दिया गया।[20] बंबई में आर आई एन विद्रोह के दौरान 22 और 23 फरवरी को परिवहन सेवाएं ठप्प हो गईं। सड़कों पर रुकावटें आम बात हो गई। दो रेलगाड़ी जला दी गईं।[21] कम्युनिस्टों के आह्वान पर 3 लाख मजदूरों ने हड़ताल की और हजारों ने शहर में परेड की।[22] बैंक और दुकानें ज्यादातर बंद रहीं।[23] 23 फरवरी को छात्रों तथा अन्य लोगों द्वारा हड़ताल के कारण कराची बंद रहा तथा ब्रिटिश और अमरीकी दोनों ही सेनाओं की गाड़ियों को निशाना बनाया गया।[24] 25 फरवरी को मद्रास में होटल, रैस्तरां और दुकानें बंद रहीं। छात्रों और मजदूरों ने हड़ताल की। सार्वजनिक परिवहन सेवा बंद रही और सरकारी गाड़ियों पर पथराव किया गया।[25]

इन तीनों लहरों के तीसरे चरण में देश के दूसरे हिस्सों के लोगों ने इनके प्रति अपनी हमदर्दी दिखाई। छात्रों ने हड़ताल की। छात्रों और नाविकों के प्रति हमदर्दी दिखाने तथा सरकारी दमन की निंदा करने के लिए प्रदर्शन और सभाएं आयोजित की गईं। नवंबर 1995 में आगरा और पटना के छात्रों ने कलकत्ता में अपने भाइयों के दमन के खिलाफ प्रदर्शन किए, कक्षाओं और यहां तक कि दीक्षांत समारोहों का बहिष्कार किया।[26] बड़े शहरों तथा कुछ छोटे कसबों में विरोध रैलियां और हड़तालें की गईं और विभिन्न राजनीतिक पार्टियों ने फायरिंग की निंदा की।[27] इलाहाबाद में वावेल का पुतला जलाया गया।[28] रशीद अली की सजा के खिलाफ कलकत्ता में छात्रों ने 11 फरवरी को प्रदर्शन किया। लेकिन फरवरी 1946 में इससे भी पहले देश के दूसरे हिस्सों में हड़ताल करके अपना विरोध प्रकट किया।[29] कलकत्ता में पुलिस कार्रवाई की खबर जब दूसरी जगहों में पहुंची तो इसके खिलाफ प्रदर्शन, बैठकें और हड़ताल आम बात बन गई।[30] जलियांवाला बाग में बहुत बड़ी सभा हुई। यहीं पर एक समय दमन की कुख्यात घटना घटी थी।[31] छात्रों ने बहुत स्थानों पर हड़तालें कीं। इनमें, विशेष रूप से पंजाब में मुसलिम छात्रों ने भारी संख्या में भाग लिया।[32] आर आई एन विद्रोह के मामले पर मद्रास के कुछ जिलों में हड़ताल के समाचार मिले। खाने के सामान के राशन को लेकर काफी असंतोष था। इसलिए अनाज की दुकानों पर हमला किया गया। इस पर पुलिस ने फायरिंग की जिसमें चार व्यक्ति मारे गए।[33] त्रिचनापल्ली और मद्रास में एक दिन की आम हड़ताल हुई।[34] अहमदाबाद और कानपुर में मजदूरों ने हड़ताल की।[35] दिलचस्प बात यह है कि एक सप्ताह पहले ही 'लगभग क्रांति' का शहर कलकत्ता आर आई एन विद्रोह और नाविकों की एक सप्ताह की हड़ताल के बावजूद शांत रहा। उसमें एक दिन की आम हड़ताल की गई जिसमें एक लाख मजदूरों ने हिस्सा लिया।[36]

इन घटनाओं का क्या महत्व था। इसमें शक नहीं इन जन लहरों ने जनमानस के जुझारुपन को उजागर किया। लोगों की कार्रवाई अंधाधुंध जरूर थी लेकिन उसमें डर लेशमात्र भी नहीं था। लोग फायरिंग से डर कर पीछे हटते थे लेकिन फिर मोर्चा संभाल लेते थे। बंगाल के गवर्नर को भी उनकी प्रशंसा करनी पड़ी। आर आई एन विद्रोह आज भी एक यादगार कहानी बना हुआ है। इसने अपने समय की जनचेतना पर नाटकीय प्रभाव डाला था। भले ही उसे जल्दी दबा दिया गया हो लेकिन सशस्त्र सेनाओं द्वारा विद्रोह लोगों के मन से भय को निकालता है। आर आई एन विद्रोह के बारे में माना जाता है कि इसने ही आखिरकार ब्रिटिश शासन को समाप्त किया।

लेकिन साथ ही यह भी सही है कि ये तीनों आंदोलन स्थानीय थे। वे कलकत्ता, बंबई, कराची और मद्रास जैसे बड़े शहरों तक ही सीमित रहे। पुलिस के साथ मुठभेड़, प्रशासन की अवज्ञा, प्रशासन ठप्प हो जाने जैसे कार्य इन शहरों तक ही सीमित रहे। आई एन ए आंदोलन के मुकाबले उसकी हमदर्दी में की गई हड़ताल कम फैली हुई थी। इसके अतिरिक्त प्रशासन के साथ उनका हिंसक संघर्ष था। इसलिए उसमें विद्यार्थी और समाज के जुझारु वर्ग ही भाग ले सकते थे। निष्ठावादियों और उदारवादियों का इस संघर्ष में कोई स्थान नहीं था। फायरिंग की तो सबने निंदा की लेकिन शहर के जनजीवन को ठप्प कर देने की क्षमता से लोग विशेषकर धनवान लोग परेशान भी थे।

इसके अलावा ये जन लहरें थोड़े समय तक ही जीवित रहीं। इसके कुछ साफ कारण थे। एक कारण तो यही था कि इसमें हिंसक और उग्रवादी तरीका अपनाया गया। जनता का गुस्सा बाहर निकलकर शांत हो जाता है। आंदोलन को जारी रखने और मुद्दों में समाज के बड़े वर्गों की दिलचस्पी बनाए रखने के लिए कोई कार्यक्रम नहीं था। ये आंदोलन शहरों में ही चलाए गए। प्रशासन ने सेना लगाकर उनका कारगर रूप से दमन कर दिया।[37]

इन आंदोलनों से एक और बात उभरकर सामने आती है और वह यह कि सरकार ने अपने दमनतंत्र को बरकरार रखा। हिंसा की स्थिति में वह इसके कठोर और कारगर रूप से प्रयोग का पक्का इरादा बनाए हुए थी। नवंबर 1945 में पुलिस ने कलकत्ता में स्थिति को नियंत्रित किया। फरवरी 1946 में दूसरे दिन सेना बुला ली गई, गश्त तेज कर दी गई। कार्रवाई में सेना का एक अफसर और 38 नागरिक मारे गए।[38] बंबई में आर आई एन विद्रोह के बाद जब पुलिस फायरिंग भी नाविकों को काबू में नहीं कर सकी तो 19 तारीख को सेना बुला ली गई। सेना ने जहाजों की घेराबंदी कर ली और नाविकों को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य कर दिया। मराठा बटालियन ने सड़कों पर नाविकों को पकड़ा।[39] सरकार दमन का पूरा इरादा बना चुकी थी यह हाउस आफ कॉमन्स में ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली की इस घोषणा से भी साफ जाहिर होता है कि रॉयल नेवी शिप बंबई की ओर कूच कर चुके हैं।[40] यह एडमिरल गौडफ्रे की नाविकों को कड़ी चेतावनी, सेना द्वारा जहाजों की घेराबंदी और उनके ऊपर बम बरसाने वाले जहाजों की उड़ान से स्पष्ट है। 28 नागरिकों

की मृत्यु और 1028 के घायल हो जाने के बाद 25 तारीख को स्थिति शांत हुई।[41] कराची में जहाजों को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य कर दिया गया। इस कार्रवाई में 8 नाविक मारे गए।[42] शहर में पुलिस फायरिंग से 8 नागिरक मारे गए और 18 घायल हुए।[43] मद्रास जिले में चार लोग मारे गए और बहुत से घायल हुए।[44]

वास्तविकता और उसके बारे में लोगों की धारणा में आम तौर पर फर्क होता है। 1945-46 के उन नाटकीय क्षणों के बारे में भी ऐसा ही है। समकालीन धारणा और बाद में रेडिकल विद्वानों के अनुसार इन ऐतिहासिक घटनाओं का सांकेतिक से अधिक महत्त्व है।[45] उन्होंने इनकी अप्राप्त संभावनाओं और इनके वास्तविक असर की बात की है जो कि वास्तविकता से दूर है। उनके जुझारुपन, विस्तार और असर की बढ़ा-चढ़ाकर बातें की जाती हैं। भारत के क्रांति के कगार पर पहुंचने की बात की गई। यह तर्क दिया जाता है कि इन घटनाओं के दौरान देखी गई सांप्रदायिक एकता को यदि परवान चढ़ाया जाता तो उससे सांप्रदायिक गतिरोध से बाहर निकलने का रास्ता मिल जाता।

सांप्रदायिक एकता संगठनों तक ही सीमित थी। वह लोगों तक नहीं पहुंची थी। इसके अलावा ये संगठन एक खास आंदोलन के लिए ही इकट्ठे हुए जो कि कुछेक दिन चला। रशीद अली मुकदमे के मामले में कलकत्ता में चला आंदोलन इसका उदाहरण है। फरवरी 1946 में 'लगभग क्रांति'[46] का स्थल कलकत्ता छह महीने बाद 16 अगस्त 1946 को सांप्रदायिक पागलपन का अखाड़ा बन गया। आर आई एन विद्रोह के दौरान भी सांप्रदायिक एकता देखने को मिली। जहाजों के मस्तूलों पर कांग्रेस, लीग और लाल झंडे एक साथ फहराए गए। लेकिन यह एकता कुछ समय तक ही रही। मुसलिम नाविक आगे की कार्रवाई के लिए सलाह लेने के वास्ते लीग के पास गए। बाकी नाविक कांग्रेस और सोशलिस्टों के पास चले गए। जिन्नाह ने केवल मुसलिम नाविकों को समर्पण की सलाह दी। उन्होंने ऐसा ही किया। विचार व्यक्त किया गया है कि 1945-46 के संघर्षों के दौरान बनी सांप्रदायिक एकता को यदि पुख्ता किया जाता तो विभाजन से बचा जा सकता था। लेकिन यह विचार मन की इच्छा भर लगता है। यह ठोस ऐतिहासिक संभावना पर आधारित नहीं है। 'रुकावटें खड़ी करने में एकता' से ऐसी किसी संभावना की आशा नहीं थी।

इन आंदोलनों विशेष रूप से आर आई एन विद्रोह के विरुद्ध उपनिवेशवादी प्राधिकारियों की कार्रवाई को देखते हुए इनके बारे में आम राय वास्तविकता से दूर लगती है। ऐसा माना जाता है कि 'आर आई एन विद्रोह ने शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य की नींव हिला दी।'[47] लेकिन वास्तव में इन आंदोलनों से यह उजागर हो गया कि नौकरशाही के मनोबल में कमी और सशस्त्र सेनाओं की दृढता के बावजूद अंग्रेजों की दमन की मशीनरी बरकरार थी। नौसेना हड़ताल के कुछ दिन बाद ही वाइसरॉय वावेल ने सेना को आरोप मुक्त कर दिया : 'कुल मिलाकर भारतीय सेना वफादार बनी रही।'[48] वे लोग गलत साबित हो गए जो यह मानते थे कि यदि अंग्रेजों पर पूरी ताकत के साथ दबाव डाला जाए तो वे झुक

जाएंगे। सेना और लोगों द्वारा विरोध के मद्देनजर आई एन ए मुकदमों के बारे में ब्रिटिश सरकार द्वारा अपने रुख पर फिर से विचार करना एक बात थी लेकिन उसकी सत्ता को चुनौती बिलकुल अलग बात थी। अंग्रेजों का रुख इस बारे में बिलकुल साफ था कि कानून और व्यवस्था तथा शांति को किसी भी प्रकार की चुनौती को दबाया जाना चाहिए।

ऊपर दिए गए तर्क के अनुसार ही यह कहा जाता है कि कैबिनेट मिशन आर आई एन विद्रोह का परिणाम था। आर.पी. दत्त ने काफी साल पहले दोनों के बीच संबंध की बात की थी '18 फरवरी को बंबई में नौसेना की हड़ताल शुरू हुई। 19 फरवरी को एटली ने हाउस आफ कॉमन्स में कैबिनेट मिशन भेजे जाने की घोषणा की।'[49] लेकिन इस बात में कोई दम नहीं है। ब्रिटिश कैबिनेट ने मिशन भेजने का फैसला 22 जनवरी 1946 को ही कर लिया था। इसकी घोषणा भी 19 फरवरी 1946 से एक सप्ताह पहले की जानी थी।[50] कुछ अन्य लोगों का मानना है कि अंग्रेजों ने इस समय जो महत्वपूर्ण राजनीतिक रियायतें दीं वह जन तथा मिलिटेंट संघर्ष के संयुक्त दबाव के कारण ही दी गई थीं।[51] लेकिन जैसा कि हम अगले अध्याय में देखेंगे अंग्रेजों द्वारा सत्ता सौंपने का फैसला 1945-46 के जाड़ों में मौजूद हालात को देखकर नहीं दिया गया था। वास्तव में उन्होंने यह समझ लिया था कि पिछले कुछ वर्षों में उनके शासन की वैधता लगातार कम हुई है।

इस विचार में भी कोई दम नहीं है कि इन जन आंदोलनों की वजह से प्रमुख राष्ट्रवादी पार्टी के रूप में कांग्रेस की स्थिति को अधिक रेडिकल पार्टियों से खतरा पैदा हुआ या कांग्रेस को अपनी घोषित रणनीति छोड़कर अधिक 'क्रांतिकारी' रणनीति अपनानी पड़ी। ऐसा माना जाता है कि 'कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों अथवा फॉरवर्ड ब्लॉकिस्टों अथवा इन सबने मिलकर' इन आंदोलनों का नेतृत्व किया। कांग्रेस की भूमिका क्रांतिकारी स्थिति को शांत करने वाली बताई जाती है।[52] इसका कारण कांग्रेस का यह डर बताया जाता है कि यदि उसने क्रांतिकारी स्थिति को शांत नहीं किया तो उसके हाथ से नेतृत्व निकल जाएगा अथवा उसकी यह चिंता कि शीघ्र ही उसके शासन के अंतर्गत आने वाले भारत की सेना अनुशासित होनी चाहिए। कांग्रेस के बारे में यह कहा गया कि वह बातचीत करने और मंत्रिमंडल बनाने में लगी रहती है तथा सत्ता के लिए लालायित रहती है।

हमारे विचार से ये तीनों आंदोलन पटेल की राष्ट्रवादी गतिविधियों का ही अगला पड़ाव थे। कांग्रेस इन गतिविधियों से पूरी तरह से जुड़ी हुई थी। कांग्रेस इन व्यापक गतिविधियों की अगुआ थी। उसके नेताओं और सदस्यों ने इन तीनों आंदोलनों को प्रेरित किया। 'गड़बड़ी' के कारणों का पता लगाने के लिए गृह विभाग द्वारा कराई गई जांच का यह निष्कर्ष निकला कि ये विद्रोह 'पिछले तीन महीनों में कांग्रेस नेताओं के उग्र भाषणों से बने उत्तेजक माहौल का परिणाम थे।'[53] वाइसरॉय को इसमें कोई संदेह नहीं था कि आर आई एन बगावत का मूल कारण 'पिछले सितंबर से कांग्रेस नेताओं के भाषण थे।'[54] कम्युनिस्टों के मामले पर विचार करते हुए पंजाब के सी आई डी प्राधिकारियों ने इंटेलीजेंस ब्यूरो के निर्देशक को

'सब कुछ उलटा पुलटा कर देने' और कांग्रेस के रूप में सबसे बड़े दुश्मन को न पहचानने के 'भारी खतरे' से आगाह किया।[55] इसके अलावा भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने राष्ट्रवादी फलक पर कांग्रेस की स्थिति को कभी भी चुनौती देने की कोशिश नहीं की। इसके विपरीत वह तो साम्राज्यवादी ताकतों के खिलाफ जंग में कांग्रेस और लीग को नेता मानती थी। उसने कांग्रेस-लीग- कम्युनिस्ट एकता का नारा लगाया।[56]

ये तीनों आंदोलन विरोध प्रदर्शन के अपने अलग ढंग के कारण पहले की गतिविधियों से भिन्न थे। उन्होंने शासन को चुनौती देने के लिए हिंसा का रास्ता अख्तियार किया। पहले की गतिविधियों में राष्ट्रवादी एकता को शांतिपूर्ण तरीकों द्वारा प्रकट किया जाता था। कांग्रेस ने इन आंदोलनों का आह्वान नहीं किया। वास्तव में किसी भी राजनीतिक पार्टी ने ऐसा नहीं किया। लोग छात्रों और नाविकों के प्रति सहानुभूति जताने और दमन के खिलाफ अपने गुस्से का इजहार करने के लिए इकट्ठे हुए। कांग्रेस, कम्युनिस्ट और दूसरी पार्टियों के सदस्यों ने गतिविधियों में भाग लिया। कांग्रेस, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी (सी एस पी), फारवर्ड ब्लॉक और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी के छात्र समर्थकों ने मिलकर 21 नवंबर 1945 को कलकत्ता में प्रदर्शन किया। कांग्रेस ने लोगों के उत्साह की तारीफ की और सरकार द्वारा दमन की निंदा की। कांग्रेस का मानना था कि इन संघर्षों में अपनाई गई तरकीबें और इनके लिए चुना गया समय ठीक नहीं है। इसलिए कांग्रेस ने अधिकृत तौर पर इन संघर्षों का समर्थन नहीं किया। दमन करने के अंग्रेजों के पक्के इरादे को कांग्रेस ने बहुत पहले भांप लिया था। कराची में जबरन आत्मसमर्पण उसने देखा था। उन्होंने यह भी देखा था कि स्वयं भारतीय सेनाओं ने सड़कों पर नाविकों को धर दबोचा था। इसलिए उन्होंने नाविकों के नेताओं को अपनी हड़ताल खत्म करने की सलाह दी थी।[57] केवल कांग्रेसी नेता शांति नहीं चाहते थे। कांग्रेस के साथ कम्युनिस्टों ने नवंबर 1945 और फरवरी 1946 में कलकत्ता के लोगों को अपने घर लौट जाने की सलाह दी थी। आर आई एन विद्रोह के दौरान कम्युनिस्ट और कांग्रेसी वैनों ने कराची में चक्कर लगाए।[58]

साथ ही ये विद्रोह कांग्रेस के अलावा किसी ऐसे अन्य नेतृत्व अथवा पार्टी द्वारा तैयार की गई विद्रोहपूर्ण संघर्ष अथवा सत्ता हथियाने की रणनीति का हिस्सा नहीं बन सके जो दूसरे तरीके से साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष करना चाहती थी। इस अवधि में (समझौतापरस्त कांग्रेस के विपरीत) 'क्रांतिकारी पार्टी' के रुख से भी बहुत कुछ पता चलता है। कानूनी पार्टी के रूप में सी पी आई पहली बार चुनाव लड़ रही थी। वह अपनी निरंतर बढ़ती ताकत को चुनावी जीतों में तब्दील करना चाहती थी। उसने 108 सीटों पर चुनाव लड़ा जिनमें से 25 सीटों पर उसे जीत की उम्मीद थी। लेकिन वह केवल आठ सीटों पर जीत हासिल कर सकी। इनमें से सात सीटें मजदूर निर्वाचन क्षेत्रों से आई थीं।[59] अगस्त 1946 में जाकर भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अपने एक संकल्प द्वारा ढुलमुल तरीके से अपने स्थानीय नेताओं को अंतिम संघर्ष के लिए 'क्रांतिकारी' स्थितियां पैदा करने की अनुमति

दी।[60] कांग्रेसी और कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी के नेताओं जैसे कि अरुणा आसफ अली के साथ कम्युनिस्ट सदस्यों ने भी इन विद्रोहों में हिस्सा लिया। लेकिन जांच आयोग के सामने उसने आर आई एन विद्रोह में किसी भी रूप में अपनी भागीदारी से इनकार किया।[61] इसी प्रकार कांग्रेस ने भी रशीद अली दिवस के मौके पर हुई वारदातों में अपनी भागीदारी से इनकार किया था। इसे कांग्रेस के नरम रुख का सबूत माना जाता है।[62] दिलचस्प बात यह है कि कांग्रेस के शांति प्रयासों और विद्रोहों में भागीदार न होने के उसके बयानों को 'नरम रुख' और 'बुर्जुआ' डर का सबूत माना जाता है। लेकिन जब कम्युनिस्टों ने यही सब कुछ किया तो उसे रणनीति या तरकीब के नाम पर उचित बताया गया।

मजदूर, किसान और जनजातियों के आंदोलन

अब हम दूसरी तरह के आंदोलनों पर विचार करेंगे। इनमें उल्लेखनीय हैं वारलियों का विद्रोह, तेभागा आंदोलन, तेलंगाना संघर्ष, पुन्नप्रा-वयालार लहर और पंजाब किसान मोर्चा।[63] इन आंदोलनों के आधार पर ही वामपंथियों ने कहा है कि साम्राज्यवाद विरोधी 'संयुक्त संघर्ष' की संभावना 1946-47 में ही मौजूद थी लेकिन कांग्रेस ने बातचीत द्वारा सत्ता सौंपे जाने का रास्ता अख्तियार किया। इसके लिए देश को विभाजन के रूप में कीमत चुकानी पड़ी। हम इन आंदोलनों की प्रमुख विशेषताओं पर विचार करेंगे और यह देखेंगे कि क्या वास्तव में ही इनमें क्रांतिकारी संभावनाएं थीं।

इन आंदोलनों का घटनाकाल अलग-अलग है। लेकिन इनमें से कम से कम तीन आंदोलन 1946 के आखिर में अपनी चरमसीमा पर पहुंचे। सत्ता सौंपने की प्रक्रिया इससे पहले शुरू हो चुकी थी। ये 1945-46 की मिलिटेंट साम्राज्यवाद-विरोधी लहर का हिस्सा नहीं थे। इन्होंने राज की वैधता अथवा उसकी ताकत को चुनौती नहीं दी। इसलिए इन्हें साम्राज्यवादी विरोधी भी नहीं कहा जा सकता। फरवरी 1946 में मजदूर राजनीतिक मुद्दों को लेकर सड़क पर उतरे। इसके विपरीत 1946 की हड़तालें और किसान आंदोलन वेतन, कार्य हालात और आर्थिक शिकायत जैसे आर्थिक मुद्दों को लेकर चलाए गए थे। लड़ाई अकसर स्थानीय पूंजीपतियों, जमींदारों और राजाओं के खिलाफ हुआ करती थी, स्वयं राज के खिलाफ नहीं। यह सही है कि राजनीतिक घटनाक्रम में तेजी से बदलाव और शीघ्र मिलने वाली आजादी को लेकर राष्ट्रव्यापी उत्तेजना के माहौल में कोई भी कार्रवाई पूरी तरह से आर्थिक नहीं हो सकती थी। कभी-कभी मजदूर आजादी की उम्मीद से प्रेरित होकर बेहतर हालात की मांग कर देते थे।[64] लेकिन हमें सचेत, प्रत्यक्ष राजनीतिक कार्रवाई और राजनीतिक आयाम वाले आर्थिक संघर्ष के अंतर को देखना होगा। यह बहुत प्रासंगिक है।

इन्हें जोड़ने वाली एक अन्य बात यह थी कि ये सभी कम्युनिस्टों की पहल[65] पर हुआ। 1946 के संघर्षों के दौरान उठाए गए कुछ मुद्दे बहुत पुराने थे लेकिन 'अवाम के

युद्ध' के कारण कम्युनिस्टों ने उन्हें नहीं लिया। उस समय संघर्ष करने से मना किया जाता था। उदाहरण के लिए अधियारों (बटाईदारों) के साथ अन्याय को लिया जा सकता है। उन्हें अपनी पैदावार का केवल आधा हिस्सा मिलता था। किसान सभा ने उनके साथ अन्याय को 1940 में ही स्वीकार कर लिया था और फ्लाउड आयोग ने उसी साल दो-तिहाई हिस्से की सिफारिश की थी। किसान सभा ने युद्ध के बाद ही मामले को उठाया। युद्ध के दौरान महंगाई और खाद्यान्नों की कमी के कारण औद्योगिक मजदूरों को बहुत आर्थिक तकलीफ उठानी पड़ रही थी। लेकिन कम्युनिस्ट मजदूर नेताओं ने मजदूरों से उत्पादन बढ़ाने और हड़ताल न करने के लिए कहा। युद्धकालीन अधिक रोजगार, भारत सुरक्षा नियम और कांग्रेस मंत्रिमंडल की परंपरा से सरकार में आया सहानुभूतिपूर्ण रुख हड़तालों में कमी के अन्य कारण थे। युद्ध प्रयासों के समर्थन के कारण कम्युनिस्ट पार्टी को पहली बार कानूनी वैधता प्राप्त हुई। अवाम से युद्ध की अलोकप्रिय बात करने के कारण पार्टी को अपने बहुत से सदस्य गंवाने पड़े। लेकिन खुले रूप में संगठित और भर्ती करने, चंदा लेने और किसान तथा मजदूर संघ बनाने की छूट से पार्टी मजबूत बनी। उसने निर्माण की गांधीवादी परंपरा की सच्ची भावना के साथ जमाखोरी और काले बाजार के खिलाफ मुहिम चलाई, बंगाल में सूखा राहत कार्य किया और लोगों की जरूरतों की ओर ध्यान खींचा। इससे पार्टी का प्रभाव बढ़ा और लोगों के हृदय में उसको जगह बनी।

गोदावरी परुलेकर और किसान सभा के कार्यकर्ताओं ने 1944 और उससे आगे से महाराष्ट्र की जनजातियों की समस्याओं की जानकारी हासिल की; पंजाब के किसान नेताओं ने अपने किसान आधार को मजबूत बनाया ; तेलंगाना कम्युनिस्टों ने आंध्र महासभा पर अपना वर्चस्व कायम किया और ट्रावनकोर के कामरेडों की तरह यह साबित कर दिया कि वे ही बगैर झुके सामंती दमन के खिलाफ संघर्ष कर सकते हैं। ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (ए आई टी यू सी) ने अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाया और 1945 तक आते-आते उसकी सदस्यता 700000 हो गई। काफी समय से सुगबुगाता असंतोष 1946 में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। कड़े दमन ने उसे और भड़काया। मजबूत कम्युनिस्ट पार्टी ने इस असंतोष की अभिव्यक्ति के लिए मार्ग प्रदान किया। केंद्रीय समिति के अगस्त 1946 के संकल्प में मजदूर और किसान संघर्षों के एक हो जाने और क्रांतिकारी विकल्प बनने की बात कही गई। इससे स्थानीय कार्यकर्ताओं की हिम्मत बढ़ी। लेकिन कांग्रेस-लीग-कम्युनिस्ट एकता की पुरानी बात को संकल्प में स्थान देने से कार्यकर्ताओं में थोड़ा भ्रम भी पैदा हुआ। इन संघर्षों को एक साथ कैसे चलाया जाए ? क्रांतिकारी विकल्प का क्या अर्थ है ? सत्ता प्राप्त करने के लिए कोई रणनीति नहीं बनाई गई। केवल कुछ सामान्य बयानों में यह कहा गया कि जन संघर्ष से एक रास्ता मिलेगा जो समझौते और विभाजन के रास्ते से भिन्न होगा।

यहां सभी अथवा उनमें से कुछ संघर्षों का विस्तृत विवरण देना संभव नहीं है। इन

संघर्षों के मूल मुद्दे थे गैर कानूनी और पूरी तरह से शोषणकारी व्यवस्था और प्रथाएं तथा कम मजदूरी। इन संघर्षों की पूरी जानकारी कुछ दूसरे स्रोतों से प्राप्त की जा सकती है। गोदावरी परुलकर ने वारलियों के साथ अपने जीवन का मर्मस्पर्शी चित्रण किया है।[66] सुनील सेन ने तेभागा आंदोलन[67] का सच्चा और गहन अध्ययन किया है। उनके इस कार्य को रणजीत दासगुप्ता ने जलपाईगुड़ी पर अपने काम में पूरा किया है।[68] के.सी. जार्ज ने पुन्नप्रा बयालार[69] और पी. सुंदरैया तथा राजबहादुर गौड़ ने तेलंगाना के संघर्ष की गाथा प्रस्तुत की है।[70] 1946-47 की हड़ताल लहर के बारे में किसी इतिहासकार ने खास तौर पर नहीं लिखा है। लेकिन इनमें भागीदारी, इनकी गहनता के बारे में जानकारी प्राप्त करने के सुकोमल सेन के भारतीय मजदूर वर्ग संबंधी सामान्य अध्ययन[71] अथवा भारत में हड़तालों के बारे में बी.बी. कर्णिक के ब्योरे को देखा जा सकता है।[72]

जमींदार - साहूकार- सरकारी नौकर के जाल में वारली फंसे हुए थे। उन्होंने पहले जबरन मजदूर (वेथी या वेथबिगार) और कर्ज गुलामी (विवाह गुलाम) का विरोध किया। कर्ज गुलामी में विवाहित दंपती को विवाह खर्च के लिए 100 अथवा 200 रु. का कर्ज चुकाने के वास्ते पूरे जीवन काम करना पड़ता था।[73] जमींदार और ठेकेदार वारली स्त्रियों का अकसर यौन शोषण किया करते थे। आदिवासी-जमींदार संतान को 'वतलस' नाम दिया जाता था। इसी से स्पष्ट है कि इस प्रकार का शोषण कितने बड़े पैमाने पर किया जाता था। वारलियों का अपने नेताओं और जादुई लाल झंडे में अटूट विश्वास था। वे एक होकर अपराजेय ताकत बन गए और उन्होंने बगैर हथियारों के ऐसा संघर्ष छेड़ा जो देखने में बहुत साधारण लेकिन अत्यंत प्रभावी था। दस हजार वारलियों ने इकट्ठे होकर विवाह गुलामों को मुक्त कराया। उनसे अपने मालिकों का घर छोड़ने के लिए कहा गया या फिर स्वयं जमींदारों से कहा गया कि वे उन्हें अपने यहां से चले जाने के लिए कहें। कभी-कभी जमींदार डरकर अपने गुलामों को चले जाने के लिए कह देते थे। इसी प्रकार वारली एकता से हिम्मत पाकर लोगों ने वेथी और मनगढंत लगान बकाया देने से इनकार किया। किसान सभा ने घास काटने और पेड़ गिराने के लिए उचित मजदूरी की मांग करते हुए संघर्ष छेड़ा। घास काटने के लिए मजदूरी दो आना या 500 औंस ताड़ी थी। किसान सभा ने ढाई रुपए की मांग की। पेड़ गिराने के लिए दैनिक मजदूरी चार आना थी। किसान सभा ने सवा रुपए की मांग की। मजदूरी के इस विवाद में सरकार भी एक पार्टी थी। इसलिए संघर्ष और दमन चक्र चला। लेकिन आखिरकार सफलता मिली।

बंगाल में अधियारों या बर्गदारों ने मांग की कि जिन मामलों में वे हल, बैल, खाद और बीज देते हैं उनमें उन्हें पैदावार का दो-तिहाई हिस्सा मिले। उन्हें केवल आधा हिस्सा मिलता था। यह ज्यादती थी। उन्होंने कटाई करके धान अपने घरों में भर लिया और जोतदार से अपने एक-तिहाई हिस्से ले जाने के लिए कहा। जनवरी 1947 में सुहरावर्दी मंत्रिमंडल ने बर्गदार बिल पेश किया। अब यह मांग गैरकानूनी नहीं रह गई थी। इससे तेभागा आंदोलन

को बढ़ावा मिला। बर्गदारों ने जोतदारों के खमारों (स्टोरों) से धान निकालना शुरू कर दिया। जोतदारों ने डकैती का इलजाम लगाया। इससे बर्गदारों का पुलिस के साथ संघर्ष हुआ।

1946 में जबर्दस्त हड़ताल लहर चली। यह काम बंद होने की घटनाओं की संख्या, मजदूर भागीदारों की संख्या, बरबाद मानक दिनों की मात्रा से साबित होता है।[74] महंगाई और छंटनी ने मजदूरों की कमर तोड़ दी थी। उद्योग, प्रशासन और सेना से पांच से सात हजार भारतीयों की छंटनी की गई। इस समय के प्रमुख मुद्दे थे मजदूरी, कार्यघंटे, बोनस और खाद्य राशन। मजदूरी संबंधी मांग मजदूरों के जीवन स्तर में भारी गिरावट के कारण पैदा हुई। 1946 में उपार्जन का सूचकांक 208 था लेकिन मूल्य सूचकांक के 285 (1939=100) हो जाने से वास्तविक उपार्जन गिर कर 73.2 रह गया। उद्योगों के अलावा डाक एवं तार विभाग, दक्षिण भारतीय रेलवे, उत्तर पश्चिम रेलवे (रेलवे में पूर्ण हड़ताल बातचीत के कारण टल गई), दिल्ली और बिहार की पुलिस यूनिटों तथा गोला बारुद डिपो में हड़ताल हुई। इसके मुद्दे थे कार्य हालात और बेहतर मजदूरी। मजदूरी और कार्य हालात को लेकर डाक एवं तार हड़ताल 11 जुलाई 1946 को शुरू हुई तथा पटेल के हस्तक्षेप के बाद 3 अगस्त को समाप्त हुई।

पंजाब के किसानों ने ऊना, कांगड़ा, पठानकोट और फिरोजपुर में लगान-बंद संघर्ष छेड़ा।[75] निलीबार में काश्तकारों ने गैरकानूनी करों का भुगतान न करने लिए संघर्ष किया। किसान मालिकों ने मोघो (नहर कुलियाओं) को फिर से तैयार करने का विरोध किया क्योंकि इनसे पानी की सप्लाई कम हुई लेकिन पानी की दरें वही रहीं। हर्ष चिन्ना मोघा मोर्चा बनाया गया। इसका नेतृत्व कम्युनिस्टों ने किया तथा इसमें कांग्रेसी और अकाली शामिल थे।

ट्रावनकोर में मछली मजदूर, नारियल फैक्टरी मजदूर, ताड़ी मजदूर और कृषि मजदूर कम्युनिस्ट पार्टी के झंडे तले एकजुट हुए। उन्होंने 'अमरीकी मॉडल संविधान को अरब सागर में दफन करने'[76] की पार्टी की मांग का समर्थन किया। यह बात दिवान, सर सी.पी. रामास्वामी अय्यर के पहल पर संविधान लागू करने की बात को लेकर की जा रही थी। इसमें किए गए एक प्रावधान के अनुसार महाराजा को एक कार्यपालिका नामित करने का अधिकार दिया गया जिसे किसी भी सूरत में हटाया नहीं जा सकता था। इससे बालिग मतदाताओं द्वारा चुनी गई विधानसभा के रूप में मिला अधिकार ही एक तरह से खत्म हो जाता है। इस क्षेत्र में जेनमी (जमींदार) आधिपत्य और दमन के कारण कुछ आर्थिक मुद्दे भी मुहिम में शामिल थे। इसके अतिरिक्त अगस्त 1946 में क़म्युनिस्टों के नेतृत्व में बेहतर मजदूरी के लिए मजदूरों ने सफल हड़ताल की।[77]

आंदोलनों में बहुत बड़ा क्षेत्र शामिल हुआ और भारी संख्या में हड़तालें की गईं। इसी से उनके विस्तार और पहुंच का अंदाजा लग जाता है। वारलियों में ठाणा जिले के अमबेर

गांव, दहानु, पालघर तालुकों के 50 प्रतिशत आदिवासी शामिल थे। तेभागा आंदोलन उत्तरी बंगाल जिलों के दिनाजपुर, रंगपुर, जलपाईगुड़ी तथा मैमनसिंह, मिदनापुर, 24 परगना, जैस्सोर और खुलना के कुछ हिस्सों में केंद्रित था। उत्तरी मैमनसिंह की प्रभावित हाजोंग जनजातियां तथा दुआर में चाय बागान और रेलवे मजदूर भी इसमें शामिल हो गए। 1945 और 1947 में भी बहुत हड़तालें हुईं लेकिन हड़ताल लहर 1946 में ही देखने को मिली। 1945 में 820 हड़तालों, 747,530 भागीदारों और 5,05,459 मानक दिनों के नुकसान के मुकाबले 1946 में 1629 हड़तालें हुईं जिनमें 1,961,948 लोग शामिल हुए और 12,717,762 मानव दिनों का नुकसान हुआ। ट्रावनकोर विद्रोह अपने दो स्थानों पुन्नप्रा और वयालार के नाम से ज्यादा मशहूर है। इसमें ट्रावनकोर के शेरटल्ली, अंबालपुझा तालुकों के कत्तूर, ओलाथाला, मरारीकुलम और मैनशेरी भी शामिल थे।

वारलियों, बंगाल के किसानों, ट्रावनकोर के मजदूरों ने जिस निर्भयता से पुलिस, सेना अथवा जमींदारों के लठैतों का मुकाबला किया वह उनके गुस्से और जोश तथा पार्टी, किसान सभा अथवा यूनियन और इसके नेताओं में उनके अटूट विश्वास का सूचक है। वारली गोदावरी परुलेकर से प्यार करने लगे। वह लंबे समय तक उनके साथ रहीं। उन्होंने उनकी तकलीफें सुनी तथा दमन का विरोध करने को कहा। वह उनका रुखा-सूखा खाना खातीं और उनकी ही झोंपड़ियों में रहतीं। बाई (गोदावरी इसी नाम से जानी जाने लगी) के प्रति वारलियों के प्यार को देखते हुए जमींदारों ने यह अफवाह फैला दी कि बाई खतरे में है और लाल झंडाधारियों की मंदद चाहती है। हजारों की तादाद में वारली कुल्हाड़ी या तीर कमान लेकर तुरंत शहर की ओर निकल पड़े। जमींदारों ने पुलिस को सूचित किया कि हथियारों से लैस वारली भांरी संख्या में आ रहे हैं। शीघ्र ही पुलिस आ गई। उसने वारलियों से चले जाने को कहा। जब वे नहीं गए तो पुलिस ने उन पर गोली चलाई जिससे पांच वारली मारे गए। इसके बावजूद वारली पीछे नहीं हटे। वे उसी स्थान पर बैठ गए जहां किसान सभा की बैठकें हुआ करती थीं। वे कल्याण से यह समाचार आने के बाद ही उठे कि बाई सुरक्षित है लेकिन बीमारी के कारण आ नहीं सकती हैं। इसके बाद वारली अपने घर चले गए। लेकिन जमींदारों के कपट से उनके मन में भारी रोष पैदा हो गया। यह उनके विश्वास की कड़ी परीक्षा थी जिसे उन्होंने बड़ी बहादुरी और त्रासद तरीके से पास किया।

पुन्नप्रा में लाठियों से लैस 1000 मजदूर पुलिस शिविर में पहुंचे। उसमें सौ हथियारबंद सिपाही थे। अचानक हमले में लोगों ने इंस्पेक्टर विलयाथन को भालों से मार डाला। आठ और पुलिसमैन मारे गए। कुछ पुलिसमैन भागकर हथियारों तक पहुंच गए। संघर्ष में अनगिनत मजदूर मारे गए। शेष वापस लौट गए। कुछ मजदूर अपने साथ राइफल भी ले गए। 25 अक्तूबर को मार्शल लॉ लगा दिया गया। लेकिन उन शिविरों को नहीं हटाया गया जहां लोग गुंडों के डर से एक साथ रहते थे। 27 अक्तूबर को 400 सैनिकों ने वयालर शिविर

को घेर लिया। 200 स्वयंसेवक लाठियों के साथ आगे बढ़े जिनमें से 150 मारे गए।[78]

अगस्त क्रांति से प्रेरित होकर ट्रावनकोर कम्युनिस्टों ने शेरटल्ली और अलीपी के खेतिहर मजदूरों को ट्रावनकोर के शासन के साथ सीधी मुठभेड़ में लगा दिया। मजदूर बड़ी बहादुरी से लड़े। कई शहीद भी हो गए। लेकिन दिवान ने उन्हें कुचल दिया। राज्य कांग्रेस नए संविधान को एक मौका देना चाहती थी। कम्युनिस्ट उतावले हो रहे थे और उन्हें विश्वास था कि मजदूर उनका साथ देंगे क्योंकि उन्होंने हड़ताल द्वारा उन्हें बेहतर मजदूरी दिलवाई थी। ट्रावनकोर के कम्युनिस्टों ने राजनीतिक मुठभेड़ का रास्ता अख्तियार किया जो शीघ्र सशस्त्र संघर्ष में बदल गया। लेकिन इसे सशस्त्र कैसे कहें क्योंकि पूगी की लाठी तो हथियार नहीं होती। पुन्नप्रा पुलिस शिविर पर मार्च के कारण बहुत लोग मारे गए। नौ राइफलें हाथ लगीं जिन्हें कोई चलाना नहीं जानता था। इसलिए उन्हें नदी में फेंक दिया गया। मार्शल लॉ लग जाने के बाद भी शिविरों को इसलिए नहीं हटाया गया कि लोग इकट्ठे रहकर दमन का बेहतर मुकाबला कर सकते हैं। लेकिन इस बात की ओर ध्यान नहीं दिया गया कि बगैर किसी हथियार के भीड़ हत्याकांड के लिए दावत है। वयालार में यही हुआ।

क्या इन आंदोलनों से कोई रास्ता मिला जिससे आजादी 'ऊपर से' आने के बजाए 'नीचे से' आती ? ऐसा कुछ नहीं लगता। ये आंदोलन आर्थिक मुद्दों अथवा सामंती और वर्ग दमन के खिलाफ चलाए गए। ये प्रत्यक्ष रूप में साम्राज्यवाद विरोधी नहीं थे। इन्हें उपनिवेशवाद पर अंतिम आघात के बजाए स्वतंत्रता के बाद के वर्ग संघर्ष की पहली लहर के रूप में देखा जा सकता है। साम्राज्यवाद के साथ संघर्ष का मामला सिद्धांत रूप में निपट जाने के बाद समूह और वर्ग तथा समाज संबंधी सवालों को सुलझाने में लग गए। साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष के दिनों में इन सवालों पर ध्यान ही नहीं दिया जाता था।

जन आंदोलन और राष्ट्रवादी रणनीति

वामपंथी इतिहासकारों की इस दलील में भी कोई दम नहीं है कि 'जन असंयम के डर के कारण कांग्रेस ने बातचीत और समझौते का मार्ग पकड़ा और अंत में इसकी कीमत के रूप में विभाजन को भी स्वीकार कर लिया।'[79] बातचीत कांग्रेस की रणनीति का अनिवार्य अंग थी। कोई भी जन आंदोलन शुरू करने से पहले वह बातचीत की संभावना का पता लगाती थी। 22 सितंबर 1945 को कांग्रेस नीति के बारे में ए आई सी सी द्वारा पास किए गए संकल्प में भी यही बात दोहराई गई है।[80] इसकी चर्चा अध्याय तीन में की गई है।

कांग्रेस की नरमी का जहां तक सवाल है उसके मुख्य विरोधी अंग्रेजों के विचार ध्यान देने योग्य हैं। अंग्रेजों का मानना था कि कांग्रेस के नरम भाषणों से नीति परिवर्तन का कोई संकेत नहीं मिलता। कांग्रेस की वर्तमान नीति 'चुनाव के बाद तक संघर्ष को क़िसी भी सूरत में टालना है। चुनाव के जरिए वे अपने प्रभाव और प्रतिष्ठा को बढ़ाना

चाहते हैं।' साथ ही वे अंग्रेजों के प्रति जातीय घृणा को आंदोलित करना चाहते हैं।[81] कांग्रेस के हृदय में कोई वास्तविक परिवर्तन नहीं हुआ था। चुनाव होने तक उन्होंने केवल तरकीबें बदल दीं।

सुमित सरकार ने बंगाल के गवर्नर केसे के साथ गांधी की 'दोस्ताना बातचीत' को 'नरमी' का उदाहरण बताया है। स्वयं केसे का मानना था कि यह 'नरमी' का संदेश अथवा इशारा तक नहीं था बल्कि इसके द्वारा गांधी यह जानना चाहते थे कि बगैर किसी खतरे के कितना आगे तक जाया जा सकता है।[82] 'पहले की तरह अंग्रेजों के प्रति अपने अविश्वास और नापसंदगी को उन्होंने छोड़ा नहीं है और वे कभी छोड़ेंगे भी नहीं।'[83] 'शांति' केवल क्षणिक थी। किसी भी प्रकार के परिवर्तन की उम्मीद नहीं थी। चुनाव के बाद जन आंदोलन अथवा कांग्रेस मंत्रिमंडलों के रूप में परेशानी का खतरा पहले की तरह बरकरार था। वाइसरॉय का स्पष्ट रूप से मानना था कि 'अस्थायी शांति' केवल इसलिए आई है क्योंकि नवंबर के दंगों से 'कांग्रेस ने यह बात समझ ली है कि चुनाव में हिंसा की भाषा के प्रयोग के कारण समय से पहले प्रदर्शन और दंगे शुरू हो सकते हैं जिससे कांग्रेस के हितों को धक्का लगेगा।'[84] वाइसरॉय के अनुसार जन आंदोलन का खतरा 'पहले से अधिक' था और सरकार को चौकस रहना चाहिए।[85] नेहरू ने भी चेतावनी दी कि यदि कैबिनेट मिशन नाकामयाब हो गया तो 'पूरे देश में तबाही मचाने वाला राजनीतिक भूकंप आएगा।'[86]

1946 में आंदोलन से पहले बातचीत के विकल्प का पता लगाना जरूरी था। नेहरू के अनुसार अंग्रेज दो से पांच साल के भीतर भारत छोड़ने वाले थे। 1 जनवरी 1946 को विदेशमंत्री के नव वर्ष के बयान और 19 फरवरी 1946 को कैबिनेट मिशन संबंधी प्रधानमंत्री की घोषणा में भारत को शीघ्र आजादी की बात कही गई है। लेकिन समझौते के लिए अंग्रेजों पर दबाव बनाए रखना जरूरी था। इस उद्देश्य से आंदोलन के लिए तैयारी (पूरे 1945 में संगठन की छवि सुधारकर और चुनाव प्रचार और आई एन ए आंदोलन का नेतृत्व कर यही किया गया) जारी रखना जरूरी था। लेकिन पहले बातचीत का दांव खेलना जरूरी था। आंदोलन के विकल्प को सुरक्षित रखा गया।

वाम अथवा जन संघर्षों के डर से कांग्रेस सत्ता हस्तांतरण के लिए बातचीत के मार्ग पर नहीं चली। आजादी से पहले बातचीत को अलग ढंग से देखा जाना चाहिए। इससे उस समय की कांग्रेस की गतिविधि तथा उसके द्वारा दशकों तक चलाए गए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष का दबाव प्रकट होता है। इस संघर्ष ने शासन करने की अंग्रेजों की क्षमता को लगभग समाप्त कर दिया था। कांग्रेस शासनतंत्र को सौंपे जाने के लिए बातचीत करना चाहती थी।

ऐसी स्थिति में गहरी राजनीतिक समझ वाला कोई भी नेतृत्व और कोई मार्ग नहीं अपनाता। आजादी से पहले बातचीत द्वारा समझौते के उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। इस संबंध में मोजांबीक, गिनीबिसाऊ और वियतनाम के नाम लिए जा सकते हैं। यहां

तक कि माओ के नेतृत्व में चीनी कम्युनिस्ट पार्टी ने अमरीकी मध्यस्थता से 1945 से 1946 के दौरान पूरे एक वर्ष तक चियांग-काई-शेक से बातचीत की। ऐसा लगता है कि आजादी के लिए साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की अंतिम अवस्था में बातचीत का दरिया पार करना ही पड़ता है।

3 मार्च 1946 को *हरिजन* में छपे तीन बयानों में गांधी ने लोगों द्वारा हाल ही में अख्तियार किए गए रास्ते के खतरों का जिक्र किया[67]:

> यह राहत की बात है कि नाविकों ने सरदार पटेल की सलाह पर आत्मसमर्पण कर दिया है। उन्होंने अपने आत्मसम्मान का समर्पण नहीं किया है। उनके द्वारा बगावत गलत कदम था। यदि यह किसी वास्तविक अथवा काल्पनिक शिकायत के कारण की गई थी तो उन्हें अपनी पसंद के राजनीतिक नेताओं के मार्गदर्शन और हस्तक्षेप की प्रतीक्षा करनी चाहिए थी। यदि उन्होंने भारत की आजादी के लिए बगावत की तो यह और भी अधिक गलत था। वे किसी तैयार क्रांतिकारी पार्टी के बगैर ऐसा नहीं कर सकते थे। यदि वे ऐसा समझते हैं कि वे अपनी ताकत से भारत को विदेशी चंगुल से छुड़ा सकते हैं तो यह उनकी विवेकहीनता और अज्ञानता है। तिलक ने हमें बताया है कि अपना शासन अथवा स्वराज हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। बंबई, कलकत्ता और कराची में जो कुछ हो रहा है उससे स्वराज प्राप्त नहीं किया जा सकता।
>
> बगावत करने वालों को भड़काने वाले नहीं जानते कि वे क्या कर रहे हैं। उन्हें आखिरकार समर्पण करना ही था। अरुणा 'संविधान के बजाए बैरीकेड के मोर्चे पर हिंदू और मुसलमानों को एक करेगी।' हिंसा को देखते हुए भी यह गलत काम है। बैरीकेड के मोर्चे पर एकता यदि सच्ची है तो यह एकता सांविधानिक मोर्चे पर भी होनी चाहिए। योद्धा हमेशा बैरीकेड पर नहीं रहते। वे बुद्धिमान हैं और आत्महत्या नहीं करेंगे। बैरीकेड जीवन के बाद सांविधानिक जीवन आना है। वह मोर्चा हमेशा के लिए वर्जित नहीं है।

गांधी ने राष्ट्र द्वारा अपनाए जाने वाले रास्ते के विषय में यह बताया :

> अंग्रेजों की घोषणाओं का अविश्वास करके उनके साथ लड़ाई शुरू कर देना दूरदर्शिता नहीं है। क्या शासकीय शिष्टमंडल इस महान राष्ट्र के साथ धोखा करने के लिए आ रहा है? ऐसा सोचना गलत है। इंतजार करने से क्या चला जाएगा ? शासकीय शिष्टमंडल को सिद्ध करने दीजिए कि अंग्रेजों की घोषणाओं का भरोसा नहीं किया जा सकता। विश्वास करने से राष्ट्र का लाभ ही होगा। जिसके साथ कपट किया जा रहा है उससे सही उत्तर मिलने पर कपटी पराजित होता है ...
>
> शासकों ने भारतीय शासन के पक्ष में 'छोड़ कर चले जाने का इरादा जताया है ...

लेकिन राष्ट्र को भी अपनी भूमिका निभानी है। इसके लिए जरूरी है कि कम से कम कुछ समय के लिए बैरीकेड छोड़ दिए जाएं।'

संदर्भ और टिप्पणियां

1. *एच टी*, 22 नवंबर 1945: और पैथिक लॉरेंस से वावेल, 2 जनवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 552 और 724. साथ ही देखें सुमित सरकार, *मॉडर्न इंडिया*, पृ. 682.
2. वावेल ने पैथिक लॉरेंस को लिखा कि अब्दुल रशीद ने 'अपने सामने एक आदमी को लटका कर उसकी इतनी पिटाई करवाई कि वह बेहोश हो गया', 13 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ.969
3. *एच टी*, 12 फरवरी 1946, फरवरी 1946 के पहले पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/2/46.
4. *एच टी*, 19 और 20 फरवरी 1946; बैनर्जी, आर आई एन स्ट्राइक, पृ.9; और दत्त, *म्यूटिनी आफ इन्नोसेंट्स*, पृ. 111.
5. *एच टी*, 20 फरवरी 1946; कोलविले, गवर्नर, बंबई से वावेल, उद्धरण, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ 1079-80; फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/2/46.
6. *एच टी*, 21 और 22 फरवरी 1946.
7. *एच टी*, 22 और 23 फरवरी, 1946, बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 83.
8. *एच टी*, 22, 24 और 27 फरवरी 1946; फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास और दिल्ली एफ आर, होमपॉल 18/2/46; बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 92-94 और 97; और चट्टोपाध्याय, 'दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन', पृ. 441.
9. बी.सी. दत्त, *म्यूटिनी आफ इन्नोसेंट्स*, पृ. 154.
10. *एच टी*, 22, 24 और 27 फरवरी 1946; बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 115 और 119; दत्त, *म्यूटिनी आफ इन्नोसेंट्स*, पृ. 154; फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए पंजाब एफ आर, होमपॉल 18/2/46
11 नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/11/45.
12. बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ 128.
13. *एच टी*, 23, 25, 26 और 27 फरवरी 1946 और मार्च 1946 के पहले पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, होमपॉल 18/3/46; मडी, गवर्नर, सिंध से वावेल, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1071 और बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 131.
14. वावेल से पैथिक लॉरेंस, 27 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 553.
15. *एच टी*, 13 फरवरी 1946; फरवरी 1946 के पहले पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/2/46 और गौतम चट्टोपाध्याय, 'दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन', पृ. 427.
16. *एच टी*, 22 फरवरी 1946; फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर, होमपॉल 18/2/46; और कोलविले से वावेल, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1079.
17. कोलविले से वावेल, 2 जनवरी 1946, वही, पृ. 1079.
18. केसे से वावेल, 2 जनवरी 1946; वही, पृ. 724.
19. *एच टी*, 23 और 26 नवंबर 1945; नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/11/45; वावेल से पैथिक लॉरेंस, 27 नवंबर 1945; और केसे से वावेल, 2 जनवरी 1946, *टी पी*,

वॉल्यूम 6. पी पी, 552 और 724.

20. *एच टी*, 11 और 13 फरवरी 1946 और चट्टोपाध्याय. 'दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन', पृ.427.
21 *एच टी*, 24 फरवरी 1946.
22. बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 128.
23. कोलविले से वावेल, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ 1079.
24. *एच टी*, 23 फरवरी 1946; फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए सिंध एफ आर; और बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 131.
25. फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, होमपॉल 18/2/46; मार्च 1946 के पहले पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, होमपॉल 18/3/46; *एच टी*, 26 आर 27 फरवरी 1946.
26. *एच टी*, 24, 25, 26 और 30 नवंबर 1945; नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए असम, उड़ीसा, सिंध और यू.पी. एफ आर, होमपॉल 18/11/45; और डब्ल्यू पी एन जैनकिन्स, उप निदेशक (सी), इंटेलीजेंस ब्यूरो, गृह विभाग का नोट दिनांक 23 नवंबर 1945, होमपॉल 21/6/45
27. *एच टी*, 24 और 27 नवंबर 1945; नवंबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए असम और दिल्ली एफ आर, होमपॉल 18/11/45.
28. *एच टी*, 24 नवंबर 1945 और मित्रा, इंडियन एनुअल रजिस्टर, एन एनुअल डाइजेस्ट आफ पब्लिक एफेयर्स इन इंडिया, कलकत्ता, जुलाई - दिसंबर 1945, पृ 30
29. *एच टी* 12 और 17 फरवरी 1946; फरवरी 1946 के पहले पखवाड़े के लिए बंबई, यूपी, असम एन डब्ल्यू ई एफ पी, बलूचिस्तान, दिल्ली और मद्रास एफ आर, होमपॉल 18/2/46.
30 *एच टी*, 20 फरवरी 1946; फरवरी 1946 के पहले पखवाड़े के लिए उड़ीसा एफ आर तथा दूसरे पखवाडे के लिए बंगाल, असम, उड़ीसा, दिल्ली और अजमेर एफ आर, होमपॉल 18/2/46, और चट्टोपाध्याय, 'दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन', पृ. 427
31 *एच टी*, 19 फरवरी 1946
32. वही, 17 और 18 फरवरी 1946; फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास, पंजाब और उड़ीसा एफ आर, होमपॉल 18/2/46.
33 फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, वही, *एच टी*, 26 और 27 फरवरी 1946.
34. बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 131, 133 और 134.
35. वही.
36 *एच टी*, 24 फरवरी 1946 और फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/2/46
37. 1942 के आंदोलन के दौरान सतारा जिले के एक दुर्गम जिले ने भूमिगत कार्यकर्ताओं को छिपने की जगह दी वहां से ये लोग दो से तीन वर्ष तक प्रशासन से टक्कर लेते रहे
38. फरवरी 1946 के पहले पखवाड़े के लिए बंगाल एफ आर, होमपॉल 18/2/46; *एच टी* में मृतकों की संख्या 53 और घायलों की संख्या 500 बताई गई है, *एच टी*, 17 फरवरी 1946.
39 कोलविले से वावेल, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1079.
40. *एच टी*, 22 फरवरी 1946.
41. कोलविले से वावेल, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1079. फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े के लिए बंबई एफ आर में 236 मृतकों और 1156 घायलों की सूची दी गई है जिसमे 25 अधिकारी और 75 पुलिसमैन शामिल हैं, होमपॉल 18/2/46.
42. *एच टी*, 22 और 23 फरवरी 1946; बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 90
43. सिंध के गवर्नर मडी से वावेल, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1071.

44. फरवरी 1946 के दूसरे पखवाड़े और मार्च के पहले पखवाड़े के लिए मद्रास एफ आर, होमपॉल 18/2/46 और 18/3/46
45. दत्त, *इंडिया टुडे*, पृ. 536–42. सरकार, *मॉडर्न इंडिया*: और चट्टोपाध्याय 'दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन'.
46 यह कलकत्ता के एक विद्यार्थी कार्यकर्ता गौतम चट्टोपाध्याय का मानना था; देखें चट्टोपाध्याय 'दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन'
47 बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. vii
48. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1076. जनरल मेएने ने व्हाइटहॉल को सूचित किया कि 'बंबई में आर आई एन विद्रोह और बाद में इसी शहर में नागरिक आंदोलन के दौरान भारतीय सेना का मनोबल काफी ऊंचा था. सिपाहियों ने बगैर किसी भेदभाव के पूरी सक्षमता के साथ अपना काम किया.' मेएने से अवर विदेश सचिव मॉनटीथ को, 13 मार्च 1946. युद्ध विभाग ने सेनाओं की विश्वसनीयता शीर्षक मे एक रिपोर्ट विदेशमंत्री को दी जिसमें बताया गया कि 'सेना द्वारा अपनी ड्यूटी न किए जाने अथवा उसमें आनाकानी करने की कोई रिपोर्ट नहीं है' - केवल आर आई ए एस सी की एक पलाटून ने ड्यूटी करने से इनकार किया और नाविकों से मिल जाने की कोशिश की. उनके हथियार वापस ले लिए गए. देखें युद्ध कर्मचारी विभाग,एल/डब्ल्यू एस/1/1040, फाइल डब्ल्यू एस 17057, एक्सेशन सं. 4356.
49. दत्त, *इंडिया टुडे*, पृ. 542
50. कैबिनेट निष्कर्ष, 22 जनवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ 830–34. पार्थसारथी गुप्ता ने काफी साल पहले *इंपीरियलिज्म एंड दि ब्रिटिश लेबर मूवमेंट* में इसका जिक्र किया था, पृ. 292.
51 देखें सरकार, *मॉडर्न इंडिया* और बलाबुशेविच और दियाकोव, *कांटेंपरेरी हिस्टरी आफ इंडिया*, पृ. 417.
52. कांग्रेस के भाषणों को हलका करने के साथ-साथ सुमित सरकार ने गांधी की बंगाल के गवर्नर केसे के साथ बातचीत का विशेष रूप से उल्लेख किया है।
53. भारत सरकार, होमपॉल 5/8/46, ए.पी. ह्यूम ने इन विद्रोहों को '1857 के बाद के सबसे गंभीर विद्रोह बताया है' और 'इन्हें नैतिकता के किसी भी पैमाने से गलत चीज़ को बगैर किसी रोकटोक के जारी रहने देने और ठीक बताकर उसकी तारीफ करने का स्वाभाविक और स्पष्ट नतीजा बताया है. बंदूकों और दूसरे हथियारों से लैस विद्रोह को अब 'विद्रोह' न कहकर 'हड़ताल' कहा जाना चाहिए, ह्यूम द्वारा अपने माता पिता को, 26 फरवरी 1946, *ह्यूम कलेक्शन*, एम एस एस ई यू आर डी 724/13, एन ए आई एक्सेशन सं. 2041, नई दिल्ली
54. वाइसरॉय से प्रधानमंत्री, 24 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1055.
55. होमपॉल 7/1/46.
56. *पीपुल्स वार*, 14 अक्तूबर और 18 नवंबर 1945.
57. बंबई के गवर्नर के सचिव ने विदेशमंत्री को लिखा कि गवर्नर सेना चीफों के साथ निकट संपर्क बनाए हुए हैं. उसने कांग्रेस और लीग नेताओं का इंटरव्यू लिया है. इन नेताओं ने बलवों की निंदा की है, इनमें अपना हाथ होने से इनकार किया है और कहा है कि 'हालात को सामान्य बनाने के लिए वे पूरी कोशिश कर रहे हैं', 22 फरवरी 1946, 227/सी, युद्ध कर्मचारी विभाग रिकार्ड, एल/डब्ल्यूएस/1/1040, फाइल डब्ल्यू एस 17057, एन ए आई एक्सेशन सं. 4356. 22 फरवरी 1946 को पटेल ने नेहरू को लिखा 'काबू करने लिए यहां आई जल और थल सेना इतनी मजबूत है कि वह उनका (नाविकों का) पूरी तरह से सफाया कर सकती है. उन्होंने ऐसा करने की धमकी भी दी है', जे. एन. कॉरेसपोंडेंस, एन एम एम एल, नई दिल्ली, पार्ट-I, वॉल्यूम 81.
58. बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 131; होमपॉल 21/16/45 और *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 724.

59 जैसा कि ए. आर. देसाई ने कहा है 'युद्ध के दौरान और युद्ध के बाद की अवधि में आजादी हासिल करने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी के पास कोई वैकल्पिक रणनीति नहीं थी', *पीजेंट स्ट्रगल्स*, पृ. 426. देखें 'दि न्यू सिचुएशन एंड अवर टास्क्स', सी पी आई की केंद्रीय समिति का रेजोल्यूशन, दिसंबर 1945, *आरकाइव्ज आफ कंटेंपरेरी हिस्टरी*, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.

60 जीन डी. ओवरस्ट्रीट एंड मार्शल विंडमिलर, *कम्युनिस्म इन इंडिया*, बर्कले एंड लॉस एंजेल्स, 1959, पृ. 242 'सी पी आई के राष्ट्रीय कार्यालय ने इन विद्रोहों का समर्थन नहीं किया क्योंकि इसके नेताओं में मतभेद था. उसने आजादी तक के संक्रमणकाल मे कांग्रेस के साथ सहयोग की नीति अपनाई हुई थी. लेकिन ग्रामीण कम्युनिस्ट नेताओं ने विद्रोहों में सक्रिय रूप से भाग लिया', कैथलीन गूफ, 'पीजेंट रेसिसटेंस एंड रिवोल्ट इन साउथ इंडिया', देसाई '*पीजेंट स्ट्रगल्स*' में, 'फॉर दि फाइनल असाल्ट - टास्क्स आफ दि इंडियन पीपुल इन दि प्रेजेंट फेज आफ दि इंडियन रेवोल्यूशन' सी पी आई की क्रेंदीय समिति, अगस्त 1946, *आरकाइव्ज आफ कंटेंपरेरी हिस्टरी*, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.

61. *टुवर्ड्स ए पीपुल्स नेवी*, बंबई, एन.डी., पृ. 18, उपर्युक्त में उद्धृत.

62 कांग्रेस के नर्म रुख के सबूत के तौर पर सुमित सरकार ने जो छह उदाहरण दिए हैं उनमें से एक रशीद अली दिवस के मौके पर उपद्रवों में अपना हाथ होने से उसका इनकार है, '*पॉपुलर मूवमेंट्स*', पृ. 679 और 682.

63 इन आंदोलनों की जानकारी के लिए देखें, सरकार '*पॉपुलर मूवमेंट्स*', फारुखी, *इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल*, मेन, *रेवोल्यूशन इन इंडिया*, दत्त, *इंडिया टुडे*, बलाबुशेविच एंड दियाकोव, *कंटेंपरेरी थ्यरी आफ इंडिया*, रॉय, *सोशियो-पॉलिटिकल बैकग्राउंड आफ माउंटबैटन अवार्ड*, अधिकारी, *कम्युनिस्ट पार्टी*, देसाई, *पीजेंट स्ट्रगल्स*.

64 रणजीत दासगुप्ता ने 1945-47 के दौरान जलपाईगुड़ी के अध्ययन में इस पर बराबर जोर दिया है. इसमें तेभागा आंदोलन और दुआर्स मजदूर संघर्ष दोनों को ही लिया गया है. रणजीतदास गुप्ता, 'पीजेंट्स, वर्कर्स एंड फ्रीडम स्ट्रगल, जलपाईगुड़ी, 1945-47' गुप्ता संपादित *मिथ एंड रियलिटी* में.

65 'कानूनी' चरण में कम्युनिस्ट गतिविधियों के विस्तृत विवरण के लिए देखें होमपॉल 7/1/43 और 7/1/45

66. देखें गोदावरी परुलेकर, *आदिवासीज़ रिवोल्ट-दि स्टोरी आफ वार्ली पीजेंट्स इन स्ट्रगल*, कलकत्ता, 1975.

67. मेन, *एग्रेरियन स्ट्रगल इन बंगाल*. तेभागा आंदोलन की विफलता के लिए देखें हम्जा आलवी 'पीजेंट्स एंड रेवोल्यूशन' देसाई, *पीजेंट्स स्ट्रगल* में.

68 दासगुप्ता, 'पीजेंट्स, वर्कर्स एंड फ्रीडम स्ट्रगल'.

69. जार्ज, *इम्मोर्टल पुन्नप्रा वयालार*.

70. सुंदरैया, *तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल* और गौर एट एल, *ग्लोरियस तेलंगाना आर्म्ड स्ट्रगल*.

71. सुकोमल सेन, *वर्किंग क्लास आफ इंडिया : हिस्टरी आफ इमर्जेंस एंड मूवमेंट*, 1930-1970, कलकत्ता, 1977.

72. बी.बी. कार्णिक, स्ट्राइक्स इन इंडिया, बंबई, 1967. साथ ही देखें, फाइल एल-डी/1946-47 और 26/1946, ए आई सी सी पेपर्स.

73. देखें परुलेकर, आदिवासीज़ रिवोल्ट, और गोदावरी परुलेकर के साथ इंटरव्यू, बंबई 1985 साथ ही देखें एस वी परुलेकर 'वारलिस', देसाई, *पीजेंट्स स्ट्रगल* में.

74

ए	बी	सी	डी	ई	एफ	जी
1939				100.00	100	100.00
1940				105.03	97	108 60
1941	359	291,054	3,330,503	111.00	107	103.70
1942	694	772.653	5,779,965	129.10	145	89.00
1943	716	525,088	2,342,287	179.60	268	67.00
1944	658	550,015	3,447,306	202.10	269	75.10
1945	820	747,530	4,054,499	210.50	269	74.90
1946	1629	1,961	12,717,762	208.00	285	73.20

ए- वर्ष.

बी- कामबंद होने की घटनाओं की संख्या.

सी- मजदूर भागीदारों की संख्या

डी- बरबाद मानव दिनों की मात्रा.

ई - उपार्जन सूचकांक.

एफ- अखिल भारतीय उपभोक्ता मूल्य सूचकांक.

जी- वास्तविक उपार्जन का सूचकांक.

स्रोत : कर्णिक, *स्ट्राइक्स इन इंडिया*, पृ. 308.

75. देखें, मास्टर हरिसिंह, *पंजाब पीजेंट इन फ्रीडम स्ट्रगल*, नई दिल्ली, 1984.
76. रोबिन जैफरे, 'इंडियाज़ वर्किंग क्लास रिवोल्ट : पुन्नप्रा वयालार एंड दि कम्युनिस्ट कांसपायरेसी आफ 1946', *आई ई एस एच आर*, वॉल्यूम 18.2, 1980, पृ. 97-122.
77. जॉर्ज, *इम्मोर्टल पुन्नप्रा वयालार*. साथ ही देखें ट्रावनकोर सरकार, गोपनीय विभाग, 774/46/ सीएस, बंडल 4/ और 731/46, बंडल 40, सैलर लाइब्रेरी, सेक्रेटेरिएट, त्रिवेंद्रम
78. देखें जॉर्ज, *इम्मॉर्टल पुन्नप्रा वयालार*, विशेषकर पृ. 89-90.
79. सरकार, माडर्न इंडिया, पृ. 414. साथ ही देखें, चट्टोपाध्याय 'दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन', पृ. 428, और देसाई, 'इंट्रोडक्शन', पृ. ii.
80. भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, *मार्च 1940 से सितंबर 1946 : कांग्रेस, ए आई सी सी और कार्य समिति द्वारा पास संकल्प*.
81. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 27 दिसंबर 1945 और वाइसरॉय से सम्राट जॉज VI, 31 दिसंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 688 और 713.
82. सरकार, *मार्डन इंडिया*, पृ. 682; बंगाल गवर्नर से वाइसरॉय, 4 दिसंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ 598.
83. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 5 दिसंबर 1945, वही, पृ. 604.
84. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 5 दिसंबर 1945 और 27 फरवरी 1946, वही, पृ. 603 और 1076.
85. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 5 दिसंबर 1945, वही, पृ. 602.
86. *अमृत बाजार पत्रिका*, 5 मार्च 1946.
87. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 83, पृ. 171, 173, 183-84. हड़ताली नाविकों का जो शिष्टमंडल गांधी से मिलने गया उसमें वाई. केशव मैनन भी थे. मैनन के अनुसार गांधी ने कहा : 'इस देश में अनुशासन के कुछेक क्षेत्र ही शेष रह गए हैं. केशु और मैं नहीं चाहते कि कोई इन्हें नष्ट करे.' टेपरिकार्डिंग की नकल, एस 12, कैंब्रिज साउथ एशिया आरकाइव, कैंब्रिज.

अध्याय पांच

साम्राज्यवादी आधिपत्य और उपनिवेशवादी नीति

युद्ध की समाप्ति के समय यह बात काफी साफ हो गई थी कि राष्ट्रवादी ताकतों ने भारतीय समाज पर आधिपत्य की लड़ाई जीत ली है। ब्रिटिश शासकों ने हिटलर के खिलाफ युद्ध जीत लिया लेकिन वे भारत में हार गए। राष्ट्रीय आंदोलन के आगोश में ऐसे-ऐसे क्षेत्र आ गए जहां राज की छाया तक नहीं पहुंच सकती थी। अभी तक गैर-राजनीतिक रहे क्षेत्र और समूह भी आई एन ए मुकदमों को लेकर आंदोलन में शेष देश के साथ जुड़ गए थे। सशस्त्र सेनाओं और नौकरशाही से लोगों ने खुलेआम सभाओं में भाग लिया, चंदा दिया, कांग्रेस को वोट दी। राजनीतिकृत वर्गों की मिलिटेंसी 1942 के वीरतापूर्ण कार्यों तथा आई एन ए और आर आई एन लोगों का साथ देने में छात्रों और दूसरे लोगों की निडरता में उजागर हुई। राष्ट्रवादी आंदोलन की सफलता राष्ट्रवादी भावना के प्रसार के रूप में देखी जा सकती है।

दूसरी ओर ब्रिटिश अधिकारियों के गिरते मनोबल और भारतीय अधिकारियों और निष्ठावानों की बदलती निष्ठा को देखा जा सकता है। यह भी एक दूसरे तरीके से राष्ट्रवादी सफलता को उजागर करती है। अपने इस रूप में राष्ट्रवाद अंग्रेजों को खदेड़ देने वाली विजेता ताकत के रूप में नहीं आता। हम देखते हैं कि किस प्रकार राष्ट्रवादी आंदोलन ने साम्राज्यवादी आधिपत्य को नष्ट किया, उपनिवेशवादी ढांचे के स्तंभों को खोखला किया और ब्रिटिश राजनीतिक रणनीति को अंतर्विरोधों की अव्यवस्था बनाकर छोड़ दिया।

इसमें शक नहीं कि अपना शासन कायम रखने और विरोध को कुचल देने की वहशी ताकत अंग्रेजों के पास थी। लेकिन शासन ने कुचलने की कार्रवाई अकसर नहीं की। ऐसा कर सकने की उसकी क्षमता का डर ही विद्रोह को काबू में करने के लिए काफी था। इसलिए अंग्रेजों ने एक बड़ी, अनुशासित, सक्षम और निष्ठावान सेना रखना ही उचित समझा। आखिरकार सशस्त्र सेना ही ब्रिटिश हितों की रक्षा की गारंटी बन सकती थी। लेकिन अपने शासन और साम्राज्यवादी आधिपत्य को बनाए रखने के लिए उन्होंने कई तरह के विचारात्मक उपकरणों का सहारा भी लिया। यदि इस नजरिए से देखा जाए तो 'भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासन ग्राम्शियन अर्थ में आधिपत्यवादी अथवा अर्ध-आधिपत्यवादी शासन था।' इसकी अर्ध-आधिपत्यवादी नीवों को ब्रिटेनिका विचाराधारा, कानून और व्यवस्था, जनता के माई-बाप ब्रिटिश अधिकारियों तथा विचारात्मक, कानूनी, न्यायिक और प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़ी संस्थाओं ने मजबूत बनाया — विचारात्मक

MELANCHOLY MATHEMATICS



वर्मा के प्रस्ताव पर श्री एटली का बयान सुनने के बाद चर्चिल ने कहा कि क्या निकट भविष्य में श्री एटली सदन को 'मनहूस लेनदेन' पर बहस के लिए अवसर देंगे?

स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 30 जनवरी 1947

शासनतंत्र ने इन उपनिवेशवादी विचाराधाराओं के सक्रिय प्रबंधक के रूप में कार्य किया।[1]

ब्रिटिश शासन की जड़ें गहरी होने संबंधी धारणा, धीरता के प्रभावमंडल और राज की आम प्रतिष्ठा ने साम्राज्यवादी आधिपत्य को बरकरार रखने में मदद की। राज की प्रतिष्ठा उसके 'स्टील फ्रेम', इंडियन सिविल सर्विस और विशेष रूप से जिला अधिकारी के कारण थी जो देहात में हुकूमत का प्रतीक था। 'उप महाद्वीप में ब्रिटिश शासन ने 'हितैपी तानाशाही' का रूप धारण किया। उसके केंद्र में इंडियन सिविल सर्विस का स्टील फ्रेम तथा विशेष रूप से स्वयं जिला अधिकारी था जो भारत के देहात में अपने आप में सरकार था ...'[2] बराबर यह दिखाया जाता रहा कि राज का तख्ता पलटने की कोई भी कोशिश बेकार है। इससे उसकी प्रतिष्ठा बनी जिसने सशस्त्र ताकत के रूप में ब्रिटिश शासन को बनाए रखने में मदद की।

'अर्ध-आधिपत्यवादी नीवों' पर टिके इस तरह के शासनतंत्र के लिए राजनीतिक क्षेत्र में नीतियां बनाना जरूरी था। शासन के लिए एक विश्वसनीय सामाजिक आधार बनाना जरूरी था। साथ ही साम्राज्यवाद विरोधी ताकतों की समाज तक पहुंच और उनके प्रभाव पर अंकुश लगाना जरूरी था। देश को चलाने के लिए 'देशी देस्तों' का सक्रिय सहयोग लिया गया। इसके लिए कई तरह की तकनीक अपनाए गए। कहीं नौकरियां और हैसियतें बांटी गईं तो कहीं निष्ठावान और उदार तबकों की 'वैध' राजनीतिक मांगों पर रियायतें दी गईं।

ब्रिटिश विरोधी असंतोष को बढ़ने से रोकने के लिए उसे राजनीतिक सुधारों द्वारा तैयार किए गए सांविधानिक क्षेत्रों तक सीमित कर दिया गया। साम्राज्यवाद विरोधी ताकतों की मांगों के दबाव में आकर उन्हें सांविधानिक रियायतें बराबर दी जाती रहीं। राष्ट्रवादी आंदोलन की एकता को भंग करने के लिए विभाजनकारी तरकीबें इस्तेमाल की गईं। सांप्रदायिक क्षेत्र में ये तरकीबें खूब चली थीं। वामपंथी और दक्षिणपंथी गुटों में दरार पैदा करने की कोशिश की गई। इसके लिए कभी संविधानवाद द्वारा कांग्रेस के नरम गुट को साथ ले लिया तो कभी उग्रवाद को आगे बढ़ने दिया ताकि नरमपंथी डर कर कोई समझौता कर लें। प्रांतीय मंत्रिमंडलों[3] के दौरान तथा 1936-37 में नेहरू के बगावती भाषणों के बावजूद उन्हें गिरफ्तार न करने के पीछे यही उम्मीद काम कर रही थी।[4]

ऐसा शांति के समय होता था। लेकिन जब कांग्रेस सरकार के खिलाफ पूरा युद्ध छेड़ती थी जैसा कि उसने 1920-22, 1930-32 और 1942 में किया तो अलग रुख अपनाया जाता था। ऐसे मौकों पर भी दमन तुरंत और सबका नहीं किया जाता था। विचार-विमर्श के बाद इस बारे में निर्णय लिया जाता था। कुल मिलाकर जन आंदोलनों से भी सांविधानिक तरीके से निपटा जाता था। ताकत के नग्न प्रदर्शन से हमेशा बचा जाता था, क्योंकि इससे कड़वाहट पैदा होती। साथ ही इसकी वजह से समाज के उदार वर्ग विमुख हो जाते और प्रशासन के कुछ लोग राष्ट्रवादी शिविर में चले जाते। इसमें शक नहीं कि

जब दमन किया जाता था तो बहुत वहशी तरीके से और बड़े पैमाने पर किया जाता था। लेकिन राजनीतिक घटनाक्रम और राजनीतिक संकट से निपटने के लिए अंग्रेज सांविधानिक तरीकों को ही तरजीह देते थे। इस प्रकार ब्रिटिश नीति सामान्यत: संविधानवाद की ही थी। दमन बहुत आवश्यक होने पर और वह भी उग्रवादियों का किया जाता था।[5]

युद्ध के समाप्त होने पर अंग्रेजों ने 1942 के बाद की अपनी स्थिति पर विचार किया। उन्हें यह स्पष्ट हो गया था कि उनके शासन की आधिपत्यवादी नीवें बहुत तेजी से दरक रही हैं। पुराने निष्ठावादी छोड़कर जा रहे हैं और आई सी एस टूटने के कगार पर है। लेकिन असंतोष की गड़गड़ाहट और राष्ट्रवादी ताकतों के लिए सहानुभूति के बावजूद सेना को उस समय सुरक्षित समझा गया। ब्रिटिश शासन के लिए लोगों की आम सहमति कम हो रही थी। 1942 के आंदोलन के सेना द्वारा और खुले आम दमन से यह सहमति तेजी से कम हुई। देश का उदार मत भी धीरे-धीरे अंग्रेजों से हटकर राष्ट्रवादी ताकतों की ओर जा रहा था। सपरु 1920 के दशक के शुरू में असहयोग आंदोलन के दौरान वाइसरॉय की कौंसिल में थे। उन्होंने भी इस बात पर दु:ख व्यक्त किया कि आमरे और लिंलिथगो जैसे अधिकारियों की वजह से ब्रिटिश नीति कितने गर्त में चली गई है। 1943 में जब गांधी उपवास पर गए तो सपरु, जयकर और दूसरे लोगों ने उनकी रिहाई की पुरजोर मांग की। बाद में उन्होंने राष्ट्रीय नेताओं की रिहाई और राष्ट्रीय सरकार के गठन की मांग की :

> मौजूदा वाइसरॉय ... में सोचने की शक्ति बिलकुल भी नहीं है ... लिंलिथगो के बारे में मेरा यही विचार है। आमरे के बारे में मेरा यह मानना है कि 1858 से किसी भी विदेशमंत्री ने इतना नुकसान नहीं किया जितना कि इसने किया है ... मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि दिल्ली और व्हाइटहॉल में लोगों को बदले बगैर भारत-ब्रिटिश संबंधों को ठीक नहीं किया जा सकता है।[6]

निष्ठावादी उलझन में थे। ब्रिटिश शासन के अंतर्भूत न्याय अथवा उसकी अपराजेयता में उनका विश्वास नहीं रह गया था। 1942 का दमन, फरवरी 1943 में गांधी को रिहा न करने की सरकार की जिद और आई एन ए मुकदमों को जारी रखने की हठ ने निष्ठावादियों की भावनाओं को चोट पहुंचाई थी। इसके अतिरिक्त 1930 के दशक के मध्य में किए गए समझौतों के कारण अंग्रेजों की ताकत में उनका विश्वास टूटा था। 1945 में यह विश्वास और भी कम हुआ जब सरकार ने अपने विरोधियों को खुश करने की नीति अपनाई, जब जनता के भारी दबाव के कारण आई एन ए सैनिकों को कड़ी सजा देने का विचार छोड़ दिया गया और जब कांग्रेस नेताओं के हिंसक भाषणों को अधिकारी बेबस होकर सुन रहे थे।[7] वावेल के अनुसार गैर सरकारी निष्ठावादियों को अपनी सुरक्षा के मामले में अंग्रेजों की इच्छा और क्षमता पर संदेह था। वावेल ने विदेश सचिव को बताया कि बातचीत की संभावना को खुला रखकर वे जोखिम उठा रहे हैं। 'इस देश में ऐसे बहुत से अनुभवी

अधिकारी हैं जिनका यह मानना है कि हमारी नीति बहुत कमजोर है। इससे निश्चय ही नियंत्रण खत्म होगा।'[8]

शासन चलाने और सुधार कार्य करने के लिए सरकार निष्ठावादियों की सक्रिय सहायता पर आश्रित रहती थी। योग्य और विश्वासपात्र निष्ठावादियों की घटती संख्या से बहुत बड़ी समस्या पैदा हो रही थी। वावेल और लिंलिथगो एक्जीक्यूटिव कौंसिल में भारतीय सदस्यों की कम योग्यता और प्रतिष्ठा का अकसर रोना रोते थे। 1940 में ही तत्कालीन वाइसरॉय ने यह समझ लिया था कि केवल कांग्रेस-लीग कौंसिल में दम हो सकता है। इसके एक्जीक्यूटिव कौंसिल के भारतीय सदस्यों पर भरोसा नहीं किया जा सकता। यह फरवरी 1943 में गांधी के 21 दिन के उपवास के सवाल पर वाइसरॉय की एक्जीक्यूटिव कौंसिल के तीन सदस्यों के इस्तीफे से स्पष्ट है।[9]

1943 में सिविल सेवा टूटने के कगार पर पहुंच गई थी। आई सी एस में कम भर्ती की समस्या पहले विश्वयुद्ध के समाप्त होने के साथ ही शुरू हो गई थी। दूसरे विश्वयुद्ध तक आते-आते यह समस्या बहुत गंभीर हो गई थी। 1939 में इस सर्विस के ब्रिटिश और भारतीय सदस्यों की संख्या बराबर हो गई थी। पहले इस संतुलन को बनाए रखने के लिए भर्ती बंद की गई। बाद में 1943 में यह भर्ती पूरी तरह से बंद कर दी गई। अगस्त 1945 में ब्रिटिश अधिकारियों की संख्या घटकर 522 रह गई और भारतीय अधिकारियों की संख्या बढ़कर 524 हो गई। इसके अतिरिक्त इस सर्विस में अब केवल उच्च वर्ग के परिवारों के ऐसे ऑक्सब्रिज स्नातक ही नहीं होते थे जिनके पिता और चाचा 'ओल्ड इंडिया हैंड' होते थे और जो भारत के 'नासमझ आवाम' पर ब्रिटिश शासन की नियति में विश्वास करते थे। इसमें ग्रामर स्कूलों और पॉलिटेकनिकों के लड़के आने लगे थे। वे अपने कैरियर के लिए राज की सेवा करते थे किसी मिशन के लिए नहीं।

युद्ध के बाद 'तुरंत पैदा हुई जरूरत' को पूरा करने के लिए सेना से अधिकारी लिए गए। इस बार सर्विस रिक्रूटमेंट स्कीम की भारतीयों ने यह कहकर कड़ी आलोचना की कि यह भर्ती विदेशमंत्री द्वारा की जा रही है और यूरोपियनों के लिए 'बैक डोर एंट्री' है। प्राधिकारियों ने इस बात को स्वीकार किया कि विदेशमंत्री द्वारा भर्ती राजनीतिक दृष्टि से सही नहीं है और अंतत: छोड़कर चले जाने वाले ब्रिटिश अधिकारियों के बजाए 'टिकने वाले भारतीय अधिकारियों को रखना बेहतर होगा।'[10]

अधिकारियों की कम संख्या, उन पर भारी बोझ और घर से काफी लंबे समय तक दूर रहने के कारण आई सी एस 1945 तक आते-आते बहुत कमजोर मशीनरी बन गई थी। वाइसरॉय ने विदेशमंत्री को लिखा कि 'युद्ध के दौरान सर्विस बहुत तनाव में रही है। अब उसे विश्राम की बहुत जरूरत है।' यू.पी. के गवर्नर ने भी इस बात को माना कि जिला अधिकारियों पर 'काम का बहुत बोझ है।'[11] युद्ध के बाद भी मार्गों पर बहुत भीड़ थी। आने-जाने के लिए सेनाओं को तरजीह दी जाती थी। इसलिए सिविलियन और उनके

परिवार छुट्टी पर घर नहीं जा सकते थे। अक्तूबर 1945 के शुरू में वाइसरॉय ने बताया कि समुद्र मार्गों की कमी के कारण ब्रिटिश सिविल अधिकारी छुट्टी पर घर नहीं जा सकते। इससे उनका मनोबल गिरा है। लेकिन चार महीने बाद भी स्थिति नहीं सुधरी तो वाइसरॉय ने चेतावनी दी कि यदि विशेष व्यवस्था नहीं की गई तो 'ऐसे समय सेवा का मनोबल गिर जाएगा जबकि उसे सबसे ऊंचा होना चाहिए।'[12]

लेकिन आई सी एस के कमजोर होने का मुख्य कारण जनशक्ति की कमी नहीं था (पॉटर ने भारतीय राजनीतिक घटनाक्रम को अलग रखकर इसे 'स्वायत्त' कारण माना है) बल्कि इसकी प्रतिष्ठा और प्राधिकार का धीरे-धीरे कम होना था। बढ़ती हुई राष्ट्रवादी ताकतों को कभी समझौते और कभी दमन द्वारा नियंत्रित करने की कोशिश की गई। इस नीति के कारण आई सी एस का प्राधिकार कम होता गया। राष्ट्रवादी आंदोलन में अहिंसक जन आंदोलन और सांविधानिक सुधारों की रणनीति को अपनाया गया। यह रणनीति आई सी एस पर बहुत भारी पड़ी। सरकार ने जब भी अहिंसक आंदोलन का दमन किया उसकी नंगी ताकत उजागर हो गई। यह सरकार के समर्थकों को अच्छा नहीं लगता था। इसके विपरीत जब उसने बगावत को नहीं कुचला अथवा शांति कायम की (उदाहरण के लिए गांधी-इर्विन समझौता) अथवा गवर्नमेंट आफ इंडिया ऐक्ट द्वारा प्रांतीय स्वायत्तता दी तो उसे इसकी कमजोरी और काबू रखने में नाकामयाब माना गया। इससे उसके प्राधिकार और प्रतिष्टा को धक्का लगा।[13]

सर्विस इधर या उधर कोई साफ़ नीति चाहती थी। लेकिन राजनीतिक लक्ष्य सर्वोपरि हो गए थे। जिसकी वजह से प्रशासनिक मशीनरी खराब हो गई। समझौते और दमन की नीति के अंतर्विरोध साफ हैं। नीति स्पष्ट होने पर ही निर्णायक कार्रवाई की जा सकती है। दुतरफा नीति समस्या ही पैदा करती है विशेषकर उस स्थिति में जब दोनों नीतियां एक नौकरशाही द्वारा लागू की जानी हों।[14] 1930 के दशक के मध्य में नौकरशाही के सामने ऐसी ही उलझन थी। जिन अधिकारियों ने कांग्रेस के नेतृत्व वाले अवज्ञा आंदोलन का दमन किया था और नेताओं को नजरबंद किया था उन्हें इन्हीं नेताओं के अधीन काम करने की नौबत आ गई। 1939 में प्रांतीय मंत्रिमंडलों के गठन से यही होने वाला था। बाद में आठ प्रांतों में यह संभावना हकीकत बन गई।[15]

यह बात अकसर मानी नहीं जाती लेकिन जन आंदोलन की तरह संविधानवाद ने भी सर्विस का मनोबल तोड़ा। 1937-39 में मंत्रिमंडलों का अनुभव तो यही बताता है।[16] चुनाव होते ही पुलिस अधिकारियों का तिरस्कार शुरू हो गया। जो पुलिसमैन और खुफिया अधिकारी राजनीतिक बैठकों को कवर करने के लिए आते थे उन्हें इससे बाहर निकाल दिया जाता था।[17] देश के कुछ हिस्सों में कांग्रेस संगठन सरकारी प्रशासन के समांतर सत्ता के केंद्र बन गए। कांग्रेस का वामपंथी वर्ग उन्हें ही लगान दिए जाने की हिदायत देता था, कृषि संबंधी विवादों को निपटाता था और कांग्रेस पंचायतें बैठाता था।[18] लोगों ने मद्रास

के ब्रिटिश मुख्य सचिव को खादी पहने हुए देखा। लोगों ने यह भी देखा कि किस प्रकार बंबई का राजस्व सचिव राजस्व मंत्री मोरारजी देसाई के साथ अपने दौरे में अपने प्रथम श्रेणी डिब्बे से मंत्री के तृतीय श्रेणी के डिब्बे की तरफ दौड़ लगाता था ताकि माननीय मंत्री को प्रतीक्षा न करनी पड़े।[19] भारतीय अधिकारियों में अनिष्ठा तो नहीं थी लेकिन 'राज' के प्रति निष्ठा का जो प्रदर्शन किया जाता था उसके स्थान पर अब 'देशभक्ति का प्रदर्शन किया जाने लगा और नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान जेल में बंद रिश्तेदारों को छोड़ने के लिए होड़ लग गई।'[20]

कांग्रेस के एक बार सत्ता में आने के बाद अधिकारी इस बात को बहुत महत्व देने लगे कि वह दोबारा सत्ता में आ सकती है। बंबई के गवर्नर के अनुसार ' सभी भारतीय अधिकारियों के मन में यह बात रहती थी कि एक दिन कांग्रेस सत्ता में आएगी।'[21] हालेट के अनुसार, पंत द्वारा सेवा की निंदा का उद्देश्य 'वर्तमान शासन को बदनाम करना और अधिकारियों को यह याद दिलाना था कि कांग्रेस फिर उनकी मालिक बन सकती है। मुझे आगे इस बारे में ही पेरशानी नजर आ रही है ...'[22] सितंबर 1939 में मंत्रिमंडलों द्वारा त्यागपत्र दिए जाने के समय से ही कांग्रेस को सत्ता में लाने के लिए बातचीत शुरू हो गई थी। यह सिलसिला अगस्त 1940 में प्रस्ताव को रद्द किए जाने तक चलता रहा। बाद में क्रिप्स प्रस्ताव के साथ प्रांतीय मंत्रिमंडलों की संभावना फिर पैदा हो गई। दंड और पुरस्कार की इस दोहरी नीति ने अधिकारियों की उलझन और बढ़ा दी।

1939 में युद्ध शुरू होने और कांग्रेस मंत्रिमंडलों के इस्तीफे के साथ मनोबल गिरने का यह क्रम समाप्त हुआ। अधिकारियों को पहल करने का अधिकार फिर मिला।[23] लेकिन मजबूत नीति और अधिकारी शासन की वापसी से थोड़े समय के लिए ही राहत मिली। बहुत से अधिकारियों ने नागरिक अवज्ञा आंदोलन के दौरान आयोजकों को गिरफ्तार करने में हिचकिचाहट दिखाई। यू.पी. के गवर्नर ने इस हिचकिचाहट को इस प्रकार स्पष्ट किया है :

> कांग्रेस शासन के दौरान अधिकारी कांग्रेस कार्यकर्ताओं के सपंर्क में आए और संभवत: उनके दोस्त बन गए। अत: उनके द्वारा अपने पूर्व मित्रों के खिलाफ कार्रवाई न किया जाना स्वाभाविक है। इसके अलावा उन्हें डर था कि यदि कांग्रेस फिर सत्ता में आई तो उनका क्या होगा।[24]

भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान पुलिसमैनों और जिला अधिकारियों पर हमलों और उनकी हत्या तथा थानों को जलाए जाने की घटनाओं ने जिला अधिकारियों को मुश्किल हालात में डाल दिया। कुछ इलाकों में निहायत नरम कार्रवाई की गई क्योंकि अधिकारी कांग्रेसियों को नाराज नहीं करना चाहते थे या उनके साथ अप्रकट सहानुभूति रखते थे।[25] दूसरे मामलों में अंतिम उपाय के रूप में दमन बहुत बेदर्दी से किया गया। बाद में यू.पी. के गवर्नर ने

1942 में 'बेदर्दी से दमन की बात स्वीकार की।' यह बात 1946 में प्रकाश में आई। 'इसे किसी भी प्रकार से उचित नहीं ठहराया जा सकता।'[26] इस अनावश्यक दमन को छिपाने के लिए वाइसरॉय ने यह घोषणा की कि कार्यपालिका की किसी भी कार्रवाई की जांच नहीं की जाएगी।[27]

1944 के मध्य में यह साफ हो गया था कि युद्ध, भारत सुरक्षा कानून और नजरबंदियों के बावजूद संविधानवाद वापस आ रहा है। गांधी को भले ही स्वास्थ्य के आधार पर रिहा किया गया हो, लेकिन उनकी रिहाई से यही संकेत मिलता था। फरवरी 1943 में इसी सरकार ने उनके दाह-संस्कार की तैयारी कर ली थी। कांग्रेस पर प्रतिबंध लगा था। इसके बावजूद कांग्रेसियों की सभाएं बुलाई गईं। निर्माण कार्य द्वारा एक मशीनरी तैयार की गई जिसे 1945 के मध्य में कांग्रेस के पुनर्गठन का आधार बनाया गया। विभिन्न राजनीतिक मंचों से सभी राजनीतिक वर्गों ने एक स्वर में दो मांगें कीं - नेताओं की रिहाई और राष्ट्रवादी सरकार का गठन। जिला अधिकारी इस घटनाक्रम और बाद में नेताओं की रिहाई, चुनावों की घोषणा और बहुत से प्रांतों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के गठन की बढ़ती हुई संभावनाओं को चुपचाप देखते रहे।

युद्ध से थकी-मांदी, 1942 के आंदोलन से बेहाल नौकरशाही पर शांतिकालीन संविधानवाद को लागू करने की जिम्मेदारी आने वाली थी। दमन की नीति के बाद संविधानवाद की नीति के कारण प्रशासन के लिए बहुत बड़ी समस्या खड़ी हो गई थी। 1945 में दमन और समझौता बड़ी समस्या बनने वाले थे क्योंकि जेल से रिहा कांग्रेसी 1942 के गड़े मुर्दों को उखाड़ने का पूरा इरादा बना चुके थे। दमन के शिकार और अपना जीवन गंवाने वालों की शहीदों के रूप में जय-जयकार की जाती थी और दमन करने वाले अधिकारियों की उनके कुकृत्यों के लिए नाम लेकर निंदा की जाती थी। इस विषय पर भाषणों और उन्हें रोकने में सरकार की नाकामयाबी से सर्विस के मनोबल पर बहुत बुरा असर पड़ा। सरकारी कार्रवाई की जांच के लिए बढ़ती मांग से अधिकारी भयभीत थे।[28]

अगामी चुनावों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के सत्ता में आने विशेष रूप से उन प्रांतों में सत्ता में आने की पूरी उम्मीद थी जहां बड़े वहशी तरीके से दमन किया गया था। सर्विस को डर था कि लिंलिथगो के वचन के बावजूद जांच होगी। जांच का सवाल 'बहुत बड़ा मुद्दा' समझा जाता था। यह मुद्दा प्रांतीय मंत्रिमंडलों के बनते ही पैदा होने वाला था। इसे कांग्रेस के साथ 'सौम्य करार' के द्वारा ही समाप्त किया जा सकता था।[29]

गत वर्षों के दौरान ब्रिटिश स्थिति पर राष्ट्रवादी आंदोलन के प्रभाव पर चर्चा करने के बाद अब हम युद्ध के बाद छह महीनों में ब्रिटिश नीतियों पर जन राष्ट्रवादी गतिविधि और 'जन आंदोलनों' के प्रभाव का जायजा लेंगे। जैसा कि पहले कहा है ब्रिटिश नीति लंबे समय की जरूरतों, अतीत के जायजे और संभावित भावी घटनाओं को ध्यान में रखकर बनाई जाती थी। नीति बनाते समय हाल ही की किसी एक घटना को ध्यान में नहीं रखा

जाता था। इसके विपरीत अपेक्षित लक्ष्य प्राप्त करने लिए अल्पकालिक दबावों को नजरंदाज कर दिया जाता था। उदाहरण के लिए 1945 में 'बगावत' के खिलाफ अपनी उदार नीति का खुलासा करते हुए गृह विभाग ने कहा कि प्रांतीय मंत्रिमंडलों की स्थापना के व्यापक हित को देखते हुए यह जोखिम उठाना जरूरी है।[30] इसके अलावा शांति भंग होने की किसी भी अचानक आशंका के मामले में सरकार दमन का सहारा लेती थी। इसे वह कानून और व्यवस्था की समस्या मानती थी। जन लहरों का कड़ा दमन, सेना का तुरंत प्रयोग, अंधाधुंध फायरिंग, नौसेना नाविकों को कड़ी चेतावनी, रॉयल नेवीशिप बुलाना और जहाजों की घेराबंदी तथा सेना द्वारा फायरिंग की सहायता से आत्मसमर्पण के लिए मजबूर कर दिया जाना इसके उदाहरण हैं।

1945 में भी दमन का पूरा सामान सुरक्षित था। यह आर आई एन नाविकों के खिलाफ भारतीय सेना के उपयोग और आर आई एन हड़तालों के सशस्त्र सेनाओं के विद्रोह में न बदलने से जाहिर होता है। नाविकों को आत्मसमर्पण के लिए मजबूर करने का सरकार का पक्का इरादा वाइसरॉय के इस कथन से स्पष्ट होता है कि केवल बगैर शर्त समर्पण मंजूर किया जाएगा, एडमिरल लॉकहार्ट के पास बहुत फोर्स है और यदि जहाजों से गोली चली तो उन्हें डुबा दिया जाएगा। कराची में जहाजों से फायरिंग द्वारा जबरन आत्मसमर्पण कराया गया। इसमें आठ आर आई एन नाविक मारे गए। बंबई में नौसेना अधिकारियों ने नाविकों को चेतावनी दी कि केवल बगैर शर्त आत्मसमर्पण स्वीकार किया जाएगा और आठ जहाजों का नौसेना बेड़ा बंबई की ओर आ रहा है। वाइसरॉय ने भी दमन करने वाले बल की विश्वसनीयता को प्रमाणित किया।[31] दीर्घकालिक आग्रहों के ढांचे में तत्कालीन स्थिति और राजनीतिक घटनाक्रम दबाव का काम करता था। इसकी वजह से नीतियों में संशोधन और कभी-कभी आंशिक परिवर्तन भी किया जाता था। कांग्रेस के पीछे बहुत बड़ी ताकत खड़ी हो गई थी। आई एन ए के प्रति उन वर्गों में भी सहानुभूति पैदा हो रही थी जो अब तक राष्ट्रवादी आंदोलन के बाहर थे जैसे कि उदारवादी, निष्ठावादी, सिविल सेवक, सेना आदि। 1942 के आंदोलन से कांग्रेस की वाहवाही और अपराधियों के खिलाफ कार्रवाई की धमकी से सिविल सेवकों का मनोबल गिर रहा था। अफसर लोग बड़ी चिंता के साथ यह सब देख रहे थे। इससे ब्रिटिश नीति में भी परिवर्तन हुआ। आई एन ए मुद्दे पर पीछे हटते हुए पहले केवल उन लोगों पर मुकदमे की बात की गई जो वहशीपन के लिए सीधे-सीधे जिम्मेदार थे। फिर पहले ही मुकदमों में सजा कम कर दी गई। 1942 की कार्रवाई की जांच के मुद्दे पर भी कई बार रुख पलटा गया। लिंलिथगो ने कहा कि जांच नहीं की जाएगी। वावेल ने सिविल सेवकों को सामान्य भरोसा दिलाया। फिर जांच को टालने के लिए कांग्रेस के साथ 'सौम्य करार' की बात कही गई। अंत में वावेल ने नेहरू से वायदा किया कि वह खुद मामले को देखेगा और दोषी अधिकारियों को रिटायर होने के लिए कहेगा।

इसमें शक नहीं कि तात्कालिक राजनीतिक स्थिति ने ब्रिटिश नीतियों को प्रभावित किया। लेकिन वामपंथी इतिहासकारों का यह कहना सही नहीं लगता कि उनके द्वारा फोकस की गई जन लहरों के कारण अंग्रेजों ने अपनी नीतियों में ठोस परिवर्तन किए जैसे कि आई एन ए मुकदमों का विचार त्यागना, इंडोनेशिया से भारतीय सेनाओं को वापस बुलाना, संसदीय शिष्टमंडल भेजना और बड़े परिवर्तन जैसे कि कैबिनेट मिशन भेजना। ये सब कार्य अन्य आग्रहों और दबावों के कारण किए गए।

जैसा कि हमने देखा आई एन ए के सवाल पर नीति परिवर्तन बहुत धीरे-धीरे हुआ और इसका कारण नवंबर 1945 के हिंसक उपद्रव नहीं थे। वास्तव में आई एन ए बंदियों की रिहाई की मांग को (उदारवादियों और निष्ठावादियों सहित) सभी का जबर्दस्त समर्थन मिला। यह देश भर में चलाए गए शांतिपूर्ण जन अभियान से स्पष्ट है। नीति परिवर्तन में इस अभियान ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। कमांडर-इन-चीफ का यह मानना था कि यदि किसी को फांसी दी गई तो '1921 और 1942 से भी गंभीर उपद्रव हो सकते हैं।'[32] इस बारे में जब नीति बनाई जा रही थी तो गृह विभाग के कुछ अधिकारियों ने खुले आम और खास तौर पर लाल किले में मुकदमे चलाए जाने के खिलाफ मत व्यक्त किया। सी पी के गवर्नर ने आई एन ए के लोगों पर दिल्ली में मुकदमे की 'गलती' का जिक्र किया है।[33]

सरकार को यह गलत उम्मीद थी कि जब जनता को यह पता चलेगा कि आई एन ए के लोग जापानियों से बचने के लिए कायर की तरह आई एन ए में शामिल हो गए और उन्होंने किस प्रकार निष्ठावान युद्धबंदियों पर अत्याचार किए तो वह उनके खिलाफ हो जाएगी। विदेशमंत्री का यह मानना था कि केवल वहशीपन के दोषियों को सजा देने से 'कांग्रेस की आलोचना की हवा निकल जाएगी।' वाइसरॉय ने कहा कि 'कोर्ट मार्शल शुरू होने पर लोगों को भी धक्का लगेगा।'[34] सरकार राजनीतिक पार्टियों द्वारा इस मुद्दे को उछाले जाने से पहले अपनी स्थिति का प्रचार नहीं कर सकी।[35] कुछ अधिकारियों ने शुरू से ही इस संबंध में संदेह व्यक्त किए। फैसला करने वाले प्राधिकारी अब उनकी सत्यता को स्वीकार कर रहे थे।

गृह सदस्य ने आई एन ए लोगों के प्रति सरकार की नीति की कमियों और गलतियों का ब्योरा दिया है।[36] सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि अपने राजनीतिक निहितार्थों के बावजूद यह सेना का मामला था और सेना के आम सिपाही तथा भारतीय अफसर उदारता दिखाए जाने के पक्ष में थे। पहले यह उम्मीद और विचार था कि सेना का मनोबल बनाए रखने के लिए कड़ी सजा देना जरूरी है। यह भी उम्मीद थी कि सेना इसका स्वागत करेगी। लेकिन यह सब गलत साबित हुआ। 2 नवंबर 1945 को कमांडर-इन-चीफ का तर्क था कि भारतीय सेना का बहुमत आई एन ए लोगों को सजा देने के पक्ष में है। लेकिन 24 नवंबर 1945 को उसने सिफारिश की कि केवल 'वहशीपन के मामलों' में ही मुकदमे चलाए जाएं क्योंकि सेना में आम राय उदारता के पक्ष में है।[37] अंत में महामहिम की सरकार

ने इस आधार पर उदारता की परिवर्तित नीति को स्वीकार कर लिया कि यह सेना की अखंडता और अनुशासन के हित में है।[38]

इंडोनेशिया में भारतीय सेनाओं के प्रयोग की स्वयं वाइसरॉय ने कड़ी आलोचना की थी। इसने उन्हें वापस बुलाने की भी मांग की। सैनिकों की कमी को देखते हुए विदेशमंत्री ने इसमें अपनी असमर्थता व्यक्त की। लेकिन उसने इन्हें यथासंभव जल्दी वापस बुलाने का वायदा किया। उसने वाइसरॉय की कड़ी प्रतिक्रिया की जानकारी सेना प्राधिकारियों को दी। इसलिए सेना वापस बुलाने के मुद्दे का उस समय बने दबाव से कुछ लेना देना नहीं था।[39]

संसदीय शिष्टमंडल भेजने के फैसले की शुरुआत 1945 के आरंभ में ही हो गई थी। वायु मार्ग उपलब्ध न होने के कारण उस समय इसे नामंजूर कर दिया गया। नए विदेश सचिव ने इस मामले को फिर उठाया। शिष्टमंडल का उद्देश्य बैकवेंचर सदस्यों को भारत की कठोर वास्तविकताओं की जानकारी देना था। लेकिन प्रायोजक संबंधी कुछ तकनीकी समस्याओं के कारण इसमें विलंब हो गया। इसका एक और उद्देश्य लंदन हलकों में कृष्ण मैनन के प्रभाव को रोकना था। अमृत कौर ने क्रिप्स को इसका सुझाव दिया। भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी ने 19 नवंबर को इसे औपचारिक रूप में स्वीकार कर लिया और वाइसरॉय ने अनुमोदित कर दिया। केवल घोषणा नवंबर प्रदर्शनों के बाद की गई।[40]

इन तीन जन लहरों विशेषकर आर आई एन विद्रोह के बारे में यह कहा जाता है कि उन्होंने ब्रिटिश नीति में बड़ा परिवर्तन कराया और कैबिनेट मिशन भेजने का निर्णय लिया गया। यह माना जाता है कि रॉयल इंडियन नेवी नाविकों के फरवरी 1946 में एक विद्रोह के कारण कैबिनेट मिशन भेजना पड़ा।[41] जैसा कि हमने पिछले अध्याय में बताया है, आर आई एन विद्रोह या फरवरी के प्रदर्शनों का इस निर्णय से कुछ लेना-देना नहीं है। कैबिनेट मिशन भेजे जाने के बारे में कैबिनेट ने सरकारी तौर पर निर्णय 22 जनवरी 1946 को ही ले लिया था और 19 फरवरी की घोषणा भी एक सप्ताह पहले हो गई थी।[42] कैबिनेट स्तर का शिष्टमंडल भेजने का विचार पहले भी उठाया था - मेजर शॉर्ट ने मिलनर जैसा किंडरगार्टेन भारत भेजने का सुझाव दिया।[43] इसके बाद प्रधानमंत्री ने वाइसरॉय को एक राजनीतिक सलाहकार देने का प्रस्ताव किया। इसके लिए स्टॉक मजदूर यूनियन नेता टॉम जॉनसन के नाम की सिफारिश की गई।[44] विदेशमंत्री जानता था कि वावेल को व्हाइटहॉल के साथ सीधा संपर्क रखने वाले किसी भी सलाहकार पर आपत्ति होगी। इसलिए उसने सुझाव दिया कि कैबिनेट रैंक का कोई व्यक्ति भेजा जाए।[45] आखिरकार यह विचार बना कि एक कैबिनेट दल ही बार-बार लंदन की ओर देखे बगैर दूरगामी निर्णय ले सकता है। इसलिए तीन सदस्यों वाला कैबिनेट मिशन भेजने का निर्णय लिया गया।[46] इस प्रकार पूरा कैबिनेट मिशन भेजने की आवश्यकता इसलिए महसूस की गई क्योंकि वावेल में राजनीतिक बातचीत की उतनी काबलियत नहीं थी और संभवत: उसके विचार भी व्हाइटहॉल से नहीं मिलते थे।

कैबिनेट मिशन का महत्व इस बात में है कि महामहिम की सरकार ने बातचीत द्वारा समझौते के लिए ठोस इच्छा जाहिर की। मंत्रियों के पास निर्णय लेने के अधिकार थे और वे भारत में लंबे समय तक रहना चाहते थे। मिशन भेजा जाना ब्रिटिश नीति में कोई परिवर्तन नहीं था क्योंकि चुनाव के बाद संविधान निर्माता निकाय बनाने के लिए भारतीय सेनाओं से बातचीत के फैसले की घोषणा 19 सितंबर 1945 के बयान में ही कर दी गई थी। कैबिनेट मिशन उसी वायदे का कार्यान्वयन था।

ब्रिटिश नीति में कोई बड़े परिवर्तन की बात तो दूर इन तीन जन लहरों से आंदोलनों के प्रति नीति में भी कोई परिवर्तन नहीं हुआ। मजे की बात यह है कि कानून तथा व्यवस्था को बनाए रखने के लिए जिम्मेदार प्रांतीय प्राधिकारियों ने सेंसरशिप, युद्धकालीन अध्यादेशों को जारी रखने और कांग्रेस के चुनाव भाषणों और जन आंदोलनों की धमकियों के मद्देनजर निवारक गिरफ्तारियों की मांग तो की लेकिन गृह विभाग द्वारा विशेष रूप से पूछे जाने के बावजूद यह नहीं बताया कि भविष्य में इस प्रकार के उपद्रवों की दशा में क्या किया जाए।[47] अधिकांश प्रांतों ने उत्तर दिया कि मौजूदा व्यवस्था काफी है। एक ने पुलिस बल को उपकरणों से लैश करने और मजबूत बनाने की सलाह दी। दूसरे ने बेघर छोकरों को पकड़ने की सलाह दी।[48]

राज्यों से प्राप्त इन विचारों के आधार पर गृह विभाग ने यह निष्कर्ष निकाला कि चुनाव अवधि के दौरान आंदोलनों अथवा उग्र भाषणों के प्रति संयम की नीति को जारी रखा जाए। साथ ही यह आशा जताई गई कि आगामी बातचीत से हालात साफ हो जाएंगे। यह तर्क दिया गया कि यदि बातचीत सफल हुई तो संघर्ष टल जाएगा और यदि असफल हुई तो आंदोलन से कड़ाई से निपटने की 'सामान्य नीति जारी रहेगी।' गृह विभाग इस नतीजे पर पहुंचा कि दिसंबर से अपनाई जा रही संयम की नीति को जारी रखा जाए क्योंकि 'राजनीतिक बातचीत के लिए यह नीति आवश्यक है।' बातचीत पूरी हो जाने के बाद 'या तो सरकार के साथ संघर्ष समाप्त हो जाएगा या उससे निपटने के लिए सामान्य नीति अपनाई जाएगी।'[49]

'उपद्रवों' के इसी गृह विभाग द्वारा किए गए मूल्यांकन से एक महत्वपूर्ण बात सामने आई। यह निष्कर्ष निकाला गया कि 'उपद्रवों' के पीछे किसी संगठन का हाथ नहीं है। ये पिछले कुछ महीनों में कांग्रेस नेताओं के भाषणों से पैदा हुई विस्फोटक स्थितियों के कारण हुए। 24 फरवरी 1946 को वाइसरॉय ने प्रधानमंत्री को सूचित किया कि आर आई एन आंदोलन का बुनियादी कारण 'पिछले सितंबर से कांग्रेसी नेताओं के भाषण हैं।' गृह विभाग के अनुसार नवंबर 1945 से फरवरी 1946 के दौरान उपद्रवों का 'वास्तविक कारण' 'कांग्रेस नेताओं के भड़काने वाले भाषण और उनका लेखन था।'[50] यह निष्कर्ष भी निकाला गया कि कम्युनिस्ट पार्टी ने ये उपद्रव नहीं कराए हैं। 'निचले तबके के लोगों' के उनमें शामिल हो जाने के बाद स्थानीय कम्युनिस्टों ने केवल उनका 'प्रयोग' किया। केंद्रीय खुफिया

अधिकारी ने 28 नवंबर 1945 को कलकत्ता में रिपोर्ट दी :

> 22 तारीख की रात को सी पी आई और कांग्रेस ने और आगे गड़बड़ी को रोकने के लिए वास्तव में सक्रिय कदम उठाए। 23 तारीख को प्रभावित इलाकों में भीड़ को संबोधित करने के लिए नेताओं को भेजने का निर्णय लिया गया।[51]

यह महसूस किया गया कि कांग्रेस जैसी बड़ी पार्टियों पर अंकुश लगाए बगैर सी पी आई के विरुद्ध कार्रवाई का कोई मतलब नहीं है : 'पंजाब सरकार ने भी यह बताया है कि असली खतरा कांग्रेस से है। कांग्रेस को अपना काम करने के लिए खुला छोड़कर छोटी पार्टियों के खिलाफ कार्रवाई बेकार है।'[52]

युद्ध के बाद की राजनीति के बारे में सरकार के अध्ययन का यह निष्कर्ष था कि '1945 के आखिर में सी पी आई के स्थान पर कांग्रेस दुश्मन नं. 1 बन गई थी।'[53] सरकारी अधिकारियों का दूसरा ही विचार था। वाइसरॉय ने विदेशमंत्री को बताया कि 'कम्युनिस्ट पार्टी अथवा एम एन रॉय के सोशल डेमोक्रेटों का कोई प्रभाव नहीं है।' पंजाब के सी आई डी प्राधिकारियों ने खुफिया ब्यूरो के निदेशक को 'सब कुछ उलटा-पुलटा कर देने और कांग्रेस को बड़ा दुश्मन न मानने के खिलाफ चेतावनी दी।'[54]

1945 के आखिर और 1946 के शुरू में हालात कुछ ऐसे थे जिनमें साम्राज्यवाद विरोधी ताकतों का आधिपत्य बढ़ रहा था और ब्रिटिश आधिपत्य कम हो रहा था। साम्राज्यवादी नीति बनाते समय सामान्यतः दीर्घकालिक बातों को ध्यान में रखा जाता था। लेकिन उन हालात में कांग्रेस के नेतृत्व में एक और आंदोलन के डर ने ब्रिटिश नीति पर दबाव डाला। अंग्रेजों को अपने वायदों पर कायम रहने और अंत में उनके कार्यान्वयन के लिए बाध्य होना पड़ा। साम्राज्यवादी इतिहासकारों का मानना है कि अंग्रेज अपनी मर्जी से पीछे हटे जबकि वामपंथी इतिहासकारों का मानना है कि जन आंदोलनों ने अंग्रेजों को पीछे हटने के लिए मजबूर किया। ये दोनों ही विचार सही नहीं हैं। जैसा कि हम आगे देखेंगे वास्तविकता कुछ और ही थी।

राज के ढांचे में दरारें और साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन से निपटने में ब्रिटिश नीति की सीमाएं युद्ध की समाप्ति के समय साफ हो गई थीं। 1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा इस्तीफे के साथ ही संविधानवादी दक्षिणपंथी धड़े के सहयोजन (कॉऑप्शन) या उसके वामपंथी धड़े से अलग होने से पैदा हुई आशा भी समाप्त हो गई थी।[55] इसके अलावा 1942 में राजगोपालाचारी को छोड़कर दक्षिणपंथी धड़े के बाकी नेता पटेल, प्रसाद और कृपलानी, गांधी के आह्वान पर भारत छोड़ो आंदोलन के साथ थे।[56] 1945 के आखिर में कांग्रेसी नेताओं के भाषणों की उग्रता का जहां तक सवाल है पटेल के भाषण नेहरू के भाषणों से कम उग्र और कम बगावतपूर्ण नहीं थे। पटेल को नेहरू से अधिक ब्रिटिश विरोधी माना जाता था।[57]

राष्ट्रवादी आंदोलन ने जन आंदोलनों और मंत्रिमंडलों के दबाव के जरिए नौकरशाही के मनोबल को गिराकर उसे केवल अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित नहीं किया बल्कि उसने भारतीय सरकारी नौकरों और खास तौर पर निचले स्तर के सरकारी नौकरों और पुलिस में राष्ट्रवादी भावना पैदा करके उनकी निष्ठा और विश्वसनीयता को सीधे-सीधे प्रभावित किया।[58] 1937-39 में भी भारतीय अफसर कांग्रेस की ओर देखते थे लेकिन 1945 तक आते-आते वे अपनी राष्ट्रवादी भावना का इजहार करने लगे।[59] इस बारे में अंग्रेज यही मानते थे कि यह ढलते सूरज के बजाए उगते सूरज की पूजा करने के इस देश के लोगों के स्वभाव का ही सूचक है।[60]

1945 में राष्ट्रवादी भावना सेना तक पहुंच गई। सेना में पहले से ही घुमड़न चल रही थी। 'बहादुर जातियों' में से ध्यान से चुने गए सिपाहियों के पर्याप्त संख्या में न मिलने के कारण भर्ती नीति को उदार बनाया गया। इससे सेना में खास तौर से उसकी तकनीकी सेवाओं में राजनीतिक तत्व आने लगे। यूरोप और दक्षिण पूर्वी एशिया में युद्ध करने वाले और देशों को फासीवादी चंगुल से आजाद कराने वाले भारतीय सैनिक नए विचारों के साथ देश लौटे। जब आई एन ए बंदियों का मामला उठा तो सेना प्राधिकारियों की उम्मीद के अनुसार सेना ने सजा के लिए गुहार नहीं की। इसके विपरीत उनकी राय ढील दिए जाने के पक्ष में थी। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं फरवरी 1946 में कमांडर-इन-चीफ का विचार बदल गया था। अब उसका मानना था कि 'सभी महत्वपूर्ण सिपाही राष्ट्रवादी हैं।'[61]

व्यापक विद्रोह की स्थिति में सशस्त्र सेनाओं की निष्ठा का गंभीरता के साथ मूल्यांकन किया गया। कमांडर-इन-चीफ का मानना था कि आगे आने वाले वर्षों में उनकी विश्वसनीयता के बारे में पक्के तौर पर कुछ नहीं कहा जा सकता। लेकिन नवंबर 1945 में आई एन ए अभियान के पूरे जोरों पर होने के बाद उसने भारतीय सेना की फिलहाल विश्वसनीयता को स्वीकार किया।[62] पहले उसने भारत में अधिक ब्रिटिश सेना लगाने के लिए कहा था। लेकिन ब्रिटिश सेनाध्यक्ष ने बताया है कि उनके पास तुरंत भेजे जाने के लिए फालतू सेना नहीं है और यदि भारतीय सेना को उनकी तुरंत जरूरत है तो उसे दूसरे देशों से भेजा जा सकता है। इस पर कमांडर- इन-चीफ ने कहा कि इसकी जरूरत नहीं है (उसने साफ-साफ कहा कि भारतीय स्थिति को देखते हुए यह जरूरी नहीं और उसने रिज़र्व सेना रखने के इरादे से ही इसकी मांग की)।[63] कमांडर-इन-चीफ आगे आने वाले महीनों के लिए ही चिंतित था। उसका मानना था कि आगे चलकर खास तौर पर व्यापक जन आंदोलन शुरू कर दिए जाने से उनकी निष्ठा पर असर पड़ सकता है।[64]

1945 में अंग्रेजों ने अपने कम होते आधिपत्य को ध्यान में रखकर वर्तमान और भविष्य पर विचार किया। वर्तमान में अनगिनत समस्याएं थीं। सबसे बड़ी समस्या यह थी कि प्रातिनिधिक राष्ट्रीय सरकार कैसे बनाई जाए और ब्रिटिश विरोधी भावनाओं को काबू से बाहर होने से कैसे रोका जाए।[65] असंतोष के शीघ्र ही विस्फोटक रूप धारण कर लेने

की आशंका नहीं थी। लेकिन निकट भविष्य में 1946 के वसंत में वास्तविक खतरा पैदा होने की आशंका थी। ऐसा लगता था कि चुनाव जीत लेने और प्रांतीय मंत्रिमंडल बना लेने के बाद कांग्रेस की ताकत बढ़ेगी और वह '1942 से भी बड़े पैमाने पर जन आंदोलन छेड़ देगी।'[66] डर था कि उस समय नौकरशाही और सेना बुरी हालत में होंगी। सांप्रदायिक विभाजन से माहौल खराब होगा और प्रांतीय मंत्रिमंडल प्रशासन के बजाए आंदोलन की मदद करेंगे।[67]

अंग्रेजों के सामने यह बात लगातार साफ हो रही थी कि ब्रिटिश शासन का पुराना तरीका लंबे समय तक नहीं चलेगा। शासन चलाने के लिए नया ढांचा तैयार करना होगा। बाद में 1946 के मध्य में वाइसरॉय सहित बहुत से अधिकारी इस बारे में विचार करने वाले थे कि ऐसे हालात में ब्रिटिश शासन का पूरा स्वरूप ही बदलना होगा। उसे नए अधिकारियों वाले मजबूत निरंकुश शासन में बदलना होगा। यह शासन और 15-20 वर्ष चल सकेगा।[68] तब भी इस तर्क को स्वीकार नहीं किया गया।[69] 1946 के शुरू में इस विकल्प पर विचार भी नहीं किया गया।[70]

1945 के आखिर में जब ब्रिटिश शासन समाप्त होने के कगार पर था तो उन्होंने सांविधानिक रियायतें देकर इसे टालने की कोशिश की। रियायतें न देने का जोखिम वे नहीं उठा सकते थे। यदि ऐसा किया जाता तो जन आंदोलन शुरू हो जाता जिसे काबू में करना मुश्किल हो जाता। बातचीत के टूटने की आशंका से बचने के लिए कांग्रेस की मांग के अनुसार रियायतें देना जरूरी था। कांग्रेस ने भारत छोड़ो की मांग की थी और इसकी बहुसंख्या ने समर्थन किया था। इसे देखते हुए राष्ट्रीय सरकार की स्थापना और सत्ता हस्तांतरण की कार्रवाई शुरू करने के लिए 1946 में कैबिनेट मिशन भारत आया। यह 1942 की क्रिप्स मिशन की तरह दिखावा मात्र नहीं था। वे कोई समझौता हो जाने तक भारत में रहने वाले थे। वास्तविकता यह थी कि वे इसकी विफलता को बर्दाश्त नहीं कर सकते थे क्योंकि विफलता की स्थिति में उन्हें जन आंदोलन के सामने बेइज्जत होकर घुटने टेकने पड़ते या फिर ब्रिटिश शासन के अर्ध-आधिपत्यवादी स्वरूप को बदलकर उसे दमनकारी और निरंकुश बनाना पड़ता। पहली स्थिति से हर हालत में बचा जाना था। दूसरा विचार भी सत्ताधारी लेबर सरकार या ब्रिटिश और अमरीकी जनता को स्वीकार नहीं होता क्योंकि युद्धकालीन लोकतंत्र समर्थक और फासीवाद विराधी माहौल अभी भी उनका चेतना पर छाया हुआ था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. मृदुला मुखर्जी, 'कम्युनिस्ट्स एंड पीजेंट्स इन पंजाब : ए फोकस ऑन दि मुजारा मूवमेंट इन पटियाला 1937-53', बिपनचंद्र संपादित, *दि इंडियन लेफ्ट : क्रिटिकल एप्रेजल्स*, नई दिल्ली, 1983, पृ. 421 और 425. देखें चंद्रा, *लोंग टर्म डाइनामिक्स*, पृ. 18-22 और 46-53.

2 साइमन एप्सटीन. 'डिस्ट्रिक्ट आफीसर्स इन डिक्लाइन', पृ. 493.

3. लिंलिथगो ने विदेशमंत्री को लिखा 'वास्तविक क्रांतिकारियों के खिलाफ कार्रवाई करने से पहले यह ठीक रहेगा कि कांग्रेस के विभिन्न वर्ग उनसे अलग हो जाएं और स्वयं को संभाल लें', 5 मार्च 1937, लिंलिथगो पेपर्स, एम एस एस/ई यू आर एफ. 125/4, एन एम एम एल, नई दिल्ली. लिंलिथगो ने यू.पी. के गवर्नर हेग को लिखा कि 'कांग्रेस के विभाजन से ही आशा बन सकती है. संपत्ति के अधिकारों की रक्षा के लिए दक्षिणपंथी नरम विचाराधारा वाले बाहर के लोगों से मिलें' 23 अक्तूबर 1938, *हेग पेपर्स*, रॉल-1, एन एम एम एल, नई दिल्ली.

4 इस बारे में सुचेता महाजन के अप्रकाशित परचे 'ब्रिटिश पॉलिसी *टुवड्‌र्स* लेफ्ट नेशनलिज्म : नेहरूज चैलेंज, 1934-37', 1979 में विस्तार से चर्चा की गई है, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.

5 ब्रिटिश उत्तर के लिए देखें, चंद्रा, *लोंग टर्म डाइनेमिक्स*, पृ. 46-53; और आर हंट तथा जे हैरीसन, *दि डिस्ट्रिक्ट आफीसर इन इंडिया 1930-47*, लंदन 1980.

6. सपरु से कुक, 14 अगस्त 1942, टी बी सपरु, *वेल्डिंग दि नेशन*, संपादित, के एन रैणा, बंबई, 1974, परिशिष्ट डी.

7. देखें साइमन एप्सटीन, *दि अर्थली सॉइल-बांबे पीजेंट्स एंड दि इंडियन नेशनल मूवमेंट, 1919-47*, दिल्ली, 1988; और हंट एंड हैरिसन, *डिस्ट्रिक्ट आफीसर इन इंडिया*, पृ. 193.

8. 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ.1076. *ए.पी. ह्यूम*, आई सी एस ने बनारस से अपने माता-पिता को लिखा 'अब खादी टोपी पहनकर कोई भी मामूली आदमी आजादी और लोकतंत्र के नाम पर झूठ बोल सकता है और हमारे और हमारी परंपरा के खिलाफ जहर उगल सकता है', 3 फरवरी 1946 ह्यूम कलेक्शन, एम एस एस ई यू आर डी. 724/12 पार्ट I

9 लिंलिथगो से यू.पी. के गवर्नर हालेट को 10 जून 1940 और वाइसरॉय से विदेशमंत्री को, 8 अक्तूबर 1940, *लिंलिथगो पेपर्स*, एमएसएस/ई यू आर एफ. 125/103 और 125/14.

10. इस पैरा और ऊपर के पैरा में दी गई सूचना होम मेंबर के पेपरों पर आधारित है - सिविल एप्वाइंटमेंट्स इन इंडिया एंड बर्मा, 1 जून 1945, विशेष रूप से होम डिपार्टमेंट, नोट 1, रिक्रूटमेंट टु आई सी एम इन 1946 एंड सब्सीक्वेंट ईयर्स लेखक मडी, होम मेंबर, 31 अगस्त 1945, *मडी कलेक्शन*, एफ 164/40, एन ए आई एक्सेशन सं. 4234, नई दिल्ली. साथ ही देखें पॉटर 'मैन पावर शॉर्टेज', पृ. 67; मूर, *एस्केप फ्रॉम एम्पायर*, पृ. 22, हट एंड हैरिसन, डिस्ट्रिक्ट ऑफीसर इन इंडिया, पृ. xxxi और डेविड पॉटर, इंडियाज पॉलिटीकल एडमिनिस्ट्रेशन, 1919-83, ऑक्सफोर्ड 1986, पृ. 86, 100-101 और 126 देखें आई सी एस की केंद्रीय जरूरतों के लिए एफ जी रॉलैंड की रिपोर्ट, दिनांक 30 जून 1945 - अनुमानित संख्या : 1,551 बताई गई है. *मडी कलेक्शन*, एफ 164/11

11 वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 29 जनवरी 1946 और यू पी. गवर्नर से वाइसरॉय, 19 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. क्रमश: 870 और 1018. देखें अपने माता-पिता को ह्यूम के पत्र, 30 फरवरी, 22 मार्च और 17 सितंबर 1944. उसने बताया कि 1938 से भारत में ही रहने के बावजूद उसे छुट्टी मिलने में किस प्रकार दिक्कत हो रही है, *ह्यम कलेक्शन*, एम एम एस ई यू आर डी. 724/13, एन ए आई एक्सेशन सं 2041

12 वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 1 अक्तूबर 1945 और 29 जनवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यम 6, पृ. क्रमश: 308 और 870

13. देखें चंद्रा, *लोंग टर्म डाइनामिक्स*, पृ. 46-53. साथ ही देखें बिपन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी के.एन. पाणिकर, सुचेता महाजन, *इंडियाज स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस*, नई दिल्ली, 1988 अध्याय 38 और 39

14. 'रक्षा करना और समाप्त करना दो विरोधी लक्ष्य हैं और इनके लिए विरोधी मनःस्थितियों की जरूरत होती है. आई सी एस के ब्रिटिश सदस्य अपने पूरे कैरियर के दौरान इसी उलझन के साथ जीते थे और उससे जूझते थे', जे. एनॉक पॉवेल, 'सर्वेंट्स आफ इंडिया' पी. मून की *दि ब्रिटिश कॉन्क्वेस्ट एंड डॉमिनियन आफ इंडिया* की समीक्षा. आई ओ आर. एम एस एस ई यू आर सी. 601, लंदन.
15. यू.पी. के गवर्नर हालैट ने मडी को लिखा 'जैसा कि हमने 1937 में देखा प्रत्यक्ष हमले के बजाए अप्रत्यक्ष और कपटपूर्ण हमले अधिक कष्टदायी हैं,' 25 जून 1945, *मडी कलेक्शन*, एफ 164/10, एन ए आई एक्सेशन सं. 4231. एप्सटीन ने 'विशेष रूप से बंबई में कांग्रेस मंत्रिमंडल के धमकाने वाले रवैए का उल्लेख किया है जो कि 1935 से चल रहा है', 'डिस्ट्रिक्ट आफीसर्स इन डिक्लाइन', पृ. 506. 'सांविधानिक प्रयोग से प्रांतों के प्रशासनिक ढांचे पर बहुत असर पड़ेगा. जो अधिकारी अब तक कांग्रेसियों को दंड देते थे अब उनका हुक्म मानेंगे.' विशालाक्षी मेनन. 'नेशनल मूवमेंट, कांग्रेस मिनिस्ट्रीज एंड इंपीरियल पालिसी : ए केस स्टडी आफ दि यू.पी., 1937 39', इतिहास अध्ययन केंद्र जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय को प्रस्तुत शोध निबंध, 1981. *हैग पेपर्स* और *लिलिथगो पेपर्स* से संदर्भों के लिए मैं विशालाक्षी मैनन की आभारी हूं
16. एप्सटीन का मानना है कि 1930 के दशक के अंत में 'घटनाक्रम सर्विस के मनोबल को बहुत तेजी से तोड़ रहा था'' डिस्ट्रिट आफीसर्स इन डिक्लाइन', पृ. 509-10. साथ ही देखें वाई.बी. चव्हाण के साथ *इंटरव्यू*, नई दिल्ली, 2 मई 1984.
17. देखें मेनन, ' नेशनल मूवमेंट', पृ 190 और हैग से लिंलिथगो, 6 जनवरी 1937, *हैग पेपर्स*
18. 'कांग्रेस संगठन को समांतर प्रशासन बनाने के कांग्रेसियों के वामपंथी धड़े के प्रयास को सर्वाधिक खतरनाक गतिविधि' के रूप में देखा गया, 31 मार्च 1937 को समाप्त अवधि के लिए तिमाही रिपोर्ट, *लिंलिथगो पेपर्स*, एफ 125/42, पृ. 15 16, केम्प, आई सी एस ने सारन बिहार से लिखा : 'जिलों के रोजमर्रा के प्रशासन में कांग्रेस मंत्रिमंडल बहुत दखल दे रहा है .', हंट एंड हैरीसन, *डिस्ट्रिक्ट आफीसर इन इंडिया*, पृ. 196
19. बहुत से राष्ट्रवादियों ने अफसरों द्वारा अपने कांग्रेसी 'बॉसों' को खुश किए जाने के उदाहरण पेश किए हैं', देखें इंटरव्यू, आई सी एस एस आर प्रोजेक्ट, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1984-87.
20. आर.पी. नोरोन्हा, ए टेल टोल्ड बाइ एन ईडियट, नई दिल्ली, 1976, पृ 3 और सी एस वेंकटाचार, 'आई सी एस: दि लास्ट फेज', इंडो ब्रिटिश रिव्यू में, वॉल्यूम 7.3 और 7.4, 1974.
21. बंबई के गवर्नर से वाइसरॉय, 14 जनवरी 1939, एप्सटीन द्वारा उद्धृत, 'डिस्ट्रिक्ट आफीसर्स इन डिक्लाइन', पृ 508.
22. हालेट से लिंलिथगो, 15 मार्च 1940, *लिंलिथगो पेपर्स*, एफ 125/103.
23. होम राजनीतिक फाइलों और मार्च-अप्रैल 1940 में लिंलिथगो के पत्राचार में कांग्रेस को खत्म कर देने की आवश्यकता पर काफी चर्चा की गई. होम पॉल 3/2/40; 3/11/40; 3/13/40; और लिंलिथगो से जेटलैंड, 5 और 25 मार्च 1940, *लिंलिथगो पेपर्स*, एफ 125/9.
24. 1941 में कार्रवाई करने में सरकार की हिचकिचाहट के लिए देखें अप्रैल 1941 के पहले पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर. होमपॉल 18/4/41
25. मैक्स हारकोर्ट का मानना है कि भारत छोड़ो आंदोलन से प्रभावी ढंग से इसलिए नहीं निपटा जा सका क्योंकि अधिकारियों को यह डर था कि 'यदि उन्होंने कांग्रेस को ज्यादा नाराज किया तो उनका कैरियर चौपट हो जाएगा', 'किसान पॉपुलिज्म एंड रेवोल्यूशन इन रुरल इंडिया : दि 1942 डिस्टर्बेंसेज इन बिहार एंड ईस्ट यूनाइटेड प्रॉविंसेज,' डी ए लो संपादित, *कांग्रेस एंड दि राज, फैसेट्स आफ दि इंडियन स्ट्रगल 1917-1947*, लंदन, 1977 में, पृ. 342-343.

अगस्त 1942 के 'दंगों' के बारे में मार्टिन, आई सी एस, बिहार ने यह लिखा :

प्रांत के सबसे अधिक अमीर और दबदबे वाले वर्ग के रूप में जमींदारों ने यह माना कि अपना अस्तित्व बरकरार रखने और फल-फूलने के लिए उन्हें अंततः कांग्रेस के साथ शांति कायम करनी होगी. प्रशासन के बड़े भाग के रूप में प्रांतीय सेवाओं के सदस्यों विशेषकर पुलिस और मजिस्ट्रेटों का भी यही मानना था (हंट एंड हैरीमन, *डिस्ट्रिक्ट आफीसर इन इंडिया*, पृ. 202) जब अमृत कौर जेल में थीं तो उनको लिखे गए एक पत्र में सरकार की 'अविवेकपूर्ण आलोचना' के लिए पेंडेरेल मून, आई सी एस को इस्तीफा देना पड़ा, डेविड ब्लेक द्वारा पी. मून पर नोट, आई ओ आर एम एस एस ई यू आर सी 601, इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन. अन्यों के अलावा, अच्युत पटवर्धन, लता पोवैया, वसंत दावा पाटिल और ए अच्युथन ने अधिकारियों की सहानुभूति के उदाहरण दिए हैं. बंगलौर में इंटरव्यू, 7 दिसंबर 1984, बंबई में,21 मई 1985 और 14 जून 1985 और कसारगौड केरल में 13 मई 1984.

26. यू.पी. गवर्नर से वाइसरॉय, 19 फरवरी, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 101.
27. लिंलिथगो से आमरे, 2 और 9 सितंबर 1942, *टी पी*, वॉल्यूम 2, पृ. 879 और 928.
28. एप्सटीन, 'डिस्ट्रिक्ट ऑफीसर्स इन डिक्लाइन', पृ. 511.
29. बंबई, मद्रास, सिंध और सी पी के गवर्नरों की वाइसरॉय को रिपोर्ट और वाइसरॉय की विदेशमंत्री को रिपोर्ट, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 429, 318, 437, 468, 562 और 602. जुलाई से अक्तूबर 1945 के लिए सी पी तथा बरार, मद्रास, असम, दिल्ली, उड़ीसा और बंबई की एफ आर, होमपॉल 18/7/45, 18/8/45, 18/9/45 और 18/10/45. यह जांच को लेकर अफसरों के डर को दर्शाता है. वाइसरॉय का विचार था कि 'गवर्नरों और कांग्रेस मंत्रिमंडलों के बीच यह सबसे बड़ा मुद्दा होगा', विदेशमंत्री को, 27 फरवरी 1946, *टी पी*, वाल्यूम 6, पृ. 1077. युद्ध के खत्म होने पर सभी प्रांतों में चुने गए मंत्रिमंडलों वाली सरकार एक चुनौती थी. बिहार के आई सी एस रे ने ये विचार व्यक्त किए हैं :

वे भारी संख्या में अपने अनुयायियों के साथ जिलों का दौरा करते थे. ये दौरे प्रशासनिक कारणों से नहीं राजनीतिक कारणों से किए जाते थे. इसकी पूर्व सूचना नहीं दी जाती थी. सुबह-सुबह सूचना दे दी जाती थी कि मंत्री महोदय सर्किट हाउस में पधार चुके हैं. इससे सारा दिन बरबाद हो जाता था. बस फरियादियों की बातें सुनी जाती थीं और मंत्री के आगे-पीछे दौड़ना होता था. एक-दो को छोड़कर किसी भी मंत्री को प्रशासनिक पेचीदगियों की जानकारी नहीं होती थी. 'इस जिले में बहुत कालाबाजारी हो रही है - इसकी जांच करके अगले सप्ताह मुझे बताओ' मुझे अकसर ऐसी जबानी हिदायतें दी जाती थीं. व्यक्तिगत शिष्टाचार भी नहीं दिखाया जाता था. प्रधानमंत्री के साथ पूरे दिन की दौड़- धूप करने के बाद देर रात रेलवे स्टेशन पर मुझसे कहा गया कि 'अब आप जा सकते हैं'. इन सब आपत्तिजनक बातों को बर्दास्त कर लिया जाता था. लेकिन सबसे अधिक परेशानी की बात थी मंत्री और उसके साथियों की चालबाजी. लगातार साजिश, दखलंदाजी और गलतफहमी, यह सब कुछ होता था. जिला अधिकारी अकेला पड़ जाता था. उसे महत्वपूर्ण निर्णयों में भागीदार नहीं बनाया जाता था. कई बार तो अफवाहों से उसे निर्णय की जानकारी मिलती थी. बगैर किसी चेतावनी और सलाह के मातहत अधिकारियों का तबादला आम बात बन गई. सभी असफलताओं या कमियों का दोष 'ब्रिटिश अफसरों द्वारा तोड़फोड़' के मत्थे मढ़ दिया जाता था. एक मित्र कांग्रेसी ने ये शब्द मुझसे कहे (हंट और हैरीमन, *डिस्ट्रिक्ट आफीसर इन इंडिया*, पृ. 235).

ए.पी. ह्यूम, आई सी एस ने लखनऊ में सरकार द्वारा दखलंदाजी और अधिकारियों के तबादले में स्थानीय कांग्रेसियों की साजिश के बारे में शिकायत की है. यू.पी. के मुख्य सचिव ने कांग्रेस की चालबाजियों का इस प्रकार ब्यौरा दिया है '... वे गवर्नर से लेकर नीचे तक शासकीय तंत्र की उपेक्षा का तरीका अपनाते हैं और पर्दे के पीछे पंचायती राज चलाते हैं'. ह्यूम ने अपने जैसे विचारों वाले दूसरे अधिकारियों के साथ 30 अक्तूबर 1947 तक समय से पूर्व सेवा निवृत्ति पर लगे प्रतिबंध हटाने के लिए प्राधिकारियों

पर दबाव डाला. देखें माता-पिता को पत्र, 24 मार्च, 11 मई और 18 अगस्त 1946, *ह्यूम कलेक्शन*, एम एस एम ई यू आर डी 724/13 एन ए आई एक्सेशन सं. 2041.
सेवाओं की क्षतिपूर्ति, प्रतिशोध से सुरक्षा, राजनीतिक घटनाओं पर प्रतिक्रिया आदि के लिए देखें एक्सेशन सं. 3826-32; विशेष रूप से फाइल सं. 180, 181, 182, 183, 185, 187 और 287: आर/3/1 शृंखला, वाइसरॉय के कार्यालय में निजी सचिव के कागजपत्र, आई ओ एल आर, एन ए आई में माइक्रोफिल्म. स्वतंत्रता के बाद भारत सरकार द्वारा ब्रिटिश अधिकारियों की नियुक्ति के बारे में देखें आई ओ आर ओ 0/1/410, इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन.

30 गृह मंत्री से प्रांतीय सरकारों को, 5 दिसंबर 1945, होमपॉल 33/1/46.

31. देखें होमपॉल 5/14/46; वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 22 फरवरी 1946; वाइसरॉय से प्रधानमंत्री, 24 फरवरी 1946; वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 27 फरवरी 1946; और वाइसरॉय से किंग जार्ज VI, 22 मार्च 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1048, 1055, 1076 और 1234

32. कमांडर-इन चीफ से वाइसरॉय, 24 नवंबर 1945, वही, पृ. 530

33 वाइसरॉय को पत्र, 26 नवंबर 1945, वही, पृ. 542.

34 विदेशमंत्री से वाइसरॉय 5 अक्तूबर और वाइसरॉय से विदेशमंत्री 9 अक्तूबर 1945, वही, पृ. 315 और 321.

35. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 5 नवंबर 1945, यू पी गवर्नर से वाइसरॉय, 19 नवंबर 1945 और डी आई बी द्वारा इंडियन नेशनल आर्मी (इसके बाद आई एन ए) पर भेजा गया नोट, 20 नवंबर 1945, वही, पृ. क्रमशः 442, 507 और 515.

36 गृह विभाग में नोट, 20 फरवरी 1946, होमपॉल 21/13/45, भाग-II

37 *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 435 और 532.

38 विदेश सचिव ज्ञापन, 20 अक्तूबर 1945; गवर्नर जनरल (युद्ध विभाग) से विदेशमंत्री, 30 नवंबर 1945; और विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 7 दिसंबर 1945, वही, पृ.371, 572 और 618.

39. विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 19 अक्तूबर 1945, वही, पृ. 366.

40. वही.

41. दत्त, *इंडिया टुडे*, पृ 542 और बलाबुशेविच तथा दियाकोव, *कांटेंपरेरी हिस्टरी आफ इंडिया*, पृ. 417 साथ ही देखें एस बैनर्जी, *आर आई एन स्ट्राइक*, पृ. 136 और फारुखी, *इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल*, पृ. 44

42. कैबिनेट ने 22 जनवरी 1946 को यह निर्णय लिया कि मिशन मार्च में भेजा जाएगा और इसकी घोषणा फरवरी 1946 में की जाएगी, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 831.

43. क्रिप्स से वाइसरॉय के साथ संलग्न मेजर शॉर्ट का नोट, 3 दिसंबर 1945. शिवाराव ने 20 अगस्त 1945 को ही यह सुझाव दे दिया था कि चुनाव के बाद एक कैबिनेट मिशन भारत भेजा जाए, वही, पृ. क्रमशः 592 और 100-105.

44. *मूर एस्केप फ्रॉम एम्पायर*, पृ. 44.

45. वही.

46. भारत- बर्मा कैबिनेट कमेटी बैठक, 14 जनवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 786.

47 उप सचिव, गृह विभाग ने 4 अप्रैल 1946 को नोट किया कि 'भविष्य में गड़बड़ी से बचने के लिए किन्हीं विशेष उपायों का सुझाव नहीं दिया गया', होमपॉल 5/8/46.

48. वही.

49. वही.

50. *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1055 और होमपॉल 5/8/46.

51. होमपॉल 21/16/45.

52. गृह विभाग में उपसचिव, 1 अप्रैल 1946, होमपॉल 5/8/46.
53 सरकार, 'पॉपुलर मूवमेंट्स', पृ. 685.
54. 27 दिसंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 687 और होमपॉल 7/1/46.
55 मैनन, 'नेशनल मूवमेंट'. पृ. 205-206 और 199.
56. भारत छोड़ो आंदोलन के बारे में विकेंडेन की रिपोर्ट, पी एन चोपड़ा संपादित, *क्विट इंडिया मूवमेंट : ब्रिटिश सिक्रेट डॉक्यूमेंट्स*, नई दिल्ली, 1986, पृ. 196, 200 और 203.
57 2 नवंबर 1945 को बंबई के गवर्नर ने वाइसरॉय को रिपोर्ट दी कि पटेल 'हत्याकांड की धमकी दे रहा है.' 6 नवंबर 1945 को वाइसरॉय ने विदेशमंत्री को चेतावनी दी कि नेहरू और पटेल के भाषणों का 'उद्देश्य आम गड़बड़ी उकसाना और पैदा करना है', *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 429, 385 और 450-54
58. विस्तृत विवरण के लिए देखें वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 6 नवंबर; गवर्नर, सी.पी., से वाइसरॉय, 26 नवंबर; गवर्नर असम से वाइसरॉय, 11 दिसंबर; और विशेष रूप से वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 27 दिसंबर 1945, वही, पृ. 453, 543, 576, 632 और 687.
59. नवंबर के पहले पखवाड़े के लिए उड़ीसा एफ आर में बताया गया है कि चौकीदारी प्रेसिडेंट खुलेआम कांग्रेस से मिल रहे हैं और उसके लिए पैसा इकट्ठा कर रहे हैं. अक्तूबर 1945 के दूसरे पखवाड़े के लिए यू.पी. एफ आर में बताया गया है कि पूर्वी यू.पी. के रेलवे अधिकारियों ने 'नेहरू और पटेल के सम्मान में अपने स्टेशनों को सजाया. एक मामले में एक मालगाड़ी को तीन घंटे तक इसलिए रोके रखा गया ताकि नेहरू भाषण देकर उसमें जा सकें'. सी पी के गवर्नर ने वाइसरॉय को सूचित किया कि 'हमारे ज्यादातर क्लर्क कर्मचारियों ने चुनाव में खुले आम दिखाकर कांग्रेस को वोट दी' होमपॉल 18/11 और 18/10/45; *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 632 और आजाद, *इंडिया विन्स फ्रीडम*, पृ. 127
60. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 16 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 213; और होमपॉल 18/11/45 और 18/12/45. साथ ही देखें एच वी हॉडसन, *दि ग्रेट डिवाइड : ब्रिटेन, इंडिया, पाकिस्तान*, लंदन 1969, पृ. 185.
61. कमांडर-इन-चीफ से वाइसरॉय, 24 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 533. इसके विपरीत 20 अक्तूबर का विदेशमंत्री का ज्ञापन देखें जिसमें उसने तर्क दिया है कि रियायत भारतीय सेना विशेषकर निष्ठावान युद्ध बंदियों के लिए 'बहुत तकलीफ' की बात होगी, वही, पृ. 371. साथ ही देखे मेरी वेनराइट, 'कीपिंग दि पीस इन इंडिया, 1946-47' सी.एच. फिलिप्स और एम.डी. वेनराइट संपादित, *दि पार्टीशन आफ इंडिया: पालिसीज एंड पर्सपेक्टिव*, 1935-1947, लंदन, 1970.
62. आंतरिक स्थिति के बारे में कमांडर-इन-चीफ का विचार, 24 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 577-84. आई एन ए मुकदमों और यहां तक कि आर आई एन विद्रोह के बाद 22 मार्च 1946 को वावेल ने किंग जॉर्ज-को सूचित किया कि 'भारतीय सेना का बहुत बड़ा हिस्सा अभी भी दुरुस्त है', *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1234.
63. ब्रिटेन में सेनाध्यक्ष से कमांडर-इन-चीफ को, 11 दिसंबर 1945, कमांडर-इन-चीफ से सेनाध्यक्ष को, 22 दिसंबर 1945; और ब्रिटेन में सेनाध्यक्ष से रक्षा समिति को, 22 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 638-39, 675 और 1042.
64. 24 नवंबर 1945 को कमांडर-इन-चीफ ने इस बात पर बल दिया कि फिलहाल सेना पर भरोसा किया जा सकता है. लेकिन उसका यह मानना था कि आगामी महीनों में राजनीतिक प्रभाव उनके मनोबल को गिराएगा. यह 1946 के वसंत तक चलेगा. इस समय कांग्रेस जन आंदोलन छेड़ सकती है. आंतरिक स्थिति के बारे में कमांडर-इन-चीफ के विचार, 24 नवंबर 1945, वही, पृ. 577-84.
65. वावेल ने 1944 के अंत में ही इसे महसूस कर लिया था और इस पर बल दिया था. देखें वावेल से चर्चिल, 24 अक्तूबर 1944, *वावेल जर्नल*, पृ. 98-99.

66. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 6 नवंबर 1945; आंतरिक स्थिति के बारे में कमांडर-इन-चीफ के विचार, 24 नवंबर 1945; उड़ीसा के गवर्नर से वाइसरॉय 6 नवंबर 1945; और वाइसरॉय को आजाद का पत्र 7 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 450-54, 577, 396, 447 और 455.
67 वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 27 दिसंबर 1945 और 29 अक्तूबर 1945, आंतरिक स्थिति के बारे में कमांडर-इन-चीफ द्वारा कैबिनेट को भेजे गए विचार, 14 नवंबर 1945, सी पी. गवर्नर से वाइसरॉय, 10 जनवरी 1946, वही, पृ. 687, 420, 577, 482 और 756, और एप्सटीन, 'डिस्ट्रिक्ट आफीसर्स इन डिक्लाइन', पृ. 518.
68. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 24 जुलाई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 115.
69 विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 26 जुलाई 1946, वही, पृ. 123-24.
70. वावेल को दमन से जुड़ी दिक्कतों का अनुमान था. देखें वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 6 नवंबर 1945, *टी पी*, वॉल्यूम 6, 452.

भाग तीन

साम्राज्यवाद, राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता

अध्याय 6

संगठित करो और छोड़ दो

कैबिनेट मिशन ने घोषणा की कि वे भारतीयों को सत्ता सौंपने के लिए एक तंत्र स्थापित करेंगे। इससे स्पष्ट हो गया कि साम्राज्यवाद और राष्ट्रवाद के बीच संघर्ष सिद्धांत रूप में समाप्त हो गया है। संघर्ष का सवाल अब पीछे सरक गया। ध्यान अब इस सवाल पर केंद्रित हो गया कि साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद शासन व्यवस्था कैसी हो। इस बारे में अंग्रेजों, कांग्रेस और मुसलिम लीग के अलग-अलग विचार थे। कांग्रेस एकता चाहती थी और लीग विभाजन;[1] अंग्रेज क्या चाहते थे ?

अंग्रेज लीग को प्रोत्साहित करते थे और मुसलिमों को अपना दोस्त मानते थे। इससे ऐसा लगता था कि वे विभाजन के विकल्प को स्वीकार करेंगे। अतीत की ओर देखने से भी ऐसा ही लगता था कि अंग्रेज पाकिस्तान को अपने स्वाभाविक भावी दोस्त के रूप में देखते थे। पाकिस्तान वर्षों तक दक्षिण एशिया में पश्चिमी ब्लॉक की भरोसेमंद चौकी बना रहा। लेकिन पुरानी बातें काम नहीं कर रही थीं। नई बातें सामने आ रही थीं। शासन का तकाजा कुछ और था और साम्राज्यवाद की समाप्ति के बाद के हितों की रक्षा के लिए दूसरी कार्रवाई की जरूरत थी। राष्ट्रवादी ताकतों को खारिज़ करने और सांप्रदायिक ताकतों को बढ़ावा देने से काम नहीं चल सकता था।

1946 के प्रारंभ में सरकारी हलकों में यह विचार बना था कि कोई भी हल 'भारत की एकता बनाए रखने पर आधारित होना चाहिए।'[2] ब्रिटिश भारत के सभी महत्वपूर्ण प्रांतों के गवर्नरों का यह मानना था कि पाकिस्तान नहीं चल पाएगा। केवल बंगाल इसका अपवाद था। अल्पसंख्यकों के रूप में मुसलिमों की भारी संख्या वाले यू.पी. प्रांत के गवर्नर ने चेतावनी दी कि पाकिस्तान बनाना 'बहुत बड़ा उलटा कदम होगा।'[3] जिन्नाह के पाकिस्तान के दो महत्वपूर्ण घटक पंजाब और सिंध के गवर्नर भी पाकिस्तान के खिलाफ थे।

लेकिन यह कहना मुश्किल है कि उनमें से कितने असम के गवर्नर के इस आह्वान का समर्थन करते कि 'हम अपना सारा जोर एकता पर लगा दें'[4] क्योंकि कैबिनेट मिशन के दूसरे सदस्यों को पाकिस्तान के खिलाफ सख्त कदम उठाने का वाइसरॉय और विदेशमंत्री का तर्क मंजूर नहीं था।[5] विभाजन और एकता में तालमेल के लिए उन्होंने एकात्मक ढांचे के भीतर प्रांतीय स्वायत्तता देने का प्रस्ताव किया।[6] दिलचस्प बात यह है कि कांग्रेस से कोई सहानुभूति न रखने वाले वाइसरॉय का भी यही विचार था कि अंग्रेज 'अविभक्त भारत छोड़ने का प्रयास करें।'[7] इसके पीछे संरक्षणता की भावना छिपी थी : 'हमने भारत

MISSION'S SYMPHONY



स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 18 मई 1946

को राजनीतिक एकता दी है और हम अपने इस कार्य को सुरक्षित रखना चाहते हैं।'[8]

1946 के प्रारंभ में व्हाइटहॉल और नई दिल्ली के बीच इस बात पर एक राय थी कि स्वतंत्रता के बाद भारतीय उप महाद्वीप में रणनीतिक हित एक ऐसे संयुक्त भारत द्वारा ही पूरे किए जा सकते हैं जो ब्रिटेन का दोस्त हो और राष्ट्रमंडल सुरक्षा का सक्रिय साझीदार हो। विभाजित भारत ब्रिटिश प्रतिष्ठा पर धब्बा होगा और राष्ट्रमंडल सुरक्षा को कमजोर बनाएगा। पाकिस्तान से जिन तीन भूमिकाओं की उम्मीद की जा रही है, उनमें से वह कोई भी पूरी नहीं कर पाएगा। ये थीं : भारत से मुकाबला, पश्चिम से संपर्क और रूस के आगे बढ़ने में बाधा। पाकिस्तान की सुरक्षा व्यवस्था में गहराई नहीं होगी। इसलिए ब्रिटेन को उसकी सुरक्षा करनी होगी। इसके अतिरिक्त वह आर्थिक दृष्टि से सक्षम नहीं होगा। ब्रिटेन के पास इस कार्य के लिए जरूरी ताकत नहीं थी। इससे उसकी सैन्य कमजोरी दुनिया के सामने जाहिर हो जाएगी। कमांडर-इन-चीफ ने साफ-साफ कह दिया था कि केवल एक ही विकल्प है और वह है 'एक संयुक्त भारत बरकरार रखना' जो 'अपनी मर्जी से राष्ट्रमंडल का सदस्य होगा और अपने संसाधनों के अनुसार उसकी सुरक्षा में योगदान करेगा।'[9] कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय को पाकिस्तान के निर्माण में निहित इस संभावना ने आकर्षित किया कि वह राष्ट्रमंडल का सदस्य होगा और आवश्यकता पड़ने पर उसे भारत के खिलाफ सैन्य सहायता दी जाएगी।[10] लेकिन अप्रैल के मध्य में कैबिनेट मिशन ने प्रधानमंत्री को सूचित किया कि पाकिस्तान कमजोर होगा और उप महाद्वीप की सुरक्षा कारगर नहीं रहेगी।

इसलिए भारत-विभाजन के विकल्प बी के मुकाबले कमजोर संघ सहित एकात्मक भारत के विकल्प ए को तरजीह दी गई।[11] एटली इस बात पर सहमत था कि सेना के विभाजन सहित विकल्प बी के कई नुकसान हैं। यदि रक्षा के लिए 'सभी केंद्रीय निदेशक प्राधिकारी की बात को स्वीकार कर लें' तो इन 'गंभीर खतरों' को कुछ हद तक दूर किया जा सकता है। लेकिन विकल्प ए विकल्प बी से बेहतर बना रहा। यह 'कोई करार नहीं से अच्छा है।' बी विकल्प तभी अपनाया जाना था 'जब समझौते का और कोई तरीका न रहे।'[12]

कमांडर-इन-चीफ का मानना था कि राष्ट्रमंडल में पाकिस्तान एक बोझ बना रहेगा क्योंकि भारत से इसकी रक्षा के लिए वहां सेना भेजनी पड़ेगी। इसी प्रकार ब्रिटिश सेनाध्यक्ष की सलाह पर कैबिनेट ने वाइसरॉय के इस सुझाव को ठुकरा दिया कि बातचीत के टूट जाने और ब्रिटिश विरोधी गतिविधि शुरू होने की दशा में 'पाकिस्तान प्रांत' को स्वीकार कर लिया जाए।[13] इसके दो कारण थे। इससे रणनीतिक हितों को नुकसान पहुंचेगा और गृहयुद्ध छिड़ जाएगा। भारत के एक रहने से ही रक्षा हितों को पूरा किया जा सकेगा। सेनापति ने चुनौती से मुकाबला करने का फैसला किया और कहा कि आवश्यकता पड़ने पर मध्य पूर्व, ग्रीस, इटली और जर्मनी से ब्रिटिश सेना भेजी जा सकती है। इससे ग्रीस और फिलिस्तीन में अंग्रेजों की हालत जरूर खराब होगी क्योंकि वहां हालात नाजुक दौर में थी। लेकिन

'हमने यह नीति नहीं अपनाई तो सुदूर पूर्व और यूरोप में हमारी प्रतिष्ठा को बहुत धक्का लगेगा।'[14] संयुक्त राष्ट्र से अपील करने या भारत को अपने हाल पर छोड़ देने का सवाल ही नहीं पैदा होता था क्योंकि ऐसा करने का मतलब होता अपनी शक्तिहीनता को स्वीकार कर लेना। इस सबकी जरूरत नहीं पड़ी क्योंकि ब्रिटिश विरोधी आंदोलन चलाया ही नहीं गया।

इस बात को स्वीकार कर लेने के बाद कि भविष्य में रणनीतिक हित संयुक्त भारत द्वारा ही पूरे किए जा सकते हैं, मौजूदा राजनीतिक गतिरोध को दूर करने के लिए कांग्रेस से समझौता जरूरी था। लेबर पार्टी के साम्राज्यवादी दृष्टिकोण में अब यह बात समा गई थी कि पुराने साथियों से काम नहीं चलेगा।[15] जिन्नाह की वजह से शिमला सम्मेलन नाकामयाब हो गया था और अंग्रेज चुप रहे। इसके बाद नीति में परिवर्तन हुआ। यह कैबिनेट मिशन के लिए विदेशमंत्री द्वारा दिए गए ज्ञापन से स्पष्ट है। इसमें कहा गया है कि 'कांग्रेस को नजरंदाज करना उचित नहीं है'।[16] एटली अकसर यह कहता था कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों की प्रगति को वीटो नहीं करने दिया जाएगा। इससे भी यही बात जाहिर होती है।[17]

यह बात समझ ली गई थी कि लीग के मुकाबले कांग्रेस के आंदोलन का दमन करना मुश्किल होगा। इसलिए कांग्रेस के साथ समझौते के प्रयास किए जा रहे थे। इस संबंध में होम मेंबर के मूल्यांकन की सूचना वाइसरॉय द्वारा कैबिनेट शिष्टमंडल को नहीं दी गई।[18] वावेल ने प्रधानमंत्री को स्पष्ट किया कि लीग के मुकाबले कांग्रेस का सहयोग कैबिनेट मिशन योजना के लिए अधिक उपयोगी होगा।[19] लेकिन व्यवहार में कांग्रेस का सहयोग थोड़े समय के लिए प्राप्त किया जा सकता था। ऐसा उसे अंतरिम सरकार में शामिल करके किया जा सकता था। वास्तविकता यह थी कि एकता की सारी बातों के बावजूद अंग्रेज अपनी पूरी ताकत एकता पर नहीं लगाना चाहते थे। वे कांग्रेस की बुनियादी मांग पूरी नहीं कर पाए थे। इसलिए समझौता करने के लिए वे सभी विवादास्पद मामलों पर छूट देने को तैयार थे। उदाहरण के लिए वे अकेले कांग्रेस के साथ सरकार बनाने को भी तैयार थे।

कैबिनेट मिशन इस नतीजे पर पहुंचा कि निर्दलीय मुसलिमों के साथ कांग्रेस सरकार सबसे सही विकल्प होगा : 'यह विकल्प हमने इसलिए चुना क्योंकि हमारे विचार से मुसलिमों के बजाए हिंदुओं से अच्छे संबंध रखना भविष्य की दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण है।'[20]

वाइसरॉय ने विश्वास न करने के अपने स्वभाव के अनुरूप अपनी डायरी में लिखा कि कांग्रेस सरकार व्यापक समझौता होने तक केवल अपना समय निकालेगी।[21] क्रिप्स अकेला कांग्रेस के पक्ष में था, पैथिक लॉरेंस को संदेह था। अलैग्जेंडर ने वाइसरॉय के साथ इसका विरोध किया।[22]

विभाजन करो और छोड़ दो

महामहिम की सरकार ने संयुक्त भारत के विकल्प को चुना लेकिन पाकिस्तान बनाने से इनकार नहीं किया। संयुक्त भारत-पाकिस्तान सुरक्षा परिषद के साथ पाकिस्तान दूसरा सर्वाधिक उपयुक्त विकल्प था। कुछ हलकों में लोग दूसरे विकल्प अर्थात पाकिस्तान के लिए बहुत इच्छुक थे। पार्थसारथी गुप्ता का यह मानना है कि वावेल और कमांडर-इन-चीफ का सचिवालय शुरू से ही पाकिस्तान के पक्ष में थे जबकि कमांडर-इन-चीफ और सेना के बड़े अफसर भारत और उसकी सशस्त्र सेनाओं की एकता चाहते थे। 1947 में उन्होंने भी पाकिस्तान के विकल्प को तरजीह दे दी। उनका मानना था (जो कि गलत साबित हुआ) कि पाकिस्तान पश्चिमी एशिया तक फैले मुसलिम ब्लॉक का हिस्सा होगा।[23]

पार्थसारथी गुप्ता और अनिता इंद्रसिंह के अनुसार कैबिनेट मिशन ने एकता को इसलिए चुना क्योंकि इससे अंग्रेजों के रणनीतिक हित बेहतर तरीके से पूरे होते।[24] आर.जे. मूर ने दूसरा ही घटनाक्रम देखा है। उसके अनुसार मिशन एकता के लिए तभी राजी हुआ जब उसने देखा कि भारतीय पार्टियां पाकिस्तान की सीमाओं के लिए तैयार नहीं होंगी। रणनीतिक हितों के लिए एकता उतना बड़ा कारण नहीं था।[25]

जैसा कि हमने पहले कहा है कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय पाकिस्तान की संभावना के प्रति इसलिए आकर्षित हुए कि वह राष्ट्रमंडल का हिस्सा होगा। आवश्यकता पड़ने पर भारत के विरुद्ध उसकी सैनिक सहायता की बात भी सोची गई। लेकिन बाद में संयुक्त भारत के लिए व्यापक सहमति बनी। इसके कुछ महत्वपूर्ण अपवाद थे। भारत कार्यालय द्वारा अप्रैल 1946 के आखिर में जारी ज्ञापन में यह बात मानी गई है कि निष्पक्षता बेकार है और सरकार को किसी का पक्ष लेना चाहिए। 'भारत की एकता के लिए हिंदुओं का समर्थन बेकार है। सांप्रदायिक करार के बगैर हमारे जाते ही एकता का टूटना तय है।'[26] सीमित पाकिस्तान सबसे सही विकल्प है क्योंकि मुसलिम पुराने साथी हैं और राष्ट्रमंडल के सदस्य के रूप में दोस्त बने रहेंगे। अंग्रेज उस समय तक पाकिस्तान में बने रहेंगे जब तक कि उसे आर्थिक और सैनिक सहायता की जरूरत रहेगी।

1946 के मध्य में वाइसरॉय ने सुझाव दिया कि यदि कोई करार न हो पाए तो दमन अथवा पूरी तरह से पीछे हटने के बजाए हम उन प्रांतों में चले जाएं जिन्हें मिलाकर पाकिस्तान बनने वाला है।[27] इसके पीछे यह अक्ल काम कर रही थी कि मुसलिम अंग्रेजों की मौजूदगी का स्वागत करेंगे क्योंकि यह दोनों के परस्पर हित में है। वाइसरॉय उन लोगों में से था जो यह मानते थे कि मुसलिम वर्षों से अंग्रेजों के दोस्त रहे हैं इसलिए अंग्रेजों को उनकी मदद करनी चाहिए। उसने विशेष रूप से 1942 के कारण कांग्रेस में अविश्वास की बात स्वीकार की। उसने 'जिन्नाह के प्रति सहानुभूति की बात भी स्वीकार की और कहा कि वह अधिकांश कांग्रेसी नेताओं के मुकाबले अधिक स्पष्ट, सकारात्मक और सच्चा है।'[28] उसने 'द्वेषी बूढ़े राजनीतिज्ञ के प्रति विदेशमंत्री के फिजूल के सद्भाव' की कड़ी आलोचना की[29]

और कहा कि इसका कोई लाभ नहीं होगा।[30] अभी तक तो सभी अच्छे उपहार – निष्कपट सद्भाव, मीठे शब्द, अच्छे-अच्छे आश्वासन बेकार होते रहे हैं। भारतीय राजनीतिज्ञ लपेटने वाले कपड़े जरूर पहनते हैं लेकिन वे बच्चे नहीं हैं। उसने कांग्रेस को 'खुश करने' के खतरों की बार-बार बात की, स्वयं के साथ चालबाजी की बात की लेकिन उसे सफलता नहीं मिली। वह महामहिम की सरकार से यह जानकारी प्राप्त नहीं कर सका कि वह कांग्रेस को राजी करने के लिए किस हद तक छूट देने के लिए तैयार है।[31] उसने कांग्रेस को सर्वसत्तात्मक पार्टी बताया जो अंग्रेजों को खदेड़ना और मुसलिमों तथा राजाओं का दमन करना चाहती है।[32] उसका यह पक्का विचार था कि 'यदि आवश्यक हो तो हमें चुनौती को स्वीकार करना चाहिए' और 'मुसलिमों को हवाले करने' से मना करना चाहिए।[33]

लीग पर भरोसा करने वालों का कहना था कि वह समझौते की इच्छुक है। इसके विपरीत कांग्रेस बहाने बना रही है।[34] मिशन के सामने जिन्नाह की जिद से वाइसरॉय को निराशा हुई। अब वाइसरॉय ने उसके सलाहकार का काम ले लिया था। उसने जिन्नाह को चेतावनी दी कि यदि वह अड़ा रहा तो अंग्रेज कांग्रेस के नजदीक चले जाएंगे।[35] चर्चिल भी इसी प्रकार की सहानुभूति दिखा रहा था[36]:

> बंबई में मोसलेम कांग्रेस में ब्रिटेन के बारे में जो अपमानजनक बातें कही गई हैं उनके बारे में पढ़कर मुझे बहुत आश्चर्य हुआ है। मुसलिमों के बारे में कहा गया है कि 'वे अंग्रेजों की गुलामी'-कर रहे हैं। यह एकदम गलत और अहसानफरामोशी है। मुसलिमों की यह बहुत बड़ी बेवकूफी है। सरकारी पार्टी में कांग्रेस के लिए बहुत समर्थन है और आप अपने दोस्तों को वहां धकेल रहे हैं।

वाइसरॉय लीग के समर्थन के बगैर कांग्रेस सरकार के खिलाफ था। अकेले लीग की सरकार से उसे कोई एतराज नहीं था। दूसरी ओर विदेशमंत्री और क्रिप्स का स्पष्ट विचार था कि केवल लीग की सरकार से केयरटेकर सरकार बेहतर है।[37] जिन्नाह ने इस आधार पर लीग की सरकार के लिए तर्क दिया कि उसकी पार्टी ने 16 मई और 16 जून के बयानों को स्वीकार कर लिया था।[38] लेकिन लीग के खैरख्वाहों ने भी यह बात स्वीकार की कि लीग के मुकाबले कांग्रेस ने अधिक साफ शब्दों में अपनी मंजूरी की घोषणा की।[39] सरकारी हलकों में प्रमुख रूप से यह मान्यता थी कि लीग के मुकाबले कांग्रेस ज्यादा मुसीबतें खड़ी करेगी। इसलिए उसके साथ समझौता जरूरी था। लेकिन लीग के साथ सहानुभूति रखने वाला वाइसरॉय तथा दूसरे अधिकारी नहीं चाहते थे कि लीग को नजरंदाज किया जाए। उन्होंने अपने साथियों को चेतावनी दी कि लीग भी गड़बड़ी फैला सकती है।

लीग के खिलाफ हुए बगैर कांग्रेस के पक्ष में कैसे हुआ जाए

कैबिनेट मिशन की योजना के अंतर्गत प्रांतों को खंडों में बांटा गया। खंड ए में मद्रास,

बंबई, उत्तर प्रदेश, बिहार, केंद्रीय प्रांतों और उड़ीसा को रखा गया; खंड बी में पंजाब, सिंध और एन डब्ल्यू एफ पी थे; और खंड सी में बंगाल और असम थे। प्रत्येक खंड अपने समूह के संविधान के बारे में निर्णय लेने के लिए अलग से बैठक करेगा। सामान्य केंद्र रक्षा, विदेशी मामलों और संचार को देखेगा। पहले आम चुनावों के बाद कोई प्रांत किसी समूह के बाहर आ सकता था। 10 वर्ष के बाद कोई भी प्रांत, समूह अथवा यूनियन संविधान पर फिर से विचार करने के लिए कह सकता था। कांग्रेस चाहती थी कि प्रांतों को पहले आम चुनावों की प्रतीक्षा किए बगैर किसी समूह को छोड़ने की छूट मिलनी चाहिए। कांग्रेस शासित प्रांत असम और एन डब्ल्यू एफ पी खंड बी और सी खंडों से बाहर आना चाहते थे क्योंकि इनमें मुसलिम बहुसंख्यक राज्यों की प्रमुखता थी। लीग चाहती थी कि प्रांतों को 10 वर्ष की इंतजार किए बगैर यूनियन संविधान का विरोध करने का अधिकार होना चाहिए। मिशन योजना इस बारे में स्पष्ट नहीं थी कि समूह बनाना अनिवार्य है या वैकल्पिक। इसने ढुलमुल शब्दों में कहा कि खंड अनिवार्य हैं लेकिन समूह बनाना वैकल्पिक है। कांग्रेस और लीग दोनों को यह दिखाने का प्रयास किया जा रहा था कि उनकी बात मान ली गई है। कैबिनेट मिशन की योजना में समूह बनाने का प्रावधान प्रभुतासंपन्न पाकिस्तान की जिन्नाह की मांग के विकल्प के रूप में किया गया था।[40] समूह बनाने का उद्देश्य स्वायत्ता के लिए लीग और मुसलिम बहुसंख्यक प्रांतों की इच्छा को पूरा करना था। समूह से बाहर निकलने का प्रांतों का अधिकार कांग्रेस शासित प्रांतों एन डब्ल्यू एफ पी और असम की खास स्थिति को ध्यान में रखकर रखा गया था। इनमें तथा समूह के लीग शासित प्रांतों में बहुत कम सामान्य बातें थीं। यदि प्रांत समूहों में शामिल ही नहीं होते तो समूह योजना ही खत्म हो जाती। इसलिए यह व्यवस्था की गई कि प्रांत संविधान बनने के बाद ही समूह को छोड़ सकते हैं। मिशन ने 4 मई 1946 को वाइसरॉय के साथ अपनी बैठक में इसे बिलकुल साफ कर दिया।[41]

कांग्रेस चाहती थी कि समूह में शामिल न होने का अधिकार प्रांत के पास शुरू से ही रहना चाहिए। लीग ने इस बात पर बल दिया कि प्रांत अपने समूहों में अब शामिल हों और समूह में रहने या उसे छोड़ने के विकल्प का प्रयोग नया संविधान बनने के बाद करें। कांग्रेस की व्याख्या के अनुसार प्रांतों के पास समूह में शामिल न होने का विकल्प था जबकि लीग यह मानती थी कि उनके पास समूह को बाद में छोड़ने का ही विकल्प था। ये दोनों मत एक दूसरे के खिलाफ थे। कांग्रेस अनिवार्य समूह निर्माण के विपरीत तुरंत प्रांतीय विकल्प की बात करती थी।

मिशन ने कांग्रेस और लीग दोनों की स्थितियों में समझौते का प्रयास किया और दोनों व्याख्याओं को रखने की कोशिश की। इसलिए इसमें कोई संगति नहीं रही।[42] प्रधानमंत्री को दिनांक 8 मई 1946 का मिशन का पत्र 'कांग्रेस के इस सूत्र' के साथ शुरू होता है कि कोई भी प्रांत 'समूह से अलग रह सकता है।'[43] इसके बाद दूसरी व्याख्या की गई है कि

कोई भी प्रांत समूह से बाहर आ सकता है। कैबिनेट मिशन ने इस बारे में स्थिति साफ नहीं की कि समूह बनाना अनिवार्य है या वैकल्पिक। ऐसा उसने विसंगतिपूर्ण बातों में संगति बैठाने की आशा में किया। वाइसरॉय, अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं के बीच विचार-विमर्श से स्पष्ट है कि यह अस्पष्टता जानबूझकर रखी गई। प्रधानमंत्री ने बताया कि प्रांतीय विकल्प वाला खंड स्पष्ट नहीं है।[44] शायद उसे मालूम नहीं था कि ऐसा जानबूझकर किया गया है। वाइसरॉय इसे बेहतर जानता था। इसलिए उसने मिशन पर 'जानबूझकर ढुलमुल' रहने का आरोप लगाया ताकि कांग्रेस की बात रखी जा सके।[45] आबेल ने सारी योजना को भांप लिया था। उसने चेतावनी दी कि 'दो भिन्न व्याख्याओं वाला अस्पष्ट बयान यदि दोनों पार्टियों को एग्जीक्यूटिव कौंसिल में लाने के इरादे से रखा गया है तो इससे बाद में मुसीबत खड़ी होगी।'[46]

जैसी कि उम्मीद थी मिशन की बातों का छल लीग और कांग्रेस को इकट्ठा नहीं कर सका। जिन्नाह ने समूह बनाने के मामले में मिशन पर कांग्रेस की बात मान लेने का आरोप लगाया।[47] विदेशमंत्री ने जवाब दिया कि मिशन ने कांग्रेस और लीग के विचारों में समझौता किया है। इससे जिन्नाह संतुष्ट नहीं हुआ।[48] लेकिन मिशन ने अपनी गोलमोल बात जारी रखी। 9 मई 1946 को आयोजित शिमला सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि 'किसी भी प्रांत को उसकी इच्छा के खिलाफ समूह में रहने के लिए मजबूर न किया जाए।'[49] लेकिन इसके विपरीत लीग को आश्वासन दिया गया कि प्रांतीय विकल्प का उपयोग संविधान बन जाने के बाद ही किया जाए।[50] क्रिप्स ने समूह बनाने के बारे में फैसला आजादी के बाद बालिग मतदान द्वारा चुने गए नए विधानमंडल पर छोड़ने के लिए प्रयास किया।[51]

16 मई के बयान के ठीक बाद गांधी ने मिशन को प्रतिबद्ध करने के लिए कांग्रेस की मंजूरी का प्रस्ताव किया। उन्होंने यह जानना चाहा कि क्या कांग्रेस योजना के स्वागत के साथ-साथ समूह बनाने का विरोध कर सकती है।[52] यह लीग की पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लेने जैसा था और रियायतें मांगे जाने के डर से वाइसरॉय ने इस बात पर बल दिया कि मिशन अपने पुराने रुख पर पूरी तरह से कायम रहे।[53] कांग्रेस अध्यक्ष को बताया गया कि समूह बनाना योजना के लिए अनिवार्य है लेकिन दोनों पार्टियों के बीच सहमति से क्रियाविधि में परिवर्तन किए जा सकते हैं।[54]

मिशन ने स्पष्टीकरण दिया था कि सहमति से योजना की क्रियाविधि में परिवर्तन किए जा सकते हैं। लेकिन इससे कोई समझौता नहीं हुआ। इसकी वजह से योजना दस्तावेज अंतिम निर्णय के बजाए कामचलाऊ व्यवस्था का कागज बन कर रह गया। योजना की दो विरोधी व्याख्याओं के साथ कांग्रेस और लीग को आगे बढ़ने के लिए कहा गया। नेहरू ने धमकी दी कि 'कांग्रेस मजबूत केंद्र और समूह प्रणाली को तोड़ने के लिए काम करेगी और उसमें कामयाब होगी।'[55] इसके विपरीत लीग ने योजना को यह मानकर स्वीकार कर लिया कि 'इसमें छह मुसलिम प्रांतों का अनिवार्य रूप से समूह बनाने के निर्णय में

पाकिस्तान के निर्माण की बात अपने आप आ जाती है।'[56]

जून के मध्य में कांग्रेस अध्यक्ष को यह आश्वासन दिया गया कि समूह बनाना अनिवार्य नहीं है और यदि समूह बनाए जाते हैं तो प्रांत उनसे बाहर आ सकते हैं।[57] वाइसरॉय बहुत नाराज था। वह कांग्रेस को राजी करने में हिस्सेदार नहीं बनना चाहता था। इसके बजाए वह जिन्नाह को सरकार बनाने देता। उसने मिशन पर बदनियति का आरोप लगाते हुए कहा; '(या तो) नीति को बगैर सहमति के बदला गया है या श्री गांधी को दिया गया आश्वासन सच्चा नहीं है।'[58] उसने शिकायत की कि उसके स्पष्टीकरण के अनुसार समूह बनाना योजना का जरूरी हिस्सा है। लेकिन 'विदेशमंत्री ने उससे इस बात पर बल न देने के लिए कहा है।' वह विदेशमंत्री के इस स्पष्टीकरण से संतुष्ट नहीं हुआ कि यदि हम गांधी के सामने समूह बनाने पर जोर देंगे तो वे नाराज हो जाएंगे।[59] वाइसरॉय ने कहा कि झूठे तरीके से मंजूरी लेने के बजाए कांग्रेस की नामंजूरी अधिक ठीक रहती - इससे तो योजना की समूह बनाने की बुनियादी बात ही खत्म हो जाती है।[60]

मजे की बात यह है कि कांग्रेस की तरह लीग ने भी शर्तें लगाकर मंजूरी दी थी लेकिन वाइसरॉय इस पर नाराज नहीं हुआ। कांग्रेस ने बगैर समूहों के योजना को मंजूर किया तो लीग ने यह मानकर उसे मंजूर किया कि अनिवार्य रूप से समूह बनाने में पाकिस्तान की बात अपने आप आ जाती है। यह योजना बनाने वाले की मंशा को और अधिक तोड़ने-मरोड़ने जैसी बात हुई। उन्होंने यह योजना पाकिस्तान के विकल्प के लिए बनाई थी न कि उसके निर्माण के लिए।

29 जुलाई 1946 को मुसलिम लीग ने कैबिनेट मिशन योजना के लिए अपनी मंजूरी वापस ले ली। इससे केवल कांग्रेस की सरकार फिर बनने की संभावना पैदा हुई। इसके लिए अधिक समर्थन मौजूद था। वाइसरॉय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल से लेकर भारत कार्यालय के अधिकारियों ने इसका समर्थन किया।[61] यहां तक कि वाइसरॉय ने इस बात पर बल दिया कि 'जन समर्थन वाली केंद्र सरकार बनाना सबसे अधिक जरूरी है।'[62] लेकिन वाइसरॉय के पहले के विरोध को ध्यान में रखते हुए विदेशमंत्री ने महामहिम की सरकार की स्थिति को इस प्रकार स्पष्ट किया : 'नेहरू से मिलते समय और उनसे या किसी दूसरे कांग्रेसी नेता से बात करते समय इस बात को ध्यान में रखें कि इस समय अंतरिम सरकार बनाना बहुत महत्वपूर्ण है।'[63] कांग्रेस सरकार द्वारा शपथ ले लिए जाने के बाद लंदन में चैन की सांस ली गई।[64]

कैबिनेट मिशन के भारत में आने के समय से ही वाइसरॉय चेतावनी दे रहा था कि आंदोलन के डर से कांग्रेस की उग्रवादी मांगें न मान ली जाएं।[65] वह महामहिम की सरकार से यह स्पष्टीकरण चाहता था कि कांग्रेस द्वारा वास्तव में आंदोलन शुरू कर दिए जाने की हालत में उसकी क्या नीति होगी। महामहिम की सरकार ने इस संभावना पर विचार करने से इनकार कर दिया। उसके विचार से कांग्रेस में नरम रुख वाली ताकतें समझौता चाहती

हैं और आंदोलन की कोई आशंका नहीं है। उन्हें उम्मीद थी कि 'कांग्रेस में शक्तिशाली तत्व अव्यवस्था नहीं चाहते और वे गैर जिम्मेदार तत्वों का विरोध करेंगे।'[66]

वाइसरॉय ने इस बात से इनकार नहीं किया कि कैबिनेट मिशन के आने से देश छोड़ कर जाने की अंग्रेजों की मंशा में लोगों का विश्वास हुआ है और इससे ब्रिटिश विरोधी आंदोलन का खतरा भी कम हुआ है। लेकिन बढ़ते सांप्रदायिक तनाव से संकट पैदा होने की आशंका थी।[67] इससे विदेशमंत्री की बात की ही पुष्टि हुई कि कोई सामान्य नीति नहीं हो सकती है। नीति इस बात पर निर्भर करेगी कि खतरा किधर से है।

यदि किसी खास मामले पर बात टूटने का डर हो तो महामहिम की सरकार समझौते के लिए तैयार थी। यदि वामपंथी धड़े से खतरा पैदा हुआ तो सरकार आंदोलन का दमन करने के लिए तैयार थी।[68] वाइसरॉय को समझौते की कांग्रेस की इच्छा में संदेह था लेकिन वह भी यह मानता था कि पटेल और दक्षिणपंथी धड़े के लोग पद स्वीकार करना चाहते हैं और जिम्मेदारी आ जाने के बाद वे वामपंथी धड़े से सख्ती से निपटेंगे।[69] सरकार किसी भी मुद्दे पर काग्रेस पार्टी के साथ संघर्ष नहीं चाहती थी। वह पार्टी द्वारा जयप्रकाश नारायण जैसे उग्रवादियों के विरुद्ध कार्रवाई की प्रतीक्षा के सिवाय और कुछ नहीं कर सकती थी।[70]

ऐसा कोई मुद्दा नहीं था जिस पर समझौता नहीं हो सकता था। वाइसरॉय ने संदेह व्यक्त किया कि कांग्रेस सरकार महामहिम की सरकार की विदेश नीति विशेष रूप से इंडोनेशिया, तिब्बत, अफगानिस्तान और खाड़ी में अपनी विदेश नीति में परिवर्तन कर सकती है। विदेशमंत्री ने उससे आग्रह किया कि वह कांग्रेस के दृष्टिकोण का सम्मान करने की पूरी कोशिश करे। महामहिम की सरकार विदेश नीति संबंधी अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए वैकल्पिक व्यवस्था कर सकती है। इंडोनेशिया से सेना वापस बुलाने की कांग्रेस की मांग को चतुराईपूर्ण तरीके से टाला जा सकता है।[71] 1942 में अधिकारियों द्वारा 'ज्यादतियों' का मामला कांग्रेस के साथ बैठकर सुलटाया जा सकता है।[72] लेकिन सरकार ब्रिटिश सेना में गोरखाओं की भर्ती को जारी रखने के लिए दबाव डाले।[73] महामहिम की सरकार ने जनता के बीच कांग्रेस के आक्रामक तेवर के नीचे किसी नरमी की ओर इशारा किया।[74] भारतीय पार्टियों की बराबर यह प्रथा रही है कि उन्हें जो कुछ मिलने की उम्मीद होती है उसके लिए सौदेबाजी की तैयारी वे काफी पहले शुरू कर देती हैं। नेहरू के पत्र पर यह मानकर कार्रवाई कर देना आत्मघाती होगा कि कांग्रेस से सीधे-सीधे संबंध विच्छेद के खतरे के तहत यह अंतिम चुनौती है।

संबंध विच्छेद की संभावना नहीं है। फिर भी वाइसरॉय से कहा गया कि यदि ऐसी स्थिति पैदा हो तो इसकी सूचना महामहिम की सरकार को दी जाए ताकि और रियायतें देकर इसे टाला जा सके। विदेशमंत्री कैबिनेट मिशन के रुख में संशोधन करके समूह-निर्माण के बारे में कांग्रेस के विचार को स्वीकार करने के लिए तैयार था।[75] लेकिन अलैग्जेंडर इसके विरुद्ध था।[76] उसके अनुसार यह कांग्रेस के सहयोग की गारंटी के बगैर जिन्नाह को

नाराज करना होगा। एन डब्ल्यू एफ पी और असम में कांग्रेस की सहायता के लिए विदेशमंत्री ने खंडों के मुकाबले प्रांतों को और अधिक स्वायत्तता देने का प्रस्ताव किया।[77] वाइसरॉय अकेले कांग्रेस को साथ लेने के बजाए उससे संबंध तोड़ने को ज्यादा ठीक समझता था। विदेशमंत्री ने स्वीकार किया कि कांग्रेस को साथ न लेने से सांप्रदायिक दंगे हो सकते हैं और यदि कांग्रेसियों को यह लगा कि महामहिम की सरकार झुक रही है तो उन्हें रोकना मुश्किल हो जाएगा। यदि कुछ भी नहीं किया जा सका तो नेहरू और जिन्नाह को बातचीत के लिए लंदन बुलाया जाएगा। यदि करार नहीं हो सका तो प्रांत अपना संविधान बनाने के लिए निकाय गठित कर देंगे। जाहिर है कि महामहिम की सरकार ने कांग्रेस के साथ संबंध विच्छेद करने से मना कर दिया।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. आयशा जलाल की यह गलत दलील थी कि कांग्रेस विभाजन चाहती थी और जिन्नाह इसके खिलाफ था. इस बारे में समीक्षा के लिए देखें अध्याय 9 और 10 (पंजाब और बंगाल के विभाजन के बारे में खंड), जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 262.
2. अवर विदेशमंत्री से विदेशमंत्री, 1 मार्च 1946, वॉल्यूम 6, पृ. 1094.
3. बगैर तारीख का यू.पी. गवर्नर का नोट, वही, वॉल्यूम 7, पृ. 70.
4. असम के गवर्नर का नोट, 3 अप्रैल 1946, वही, पृ. 104
5. 25 अप्रैल 1946, वही, पृ. 330-34.
6. मसौदा बयान का पहला संशोधित प्रूफ, एन.डी., वही, पृ. 371.
7. वाइसरॉय का किंग जॉर्ज VI को पत्र, 8 जुलाई 1946, वही, पृ. 1092.
8. फिलिप मैसन, *दि मैन हू रूल्ड इंडिया*, लंदन, 1985, पृ 387.
9. ज्ञापन दिनांक 11 मई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 12, पृ. 800-806.
10. 27 मार्च 1946, वही, वॉल्यूम 7, पृ 13-14.
11. कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय से प्रधानमंत्री, 11अप्रैल 1946, वही, पृ. 220-21
12. एटली से कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय, 13 अप्रैल 1946, वही, पृ. 260.
13. अवर विदेशमंत्री के ज्ञापन में यह कहा गया है कि योजना के वे सभी नुकसान होंगे जो पाकिस्तान के बारे में मुसलिम लीग की मूल परियोजना के होंगे. इसके अतिरिक्त महामहिम की सरकार को एक और परेशानी होगी. उसे दो अलग-अलग मुसलिम क्षेत्रों की जिम्मेदारी में हमेशा के लिए फंसना पड़ेगा : 'हम ने तो भारत से बाहर निकल पाएंगे और न ही हमारे पास इसके कारगर शासन के लिए साधन होंगे', 12 जून 1946, वही, पृ. 902.
14. कैबिनेट डिफेंस कमेटी (सीडीसी) बैठक, 14 जून 1946, वही, पृ. 926-29
15. गुप्ता, 'इंपीरियल स्ट्रेटिजी एंड ट्रांसफर आफ पावर', पृ. 2.
16. 21 फरवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 1026.
17. 15 मार्च 1946, *हाउस आफ कॉमन्स, पार्लियामेंटरी डिबेट्स*, हंसर्ड.
18. 5 अप्रैल 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 149-51.
19. 26 मई 1946, वही, पृ. 705. साथ ही देखें वावेल की 'एप्रीसिएशन आफ दि पॉलिटिकल सिचुएशन, मई 1946', 30 मई 1946, वही, पृ. 731-37.

20. बिना तारीख का मसौदा तार, वही, पृ. 746.
21. 2 जून 1946, *वावेल्स जर्नल*, पृ. 284. वाइसरॉय ने कांग्रेस द्वारा जोड़-तोड़ करके अपनी सरकार बना लिए जाने के बजाए केयरटेकर सरकार बनाने को तरजीह दी. रंकिन से टर्नबुल में उल्लिखित वाइसरॉय का नोट, 25 जून 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 1038.
22. क्रॉफ्ट से मॉनटीथ, 22 जून 1946, वही, पृ. 1070.
23. गुप्ता, 'इंपीरियल स्ट्रेटेजी', पृ. 27-30.
24. वही, पृ. 10 और सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 151-52.
25. आर.जे. मूर, 'टुवड्‌र्स पार्टिशन एंड इनडिपेंडेंस इन इंडिया', *जर्नल आफ कॉमनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पॉलिटिक्स* (इसके बाद *जे सी सी पी*) में, वॉल्यूम 20.2, जुलाई 1982, पृ. 189-99.
26. क्रॉफ्ट एंड टर्नबुल, 25 अप्रैल 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 336. ग्रिफ्टस ने भी यह तर्क दिया कि एकता अंग्रजों ने पैदा की है और यह तभी कायम रह सकती है जब अंग्रेज 50-100 वर्ष यहां रहें. विदेशमंत्री को, 3 सितंबर 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 402-403.
27. वाइसरॉय से कैबिनेट मिशन, 15, 22 और 30 मई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. क्रमशः 502-504, 657 और 931.
28. किंग जार्ज VI को, 8 जुलाई 1946, वही, पृ. 1091-92.
29. इशारा गांधी की तरफ था. देखें वावेल्स जर्नल, 3 अप्रैल 1946, पृ. 326.
30. वही, 18 अप्रैल 1946, पृ. 249.
31. वही, 9 अप्रैल 1946, पृ. 240. वाइसरॉय से कैबिनेट मिशन, 2 और 3 जून 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 771 से 776 और 786. वाइसरॉय के नोट पर रंकिन की टिप्पणी, 25 जून 1946, वही, पृ. 1038.
32. वाइसरॉय से कैबिनेट मिशन, 20 मई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 115.
33. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 24 जुलाई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 115.
34. कैबिनेट मिशन के लिए वुडरो व्यांट का नोट, 28 मार्च 1946, वही, वॉल्यूम 7, पृ. 22-24.
35. कैबिनेट मिशन और जिन्नाह के साथ वाइसरॉय की बैठक, 9 मई 1946, वही, पृ. 480.
36. 3 अगस्त 1946, मार्टिन गिलबर्ट द्वारा उद्धृत *चर्चिल पेपर्स*, विंसटन चर्चिल: *नेवर डिस्पेयर*, 1945-65, लंदन 1985, पृ. 248.
37. विदेशमंत्री से प्रधानमंत्री और अवर विदेशमंत्री को, 26 जून 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 1064.
38. कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय को, 25 जून 1946, वही, पृ. 1044-48.
39. वही, पृ. 1044.
40. देखें आर. जे. मूर, एस्केप फ्रॉम एंपायर. सांविधानिक बातचीत के विस्तृत विवरण के लिए.
41. *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 414.
42. विदेशमंत्री से जिन्नाह को, 9 मई 1946, पृ. 469-71.
43. वही, पृ. 455.
44. कैबिनेट मिशन को, 8 मई 1946, वही, पृ. 457.
45. विदेशमंत्री को 2 जून 1946, वही, पृ. 776.
46. आबेल द्वारा नोट, 1 जून 1946, वही, पृ. 757.
47. जिन्नाह से विदेशमंत्री, 8 मई 1946, वही, पृ. 464.
48. विदेशमंत्री से जिन्नाह, 9 मई 1946, वही, पृ. 46-71.
49. वही, पृ. 489.
50. 16 मई 1946, वही पृ. 577.
51. प्रेस बयान, 16 मई 1946, वही, पृ. 597.

52. 19 मई 1946, वही पृ. 623.
53. वाइसरॉय के साथ मिशन की बैठक, 19 मई 1946, वही, पृ. 629.
54. विदेशमंत्री से आजाद, 22 मई 1946, वही पृ. 659.
55. कैबिनेट मिशन और आजाद तथा नेहरू के साथ वाइसरॉय की बैठक, 10 जून 1946, वही, पृ. 855.
56. 6 जून 1946 का संकल्प, वाइसरॉय को प्रेषित, वही, पृ. 836.
57. आजाद को, 15 जून 1946, वही, पृ. 947.
58. कैबिनेट मिशन के लिए वाइसरॉय का नोट, 25 जून 1946, वही, पृ. 1039.
59. कैबिनेट मिशन की वाइसरॉय के साथ बैठक, 25 जून 1946, वही, पृ. 1042.
60. कैबिनेट मिशन के लिए वाइसरॉय का नोट, 25 जून 1946, वही, पृ. 1039; और वावेल्स जर्नल, 26 जून 1946, पृ. 306
61. वाइसरॉय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल, 4 अगस्त 1946 की बैठक और मॉनटीथ का नोट, 30-31 अगस्त 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. क्रमशः 184-85 और 358.
62. विदेशमंत्री को, 31 जुलाई 1946, वही, पृ. 155.
63. वाइसरॉय को, 30 अगस्त 1946, वही, पृ. 352-53.
64. विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 28 अगस्त 1946, वही, पृ. 334 और 336.
65. वावेल्स जर्नल, 30 मार्च 1946, पृ. 232.
66. कैबिनेट निष्कर्ष, 5 जून 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 831.
67. वाइसरॉय का नोट, 29 जून 1946, और वाइसरॉय से किंग जॉर्ज VI, 8 जुलाई 1946, वही, पृ. 1085 और 1091.
68. विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 16 जुलाई 1946 और विदेशमंत्री से प्रधानमंत्री, 15 जुलाई 1946, टर्नबुल से क्रॉफ्ट के साथ संलग्न, 16 जुलाई 1946, वही, वॉल्यूम 8, पृ. 70 और 64.
69. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 5 अगस्त 1946 और 31 जुलाई 1946, वही, पृ. 190-91 और 154.
70. गवर्नर सम्मेलन, 8 अगस्त 1946, वही, पृ. 209.
71. 28 मई 1946, कॉफ्ट से मॉनटीथ, 31 मई 1946, वही, वॉल्यूम 7, पृ. क्रमशः 719-20 और 742. साथ ही देखें बेविन और विदेशमंत्री द्वारा *कैबिनेट पेपर*, 30 अगस्त 1946; और *कैबिनेट निष्कर्ष*, 4 सितंबर 1946, वही, वॉल्यूम 8, पृ. 359-65 और 412-14.
72. वावेल से गवर्नर, 30 जुलाई 1946, वही, पृ. 145.
73. देखें बेविन और पैथिक लॉरेंस द्वारा कैबिनेट पेपर 30 अगस्त 1946, वही, पृ. 363.
74. पैथिक लॉरेंस से वावेल, 26 जुलाई 1946, वही, पृ. 123-24.
75. पैथिक लॉरेंस से वावेल, 30 अगस्त 1946, वही, पृ. 352-53.
76. अलैग्जेंडर से पैथिक लॉरेंस, 31 अगस्त 1946, वही, पृ. 366.
77. विदेशमंत्री से प्रधानमंत्री, 13 सितंबर 1946, वही, पृ. 514.

अध्याय सात

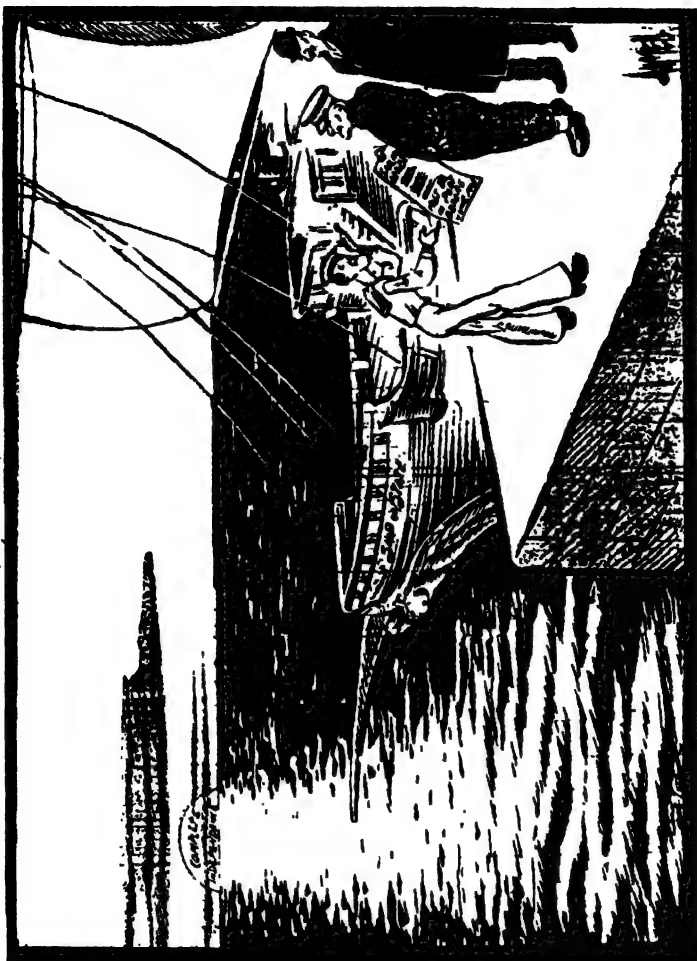
तारीख तय करो और छोड़ दो

1942 के क्रिप्स प्रस्ताव में युद्ध के बाद स्वयं सरकार की ओर से वायदा किया गया था। पैथिक लॉरेंस ने 1946 के नए साल के अपने संबोधन में साम्राज्य की शीघ्र समाप्ति की बात कही थी। इस बयान के बाद 19 फरवरी 1946 को एटली ने घोषणा की कि सत्ता हस्तांतरण के लिए सांविधानिक मशीनरी तैयार करने में भारतीयों की मदद के वास्ते मंत्री स्तर का कैबिनेट मिशन भारत जाएगा। क्रिप्स का विचार था कि भारत छोड़ने के लिए एक वर्ष की समय सीमा तय कर दी जाए। लेकिन मिशन के दूसरे सदस्यों ने इसे मंजूर नहीं किया।[1]

कैबिनेट मिशन ने वाइसरॉय के कार्यालय द्वारा तय की गई 'ब्रेक डाउन' योजना को भी तुरंत खारिज कर दिया। यह योजना कांग्रेस-लीग बातचीत के टूटने की स्थिति के लिए बनाई गई थी। योजना में विरोधी कांग्रेस इलाकों को छोड़कर भावी पाकिस्तान के प्रांतों में जाने की बात कही गई थी।[2] कैबिनेट मिशन ने इसकी निंदा की और इसे 'भागने की टाली गई योजना' बताया जिससे कोई समस्या हल नहीं होती।[3] कैबिनेट समय सीमा और चरणबद्ध वापसी दोनों के ही खिलाफ थी।[4] डर था कि जाने की एक निश्चित तारीख से कमजोरी का अहसास होगा जिससे ब्रिटेन की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को धक्का लगेगा। मुसलिम बहुल प्रांतों को पलायन से भी मना किया गया क्योंकि इसका मतलब होता पाकिस्तान को मंजूरी। एटली ने कैबिनेट मिशन को आश्वासन दिया कि भारतीय राजनीति में नरम रुख की विजय होगी और जिस संकट का डर है वह जल्दी नहीं आएगा।[5] सितंबर 1946 के शुरू में 'ब्रेक डाउन योजना' सामने आई। इस बार यह योजना करार टूटने नहीं बल्कि कानून और व्यवस्था के भंग हो जाने की आकस्मिकता के लिए बनाई गई।[6] प्रधानमंत्री, विदेशी मंत्री, कैबिनेट मिशन के सदस्यों और भारत कार्यालय के अधिकारियों ने इसे एक बार फिर खारिज कर दिया। कारण यह बताया गया कि इससे संसदीय दिक्कतें पैदा होंगी और सत्ता के लिए छीना-झपटी हो सकती है। विदेशमंत्री ने प्रधानमंत्री को कैबिनेट में विचार-विमर्श न करने की सलाह दी क्योंकि सुरक्षा कारणों से समझौता बहुत जरूरी है।[7]

वावेल ने 31 मार्च 1948 की निश्चित तारीख का जिक्र किया और कहा कि इसके बाद सरकार शक्तिहीन हो जाएगी और अपनी जिम्मेदारी पूरी नहीं कर सकेगी। यह तारीख भारत छोड़ने के लिए नहीं बल्कि योजना बनाने के लिए थी। साथ ही यह तारीख अपने हवाले के लिए थी घोषणा के लिए नहीं। राज का बोरिया-बिस्तर बांधने के पीछे यह

"I LAUNCHED HER, CHUM, YOU SAIL HER!"



स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 22 फरवरी 1947

विचार था कि 1948 की वसंत के बाद सरकार के पास प्रभुत्व नहीं रह जाएगा। उस घड़ी का इंतजार करने के बजाए डूबते जहाज से कुछ बेकार सामान बाहर फेंक दिया जाए। कांग्रेस प्रांतों से पल्ला झाड़कर बाकी बचे सीमित क्षेत्र में प्रभुत्व कायम रखा जा सकता था।

व्हाइट हॉल द्वारा बार-बार झिड़के जाने के बावजूद वावेल ने दबाव बनाए रखा। उसने आलोचना का उत्तर दिया और इस बारे में नीति बनाने की आवश्यकता पर बल दिया कि 'हम भारत को कैसे और कब छोड़ें'।[8] उस पर भी दबाव कम नहीं हुआ। संविधान सभा के बारे में लीग और कांग्रेस में गतिरोध बना रहा। जिन्नाह ने इस बात पर बल दिया कि समूह-निर्माण के बारे में स्थिति स्पष्ट हो जाने तक संविधान सभा को स्थगित रखा जाए। नेहरू सभा बुलाने अथवा लीग द्वारा अंतरिम सरकार में शामिल होने के लिए शर्तें पूरी किए जाने अर्थात कैबिनेट मिशन योजना मंजूर किए जाने में और देरी के लिए तैयार नहीं थे।[9] सांप्रदायिक हालत बहुत खराब हो गई थी और नवंबर 1946 में गृहयुद्ध की नौबत आ गई थी। ऐसी नाजुक स्थिति में किसी नीति की बहुत जरूरत थी।[10]

एटली इस बात से सहमत था कि ब्रिटिश प्रभुत्व को फिर से कायम करना अव्यावहारिक है। उसने लंबे समय तक ठहरने के खिलाफ पांच निर्विवाद तर्क दिए :[11]

> प्रशासन के भंग हो जाने अथवा हमारे खिलाफ राजनीतिक पार्टियों के एकजुट हो जाने की दशा में क्या हम अपनी नीति को छोड़कर राजनीतिक पार्टियों के खिलाफ अपने शासन को फिर से कायम कर सकते हैं और इसे 18 साल तक बनाए रख सकते हैं ? इसका उत्तर स्पष्ट न में होगा क्योंकि :
>
> (क) पूरी दुनिया में हमारी जिम्मेदारियों को देखते हुए हमारे पास इतनी सैन्य ताकत नहीं है कि हम व्यापक गुरिल्ला आंदोलन के खिलाफ भारत में टिके रहें या भारत को फिर से जीत सकें।
>
> (ख) यदि यह ताकत हमारे पास होती तो भी हमारी पार्टी में जनमत इसका समर्थन नहीं करता।
>
> (ग) भारतीय सेना को हम निष्ठावान रख सकेंगे इसमें भी शक है। इसमें भी शक है कि हमारी अपनी सेना कार्रवाई के लिए तैयार होगी या नहीं।
>
> (घ) विश्व जनमत हमारे खिलाफ होगा और संयुक्त राष्ट्र संघ में हमारी स्थिति बड़ी खराब होगी।
>
> (ड) हमारे पास ऐसा कोई ब्रिटिश या भारतीय प्रशासन तंत्र नहीं है जो इस नीति को कार्यान्वित कर सके।

कैबिनेट ने अंतिरम हल के रूप में नेताओं को सम्मेलन के लिए लंदन में बुलाने का सुझाव दिया।[12] लंदन आने पर वावेल ने कैबिनेट के नाम एक नोट में समयबद्ध वापसी का सुझाव

दिया।[13] उसने महामहिम की सरकार को बताया कि हमें 'यह मान लेना चाहिए कि मिशन की योजना में अब कुछ नहीं बचा है ...नई व्यवस्था करने के लिए हमारे पास सीमित समय और सीमित शक्ति है।' उसने तीन विकल्प बताए : 'दमन, कांग्रेस के सामने समर्पण और नया समझौता।' उसने इन तीनों विकल्पों को ही नामुमकिन बताया। ब्रेक डाउन योजना ही एकमात्र विकल्प था। इसे राजनीतिक गतिरोध की दशा में कार्यान्वित किया जाना था। योजना के तहत सरकार कांग्रेस के सामने दृढ़ रुख अपनाएगी। उसके विचार से यह समझौते के लिए बहुत जरूरी था।

प्रारंभ में क्रिप्स ने इस विचार का समर्थन किया। उसके विचार से एक निश्चित तारीख को सत्ता उस सरकार को ही सौंपी जा सकती है जिसे संविधान सभा से वैधता प्राप्त हो।[14] फेडरल न्यायालय के निर्णय के बावजूद यदि गतिरोध बना रहे तो सभा में मुसलिम लीग को भागीदारी के लिए मनाने का काम इसी सरकार पर छोड़ दिया जाए। लेकिन जब उसे पता चला कि न तो लंदन और न ही नई दिल्ली का अकेले कांग्रेस को सत्ता सौंपने का इरादा है तो उसने इस विचार के लिए अपना समर्थन वापस ले लिया। एटली (जिसकी वावेल ने दो सप्ताह पहले 'उल्लेखनीय प्रधानमंत्री' के रूप में प्रशंसा की थी)[15] के नेतृत्व में दूसरे मंत्रियों ने वावेल की योजना को जटिल और गैर-जिम्मेदाराना बताया। उन्होंने समझौते और संसद में कानून के बगैर केंद्र में सत्ता सौंपने और भारतीय सेना पर नियंत्रण देने में कठिनाई जताई।[16] महामहिम की सरकार ने पूरे मामले पर फिर से विचार किया। यह भी सोचा गया कि भारत को नए वाइसरॉय की जरूरत है।

एक निश्चित तारीख तक भारत की सत्ता सौंपने से महामहिम की सरकार के इनकार को वावेल ने समझ लिया। इस इनकार के बीज मंत्रियों के साम्राज्यवादी नजरिए में थे। उसके विचार से ए.बी. अलैग्जेंडर का 'दृष्टिकोण सांप्रदायिक है और उसे भारत की सत्ता सौंपे जाने के विचार से नहीं नफरत है।' बेविन बाकी लोगों की तरह भारत छोड़ने के विचार से नफरत करता है लेकिन साथ ही दूसरे लोगों की तरह उसके पास कोई सुझाव नहीं है।[17] बेविन ने एटली को नव वर्ष 1947 के नोट में अपनी आपत्ति के विषय में बताया : 'मैं कोई तारीख तय करने के खिलाफ हूं।'[18] लेकिन सभी मंत्री 'साम्राज्यवादी' नहीं थे। कइयों का मानना था कि जो कुछ किया जाना शेष है उसे देखते हुए 'भारत छोड़ने' का नोटिस लचीला क्यों नहीं होना चाहिए। कुछ भारत छोड़ने के प्रति ईमानदारी दिखाने के लिए निश्चित तारीख तय करना गलत नहीं मानते थे लेकिन वे दूसरी तारीख चाहते थे। 'तथ्यों' अर्थात प्रभुत्व में गिरावट में किसी को शक नहीं था। आपत्ति इस बात को लेकर थी कि इसे कैसे प्रस्तुत किया जाए। महामहिम सरकार वाइसरॉय से परेशान थी जो उनके अनुसार बरमिंघम की गृहिणी की तरह बुरे दिनों के लिए योजना बनाने में लगा था। उनका विचार था कि यदि कुछ भी अपने हाथ में न हो तो भी यह लगना चाहिए कि सब कुछ अपने हाथ में है। आत्महित उदारता लगना चाहिए। साथ ही यह लगना चाहिए कि उनके

अपने निर्णय के कारण ही सत्ता हस्तांतरित की जा रही है। वावेल चाहता था कि हार मान कर अपनी इच्छा के अनुसार पीछे हटा जाए। इसके विपरीत महामहिम की सरकार विरोधी के दबाव के कारण पीछे हटने को सफलता के रूप में दर्शाना चाहती थी।

महामहिम की सरकार यह मानकर चल रही थी कि भारतीयों से सहयोग मिलेगा जबकि वावेल विरोध और यहां तक कि विद्रोह की उम्मीद कर रहा था। महामहिम की सरकार ने वापसी को कदम दर कदम पीछे हटने की क्रिया की जगह बड़ी सावधानी के साथ की जाने वाली राजनीतिक क्रिया में तब्दील कर दिया। महामहिम की सरकार की नजरों में दिखावे का बुनियादी महत्व था। 25 नवंबर 1946 को विदेशमंत्री ने वावेल को स्पष्ट किया कि महामहिम की सरकार भारतीय पार्टियों के बीच समझौते की उम्मीद को छोड़ना नहीं चाहती। वह सार्वजनिक रूप में इस उम्मीद को बनाए रखना चाहती थी। वे संसद में भी यह स्वीकार नहीं करना चाहते थे कि 18 महीने बाद ब्रिटिश स्थिति खराब हो जाएगी। 'ऐसा करना अपनी सबसे ज्यादा निंदा करना और तुच्छता को स्वीकार करना होगा।'[19] 31 दिसंबर 1946 को हुई कैबिनेट बैठक के कार्यवृत्त में यह बात काफी स्पष्ट रूप से कही गई है :[20]

> कैबिनेट की आम राय के अनुसार ऐसा नहीं लगना चाहिए कि भारत से हमारी वापसी हमारी किसी कमजोरी के कारण हो रही है अथवा साम्राज्य के समाप्त होने की दिशा में यह कोई कदम है। इसके विपरीत यह पिछले वर्षों के दौरान आई सरकारों की नीतियों की तार्किक परिणतिं लगना चाहिए जिसका कि हम स्वागत करते हैं।

इसके दो दिन के भीतर कैबिनेट क़ार्यालय ने एक ज्ञापन तैयार कर लिया जिसमें सुधारों के इतिहास और स्वशासन के विभिन्न चरणों के विषय में बताया गया। नए बयान में अंतिम चरण की सूचना दी गई।[21] एटली के जीवनीकार कैनेथ हैरस के अनुसार ब्रेक डाउन योजना के खिलाफ एटली का तर्क यह था कि अंग्रेज भारत को अव्यवस्था की हालत में नहीं छोड़ सकते। यदि ऐसा किया गया तो दुनिया के लोगों की नजरों में वे गिर जाएंगे।[22]

महामहिम की सरकार ने वाइसरॉय और उसकी योजना को निराशावादी बताकर नामंजूर कर दिया। लेकिन समय-सीमा को स्वीकार कर लिया गया। भारत के 'अबोध लोगों' को स्व सरकार देने के लिए अंतिम वाइसरॉय द्वारा की जाने वाली नई पहल में समय-सीमा की बात को भी रख लिया गया। इस बार वापसी की तारीख को दाव-पेच के हथियार के बजाए शानदार उपहार के रूप में रखा गया।

भारत बर्मा कैबिनेट समिति के एक ज्ञापन में कहा गया है कि अंग्रेज 21 दिसंबर 1946 के बाद भारत में नहीं रहेंगे। 4 जनवरी के मसौदे में 1948 के मध्य की बात कही गई है। राज को समेटने की बात को छोड़ दिया गया और स्व-सरकार के विभिन्न चरणों के बारे में बताया गया। अगले दिन चरणबद्ध तरीके से प्रांतवार वापसी की वावेल की योजना

के स्थान पर पूरे देश से एक साथ धीरे-धीरे वापसी की बात कही गई। 6 जनवरी को वाइसरॉय की योजना को सरकारी तौर पर अलमारी में बंद कर दिया गया लेकिन भारत कार्यालय के अधिकारियों के आग्रह के बावजूद कोई वैकल्पिक आपातकालीन योजना नहीं बनाई गई। वाइसरॉय ने एक योजना बनाकर भेजी जिसमें महामहिम की सरकार द्वारा बताई गई रीति के अनुसार एक वर्ष में पूरे देश से वापसी के चरणों के बारे में बताया गया। इसमें सर्विसों, सेवाओं आदि के लिए अलग-अलग तारीखें रखी गईं। वावेल की इस योजना को लागू किए जाने तक कोई टाइमटेबल नहीं बनाया। तब तक सत्ता के व्यवस्थित तरीके से हस्तांतरण का मौका हाथ से निकल चुका था। 3 जून 1947 को बगैर किसी योजना के माउंटबैटन शैली में 72 दन के भीतर भारत छोड़ने के नोटिस के नतीजे आज भी हमारे सामने हैं।

वावेल निश्चित तारीख को बदले जाने, चरणबद्ध वापसी की योजना को नामंजूर कर दिए जाने और उसके स्थान पर नई पहल किए जाने से निराश था। उसने इस बात पर विरोध प्रकट किया कि उसके बयान में 1948 के मध्य की तारीख के अलावा सब कुछ अनिश्चित है : 'कुछ ठीक नहीं है, इसका नौ बटा दस अंश आम तरह की बकवास है।'[23] लेकिन वावेल जानता था कि व्हाइटहॉल में उसकी बात को कोई महत्व नहीं दिया जाता। इसलिए उसने कहा कि पंजाब, बंगाल और यू.पी. के गवर्नर और सेनाध्यक्ष ने इसका समर्थन किया।[24] बंगाल के गवर्नर का मानना था कि लीग को सरकार और संविधान सभा में न रखने की स्थिति में निश्चित तारीख के कारण अव्यवस्था पैदा हो सकती है। पंजाब के गवर्नर के अनुसार 'बयान के बाद निर्णायक सांप्रदायिक बल की परीक्षा होगी जिसमें हर कोई अधिक से अधिक सत्ता हथियाने की कोशिश करेगा।' यू.पी. के गवर्नर के अनुसार यदि पूरे देश में संयुक्त सरकारें बन जाएं तो बयान के सफल होने की 20 प्रतिशत उम्मीद है। सेनाध्यक्ष चाहता था कि सेना के पुनर्गठन और राष्ट्रीकरण के लिए तीन वर्ष का समय चाहिए। इससे पहले की तारीख रखने से अव्यवस्था हो सकती है।

घोषणा के दो दिन पहले वावेल ने सुझाव दिया कि नया वाइसरॉय बाद में किसी दिन जून 1948 को वापसी की अंतिम तारीख के रूप में घोषित करे।[25] लेकिन कुछ समय दिए जाने की उसकी हताश कोशिशें भी बेकार हो गईं।

वाइसरॉय और महामहिम की सरकार के बीच मतभेद 17 दिसंबर 1946 तक पूरी तरह उजागर हो गए।[26] महामहिम की सरकार का मानना था कि वापसी की घोषणा से प्रभुत्व में गिरावट का सिलसिला बंद हो जाएगा। इसलिए वाइसरॉय को डरने की जरूरत नहीं है। लेकिन वाइसरॉय इससे सहमत नहीं था। उसी दिन वाइसरॉय के रूप में माउंटबैटन के नाम का प्रस्ताव किंग के सामने किया गया। वावेल की लंदन में मौजूदगी में ही एटली ने माउंटबैटन से संपर्क किया। माउंटबैटन नौसेना में नए शुरू किए गए अपने कैरियर को छोड़ना नहीं चाहता था। इसलिए उसने कुछ ऐसी शर्तें रख दीं जो उसके हिसाब से महामहिम

की सरकार को मंजूर नहीं होंगी, जैसे महामहिम की सरकार द्वारा यह घोषणा कि वह अंतिम वाइसरॉय है और वाइसरॉय के रूप में आने के लिए भारतीय नेताओं से निमंत्रण।[27] एटली वर्ष के खत्म होने से पहले माउंटबैटन वाला काम पूरा कर लेना चाहता था। उसने एक विशेष जहाज भेजकर उसे यूरोप में क्रिसमस छुट्टियों से वापस बुला लिया। एटली ने 8 जनवरी 1947 के बाद किसी समय वावेल को घर वापस आने के लिए लिखा। ऐसा उसे इस्तीफा देने के लिए मजबूर करने के इरादे से किया गया। कम से कम वावेल तो यही समझता था 'एक घटिया आदमी से भावशून्य, अभद्र और अस्पष्ट पत्र।'[28] किंग से 17 तारीख को अनुमोदन मांगा गया जो कि 29 तारीख को मिल गया। माउंटबैटन का नाम न बताते हुए वावेल को यह सूचित करने के लिए एक पत्र लिखा गया कि वाइसरॉय के रूप में उसकी युद्धकालीन नियुक्ति समाप्त होने वाली है।

एटली ने बताया कि नीतियों को लेकर महामहिम की सरकार और वाइसरॉय के बीच व्यापक मतभेद हैं। इसलिए नए आदमी का होना जरूरी है। वावेल ने खुद यह महसूस किया कि वह इस पद के लिए बहुत छोटा है। वह बहुत ज्यादा निराश और तनाव में था। लेकिन उसने बड़ी शालीनता के साथ कहा कि उसे इस तरह से हटाकर वाइसरॉय के बड़े पद की तौहीन की गई है। उसका इस तरह से हटाया जाना असम्मानजनक है। यह कार्य शिष्टता के साथ नहीं किया गया है।[29] वावेल ने बड़े कटु तरीके से एटली की इस बात से इनकार किया कि मतभेद का कारण 'मेरे द्वारा निश्चित नीति की मांग और महामहिम की सरकार का इससे इनकार था।' मार्च 1947 के शुरू तक भी वाइसरॉय के स्टाफ को नई नीति के बारे में काई जानकारी नहीं थी या वावेल ऐसा समझता था। वह कैबिनेट के साथ अपनी अंतिम बैठक में भी उसे परामर्श देता रहा कि विभाजन के लिए व्यापक व्यवस्था कर ली जाए।[30]

लेकिन बर्खास्त वाइसरॉय से कौन डरता है ? एटली ने वावेल को एक तार भेजा[31] जिसमें उसने वावेल पर आरोप लगाया कि उसने स्वयं द्वारा तय की गई समय-सीमा को अपनाने से इनकार किया है। एटली ने तर्क दिया कि जो मंत्री इसके खिलाफ थे उन्होंने भी वावेल के आग्रह पर इसे मौन सहमति दे दी। वावेल मौके पर मौजूद था। उसे इस बात की जानकारी होनी चाहिए। वह ऐसे बच्चे को नाजायज कैसे कह सकता है जिसका पिता वह स्वयं है। तार में वही सब गुस्सा और झूठी बातें (जो कि शायद जानबूझकर रखी गई) थीं जो कि वावेल के बारे में एटली की प्रतिक्रिया में हुआ करती थीं। कहने की आवश्यकता नहीं कि वावेल का यह आग्रह गलत था कि वह उसी नाव में डूबे या बचे जो उसने दूसरी धारा में छोड़ी हुई है। एटली के अनुसार वावेल की योजना 'केंद्रीय बात' उसकी निश्चित तारीख थी। यह भी गलत था। नई निश्चित तारीख के पीछे धोखेबाजी थी जबकि वावेल ने यह विचार साम्राज्य की समाप्ति के बाद अंग्रेजों की निरापद वापसी के लिए रखा था।

एटली ने विशेष रूप से दूसरों के सामने वावेल के विचारों को हमेशा तोड़-मरोड़कर

रखा। सबसे पहले उसने ब्रेक डाउन योजना को सेना की वापसी के रूप में देखा जबकि वास्तव में ऐसी बात नहीं थी। दूसरे, इसे विफलता के स्त्रीकार के रूप में देखा गया जबकि वास्तव में इसके द्वारा निराशा और बेचारगी को रोकने का प्रयास किया गया। इसके तहत यह घोषणा करके पहल अपने हाथ में रखने की कोशिश की गई कि वापसी साम्राज्यवादी मालिकों द्वारा तय की गई गति और तरीके से होगी। यह सांप्रदायिक तनाव के बारूद से जुड़े टाइम बम से डरकर भागने की योजना नहीं थी। तीसरे, एटली ने वापसी के दौरान भारतीय जनता द्वारा शत्रुतापूर्ण व्यवहार के बारे में वावेल की पूर्वधारणा का विरोध किया।[32] लेकिन वास्तव में वावेल ब्रिटिश नियंत्रण वाले क्षेत्रों में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के जारी रहने और प्रांतों में क्षेत्रीय सहयोग की मान्यता को लेकर चल रहा था। चौथे, महामहिम की सरकार की नीति को स्पष्ट करते हुए एटली ने राज्यों के प्रधानमंत्रियों को यह सूचित नहीं किया कि वावेल प्रांतवार वापसी चाहता था।[33] पांचवें, एटली ने वावेल को 17/18 फरवरी 1947 के अपने तार और 18 फरवरी को कैबिनेट बैठक में वाइसरॉय की पराजयवादी तसवीर प्रस्तुत की।[34]

समय-सीमा की बात किसने की ? वावेल ने राज का बोरिया बिस्तर बांधने के लिए 31 मार्च 1948 की तारीख का प्रस्ताव किया। 17 दिसंबर 1946 को एटली ने भी समयबद्ध रवानगी के आम विचार को स्वीकार कर लिया। इसी दिन वाइसरॉय के रूप में माउंटबैटन के नाम का सुझाव किंग को दिया गया। भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी के मसौदा ज्ञापन में 31 मार्च 1948.की पक्की तारीख को रखा गया। इसे बाद में बदल कर 1948 का मध्य कर दिया गया।[35]

3 जनवरी 1947 को प्रधानमंत्री के नाम अपने पत्र में माउंटबैटन ने कोई तारीख तय किए जाने पर बल दिया (अनिता इंद्रसिंह ने तारीख 11 फरवरी बताई है जो कि गलत है)।[36] एटली आम राय से सहमत था। उसने भी पक्की तारीख के बजाए 1948 के मध्य को स्वीकार किया। 4 जनवरी 1947 के मसौदा नीति बयान में '1948 के मध्य' को विधिवत रूप में शामिल कया गया।[37] माउंटबैटन ने 1948 के मध्य को जून 1948 कर दिया,[38] (न कि दिसंबर 1948 के बजाए 1948 की दूसरी छमाही से जून 1948 जैसा कि कैंपबैल जॉनसन ने कहा है)[39] उसने यह तर्क दिया कि भारतीय नेताओं को 1 जून की तारीख ही दी जाएगी लेकिन आवश्यकता पड़ने पर वह इसे महीने के आखिर तक ले जाएगा। कैबिनेट करार 13 फरवरी[40] को हुआ और 20 फरवरी के बयान में 30 जून 1948 को राज की अंतिम तारीख बताया गया। इसलिए माउंटबैटन जो मर्जी दावा करे निश्चित तारीख की बात बहुत लोगों ने की।[41]

कैबिनेट में मतभेद के कई स्वर उभरे। ये मसौदा बयान के विभिन्न पहलुओं, समय-सीमा की निश्चितता, इसकी घोषणा के समय और केंद्रीय प्राधिकरण के बजाए किसी और को सत्ता हस्तांतरण के सुझाव के बारे में थे। लेकिन एटली और उसकी मंडली के

इस प्रश्न पर सबने चुप्पी साध ली कि क्या उनके पास कोई विकल्प है ? इनमें विश्व प्रभाव का सपना देखने वाला बेविन, कांग्रेस में भरोसा रखने वाला क्रिप्स और पक्का साम्राज्यवादी स्मट्स शामिल है।

एटली द्वारा वावेल के 31 मार्च अथवा माउंटबैटन के जून 1948 के बजाए 1948 के मध्य को तरजीह दिया जाना इस बात का सूचक है कि वह लचीले कार्यक्रम की आवश्यकता को समझता था। उसने पक्की तारीख को इसलिए स्वीकार कर लिया ताकि भारतीयों को इस बारे में यकीन दिलाया जा सके कि इससे पीछे हटने का सवाल ही नहीं है। एकदम पक्की तारीख के विरोध के पीछे दो कारण थे। एक यह कि यदि कोई उत्तरदायी सरकार न रही तो अव्यवस्था पैदा हो सकती है। राज्य मामलों के विदेशमंत्री वस्काउंट एडीसन को इसका डर था। दूसरे लोग भी इससे सहमत थे। इसलिए 'उत्तरदायी भारतीय लोगों' को ही सत्ता देने की बात जोड़ी गई। एडीसन ने एक निश्चित तारीख के बजाए दो वर्ष की समय–सीमा रखने की बात कही ताकि सरकार को इस दिशा में प्रबंध का मौका मिल सके। लेकिन निश्चित तारीख के नाटकीय प्रभाव को देखते हुए उसके सुझाव पर विचार नहीं किया गया।[42]

दूसरा कारण यह डर था कि सत्ता हस्तांतरण से पहले बहुत कष्टदायी बातचीत करनी पड़ेगी और भारतीकरण की लंबी प्रक्रिया चलेगी। यदि विभाजन का फैसला हुआ तो बहुत कहा–सुनी होगी। विरोध के स्वर भारत सरकार के भीतर से अधिक आ रहे थे। लगभग हरेक अधिकारी यह कह रहा था कि वह इतने समय के भीतर अपने विभाग को नहीं समेट सकेगा। सेनाध्यक्ष बगैर विभाजन के तीन वर्ष चाहता था जबकि पंजाब का गवर्नर अपने राज्य के शांतिपूर्ण विभाजन के लिए चार वर्ष चाहता था।[43]

हाउस आफ कॉमन्स में धुआंधार बहस हुई।[44] कॉमन्स में नीति घोषणा एटली ने की लेकिन मुख्य भाषण क्रिप्स ने दिया। महामहिम की सरकार ने दुधारी रणनीति को अपनाया। स्वप्नद्रष्टाओं को दोस्ती और एकता का आकर्षण दिखाया गया जबकि यथार्थवादियों को सत्ता छिन जाने का डर दिखाया गया। लेकिन बात नहीं बनी। यह तर्क दिया गया कि भारत पर और आगे नियंत्रण नहीं रखा जा सकता है। इसका कारण भर्ती बंद कर दिए जाने का निर्णय था जो कि युद्ध के शुरू में कंजरवेटिवों की सहमति से लिया गया था। कुछ और दशकों के लिए ब्रिटिश शासन का प्रस्ताव किया गया। इसके लिए जनशक्ति, धन और सेवा और बल प्रयोग की जरूरत थी। हरेक व्यक्ति जानता था कि आवश्यक इच्छाशक्ति, जनशक्ति और धन का अभाव है। वास्तव में यह कोई विकल्प नहीं था। अतः अब यह बात समझ में आ गई कि कोई विकल्प नहीं बचा है। कंजरवेटिवों ने बताया कि वे स्वयं सरकार का समर्थन करते हैं लेकिन उन्होंने जल्दबाजी में भारत छोड़ने के आधार पर आजादी दिए जाने के तरीके का विरोध किया।[45]

कैसी विडंबना है कि अपनी छवि के प्रति सचेत महामहिम की सरकार ने वावेल की

योजना का तो इस आधार पर विरोध किया कि यह अपनी विफलता को कबूल करना होगा लेकिन संसद में खुद यह मंजूर कर लिया कि उसके हाथ से पहल और प्रभुता छिन गई है। इसी तर्क के आधार पर उसने एक निश्चित तारीख तक राज को समाप्त करने की बात कही। वास्तव में महामहिम की सरकार ने तीन तर्क दिए – भारत छोड़ने के प्रति हमारी इमानदारी के बारे में भारतीयों को भरोसा दिलाने के लिए समय-सीमा का होना जरूरी है ; समय-सीमा की दहशत से भारतीय समझौता कर लेंगे ; समय-सीमा से आगे हम वहां नहीं ठहरेंगे जैसा कि स्वाकरबोरो ने कहा है, पहला तर्क बार-बार उपयोग के कारण कमजोर हो गया था। पिछले दो सालों में प्रत्येक नीति पहल, चाहे वह कैबिनेट मिशन भेजने की बात हो या अंतरिम सरकार बनाने की बात हो, इसी आधार पर की गई थी। दूसरा तर्क एक आघात से ही धराशायी हो गया। महामहिम की सरकार के विचार में कोई दम नहीं था क्योंकि समय-सीमा तय कर देने से फूट की ज्यादा आशंका थी। महामहिम की सरकार का कहना था कि इससे समझौता हो जाएगा। लेकिन साथ ही यह बयान दिया गया था कि सत्ता उत्तरदायी सरकार (सरकारों) को सौंपी जाएगी। इस बयान में ही फूट के बीज थे।

अपने बहुमत के कारण लेबर पार्टी ने कॉमन्स में अपनी बात मनवा ली। क्रिप्स ने प्रभुता में कमी का तर्क दिया और 5 मार्च 1947 को कॉमन्स में अपने भाषण में इसका अच्छा प्रयोग किया।[16] लार्ड हेली ने भारत में अपने लंबे अनुभव के आधार पर स्पष्ट किया कि प्रशासन ठप्प नहीं हुआ। वह कमजोर हुआ है। इसे नए रंगरूटों को प्रशिक्षण देकर ठीक किया जा सकता है। एंडरसन ने कॉमन्स में सुझाव दिया कि कुछ समय के लिए गृह सेवाओं, सेवा और पुलिस से अधिकारी वहां स्थानांतरित कर दिए जाएं। इन तर्कों द्वारा यह सवाल उठाया गया कि पहले केवल दो विकल्प अर्थात सुदृढ़ करो या बोरिया-बिस्तर बांधो क्यों रखे गए और फिर पहले विकल्प को अव्यावहारिक और अनुपयुक्त बताकर एक ही विकल्प की बात क्यों की गई। हेली की दूसरी बात और भी महत्वपूर्ण थी हालांकि इस ओर ध्यान नहीं दिया गया। उसने कहा कि सर्विसेज पक्ष उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि उसे बताया जा रहा है क्योंकि सरकार सचाइयों का सामना नहीं करना चाहती। सचाई यह थी कि लीग ने संविधान सभा में आने से इनकार कर दिया था और कांग्रेस क्रांति की धमकी दे रही थी। इन दोनों चुनौतियों के सामने घुटने टेकने के बजाए उनका सामना करने की आवश्यकता थी। कांग्रेस ने 1942 में ही क्रांति शुरू कर दी थी। अंग्रेजों ने तब उसका मुकाबला किया था। उन्हें अब भी इसका मुकाबला करना चाहिए। टेंपलवुड इस तर्क से सहमत नहीं था कि निश्चित तारीख और ब्रेकडाउन योजना में सर्विसों का हौंसला बढ़ेगा। उसे डर था 'स्टील फ्रेम' के 15 महीने बाद रद्दी धातु हो जाने की घोषणा से सेवाओं पर प्रतिकूल असर पड़ेगा। विदेशमंत्री के सहारे के बगैर उनकी निष्ठा पर और भी अधिक दबाव पड़ेगा।

समय-सीमा की निश्चितता की संसद में आलोचना की गई और इस बारे में संशोधन सुझाए गए। भारत के मामले में अनुभवी जॉन एंडरसन ने तारीख को रखने की बात तो मानी लेकिन यह तारीख यूनिटरी राज्यारोहण के बारे में समझौता हो जाने के बाद तय की जाए। यदि समझौता न होने पाए तो अंग्रेज अपनी मर्जी के हिसाब से सत्ता हस्तांतरित करें। एंडरसन ने तारीख को वापसी के बजाए केवल समझौते से जोड़ने की बात कही। उसने कहा कि वापसी को हालात पर छोड़ दिया जाए और सब कुछ समझौते पर निर्भर कर दिया जाए। इसके विपरीत बयान के अनुसार समझौते की प्रतीक्षा करके समझौता न होने को प्रोत्साहित किया गया। विस्काउंट क्रेनबॉर्न ने पूछा : 'उन्होंने इतनी जल्दी की तारीख क्यों रख दी है, क्या वे सफलता को नामुमकिन बनाना चाहते हैं ?'

विरोध दो स्तरों पर था। एक, एकता की संभावना पर सवाल खड़ा करके विभाजन की संभावना बताई गई। दूसरे, अव्यवस्था के खतरे की बात कही गई। लॉर्ड्स में टेंपलवुड और हेली ने तथा कॉमन्स में चर्चिल, एंडरसन, रैक्स, निकोलसन और ब्रिगेडियर लो ने एक के बाद एक पहला तर्क दिया। डर से समझौता होने की उम्मीद बहुत कम है। विभाजक ताकतें पूरी तैयारी में रहेंगी और निश्चित तारीख को अपना सपना पूरा करने की कोशिश करेंगी। टेंपलवुड ने चेतावनी दी कि दस ब्रिटिश भारत तैयार हो जाएंगे क्योंकि अलगाववादी ताकतें अपना 'अभूतपूर्व रूप दिखाएंगी।' 'क्या सरकार इस बात को ध्यान में नहीं रख सकती कि निश्चित तारीख के बयान से भारत के विभिन्न हिस्सों में अलगाव पैदा होगा ? प्रत्यक्षत: ऐसा लगता तो नहीं है।' चर्चिल ने भी यही आरोप लगाया '14 महीने की समय-सीमा बांधकर सरकार ने भारतीय एकता की सभी उम्मीदें खत्म कर दी है...समय-सीमा सबसे बड़ा गिलोटिन है।'

अव्यवस्था की चेतावनी देने वालों को अधिक बिखराव का डर था। एडीसन ने जून 1948 में किसी उत्तरदायी सरकार (सरकारों) के मौजूद होने के बारे में कैबिनेट में संदेह व्यक्त किया था। आर.ए. बटलर ने कॉमन्स में एडीसन के ही शब्द दोहराए। निकोलसन ने कहा. 'जून 1948 में संसद के कृत्य से अव्यवस्था शुरू हो जाएगी।' लॉर्ड्स में नेवॉल, मिडलटन और क्रेनबॉर्न ने अराजकता का सवाल उठाया : 'मुझे लगता है कि हमने खून खराबे की शुरुआत के बारे में ही सोचा है। यह ऐसा खून खराबा होगा जिसके सामने शिवाजी और मराठों के द्वारा की गई सैनिक कार्रवाइयां पिकनिक नजर आएंगी।' चर्चिल हमेशा की तरह बहुत कटु था। उसने महामहिम की सरकार की नीति की तुलना गांधी के 1942 के भारत छोड़ो नोटिस से की — 'करो या मरो' जैसी –'भारत को भगवान भरोसे छोड़ दो या आधुनिक शब्दावली में अराजकता के हवाले कर दो।' मेरे विचार से यह बयान उसी नीति से अलग नहीं है जो महामहिम सरकार अपनाना चाहती है।

कांग्रेस ने मांग की थी कि लीग या तो संविधान सभा में शामिल हो या अंतरिम सरकार से अलग हो जाए। यह बात भी नीति बयान के साथ महत्वपूर्ण रूप से जुड़ गई। मुसलिम

लीग संविधान सभा में भाग न लेने पर अड़ी रही। इस पर कांग्रेस ने मांग की कि लीग अंतरिम सरकार से अलग हो जाए क्योंकि ये दोनों बातें मिशन की योजना का अंग हैं।[47] न तो वाइसरॉय और न महामहिम की सरकार कांग्रेस की इस वैध मांग से इनकार कर सकी।[48] महामहिम की सरकार ने वाइसरॉय को सलाह दी कि वह कुछ समय के लिए इसे टाले और कांग्रेस से अपील करे कि वह देश के हित में इसका आग्रह न करे।[49] सवाल यह पैदा हुआ कि इस अपील का औचित्य क्या हो ? नीति बनाने वालों ने 20 फरवरी का बयान इस ढंग से तैयार करने की कोशिश की जिससे नीति के लिए वाइसरॉय की मांग पूरी हो सके और पूर्वनिर्धारित तारीख तक स्वतंत्रता की बात से कांग्रेस का ध्यान लीग को सरकार से बाहर निकालने की ओर से हट सके। यदि कुछ भी नहीं हुआ तो भी महामहिम की सरकार को थोड़ा समय मिल जाएगा।

ऐसा लगता है कि वापसी का यह विचार 6 से 14 फरवरी के बीच तैयार हुआ क्योंकि 14 तारीख को विदेशमंत्री ने वाइसरॉय को लिखा कि 'वह नेहरू से कहे कि वे हमारे उत्तर के लिए हमारे प्रस्तावित बयान का इंतजार करें।[50] जल्दी बयान की जरूरत बताते हुए एटली ने तर्क दिया कि कांग्रेस लीग की स्थिति पर बयान के लिए दबाव डाल रही है। अलग बयान जल्दबाजी में तैयार नहीं किया जा सकता इसलिए यह बयान ही काफी होना चाहिए।[51] प्रभुता में कमी और लीग के बारे में कांग्रेस के अलग हो जाओ नोटिस के बारे में क्रिप्स और पैथिक लॉरेंस ने संसद में बयान दिया।

20 फरवरी के बयान में बुनियादी दोष यह था कि इसमें उत्तराधिकारी प्राधिकरण के बारे में अस्पष्टता थी। इसमें एक से अधिक उत्तराधिकारी देशों की संभावना से इनकार नहीं किया गया और संविधान सभा से पैदा होने वाली 'जिम्मेदार सरकार' के बारे में खुलासा नहीं किया गया। महामहिम की सरकार ने पाकिस्तान को स्वीकार कर लिए जाने से इनकार किया। वह भारत की एकता का राग अलापती रही।

कैबिनेट मिशन की योजना की तरह ही इस बयान को अस्पष्ट रखा गया ताकि भारत और ब्रिटेन दोनों ही देशों में एकता और बटवारे के समर्थक अपना-अपना अर्थ निकाल सकें।[52] एक बार फिर दो परस्पर विरोधी विचारों को एक साथ रखा गया। शीघ्र आजादी की बात पर कांग्रेस का ध्यान जमाने के लिए निश्चित समय-सीमा रखी गई और लीग को पाकिस्तान का लालच बरकरार रखने के लिए सत्ता उत्तरदायी सरकार (सरकारों) को हस्तांतरित करने की बात कही गई। लीग ने बयान का यह अर्थ निकाला कि यदि केंद्र के बारे में कोई समझौता नहीं हुआ तो राज्य सरकारें सत्ता प्राप्त करेंगी। उसने पंजाब में सत्ता का दावा पेश किया। पंजाब के गवर्नर ने चेतावनी दी थी कि बयान 'संघर्षरत गुटों में वास्तविक युद्ध के लिए दावत होगी।'[53] कांग्रेस नेताओं ने बयान को अंग्रेजों की ईमानदारी का सबूत मानकर उसका स्वागत किया। नेहरू ने तत्काल लियाकत अली की ओर सहयोग का हाथ बढ़ाया : 'अंग्रेज मंच से जा रहे हैं। अब निर्णय की जिम्मेदारी हम सब पर होगी।

हम स्थिति का ईमानदारी से मुकाबला करें और आपसी मतभेद दूर करें।'[54] दूरी बनी रही लेकिन अस्थायी सरकार का संकट थोड़े समय के लिए दूर हो गया।

गांधी का विचार था कि बयान में पाकिस्तान की बात होने के बावजूद उसे कांग्रेस के पक्ष में मोड़ा जा सकता है। अंग्रेजों से आजादी के इच्छुक क्षेत्रों अर्थात् कांग्रेसी राज्यों को आजादी की छूट थी। जो पाकिस्तान चाहते थे उन्हें इसे लेने की छूट थी। बहुत कुछ संविधान सभा और अंतरिम सरकार पर निर्भर था। कांग्रेस प्रांतों पर भी बहुत कुछ निर्भर था। 'यदि उन्होंने अकल से काम लिया तो उन्हें वह सब मिल जाएगा जो वे चाहते हैं।'[55]

संदर्भ और टिप्पणियां

1. 15 मई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ.263. भारत में ब्रिटिश कारोबार के प्रतिनिधि ग्रिफिस ने कैबिनेट मिशन को यह समझाने की कोशिश की कि समय-सीमा बांधने से उनकी बातचीत में वास्तविकता आएगी और समझौते के अवसर बढ़ेंगे. लेकिन इसे स्वीकार नहीं किया गया, वही, पृ. 242.
2. निजी सचिव द्वारा वाइसरॉय को नोट, 7 अप्रैल 1946, वही पृ. 160-62.
3. 16 मई 1946, वही, पृ. 568.
4. देखें कैबिनेट निष्कर्ष, 5 जून 1946, वही, पृ. 812-19. पार्थसारथी गुप्ता और मूर दोनों ने यह बताया है कि योजना को ब्रिटिश रणनीतिक रक्षा हितों और उसकी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के खिलाफ बताया गया, गुप्ता 'इंपीरियल स्ट्रैटेजी', पृ.20; और मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 187.
5. 6 जून, 1946, *टी पी*, वॉल्यूम-7, पृ 830-31.
6. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 8 सितंबर 1946, वही, वॉल्यूम 8, पृ. 454.
7. विदेशमंत्री से प्रधानमंत्री 20 सितंबर 1946, प्रधानमंत्री, मिशन सदस्यों, भारत कार्यालय के अधिकारियों द्वारा विचार-विमर्श, 28 सितंबर 1946, वही, पृ. क्रमश: 550-570, 596 और 620.
8. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 23 और 30 अक्तूबर, 1946, वही, पृ. 501 और 531.
9. जिन्नाह और नेहरू के साथ वाइसरॉय के इंटरव्यू, 17 और 19 नवंबर, वही, वॉल्यूम 9 पृ. क्रमश: 92 और 110.
10. भारत-बर्मा कमेटी के लिए विदेशमंत्री के ज्ञापन के साथ संलग्न जुलाई से अक्तूबर 1946 तक का सर्वेक्षण, 11 नवंबर 1946, वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 20 नवंबर 1946 और 27 नवंबर 1946, वही, पृ. क्रमश: 45, 118 और 197.
11 सी. 13 नवंबर 1946, वही, पृ. 68.
12. कैबिनेट निष्कर्ष, 25 नवंबर 1946 और विदेश मंत्री से वाइसरॉय, 25 नवंबर, 1946, वही, पृ क्रमश: 166 और 170
13 *वावेल्स जर्नल*, पृ. 386-95
14. 5 दिसंबर, 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 275.
15. *वावेल्स जर्नल*, पृ. 394.
16. वही, पृ. 397
17. वही, पृ. 397 और 399. किंग जार्ज VI के निजी सचिव लैसिल्स ने बेविन से मिलने के बाद अपनी डायरी में लिखा : 'वह चाहता है कि उसे बहुत बड़े साम्राज्यवादी विचार रखने वाला राजनेता समझा जाए;' 20 अगस्त 1943 को लिखा, बेविन पेपर्स, चर्चिल कॉलेज, कैंब्रिज. बेविन ने आमरे द्वारा उसको 'साम्राज्य की समस्या को संयोगवश खोज लेने वाला कोलंबस' कहे जाने पर आपत्ति की; उसने 1930

की ट्रेड यूनियन कांग्रेस के कार्यवृत्त से उद्धरण उसको भेजे. इसके द्वारा उसने इस बात का प्रमाण दिया कि साम्राज्य के लिए उसकी पैरवी तब से ही शुरू हो गई थी. बेविन से आमरे, 6 अक्तूबर 1947, *बेविन पेपर्स*. जॉर्ज कैटलिन ने 'मुसीबतों से बाहर निकलने के लिए कॉमनवेल्थ के आर्थिक एकीकरण की पैरवी की ओर कहा कि यहां कोरे इंगलैंडवाद से काम नहीं चल सकता है'; बेविन को, 4 सितंबर 1947, *बेविन पेयर्स*.

18. *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ.420. हघ टिंकर ने तर्क दिया है कि एटली पर बेविन का दबाव निर्णायक सिद्ध हुआ : 'अरनेस्ट बेविन यह घोषणा करवाना चाहता था कि ब्रिटेन झुकेगा नहीं, उसकी इस चुनौती को देखते हुए एटली ने वापसी की तारीख की घोषणा करने का निर्णय लिया'. एटली ने बेविन के इस मत का विरोध नहीं किया कि घरेलू वित्तीय दिक्कतों और बदली अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों के बावजूद युद्ध के बाद ब्रिटेन की फिलिस्तीन, ग्रीक और मिस्र में साम्राज्यिक भूमिका रहेगी और वह नए राष्ट्रकुल का मुखिया होगा. उसने केवल यह कहा कि बेविन के पास सुझाने के लिए कोई विकल्प नहीं है. टिंकर की यह दलील इकतरफा लगती है कि बेविन के रुख ने एटली को तारीख तय करने के लिए उकसाया. महामहिम की सरकार ने अपनी वापसी की घोषणा 17 दिसंबर 1946 तक करने का निर्णय लिया था. बुलॉक का यह कहना और भी अधिक इकतरफा है कि फरवरी 1946 में ब्रिटेन के कोयला संकट की वजह से आर्थिक संकट के मद्देनजर बर्मा, फिलिस्तीन और ग्रीक सहित दूसरे देश में साम्राज्यवादी जिम्मेदारी को कम करने के इरादे के अंतर्गत जून 1948 की तारीख तय की गई. इससे अधिक से अधिक यही पता चलता है कि भारत के बारे में अपने साथियों के विचारों का बेविन द्वारा विरोध दूसरी चिंताओं के सामने किस तरह फीका पड़ गया. वावेल की यह टिप्पणी बेविन के लिए बहुत संगत थी कि महामहिम की सरकार की चिंता 'भारत के बारे में नहीं, बल्कि कोयला, बिजली और फिलीस्तीन के बारे में है'; देखें एलेन बुलॉक, अर्नेस्ट बेविन, *फॉरेन सेक्रेटरी, 1945-51*, लंदन 1983, वॉल्यूम 3, पृ. 361, हघ टिंकर, 'दि कनेक्शन आफ एंपायर इन एशिया, 1945-48; दि मिलिटरी डाइमेंशन' *जे आई सी एच*, वाल्यूम 16, 1988; *वावेल्स जर्नल*, पृ. 421.
19. *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ 170-73.
20. वही, लॉकहार्ट, कार्यवाहक गवर्नर, एन डब्ल्यू एफ पी ने स्वयं से पहले के गवर्नर करोए को लिखा : 'यह सब कितनी बड़ी त्रासदी है; शायद बाद में सब कुछ ठीक हो जाएगा और इतिहासकार यह कहेंगे कि हमने जो कुछ भी किया वह ठीक और महान था,' 3 अगस्त 1947, *करोए कलेक्शन*, एम एस एस ई यू आर एफ.
21. 2 जून, 1947, वही, पृ 441-43.
22. कैनेथ हैरिस, *एटली*, लंदन, 1982, पृ. 372.
23. 10 फरवरी, 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 659.
24. वही, पृष्ठ क्रमशः 725,728, 746 और 734.
25. 18 फरवरी, 1947, वही, पृ. 745 और *वावेल्स जर्नल*, पृ. 421.
26. आर.जे. मूर के अनुसार तारीख को लेकर वावेल और महामहिम की सरकार में मतभेद भारतीय समस्या के प्रति भिन्न दृष्टिकोण के कारण थे. वावेल को डर था कि कालांतर में कांग्रेस राज वास्तविकता बन जाएगा और वह अल्पसंख्यकों को दिए गए वादों को तोड़ देगी. लेकिन महामहिम की सरकार कांग्रेस को सत्ता हस्तांतिरत करने के लिए तैयार थी बशर्ते कि वह शांतिपूर्ण हो और उनके दीर्घकालिक हित सुरक्षित रहें. मूर की वाइसरॉय के साथ सहानुभूति थी. उसके विचार अमान्य हैं. पार्थसारथी गुप्ता ने ठीक ही कहा है कि महामहिम की सरकार काल्पनिक विकल्पों के छलावे में नहीं पड़ना चाहती थी.
27. माउंटबैटन से एटली, 20 दिसंबर, 1946, *टी पी*, वॉल्यूम, पृ. 396.
28. *वावेल्स जर्नल*, 410.

29. यहां तक कि उसके कहने पर घोषणा का समय 20 तारीख के दोपहर बाद के लिए इसलिए शिफ्ट किया गया जिससे कि उस सुबह अपनी बेटी फैलिसिटी की शादी के समय उसे जिल्लत न उठानी पड़े . ऐसी अफवाह थी कि 800 मेहमानों में से ज्यादातर को उसकी शीघ्र बर्खास्तगी की जानकारी थी. उनमें से कुछ ने महंगे उपहार इसलिए रोक लिए कि बूढ़े, रिटायर सैनिक की बेटी को ये उपहार देने का क्या लाभ है, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 577 और 582.
30. *वावेल्स जर्नल*, पृ. 403, 417, 432 और 434.
31 17/18 फरवरी 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 747. एटली ने 21 दिसंबर 1946 को वावेल को सूचित किया कि बयान और समय-सीमा की आवश्यकता के बारे में उसके विचारों को स्वीकार कर लिया गया है. भारत- बर्मा कैबिनेट कमेटी इस बात से सहमत थी कि 6 दिसंबर 1946 का बयान लीग को संविधान सभा में नहीं ला सका है. इसलिए एक और बयान की जरूरत है, 11 और 20 दिसंबर 1946 की बैठकें, वही, पृ. 332 और 391.
32. 8 जनवरी 1947, वही, पृ. 490.
33. 13 फरवरी 1947, वही पृ. 701.
34. वही, पृ. क्रमशः 745 और 750.
35. 21 दिसंबर, 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 397.
36. वही, पृ. 451 और पी एम से माउंटबैटन, 9 जनवरी 1947, वही, पृ. 491.
37. वही, पृ. 454.
38. क्रिप्स को, 26 जनवरी 1947, वही, पृ. 533.
39. कैंपबेल जॉनसन, *मिशन विद माउंटबैटन*, लंदन, 1972, पृ. 16.
40. *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 688.
41. माउंटबैटन ने बाद में दावा किया कि एटली ने समय सीमा का श्रेय जरूर लिया लेकिन यह विचार उसी का था. यदि वह जोर न देता तो अंग्रेज अभी भी भारत में ही होते. देखें डोमिनीक्यू लैपियर और लैरी कॉलिन्स, *माउंटबैटन एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया*, पृ. 15-16 और 37. अनिता इंद्रसिंह के अनुसार सरकार द्वारा निश्चित तारीख स्वीकार कर लिए जाने का बड़ा कारण भारत में कमजोर प्रशासन था. माउंटबैटन के आग्रह ने तात्कालिक दबाव का काम किया. सिंह, *ऑरिजिन आफ पार्टिशन*, पृ. 212-13.
42. कैबिनेट निष्कर्ष, 18 फरवरी 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 748-52.
43. *वावेल्स जर्नल*, पृ. 410.
44. हाउस आफ कॉमन्स बहस, 6 मार्च 1947, वही.
45. थॉमस मूर, चर्चिल और वाल्टर स्माइल ने सवाल उठाया कि 'कांग्रेस को सत्ता क्यों सौंपी जाए'. वाल्टर स्माइल का विचार था कि 'मौजूदा राजनीतिक नेता केरेन्सकी की तरह गायब हो जाएंगे. चर्चिल ने कांग्रेस नेताओं की तुलना 'पुतलों' से की.
46. स्टेफोर्ड क्रिप्स की स्थिति बहुत विडंबनापूर्ण थी . जब उसने यह महसूस किया कि समय- सीमा से भारत की एकता बरकरार नहीं रह पाएगी तो उसने कैबिनेट में इस विचार का विरोध किया. लेकिन कॉमन्स में बहस के दौरान पहल की जिम्मेदारी उसी पर डाली गई. इस पर टिप्पणी करते हुए गौडफ्रे निकोलसन ने कहा 'यदि मुसलिम लीग को कभी सीधा निमंत्रण दिया गया और पाकिस्तान की बात पर अड़े रहने के लिए कहा गया तो वह इसी भाषण में हुआ'.
47. नेहरू तथा अन्य से वाइसरॉय, 5 फरवरी 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 622.
48. लेकिन जलाल इसकी वैधता को स्वीकार करती हैं और इसे इस रूप में रखती हैं कि कांग्रेस कमजोर केंद्र में मुसलिम लीग को सत्ता में भागीदार नहीं बनाना चाहती थी, जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 245.

49. विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 5 फरवरी 947 और विदेशमंत्री का ज्ञापन, 6 फरवरी 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 634 और 622.
50. वही, पृ. 712.
51. भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी और कैबिनेट बैठकें, 17 और 18 फरवरी 1947 वही, पृ. 748. 20 फरवरी के बयान के पाठ के लिए देखें, वही, पृ. 773-75.
52. हेली के अनुसार कांग्रेस को भरोसा था कि वह मुसलिमों के मामले को संभाल लेगी और लीग को विश्वास था कि उसे पाकिस्तान मिल जाएगा. साथ ही देखें मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 222.
53. 16 फरवरी 1947, *टी पी*, पृ. 728. अनिता इंद्रसिंह ने बयान को 'स्पष्ट विफलता' बताया है क्योंकि इसने वास्तव में सभा की समाप्ति की घोषणा कर दी और 'संघीय मंत्रिमंडल को राजनीतिक दृष्टि से अप्रासंगिक बना दिया' : '20 फरवरी के बयान ने राज की समाप्ति की तारीख तय करके लीग और कांग्रेस के बीच समझौता तो नहीं कराया लेकिन लीग को यह संकेत दे दिया कि वह सीधी कार्रवाई करके पाकिस्तान के लिए कोशिश कर ले, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*', पृ. 214, मूर के विचार से '20 फरवरी के बयान ने उत्तरी भारत में सांप्रदायिक हालत और भी खराब कर दी.' पंजाब मंत्रिमंडल के गिर जाने के बाद लीग ने एन डब्ल्यू एफ पी में जोर लगाना शुरू कर दिया और बंगाली मुसलमानों का असम के लिए प्रवास शुरू करा दिया। *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 239. जलाल के अनुसार 'लंदन ने पहले से ही खस्ता प्रशासनिक ढांचे के नीचे टाइम बम रख दिया है और अब फ्यूज में आग लगा दी है.' जिन्नाह के लिए नतीजे प्रतिकूल थे. तारीख की घोषणा उसके लिए झटका थी. वह अपनी मांगों के लिए कांग्रेस के साथ सौदेबाजी करना चाहता था. लेकिन शीघ्र आजादी को अंग्रेज और कांग्रेस दोनों ही अपने हित में मानते थे. दोनों को डर था कि सत्ता हस्तांतरण में देरी से दोनों का नियंत्रण कम होगा. अंग्रेजों का इस देश पर तथा कांग्रेस का पार्टी और देश दोनों पर नियंत्रण नहीं रहेगा, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 243-44.
54. 9 मार्च 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 69 मूर के अनुसार कांग्रेस ने बयान को संविधान निर्माण के लिए हरी झंडी के रूप में देखा. जो यूनिटें संघ से बाहर रहना चाहती थीं वे ऐसा कर सकती हैं लेकिन संघ के कार्य शुरू कर देने के बाद. *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 222.
55. नेहरू को, 24 फरवरी, 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 12.

अध्याय आठ

विभाजन करो और छोड़ दो

20 फरवरी 1947 का बयान दो पार्टियों को नजदीक आने के लिए बाध्य नहीं कर सका। माउंटबैटन को आते ही इस समस्या का सामना करना पड़ा। माउंटबैटन को स्पष्ट आदेश थे कि वह अक्तूबर 1947 तक एकता और विभाजन के विकल्पों को खोजें और इसके बाद सत्ता हस्तांतरण के रूप के विषय में महामहिम की सरकार को सलाह दे। उसे यह आदेश भी दिया गया कि वह भारत को राष्ट्रमंडल में रखने की कोशिश करे।

साम्राज्यवाद के बाद के हितों के लिए राष्ट्रमंडल के रूप में हल

जब से सत्ता हस्तांतरण की बात सरकारी कार्यसूची में महत्वपूर्ण बनी तब से ही महामहिम की सरकार रक्षा समझौते और मित्र संयुक्त भारत को सत्ता हस्तांतरण पर बल दे रही थी। यह कैबिनेट मिशन के विचार के रूप लेने से पहले 1946 के आरंभ में ही शुरू हो गया था। कैबिनेट ने यह पक्की शर्त लगा दी थी कि भारत की समस्या का हल आर्थिक और रक्षा हितों को ध्यान में रखकर खोजा जाना चाहिए।[1] एटली मिशन द्वारा यह संकेत दिलाना चाहता था कि महामहिम की सरकार भारत का राष्ट्रमंडल में स्वागत करेगी लेकिन यदि वह उसमें शामिल होने के बजाए रक्षा संधि करना चाहे तो वह उसकी इच्छाओं का सम्मान करेगी।[2] मिशन ने इस सवाल को सीधे-सीधे उठाने से इनकार कर दिया : 'हम सब का यह विचार है कि हम जो कुछ चाहते हैं उसके मिलने की अच्छी संभावना है बशर्ते कि हम इसके लिए दबाव न डालें और सब कुछ अपनी इच्छा से और अपने आप होने दें।'[3] कैबिनेट अनिच्छा से मिशन की इस बात से सहमत हुई कि 'हम इस पर जितना कम बल देंगे उतनी अधिक इसकी संभावना है।'[4]

ब्रिटिश राष्ट्रमंडल में भारत के रणनीतिक महत्व के बारे में एक मूल्यांकन रिपोर्ट सेनाध्यक्ष के सचिवालय में सेना प्रमुखों (भारत) की एक समिति द्वारा तैयार की गई। जुलाई 1946 के मध्य में वाइसरॉय ने इसे विदेशमंत्री को भेजा। अपनी भौगोलिक स्थिति, औद्योगिक क्षमता और जनशक्ति के कारण भारत की बहुत महत्वपूर्ण स्थिति थी। वह बहुत सी रणनीतिक जरूरतों को पूरा कर सकता था। भारत वायु संचार में महत्वपूर्ण कड़ी होगा ; उसके पास लगभग ढाई लाख लोगों की सेना है और कभी न खत्म होने वाली जनशक्ति है। उसके लिए बहुत अच्छी आर्थिक संभावनाएं हैं।[5] औचिनलेक के पेपर का भी वही हश्र हुआ जो कि 11 मई 1946 के उसके ज्ञापन का हुआ था। जनरल मैने ने उसे

DRASTIC REMEDY

स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 22 अप्रैल 1947

'अच्छा लेकिन अव्यावहारिक' बताकर एक तरफ रख दिया।[6] यह कैबिनेट में सेना प्रमुखों की समिति के पास रहा।[7] इस्मै को प्रधानमंत्री के लिए इस आशय का नोट तैयार करने के लिए कहा गया कि प्रभुता संपन्न भारत रक्षा संधि करने से मना कर सकता है 'इसलिए भारत को राष्ट्रमंडल में रखना सैन्य दृष्टि से अत्यंत जरूरी है।'[8]

अक्तूबर 1946 तक (मूर के शब्दों में)[9] व्हाइटहॉल में राष्ट्रमंडल विरोधी बातें होने लगीं। भारत कार्यालय, विदेश, उपनिवेश और राज्य कार्यालयों के अधिकारी राष्ट्रमंडल सदस्यता के बजाए संधि को तरजीह देने लगे। लेकिन सेना के उच्च नेतृत्व की बात मानी गई। अंतिम वाइसरॉय के 11 फरवरी 1947 के निर्देश में यह उम्मीद जाहिर की गई कि भारत राष्ट्रमंडल का सदस्य होगा।[10] इस्मै अब माउंटबैटन का मुख्य सहायक बन गया था। उसने राज्य, विदेश, उपनिवेश, भारत-बर्मा कार्यालयों के प्रतिनिधियों की बैठक में इस बात पर बल दिया कि 'भारत को राष्ट्रमंडल में रखने की भरसक कोशिश की जानी चाहिए और अगले 18 महीनों में ऐसे कार्य किए जाने चाहिए जिससे कि बाद में भारत के साथ दोस्ताना संबंध बने रहें। आजाद हो जाने के बाद भारतीय राष्ट्रमंडल में रहने की इच्छा जाहिर कर सकते हैं।'[11] कैबिनेट समिति ने वाइसरॉय को प्राधिकृत किया कि वह इस दिशा में भारतीय नेताओं के प्रयासों को प्रोत्साहित करें।

कांग्रेस और राष्ट्रमंडल की सदस्यता

भारत के उपनिवेशवादी अतीत के कारण कांग्रेस को राष्ट्रमंडल की सदस्यता के विचार से ही घृणा थी। कैबिनेट मिशन की समझ में यह बात आ गई थी कि यह 'सांड़ को लाल कपड़ा' दिखाने जैसा है। उसने इस मामले को न उठाने की सलाह दी।[12] एक साल बाद माउंटबैटन को उम्मीद नजर आने लगी : 'मेरे खयाल से अब उनको यह बात समझ में आने लगी है कि वे राष्ट्रमंडल से बाहर नहीं रह सकते हैं लेकिन अभी वे यह नहीं कह सकते कि वे इसमें रहेंगे। वे किसी नुसखे की टोह में हैं।'[13] विदेशमंत्री के अनुसार नेहरू इस बात को लेकर बहुत उलझन में थे कि 'राष्ट्रमंडल में रहने से भारत के हितों और 'पूर्ण स्वतंत्रता' के लिए पार्टी के आग्रह में कैसे संगति बैठाई जाए।'[14] अप्रैल 1947 में बलदेवसिंह के साथ अपनी बातचीत में नेहरू इस बात से सहमत थे कि 'भारत ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से बाहर आए' (क्योंकि 'भविष्य में ब्रिटेन भारत की रक्षा नहीं कर सकेगा और राष्ट्रमंडल में रहने से वह हमें इसकी विदेशी राजनीति और दुश्मनी में घसीटेगा') लेकिन वे इस बात के लिए सहमत थे कि आजादी के आधार पर सदस्यता के लिए बातचीत की जा सकती है।[15]

लेकिन अपने अनुयायियों द्वारा आलोचना के डर से कांग्रेस ने पहल करने में हिचकिचाहट दिखाई। साम्राज्यवादी कहे जाने के डर से महामहिम की सरकार ने भी इस दिशा में पहल नहीं की। स्वतंत्र देश का दर्जा तुरंत देने की कांग्रेस की मांग को स्वीकार कर लेने से रास्ता निकल सकता था। कांग्रेस यह इसलिए चाहती थी क्योंकि सत्ता और जिम्मेदारी

तुरंत संभाल लेने से ही गृहयुद्ध रुक सकता है। माउंटबैटन को उम्मीद थी कि वह इस मांग का इस्तेमाल करके भले ही अस्थायी तौर पर भारत को राष्ट्रमंडल में रख सकता है।

कांग्रेस चाहती थी कि नए स्वतंत्र भारत देश के लिए ब्रिटिश सेनाएं उपलब्ध रहें। माउंटबैटन ने इस अवसर का भी उपयोग किया। बलदेव सिंह और वी.के. कृष्णमैनन (दिलचस्प रूप से दो दिन के अंतराल में) ने माउंटबैटन से पूछा कि क्या ब्रिटिश सेना रुकी रहेगी। ईमानदारी से पूरी तरह से पल्ला झाड़कर माउंटबैटन ने यह रुख अपनाया कि कोई भी अंग्रेज अधिकारी 'भारतीय सेना में दुस्साहसी' नहीं बनना चाहेगा। लेकिन यदि भारत राष्ट्रमंडल में शामिल हो जाए तो अधिकारी किंग की कमीशन में रहते हुए भारत में सेवा कर सकता है। एक चाल के रूप में इसका औचित्य ठहराते हुए माउंटबैटन ने (सी. त्रिवेदी को) एक पूरी तरह झूठा बयान दिया कि महामहिम की सरकार सदस्यता के लिए भारत के अनुरोध को ठुकरा सकती है क्योंकि एक अविकसित देश बोझ ही बनेगा ; 'यदि भारत इसमें रहेगा तो उसे लाभ ही होगा। उसके बाहर जाने से हमें कोई नुकसान नहीं होगा।' उसने भारत के इस डर का भी लाभ उठाया कि राष्ट्रमंडल के सौजन्य से पाकिस्तान को सैनिक सहायता मिलने से पाकिस्तान के मुकाबले उसकी स्थिति कमजोर पड़ जाएगी। माउंटबैटन ने बहुत उदारता दिखाते हुए महामहिम की सरकार द्वारा भारत की मदद का प्रस्ताव किया। उसने कहा कि 'वह किंग की तरह उन विरले 'भावुक बेवकूफों' में से हैं जो भारत को राष्ट्रमंडल में लाना चाहते हैं।' लेकिन इस दिशा में पहला कदम कांग्रेस को उठाना था। उसे भारत को स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न गणतंत्र घोषित करने के संविधान सभा के विकल्प के कार्यान्वयन को पांच वर्षों के लिए स्थगित करना था।[16]

'अनौपचारिक साम्राज्य' के रूप में राष्ट्रमंडल

ब्रिटेन को उसकी खोई हुई साम्राज्यवादी शक्ति वापस दिलाने की दृष्टि से (भारत केंद्र वाले) राष्ट्रमंडल का महामहिम की सरकार का विचार कितना यथार्थपरक था ?[17] टॉमलिंसन ने इसे यह कहकर खारिज कर दिया है कि 'राष्ट्रमंडल विश्व मामलों में रणनीतिक तीसरी ताकत के रूप में युद्धकालीन फेंटेसी भर है।' लेकिन उसने कहा कि इस योजना में भारत का कोई महत्व नहीं है। पार्थसारथी गुप्ता ने कहा है कि अमरीकी कर्जे के कारण ब्रिटेन के आर्थिक संकट और 1946-47 के घरेलू संकट को देखते हुए फिर से विश्व शक्ति बनने का उसका लक्ष्य केवल भ्रम है। बेविन के जीवनीकार बुलॉक ने कहा है कि साम्राज्य को राष्ट्रमंडल में बदलने की लेबर पार्टी की योजना को फरवरी 1947 के आर्थिक संकट से धक्का लगा। लेकिन वह भारत और पाकिस्तान को राष्ट्रमंडल में रखकर साम्राज्यवादी भूमिका जारी रखने का भ्रम पालता रहा।[18] महामहिम की सरकार हैलीफैक्स की इस आशा को निश्चित रूप से पूरा नहीं कर सकी – 'वास्तविक उपलब्धि तब होगी जब आप जहां तक संभव हो सके लगभग डोमिनियन शर्तों पर उन्हें कॉमनवेल्थ में रख सकें।'[19] विभाजन

के बाद ही शत्रुता और भारत की गुट निरपेक्षता के कारण रक्षा योजना एक कदम आगे नहीं बढ़ सकी। 1951 तक महामहिम की सरकार ने साम्राज्यवाद के बाद के हितों के लिए राष्ट्रमंडल की सहायता की आशा छोड़ दी। पाकिस्तान के साथ सैनिक संधि और अमरीका के साथ वरिष्ठ साझेदारी चुपचाप स्वीकार कर ली गई।[20] अंततः भारत की राष्ट्रमंडल सदस्यता से ब्रिटेन को क्या मिला ?

1947 में भारत और पाकिस्तान को राष्ट्रमंडल में रखना ब्रिटेन के अनुकूल था। इसके लिए उसके अपने कारण थे। भारत से 'इज्जत के साथ वापसी' का पूरा ढांचा ही इस पर खड़ा था। ब्रिटेन के लिए यह बहुत महत्व की बात थी। उपनिवेशवादी गुलामी से हाल ही में आजाद हुए इन भूतपूर्व उपनिवेशों द्वारा राष्ट्रमंडल में रहकर मूल देश के साथ संबंध बनाए रखने की इच्छा जताने से ब्रिटेन का बहुत दलायु चेहरा उभर कर सामने आया। भारत और पाकिस्तान द्वारा राष्ट्रमंडल में रहने के निर्णय से एक मिशाल कायम हुई। बाद में आजाद हुए उपनिवेशों ने भी इसका अनुकरण किया। कुछ और लाभ मिले। ब्रिटिश असैनिक पदाधिकारी अपनी सेवा में बगैर किसी व्यवधान के भारत में सेवा जारी रख सकते थे। उनमें से ज्यादातर चले गए लेकिन कुछ 1960 के दशक के अंत तक सेवा करते रहे। अपने देश में ऐसे अवसर उपलब्ध न होने को देखते हुए यह कम फायदे की बात नहीं थी। ब्रिटिश वाणिज्यिक हितों को भी नया जीवन मिला। उनका न तो राष्ट्रीकरण किया गया और न ही उनको बाहर निकाला गया। उनका धीरे-धीरे भारतीकरण करके उन्हें बाहर निकाला गया। भारत को साम्राज्य से अलग करने का काम उतना ही पेचीदा था जितना कि पाकिस्तान को भारत से अलग करने का। राष्ट्रमंडल की सदस्यता से थोड़ी राहत मिल गई। इससे संक्रमणकालीन संस्थागत बंदोबस्त किया जा सका और कुछ टेढ़े मुद्दे सुलझाए जा सके जैसे कि बगैर रुकावट के रोजगार, सेवाओं और सशस्त्र सेनाओं को भुगतान और स्टैर्लिंग बकाया की चुकौती। माउंटबैटन की शैली में यदि भारत को एक झटके में ब्रिटेन से अलग कर दिया जाता तो इसके ब्रिटेन और भारत के लिए भयंकर परिणाम होते।

1935 के अधिनियम के बारे में जयप्रकाश नारायण ने कहा था कि वह 1937 में पटना की गलियों में समर्थन के लिए मारा-मारा फिरा। भारत का नया संविधान बनने तक इस अधिनियम ने ही भारत के संविधान का काम किया। 26 जनवरी 1950 को प्रभुता संपन्न गणतंत्र के उद्घाटन के साथ ही डोमिनियन दरजे का काम पूरा हो गया और उसे दफन कर दिया गया। राष्ट्रमंडल सदस्यता को डोमिनियन दरजे से अलग कर दिया गया और गैर डोमिनियन सदस्यता का एक नया रूप तैयार किया गया; इसके साथ ही राष्ट्रमंडल किसी भी अर्थ में साम्राज्य का अवतार नहीं रहा। हितों की एकता ने श्वेत अंग्रेजी भाषी डोमिनियनों को एक किया हुआ था। यह एकता 'अश्वेत' उपनिवेशों के मामले में नहीं हुई। राष्ट्रमंडल का औचित्य सामान्य रणनीतिक, सैनिक और आर्थिक लक्ष्यों के कारण

था। भारत ने यह सब बदल दिया। राष्ट्रमंडल राष्ट्रों के व्यापक संघ के बजाए उनका क्लब बन कर रह गया। 1950 के दशक के मध्य में जब राष्ट्रमंडल नेहरू के विश्व व्यक्तित्व की महिमा से मंडित हुआ तो ब्रिटिश प्रधानमंत्री के बजाए वे ही उसके वास्तविक प्रधान लगे। क्या यह नया राष्ट्रमंडल ब्रिटिश हितों को पूरा कर सकता था ? 'अश्वेत' पूर्व उपनिवेशों का यह ढीला-ढाला संघ श्वेतों के साम्राज्य की उपज न लगकर तीसरी दुनिया का एक मंच लगता था। भारत ने एक अलग, स्पष्ट गुट निरपेक्ष नीति को अपनाया। राष्ट्रमंडल की सदस्यता भारत को पश्चिमी साम्राज्यवादी ब्लॉक में नहीं खींच सकी।

विभाजन करो और छोड़ दो

शीघ्र ही माउंटबैटन ने यह समझ लिया कि उसके पास कोई वास्तविक विकल्प नहीं है : 'इस प्रारंभिक अवस्था में मेरे पास ऐसा कोई सामान्य आधार नहीं है जिससे भारत के भविष्य की समस्या का हल खोजा जा सके।'[21] भविष्य में जो कुछ होने वाला था उसके आसार माउंटबैटन के आने से बहुत पहले नजर आने लगे थे। अपने आने के एक महीने के भीतर माउंटबैटन ने यह पाया कि कैबिनेट मिशन योजना मरे हुए घोड़े की तरह है। उस पर जितने मर्जी कोड़े बरसाओ वह आगे बढ़ने वाली नहीं है। जिन्नाह इस बात पर अड़ा हुआ था कि मुसलिम प्रभुतासंपन्न देश से कम कोई बात स्वीकार नहीं करेंगे। माउंटबैटन जिन्नाह को टस से मस नहीं कर सका : 'उसने ऐसा व्यवहार किया जैसे कि वह कुछ नहीं सुन रहा है। उससे बहस करना असंभव था ... वह पाकिस्तान की मांग पर अड़ा हुआ था।' जिन्नाह द्वारा नागरिक अवज्ञा की धमकी को देखते हुए माउंटबैटन ने पहल करने का विचार छोड़ दिया : 'मुझे लगता है कि विभाजन ही एकमात्र विकल्प बचा है।'[22]

रणनीतिक हितों पर राजनीतिक मजबूरियों की जीत का मतलब हुआ एकता की ताकतों पर विभाजक ताकतों की विजय। 20 फरवरी के बयान द्वारा समय-सीमा का तय किया जाना एक तरह से (महामहिम की सरकार द्वारा 1943 से लगाई गई) इस शर्त को समाप्त कर दिया जाना था कि सत्ता हस्तांतरित करते समय रणनीतिक हितों को ध्यान में रखा जाए। सत्ता हस्तांतरण एकता के रूप में होगा या विभाजन के रूप में, आगे की रणनीति इसी के अनुसार ढाली जानी थी अर्थात रणनीति राजनीतिक निर्णय पर आश्रित हो गई।[23]

इस विषय पर दूसरे महत्वपूर्ण टीकाकार इस बात से सहमत नहीं हैं कि विभाजन का मतलब राजनीति की विजय और रणनीति की हार था। पार्थसारथी गुप्ता का यह विचार है कि 1947 के शुरू में रणनीतिक सोच में बदलाव आ गया था। सेना के उच्च अधिकारी पाकिस्तान के पक्ष में हो गए थे। उनका मानना था कि (भारत के साथ संयुक्त रक्षा सहित) पाकिस्तान पश्चिमी एशिया में उनकी मदद करेगा। लेकिन ऐसा सोचा जाना बाद में गलत साबित हुआ।[24] मूर इस बात से सहमत नहीं है कि रणनीतिक हित एकता संबंधी कैबिनेट मिशन के आग्रह पर हावी हो गए। कैबिनेट मिशन के दिनों से ही पाकिस्तान की सीमाओं

के बारे में करार की बात की जा रही थी। लेकिन जब यह करार नहीं हो सका तो एकता के बारे में प्रयोग किए गए। माउंटबैटन के आने के समय एकता और विभाजन दोनों ही विकल्प मौजूद थे। कुछ ही महीनो के भीतर उसने यह मान लिया कि पाकिस्तान किसी न किसी रूप में देना ही पड़ेगा।[25]

पटेल दुखी थे :[26]

> मुझे अभी भी उम्मीद है कि महामहिम की सरकार किसी भी निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले आर्थिक और रणनीतिक जरूरतों को भी ध्यान में रखेगी और केवल राजनीतिक पक्ष को ध्यान में रखकर मामले को नहीं निपटाएगी। यदि उसकी घोषणा विभाजक प्रवृत्तियों को बढ़ावा देगी तथा कांग्रेस और संयुक्त भारत के पक्षधर दूसरे राजनीतिक संगठनों की दिक्कतों को बढ़ाएगी तो अंग्रेजों के जाने के बाद दोनों देशों के बीच हमेशा के लिए पराएपन की भावना पैदा हो जाएगी।

सेना के उच्च अधिकारियों को भी राजनीति को प्रमुखता दिए जाने का डर था। उन्होंने भारत कार्यालय पर दबाव डाला। भारत कार्यालय ने वाइसरॉय से आग्रह किया कि वह भावी रक्षा व्यवस्थाओं के संबंध में बातचीत के लिए पहल करे : 'यह बात सबसे अधिक महत्वपूर्ण है कि भावी भारत की राजनीतिक दिक्कतों का हल खोजते हुए सैनिक करार के पहलू को ऐसे ही न छोड़ दिया जाए।'[27] यह जरूरी समझा गया कि रक्षा और राजनीतिक मामलों पर बातचीत साथ-साथ चले। यदि ऐसा नहीं किया गया तो रक्षा बातचीत से पहले ही सारी रियायतें दे दी जाएंगी और भाव-ताव के लिए कुछ नहीं बचेगा।[28]

लेकिन नई दिल्ली ने विभाजन के पेचीदा सवाल के हल हो जाने से पहले किसी भी प्रकार की बातचीत से इनकार किया। इस्मै ने स्पष्ट कर दिया था कि सैनिक व्यवस्था राजनीतिक स्थिति के बाद की बात है। सैनिक व्यवस्था राजनीतिक स्थिति को निर्धारित नहीं करेगी।[29] उसने धीरे-धीरे सेना प्रमुखों और बाद में प्रधानमंत्री को इस बात के लिए राजी कर लिया कि इस बारे में बात करना अभी उचित नहीं है। हमें भावी नेताओं के साथ सद्भावना स्थापित हो जाने तक इंतजार करना चाहिए।[30] ऐसा लगता है कि सेना प्राधिकारियों ने अनिच्छा से यह मंजूर कर लिया कि रक्षा बातचीत आजादी के बाद की जाए। इस बात पर सहमति हुई कि भारत और राष्ट्रमंडल के 'आपसी लाभ के लिए रक्षा व्यवस्था' की आवश्यकता के बारे में नेताओं से बातचीत की जाए। आजादी और विभाजन से देश कमजोर होंगे। इसलिए राष्ट्रमंडल में रहने से भारत और पाकिस्तान को होने वाले लाभों पर बल दिया जाए।[31]

सेना प्रमुखों के ज्ञापन के आधार पर 'बातचीत के लिए एक संक्षेप' तैयार किया गया और इसे अनुमोदन के लिए प्रधानमंत्री को भेजा गया। इसमें खास मुद्दे यह थे कि विश्व शांति के लिए राष्ट्रमंडल बहुत जरूरी है और भारत की सुरक्षा के लिए ब्रिटिश सहायता

का बहुत महत्व है। उदारता के नीचे छिपे अपने हित की बात को दबाते हुए संक्षेप में कहा गया है : 'इंगलैंड भारत और पाकिस्तान की मदद के लिए तैयार है ताकि ये देश अपने यहां शांति और स्थिरता तथा राष्ट्रमंडल की मजबूती के लिए काम कर सकें। शांति और स्वतंत्रता के लिए अंतिम सहारा राष्ट्रमंडल ही होगा।'[32]

'अवार्ड' या 'सहमति' से हल ?

सरकार बार-बार इस बात पर बल दे रही थी कि वह किसी के ऊपर अपना विचार लादना नहीं चाहती है। वह तो केवल दोनों पक्षों को सुनना चाहती है ताकि समझौते से कोई हल निकल सके। सरकार लगातार नीति बयान देने से कतराती रही। लेकिन अंतत: उसने बयान ही दिया। मई 1946, 1947 के शुरू और जून 1947 में यही हुआ। कैबिनेट मिशन योजना, 20 फरवरी 1947 का बयान और 3 जून 1947 की योजना अवार्ड ही थे। किसी भी तरह की लफ्फाजी उनके स्वरूप को नहीं बदल सकती है।

3 जून की योजना माउंटबैटन अवार्ड ही तो थी। इसमें उसने अपने ये विचार व्यक्त किए कि सत्ता हस्तांतरण के लिए जल्दी किसी तारीख की जरूरत है, सत्ता दो देशों भारत और पाकिस्तान को सौंपी जाएगी जिसके लिए पंजाब और बंगाल का विभाजन करना होगा। एन डब्ल्यू एफ पी के लोगों को दो विकल्प दिए गए भारत में जाओ या पाकिस्तान में। स्वतंत्र सिख देश के सपने को दफन कर दिया गया। अंग्रेज लगातार इस बात से मना करते रहे कि वे अवार्ड नहीं देंगे। लेकिन हर बार उन्होंने यही किया। उन्होंने एक नीति विकल्प के खिलाफ दूसरे का उपयोग किया और अपनी नीतियां लागू कीं।

अंग्रेजों ने हमेशा यह दिखाने की कोशिश की कि वे तटस्थ प्रेक्षक हैं। लेकिन भारत में, विशेष विकल्पों में और कुछ घटनाओं में उनकी दिलचस्पी थी। उनकी तटस्थता को स्वीकार कर लेने का मतलब है माउंटबैटन कागजातों और अधिकांश सरकारी घोषणाओं तथा लेखन के जाल में फंसना। वे बगैर किसी खून खराबे और तकलीफ के तथा पूरी सद्भावना के साथ भारत से निकलना चाहते थे और इसके बाद भारत और पाकिस्तान की अर्थव्यवस्थाओं और राष्ट्रमंडल रक्षा की दृष्टि से उनकी रणनीतिक स्थिति का लाभ उठाना चाहते थे। वे संयुक्त भारत चाहते थे। ऐसा न हो पाने की स्थिति में वे अधिक से अधिक एकता चाहते थे। उनकी अधिकांश नीतियों के महत्वपूर्ण मायने थे। मसलन विदेशमंत्री की सेवाओं के लिए भुगतान करने, ब्रिटिश सेनाओं की वापसी, वापसी की तारीख को पीछे खिसका कर 15 अगस्त 1947 करने और सीमाओं के बारे में अवार्ड 15 अगस्त 1947 के बाद देने का निर्णय।

एकता के पक्ष में हस्तक्षेप न करने का कारण सरकार अकसर यह बताती थी कि उसके पास केवल जिम्मेदारी है, शक्ति नहीं है। लेकिन जब ब्रिटिश विरोधी कार्रवाई की बात हुई तो सरकार ने साफ कर दिया कि वह समझौते के बगैर भारत नहीं छोड़ेगी भले ही

इसके लिए और सेना बुलानी पड़े। शक्ति न होने की दलील अब नहीं दी गई। सांप्रदायिकता के मामले में विचारों में इतनी स्पष्टता नहीं थी। संयुक्त भारत का विकल्प स्वीकार करते हुए अंग्रेजों ने अन्य विकल्पों से इनकार नहीं किया। विकल्पों को कुछ ऐसे ढंग से रखा गया कि हवा का रुख देखकर दूसरे विकल्प को पहला विकल्प बनाया जा सकता था। अंग्रेजों ने यह रुख नहीं अपनाया कि यदि एकता के लिए समझौता नहीं हुआ तो इसे रखने के लिए बल का प्रयोग किया जाएगा। इसके विपरीत उनका यह कहना था कि यदि एकता न रखी जा सकी तो विभाजन को समझौते का आधार बनाया जाएगा। एटली मुख्यमंत्री और वाइसरॉय से इस बात के लिए सहमत था कि एकता पाकिस्तान से बेहतर है। वह 'कोई करार न होने से बेहतर है।'[33] समझौता न होने से 'अहिंसा, अव्यवस्था और यहां तक कि गृहयुद्ध का गंभीर खतरा था।'[34]

सख्त निर्णय लेने के बजाए संतुलन बनाए रखने की सरकार की कोशिशों की भारत कार्यालय के अधिकारियों ने कड़ी आलोचना की। उन्होंने चेतावनी दी कि नरमी से समझौता हो जाना जरूरी नहीं है। एक ऐसा विकल्प होना चाहिए जिसमें विश्वास पैदा हो सके और जिसे लागू किया जा सके।[35]

इस तरह की किसी भी योजना में या तो हम किसी एक पार्टी को मजबूर करेंगे या फिर उसका सीमित दायरा होगा। हमारे समर्थन के बगैर किसी हल का कोई भी व्यावहारिक उपयोग नहीं होगा। यदि कोई विचार हमें उचित, व्यावहारिक और कालोचित लगे तो हमें उसका समर्थन करना चाहिए।

महामहिम की सरकार के लिए कालोचितता सबसे अधिक महत्वपूर्ण थी। कैबिनेट मिशन ने तो यहां तक कहा 'सवाल इस बात का नहीं है कि पाकिस्तान की मांग उचित और वैध है या नहीं बल्कि यह है कि इसकी मांग करने वालों की भावनाओं का क्या किया जाए।'[36] अन्य क्षेत्रों ने भी कोई न कोई विकल्प चुनने का आग्रह किया। गांधी ने वावेल से कहा : 'सही काम करने की हिम्मत दिखाओ। आप कोई न कोई विकल्प चुनें। आप दो घोड़ों पर एक साथ सवारी नही कर सकते।'[37] गांधी के शब्द बहुत साफ थे: 'आपको दो में से किसी एक को चुनना होगा – मुसलिम लीग और कांग्रेस। दोनों को आपने ही खड़ा किया है।'[38]

एकता का राग अलापना और साथ ही विभाजन कर देना अपनी विफलता को छिपाने की उपयोगी तरकीब थी। न तो एकता हुई और न ही सहमति से समझौता हुआ। अब अवार्ड को सहमति से समझौते के रूप में और विभाजन को अधिक से अधिक संभव एकता (अर्थात यह पूरी तरह से बरबादी से बेहतर है) के रूप में पेश करने की कोशिश की जा रही थी। दो महत्वपूर्ण बातें थीं। एक यह कि विभाजन की जिम्मेदारी अंग्रेजों पर न आए और दुनिया को यह लगे कि अपने भविष्य के बारे में यह भारतीयों का अपना विचार है, अंग्रेजों का फैसला नहीं।'[39] इसके अलावा इस दिखावे को बनाए रखना जरूरी था।

अप्रैल 1947 के मध्य में गवर्नरों के सम्मेलन में माउंटबैटन ने अपना भाषण अपनी इस 'ईमानदारी को दोहराते हुए किया कि वह मुसलिम लीग और कांग्रेस दोनों के लिए निष्पक्षता रखेगा।'[40] वाइसरॉय ने सेनाध्यक्ष को सलाह दी कि भारतीयों की एक समिति सांप्रदायिक आधार पर सेना के पुनर्गठन पर विचार करे क्योंकि 'पाकिस्तान बनने का फैसला करने की स्थिति में ऐसा लगना चाहिए कि हमने न्याय किया है।'[41]

लेकिन इस तरह के जनसंपर्क कार्य हमेशा कामयाब नहीं होते। वाइसरॉय के स्टाफ ने स्वीकार किया कि 'दुनिया भर में बहुत लोगों का यह विचार है कि भारत को एक रखने के रास्ते और तरीके खोजे जाने चाहिए थे। विभाजन की आवश्यकता के बारे में गंभीर संदेह व्यक्त किए गए हैं।'[42]

कांग्रेस और लीग दोनों ही के नेताओं ने इस पहेली के पीछे की वास्तविकता को देख लिया। लियाकत अली ने जैनकिन्स को कोई निर्णय लेने, उसे लागू करने और 'अपनी जिम्मेदारी' से बचने की सलाह दी। गांधी ने 'सब को खुश रखने के प्रयास को फिजूल और बेकार काम'[43] बताया। लेकिन अंग्रेज संतुलन बनाए रखने की तरकीबों में लगे रहे। इससे दोनों पार्टियों पर दबाव बना रहा। वे चाहते थे कि 'पाकिस्तान की तलवार कांग्रेस के सिर पर लटकी रहे ताकि वह अंग्रेजों को उनकी इच्छानुसार सैनिक सुविधाएं देने के लिए मजबूर हो जाए।'[44] अल्पकाल में भी कांग्रेस के खिलाफ संतुलन के लिए लीग उपयोगी थी। वाइसरॉय की विशेष शक्तियां बनी रहीं। पूरी तरह से कांग्रेस के शासन में वह सिर्फ नाम के लिए शासक रह जाता। लेकिन इन अल्पकालिक आवश्यकताओं के लिए दीर्घकालिक लक्ष्यों को भुला दिया गया जो एकता से अच्छी तरह से पूरे होते।

अंग्रेज भारतीयों द्वारा सहमत समाधान की कोशिश में लगे मध्यस्थों की भूमिका छोड़कर ही भारत को एक रख सकते थे। एकता के लिए उसके पक्ष में हस्तक्षेप जरूरी था। इसके लिए सांप्रदायिक तत्वों को दबाना आवश्यक था। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। बाद में एटली ने लिखा – 'हम संयुक्त भारत को तरजीह देते। लेकिन हम भरसक कोशिशों के बावजूद उसे एक न रख सके।'[45] वास्तव में उन्होंने आसान रास्ता अपनाया। एकता की गंभीर कोशिशों के लिए इसकी हामीदार ताकतों को पहचानना जरूरी था। साथ ही इसके खिलाफ ताकतों का विरोध जरूरी था। ऐसा करने के बजाए अंग्रेज रणनीतिक और रक्षा मुद्दों पर ब्रिटेन के साथ सहयोग की बात दोनों पक्षों के साथ करते रहे। राष्ट्रमंडल रक्षा में मजबूत साथी के रूप में संयुक्त भारतीय उपमहाद्वीप के लिए ब्रिटिश तरजीह का स्थान दो देशों ने ले लिया था। दोनों ब्रिटेन के दोस्त होंगे और दोनों मिलकर वही काम करेंगे जो कि संयुक्त भारत करता। अब सवाल यह था कि भारत और पाकिस्तान दोनों के साथ दोस्ती कैसे की जाए ?

अधिकतम एकता के साथ विभाजन

माउंटबैटन के फार्मूले का लक्ष्य भारत के विभाजन के बावजूद उसकी अधिकतम एकता बनाए रखना था। देश के विभाजन के रूप में केवल पंजाब और बंगाल का विभाजन किया जाएगा ताकि जो सीमित पाकिस्तान बने उससे कांग्रेस और लीग दोनों की बात पूरी हो जाए। पाकिस्तान बनने से लीग की बात पूरी हो गई। जहां तक हो सके पाकिस्तान को छोटे से छोटा रखकर कांग्रेस की एकता की मांग पूरी हो गई। कांग्रेस द्वारा अपनी मुख्य मांग अर्थात संयुक्त भारत की मांग छोड़ दिए जाने के बाद उसकी सभी मांगें स्वीकार कर लिए जाने का फैसला हुआ। रजवाड़ों को आजाद करने से इनकार कर दिया गया। बंगाल की एकता के बारे में कांग्रेस की बात मानी गई और भारत के बजाए पाकिस्तान में जाने की हैदराबाद की इच्छा को नामंजूर कर दिया गया। इन मुद्दों पर माउंटबैटन ने कांग्रेस का पूरा समर्थन किया। उसने इस बात के लिए महामहिम सरकार को सहमत करा लिया कि भारत को राष्ट्रमंडल में रखने के लिए कांग्रेस की सद्भावना जरूरी है।

कैबिनेट मिशन योजना विभाजन को थामे रखने में समर्थ पैकिंग खोल के रूप में तैयार की गई थी। 3 जून की योजना विभाजन के साथ अधिक से अधिक एकता के उद्देश्य से तैयार की गई थी। विभाजन का फैसला कर लिए जाने के बाद एकता पर चोट के और प्रयास को बर्दाश्त न करने का फैसला किया गया। ऐसा कांग्रेस और लीग दोनों के रुखों को स्वीकार करने के निर्णय को ध्यान में रखकर किया गया था। एकता की कांग्रेस की मुख्य बात को स्वीकार नहीं किया गया था। इसलिए दूसरी छोटी बातों को स्वीकार करके उसे संतुष्ट किया जाना था। ऐसा लगता है कि एकता पर नॉक आउट आघात के बाद सरकार उसे अन्य आघातों से बचाना चाहती थी।

अप्रैल 1947 के मध्य में हुए सम्मेलन में गवर्नर माउंटबैटन के इस सुझाव से सहमत हो गए कि प्रांतों को केवल भारत या पाकिस्तान में शामिल होने का विकल्प दिया जाए। हालांकि इस्मै ने चेतावनी दी थी कि महामहिम की सरकार किसी भी ऐसी योजना को स्वीकार नहीं करेगी जिसमें प्रांतों को सभी विकल्प न दिए गए हों, लेकिन आजादी का विकल्प देने से इनकार कर दिया गया। इस तरह की आजादी का मतलब होता पूर्ण बाल्कनीकरण।[46] इसी प्रकार रजवाड़ों को भी पूरी आजादी का विकल्प नहीं दिया गया। कई बार माउंटबैटन ने उन पर किसी न किसी में शामिल होने के लिए दबाव डाला। महामहिम की सरकार ने जब इस बारे में हिचकिचाहट दिखाई तो माउंटबैटन ने दलील दी कि राज्यों को संघ में लाने से भारत यह मान लेगा कि उसे बाल्कनीकरण के कगार पर ले जाने का हमारा कोई इरादा नहीं है।[47] ऐसा करके नेहरू और पटेल की सद्भावनाएं भी प्राप्त की जा सकती हैं क्योंकि 'ये नेता किसी भी सूरत में विभाजन की योजना को स्वीकार करने वाले नहीं थे। वे चाहते थे कि और विघटन न हो।' इससे 'ब्रिटेन के दोस्त अखंड भारत'[48] का माउंटबैटन का लक्ष्य भी पूरा होता। हिंद महासागर क्षेत्र में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखने

वाले भारत देश को इन राज्यों के लिए नाराज करना बेवकूफी था।

माउंटबैटन ने बड़े राजाओं (उदाहरण के लिए भोपाल और धौलपुर) के साथ अपनी दोस्ती को इस्तेमाल किया। छोटे राजाओं पर रौब जमाने के लिए उसने अपने शाही संबंधों को बढ़ा-चढ़ा कर बताया। कुछ राजाओं को उसने डराने धमकाने की कोशिश की। उसने खुद को राजाओं के दोस्त के रूप में पेश किया और कांग्रेस राज को स्वीकार करने की सलाह दी। उसने उन्हें अच्छे बर्ताव का भरोसा दिलाया। राजाओं के लिए यह नेक और व्यावहारिक सलाह थी क्योंकि भारत या पाकिस्तान में शामिल होने के अलावा उनके पास और कोई चारा नहीं था (बहुत जल्दी ही हैदराबाद की समझ में यह बात आने वाली थी)। अंग्रेजों ने राजाओं को भरोसा दिलाया था कि सर्वोच्चता उनके शासन के साथ ही समाप्त हो जाएगी। वह उनके उत्तराधिकारियों को अंतरित नहीं की जाएगी। ऐसा कहकर उन्होंने राजाओं के साथ धोखा किया। राजा और उनके समर्थक बहुत जल्दी ही अपना माथा पकड़ कर रोए। अंग्रेजों ने सर्वोच्चता तो अंतरित नहीं की लेकिन उपमहाद्वीप में भारत और पाकिस्तान के रूप में दो सर्वोच्च शक्तियां बनाने के लिए वह सब किया जो संभव था। राज्यों को डोमिनियन का दर्जा नहीं दिया गया। इसका मतलब उनके डोमिनियन दर्जे को नकारना था। राष्ट्रमंडल अंतर्राष्ट्रीय मंच था। उसकी मान्यता के बगैर संयुक्त राष्ट्र से भी मान्यता नहीं मिल सकती थी। इसके अलावा ब्रिटिश वाणिज्यिक हितों और कुछ नीति निर्माताओं की सलाह के बावजूद अलग व्यापार संबंधों को हतोत्साहित किया गया। उदाहरण के लिए ट्रावनकोर ब्रिटेन को थोरियम सप्लाई करने के लिए तैयार था लेकिन भारत सरकार ने महामहिम की सरकार को इस ओर ध्यान न देने की सलाह दी।[49]

जब माउंटबैटन भारत आया उस समय तक प्रशासन और भी कमजोर हो गया और देश को चलाने के लिए कांग्रेस के सहयोग की बहुत जरूरत थी। इसी प्रकार उसकी मांगें मानना भी जरूरी था विशेष रूप से उस स्थिति में जब एकता के लिए उनकी मुख्य मांग पूरी नहीं हुई थी। माउंटबैटन ने जेनकिन्स के सामने स्वीकार किया कि 'इस नाजुक दौर में नेहरू की सद्भावना मेरे लिए बहुत जरूरी है।'[50] इस बारे में कांग्रेस के जवाब से माउंटबैटन संतुष्ट था 'इस समय कांग्रेस अंग्रेजों के साथ दोस्ती दिखा रही है।'[51] वामपंथी धड़े ने 'अंग्रेजों को इतनी अधिक सहायता करने के लिए'[52] अपने नेताओं की आलोचना की। महामहिम की सरकार से आग्रह किया गया कि वह सेवाओं को मुआवजे के लिए वित्तीय जिम्मेदारी को स्वीकार करे ताकि पटेल नाराज न हों।[53] माउंटबैटन ने महामहिम की सरकार से निवेदन किया कि वह अंडमान और निकोबार द्वीप समूहों को साम्राज्य में रखने के इरादे को छोड़ दे क्योंकि इससे अंग्रेजों में कांग्रेस के विश्वास को धक्का लगेगा।[54] भारत को मौजूदा अंतर्राष्ट्रीय सत्ता के रूप में मान्यता दी गई जबकि पाकिस्तान को नए देश के रूप में अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं से मान्यता प्राप्त करनी थी।[55]

वावेल की तरह माउंटबैटन की जिन्नाह और लीग के साथ सहज सहानुभूति नहीं

थी। इसलिए उसने लीग की हठ और जिन्नाह के दुराग्रह को उचित बताने की कोशिश नहीं की : 'मेरे विचार से जिन्नाह मनोरोगी है। वास्तव में उसके मिलने से पहले मैं यह सोच भी नहीं सकता था कि वह बगैर किसी प्रशासनिक ज्ञान या जिम्मेदारी की भावना के इतनी शक्तिशाली हैसियत को संभाल सकता है।'[56] वाइसरॉय और गवर्नरों ने हिंसा भड़काने के लिए लीग की निंदा की। खिज्र सरकार को गिराकर कानून और व्यवस्था की ओर ध्यान न देने के लिए पंजाब मुसलिम लीग की कड़ी आलोचना हुई।[57] लीग की एन डब्ल्यू एफ पी यूनिट के रवैए की बहुत आलोचना हुई : 'मेरे खयाल में लीग सर्वसत्तावादी है और वह अपने विरोधियों को परेशान करना चाहती है।'[58]

माउंटबैटन ने जिन्नाह के प्रति सख्त रुख अपनाया ताकि उसे और उचित रवैया अपनाने के लिए मजबूर किया जा सके। उसने जिन्नाह के 'दो राष्ट्रों' के तर्क का उपयोग किया और स्पष्ट कर दिया कि उसे केवल सीमित पाकिस्तान मिलेगा। ऐसा करके उसने जिन्नाह को पंजाब और बंगाल के विभाजन के लिए राजी कर लिया। उसने सुझाव दिया कि उसे सिखों के पक्ष में काल्पनिक विभाजन और एन डब्ल्यू एफ पी में कांग्रेस मंत्रिमंडल द्वारा जनमत संग्रह की धमकी दी जा सकती है।[59] जिन्नाह ने धमकी दी कि अंतरिम सरकार के फिर से गठन की उसकी बात यदि नहीं मानी गई तो वह पाकिस्तान की संविधान सभा की बैठक नहीं बुलाएगा और स्वतंत्रता बिल को पास करने में देरी कराएगा। माउंटबैटन ने जिन्नाह की चाल को समझ लिया और कहा कि वह ऐसा कुछ नहीं करेगा क्योंकि यह उसके अपने हित में नहीं है।[60] इसी प्रकार उसने कैबिनेट को इस बात के लिए राजी कर लिया कि वह अंडमान निकोबार द्वीप समूहों पर पाकिस्तान के दावे को स्वीकार न करे।[61] जिन्नाह गवर्नर जरनल बनने पर अड़ा रहा। इससे संयुक्त रक्षा में तालमेल रखने की माउंटबैटन की उम्मीद टूट गई और उसकी इज्जत को भी धक्का लगा। चार घंटे तक जिरह के बावजूद जिन्नाह टस से मस नहीं हुआ। माउंटबैटन ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिन्नाह को 'घमंड की भयंकर बीमारी है।'[62] जिन्नाह ने माउंटबैटन से कहा कि इन 'साफ झिड़कियों' की ओर ध्यान न दे और उसकी दोस्ती का फैसला 'उसके शब्दों में नहीं उसके कार्यों को देखकर करे।' लेकिन उसकी इस बात पर किसी ने ध्यान नहीं दिया।[63]

आयशा जलाल ने माउंटबैटन पर आरोप लगाया है कि कांग्रेस द्वारा राष्ट्रमंडल में रहने के प्रस्ताव के बाद उसने पूरी तरह से कांग्रेस के हित में कार्य किया। वास्तव में राष्ट्रमंडल में रखने का आकर्षण इतना अधिक था कि कांग्रेस उससे मना नहीं कर सकती थी। अपनी अलंकृत भाषा में उसने लिखा है कि पाकिस्तान को पिछवाड़े और बाहर तंबू लगाने दिया गया लेकिन घर की चाबी कांग्रेस को दे दी गई।[64] दिलचस्प बात यह है कि जलाल के शब्दों में सबसे ज्यादा गड़बड़ी कांग्रेस ने की और इसमें मदद माउंटबैटन ने की।[65] कांगेस को लालच देने के पीछे साम्राज्यवादी मंशा स्पष्ट है। आर.जे. मूर ने मई 1947 में शिमला में 'माउंटबैटन-नेहरू' सौदे की बात की है। उसने इस बात पर बल दिया है कि 'खेल के

आखिरी दौर में कांग्रेस की चली।' इससे इन महीनों के दौरान विवाद वाले फैसलों की जिम्मेदारी कांग्रेस के कंधों पर आ जाती है।[66]

माउंटबैटन के खिलाफ पाकिस्तानी दलील का मुख्य आधार[67] उसका कांग्रेस समर्थक रुख और भारत के पक्ष में उसके कुछ फैसले हैं। यह आरोप लगाया जाता है कि लीग के प्रति अपने विरोध को उसने उसके नेता के प्रति विरोध के रूप में प्रकट किया। पाकिस्तान बनाने के जिन्नाह के आग्रह की उसने 'मनोरोग' और 'पागलपन' बताकर निंदा की। कांग्रेस के नेता माउंटबैटन के लिए प्रेम जताते रहे और माउंटबैटन उनके लिए प्रेम जताता रहा। जिन्नाह उसकी मोहिनी में नहीं फंसा और बराबरी का दर्जा मांगता रहा। ऐसा कहा जाता है कि जिन्नाह द्वारा पाकिस्तान का गवर्नर जनरल बनने पर अड़े रहने से भी माउंटबैटन के अहं को चोट पहुंची।[68] माउंटबैटन के,लिए यह निजी शान का मामला ही नहीं था। उसकी राष्ट्रमंडल कूटनीति भी दोनों देशों के लिए एक गवर्नर जनरल पर टिकी थी। जिन्नाह ने एकता के उसके मंसूबे और संयुक्त गवर्नर जनरल बनने के उसके इरादे पर पानी फेर दिया था। उसने जिन्नाह को धमकी दी कि यह उसको बहुत महंगा पड़ेगा। आने वाले सप्ताहों ने यह दिखा दिया कि यह कोरी धमकी नहीं थी।

यह आरोप लगाया जाता है कि माउंटबैटन ने विभिन्न विवादास्पद मुद्दों जैसे कि सीमा सवाल, रजवाड़ों का विलय और उपद्रवग्रस्त पंजाब में शांति रखने में लगातार पाकिस्तान विरोधी और भारत समर्थक रुख अपनाया। आरोप ये हैं कि पंजाब सीमा आयोग के फैसले में भारत के पक्ष में संशोधन किया गया,[69] फिरोजपुर और जीरा तहसील भारत में चली गई। इनका पाकिस्तान के लिए रणनीतिक महत्व था और वहां पर सिंचाई सुविधाएं मुख्य रूप से उपलब्ध थीं। गुरदासपुर को भारत में शामिल किए जाने से उसे जम्मू और कश्मीर के लिए सड़क मार्ग मिले। इससे भारत में उसका विलय व्यवहार्य बन गया। माउंटबैटन ने नेहरू के कहने पर जून 1947 में कश्मीर का दौरा करके इसके लिए रास्ता साफ कर दिया। उससे कहा गया कि वह महाराजा को भारत संघ में शामिल होने के लिए प्रेरित करे। पाकिस्तानी इतिहासकारों के अनुसार पंजाब में सांप्रदायिक उपद्रवों की सबसे अधिक जिम्मेदारी माउंटबैटन पर आती है। यह आरोप लगाया जाता है कि उसने सीमा आयोग के फैसले की घोषणा में देरी की और उपद्रवों को भड़काने वाले सिख उग्रवादियों को कुचलने की सलाह नहीं मानी।

15 अगस्त 1947 : बहुत देरी से या बहुत जल्दी?

सत्ता हस्तांतरण के लिए 15 अगस्त 1947 की जल्दी आने वाली तारीख इसलिए रखी गई थी जिससे कि कांग्रेस को डोमिनियन दरजे के लिए राजी किया जा सके।[70] इसका एक और लाभ यह था कि अंग्रेज बिगड़ती जा रही सांप्रदायिक स्थिति से अपना पल्ला झाड़ सकते थे। कुछ अफसर जाने के समाचार से बहुत खुश थे। वे भारतीयों को अपनी करनी

खुद भुगतने के लिए छोड़ देना चाहते थे। जैसा कि पटेल ने वाइसरॉय से कहा, हालात कुछ ऐसे थे जिसमें 'आप न खुद शासन चलाएंगे और न हमें चलाने देंगे।'[71] तारीख को पीछे खिसकाकर 15 अगस्त 1947 करने का कारण बताते हुए माउंटबैटन ने कहा कि यदि ऐसा नहीं किया जाता तो बहुत विस्फोटक स्थिति पैदा हो जाती।'[72] इस्मै का मानना था कि अगस्त 1947 बहुत देरी की तारीख थी जल्दी की नहीं।'[73]

अंग्रेजों के नजरिए से जल्दी लौटना बहुत सही कदम था। लेकिन माउंटबैटन और इस्मै का यह कहना सही नहीं है कि इसके अलावा और कोई चारा नहीं था। सरकारी प्राधिकार में गिरावट के बावजूद शक्ति रहित जिम्मेदारी वास्तविकता नहीं एक संभावना मात्र थी। थोड़े समय के लिए अंग्रेज अपने प्राधिकार का प्रयोग कर सकते थे लेकिन जैसा कि कृपलानी ने माउंटबैटन से कहा, उन्होंने ऐसा नहीं किया।'[74] हालात ऐसे थे जिनमें प्राधिकार को छोड़ने की नहीं बल्कि उसको संभालने की जरूरत थी।

जिम्मेदारी को छोड़ना तो निर्दयता थी ही, जिस तेजी से उसे छोड़ा गया वह और भी अधिक निर्दयता थी। लेकिन 15 अगस्त 1947 ? यह माउंटबैटन के दिमाग में 'कौंधी' बात थी जिसके बारे में एक प्रेस सम्मेलन में घोषणा की गई। इसके महत्व को दिखाने के लिए 72 दिन का एक टियर आफ कैलेंडर लगाया गया। माउंटबैटन की यह कार्रवाई ऐसे समय पर लगाया गया टाइम बम बन गई जब राज्यों को मिलाने, देश के विभाजन (केवल काल्पनिक, भौगोलिक ही नहीं, एक-एक सूई तक के विभाजन) और राज के विशाल ढांचे को समेटने की कष्टदायक प्रक्रिया चल रही थी।

अंग्रेज एक झटके में संबंध नहीं तोड़ना चाहते थे लेकिन वे संकट से निकलने की तरकीबों में बुरी तरह से उलझे हुए थे। भारत के लोग खुद को कैसे संभालेंगे इस बारे में भी किसी को चिंता नहीं थी। यह कहा जा रहा था कि उन्हें विभाजन की तकलीफ के साथ आजादी का आनंद लेने दिया जाए। लेकिन स्वयं अंग्रेजों के नजरिए से यह रुख सही नहीं था। भारतीयों की दशा के प्रति अंग्रेजों की बेरुखी से वह सद्भाव समाप्त हो गया जो भारत से उनकी वापसी की 'उदार' घोषणा से पैदा हुआ था।

सत्ता के हस्तांतरण और देश के बटवारे के लिए 3 जून से 15 अगस्त 1947 तक का 72 दिन का टाइम टेबल बहुत विनाशकारी सिद्ध होने वाला था। भारत स्थित वरिष्ठ अफसरों जैसे कि पंजाब का गवर्नर, सेनाध्यक्ष का यह मानना था कि शांतिपूर्ण विभाजन के लिए कई साल चाहिए।'[75] विभाजन परिषद को कुछ सप्ताहों में (टाइपराइटर और प्रिंटिंग प्रेस तक) संपत्ति का बटवारा करना था। ऐसा कोई संक्रमणकालीन संस्थागत ढांचा नहीं बनाया गया था जिससे विभाजन से पैदा होने वाली गुत्थियों को सुलझाया जा सके। माउंटबैटन को उम्मीद थी कि वह भारत और पाकिस्तान का संयुक्त गवर्नर जनरल बन जाएगा और वह दोनों के बीच संपर्क का कार्य करेगा। लेकिन यह नहीं हो सका क्योंकि जिन्नाह खुद गवर्नर जनरल बनना चाहता था। यहां तक कि संयुक्त रक्षा तंत्र दिसंबर 1947 में खत्म हो

गया। उस समय तक कश्मीर राजनीतिक समझौते के बजाए सैनिक संघर्ष का अखाड़ा बन गया था।

विभाजन जन संहार

विभाजन के साथ पंजाब में हुआ जन संहार माउंटबैटन के गलत कदम का अंतिम सबूत था। उसके निष्ठावान सहायक इस्मै ने 16 सितंबर 1947 को अपनी पत्नी को लिखा : 'हमारा मिशन कामयाब होने वाला ही था; तकलीफ की बात है कि यह पूरी तरह से नाकामयाब रहा।'[76] 15 अगस्त 1947 की जल्दी की तारीख रखना और सीमा आयोग के फैसले की घोषणा में देरी करना दोनों ही माउंटबैटन के निर्णय थे। इससे तकलीफें और बढ़ गईं।[77] 1947 में पंजाब में तैनात एक वरिष्ठ सेना अफसर ब्रिगेडियर ब्रिस्टोव का मानना था कि यदि विभाजन एकाध साल के लिए टाल दिया जाता तो पंजाब त्रासदी नहीं होती।[78] 15 अगस्त से 31 दिसंबर 1947 तक भारतीय सेना के सेनापति रहे लॉकहार्ट ने इसका समर्थन किया : 'सिविल सेवाओं के सभी वर्गों के अफसर और सशस्त्र सेवाओं के सभी कार्मिक स्वतंत्रता दिवस से पहले अपने-अपने देश में सही जगह पर तैनात होते तो इस तरह की भारी अव्यवस्था पैदा नहीं होती।'[79]

सीमा आयोग का फैसला 9 अगस्त 1947 तक तैयार हो गया था। लेकिन माउंटबैटन ने स्वतंत्रता दिवस के बाद ही इसकी घोषणा करने का निर्णय लिया जिससे कि अंग्रेजों पर इसकी जिम्मेदारी न आए।[80] वाइसरॉय के निजी सचिव द्वारा पंजाब के गवर्नर के निजी सचिव को भेजे गए 8 अगस्त 1947 के पत्र के साथ प्रस्तावित सीमा का नक्शा भी लगा था। इसी नक्शे के आधार पर पाकिस्तान यह कहने वाला था कि माउंटबैटन ने भारत का पक्ष लिया है। 9 अगस्त 1947 को वाइसरॉय ने स्टाफ की बैठक में सलाह दी कि फैसले की घोषणा 15 अगस्त 1947 के बाद की जाए जिससे कि अंग्रेजों पर इसकी जिम्मेदारी न आए। माउंटबैटन और उसकी टीम भी नहीं चाहती थी कि भारतीय नेताओं के साथ उनके नाजुक अच्छे संबंधों को 15 अगस्त 1947 को सद्भाव और धूमधाम से होने वाले सत्ता हस्तांतरण से पहले कोई आघात पहुंचे।

आजादी के दिन पंजाब और बंगाल में अजीब नजारे देखने को मिले। लाहौर और अमृतसर के बीच गांवों में लोगों ने भारत और पाकिस्तान के झंडे लगाए। दोनों समुदायों के लोगों का यह मानना था कि वे अपने देश में हैं। जल्दी ही उन्हें यह पता चलने वाला था कि अफसरों के एक फैसले से वे अपने ही घर में विदेशी हो गए हैं।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. 14 जनवरी 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 6, पृ. 788-89.
2. एटली से कैबिनेट मिशन, 14 मई 1946, वही, वॉल्यूम 7, पृ. 555-57.

3. 15 मई 1946. वही, पृ. 557-59.
4. कैबिनेट मिशन से प्रधानमंत्री, 15 मई 1946 और कैबिनेट निष्कर्ष, 16 मई 1946, वही, पृ. 565 और 572-73
5. 13 जुलाई 1946. वही. वॉल्यूम 8. पृ. 49-57.
6. देखें वही का परिशिष्ट, वॉल्यूम 12.
7. क्रॉफ्ट और मॉनटीथ का नोट, 12-13 अगस्त, वही, पृ. 223-24.
8. 30 अगस्त 1946, वही, पृ. 348-50, देखें टिंकर, '*दि कॉन्ट्रैक्शन आफ एंपायर*'.
9. मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 223-30.
10. *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 365.
11. 11 मार्च 1947, वही, पृ. 522.
12. कैबिनेट मिशन से प्रधानमंत्री. 15 मई 1946, वही, वॉल्यूम 7, पृ. 565.
13. नेहरू से साक्षात्कार, 24 मार्च 1947. वही, वॉल्यूम 10, पृ. 11-13.
14. नेहरू के साथ अपने साक्षात्कार के बारे में वेटमैन की रिपोर्ट, 18 अप्रैल 1947, वही, पृ. 320.
15. वाइसरॉय की कर्मचारी बैठकें, 18 और 19 अप्रैल 1947, वही, पृ. 313-14 और 328-30.
16. बलदेव सिंह के साथ माउंटबैटन का साक्षात्कार, 16 अप्रैल 1947; माउंटबैटन से राजा जी, 11 अप्रैल 1947; माउंटबैटन से सी त्रिवेदी, 15 अप्रैल 1947; और वी.के.के. मैनन के साथ माउंटबैटन का साक्षात्कार, वही, वाल्यूम 10, पृ. क्रमश: 284-86, 194-96, 260-61 और 310-13 दिलचस्प बात यह है कि (जिन्नाह के 22 अगस्त 1946 के पत्र के मसौदा जवाब में) चर्चिल का भी यही विचार था कि राष्ट्रमंडल के लिए भारत की नफरत से ब्रिटेन को कोई नुकसान नहीं होगा लेकिन भारत गृहयुद्ध में फंस जाएगा, गिल्बर्ट, चर्चिल में उद्धृत, पृ. 276. माउंटबैटन की कूटनीति पर डब्ल्यू एच. मोरिस जोन्स, 'दि ट्रांसफर आफ पावर, 1947. ए व्यू फ्रॉम साइडलाइंस' में चर्चा की गई है, एम ए एस 16.1. 1882, पृ. 1-32; आर जे. मूर, 'माउंटबैटन इंडिया एंड दि कॉमनवेल्थ, '*जर्नल आफ कॉमनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पॉलिटिक्स* (इसके बाद *जे सी सी पी*), वाल्यूम 19.1, 1981, पृ. 5-43; और हघ टिंकर '*जवाहर लाल नेहरू एट शिमला*, मई 1947', *एम ए एस*, वॉल्यूम 4.4 में, 1970, पृ. 349-58.
17. अप्रैल 1945 में चर्चिल ने कहा : 'हम अपनी बेहतर कूटनीति और अनुभव और सबसे अधिक राष्ट्रमंडल एकता से अपनी स्थिति बनाए रख सकते हैं'. 'भारत के पास बहुत बड़ी जनसंख्या, जबर्दस्त व्यापार संभावनाएं और एशिया में महत्वपूर्ण स्थिति है. इसलिए अमरीका को छोड़कर और कोई देश हमारे लिए इतना महत्वपूर्ण नहीं हो सकता है' लॉर्ड प्रीवी सील का ज्ञापन, 3 नवंबर 1947, अनिता इंद्रसिंह के 'कीपिंग इंडिया इन दि कॉमनवेल्थ : ब्रिटिश पॉलिटिकल एंड मिलिटरी एम्स, 1947-49' में उद्धृत, *जर्नल आफ कॉन्टेंपरेरी हिस्टरी*, 20.3, 1985; 469-81. विश्व शक्ति के भ्रम की उस समय बड़ी बुरी दशा हुई जब नवंबर 1947 में बंबई की एक बैठक में एक अमरीकी वक्ता ने कहा कि ब्रिटेन 'कमजोर और बाहर' है. सर होमी मोदी ने इसका विरोध किया और श्रोताओं ने भी ऐसी ही भावनाएं प्रकट की. इस पर इंगलैंड के उप उच्चायुक्त ने संतोष व्यक्त किया. टी शॉन, इंगलैंड के उच्चायुक्त का कार्यालय नई दिल्ली से राष्ट्रमंडल संबंधों के विदेशमंत्री को डिस्पैच सं.132, 26 नवंबर 1947, लंदन, पॉल. (एस) 936/1947, आई ओ आर एल/पी एंड जे/12/297.
18. टॉमलिंसन, 'इंडो ब्रिटिश रिलेशन्स इन दि पोस्ट कॉलोनियन एरा', बैलेंसेज नैगोशिएसन्स, जे आई सी एच, वॉल्यूम 13.3, 1984-85, पृ. 142-62; गुप्ता, 'इंपीरियल स्ट्रेटजी' और बुलॉक, *बेविन*, पृ. 114.
19. आर एफ हॉलैंड, 'दि इंपीरियल फैक्टर इन ब्रिटिश स्ट्रैटजीज फ्रॉम एटली टु मैकमिलन, 1945-63' में उद्धृत, *जे आई सी एच*, वॉल्यूम 12.2, 1984, पृ. 168-69.
20. सिंह, '*कीपिंग इंडिया इन दि कॉमनवेल्थ*' और अनिता इंद्रसिंह, 'पोस्ट इंपीरियल ब्रिटिश एट्टीट्यूड्स टु

इंडिया, दि मिलिटरी आसपेक्टस, 1947-51', *दि राउंड टेबल*, 296, अक्तूबर 1985, पृ. 360-75; और गुप्ता, 'इंपीरियल स्ट्रैटिजी'.

21. माइकल ब्रेचर, 'इंडियाज डिसिजन टु रिमेन इन कॉमनवेल्थ', *जे सी पी पी*, वॉल्यूम 12.1, मार्च 1974, पृ. 62-90.
22. देखें जिन्नाह के साथ माउंटबैटन के साक्षात्कार, 8,9, और 10 अप्रैल 1947 और वाइसरॉय की 19 और 20 तारीख की स्टाफ बैठकें, 11 और 22 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 158-60, 163-64, 186-88, 190 और 359.
23 सिंह, *ऑरिजिन्स ऑफ पार्टिशन*, पृ. 233. सेना प्रमुखों के मसौदा ज्ञापन में यह स्वीकार किया गया है कि यदि केवल पाकिस्तान ही मित्र रहा तो रक्षा मामलों को आघात लगेगा. लेकिन रणनीतिक दृष्टि से पाकिस्तान की भौगोलिक स्थिति अधिक अच्छी है : 'काफी दिक्कत आएगी लेकिन हमारी अधिकांश रणनीतिक जरूरतें केवल पाकिस्तान को मित्र बनाकर पूरी की जा सकती है', इस सी ओ एस मसौदा ज्ञापन (विदेश मंत्री से प्रधानमंत्री के साथ संलग्न, *टी पी*, वॉल्यूम 12, पृ. 314-21) पर आधारित बातचीत के लिए संक्षेप में इस बात पर चर्चा की गई कि किस प्रकार दोनों देश मिलकर अड्डे और आदमी दे सकते हैं जो कि संयुक्त भारत दे पाता
24. गुप्ता, 'इंपीरियल स्ट्रैटेजी', पृ. 41.
25 मूर, 'टुवड्‌र्स पार्टीशन एड दि इंडिपेंडेंस आफ इंडिया', पृ. 191.
26. पटेल से सुधी घोष, 29 जुन 1947, *सुधीर घोष पेपर्स*, एन एम एम एल, नई दिल्ली.
27. विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 3 जुलाई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 11, पृ. 871-72.
28. सेना प्रमुखों की समिति की बैठक, 9 जुलाई 1947, वही, वॉल्यूम 12, पृ. 43-49.
29. मंत्रियों की बैठक में इस्मै, 18 मार्च 1947, वही, वॉल्यूम 9, पृ. 984.
30. इस्मै से माउंटबैटन, 9 जुलाई 1947, वॉल्यूम 12, पृ. 61.
31. इस्मै से वाइसरॉय, 16 जुलाई 1947, वही ,पृ. 200-201.
32. विदेशमंत्री से प्रधानमंत्री, 24 जुलाई 1947, वही, पृ. 314-21
33. 13 अप्रैल 1946, वही, वॉल्यूम 7, पृ. 260.
34. कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय से प्रधानमंत्री, 12-13 मई 1946, वही पृ. 536-37. साथ ही देखें कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय से प्रधानमंत्री, 11 अप्रैल और 3 जून 1946; प्रधानमंत्री से कैबिनेट मिशन और वाइसरॉय, 13 अप्रैल 1946; क्रॉफ्ट से मॉनटीथ, 15 अप्रैल 1946; वही, पृ. क्रमश: 221, 794, 274 और 705.
35. क्रॉफ्ट से टर्नबुल, 25 अप्रैल 1946, वही, पृ. 336.
36. क्रिप्स और अलैक्जेंडर की हिंदू महासभा के नेताओं के साथ बैठक, 15 अप्रैल 1946, वही, पृ 270.
37 गांधी से वावेल, 13 जून 1946, *एम जी एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 84, पृ. 328.
38. गांधी से क्रिप्स, 13 जून 1946, वही, पृ. 330.
39. गवर्नरों के सम्मेलन में वाइसरॉय का भाषण, 15 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यम 10, पृ. 250. 10 अप्रैल को बैठक में भी उसने यही विचार रखा : 'भारत के लोगों को निर्णय की जिम्मेदारी लेनी चाहिए. बाद में किसी घटना के लिए अंग्रेजों को दोषी नहीं ठहराया जाना चाहिए', वही. पृ. 176-79. साथ ही देखें माउंटबैटन के साथ बी बी सी का साक्षात्कार, आरल हिस्ट्री ट्रांसक्रिप्ट्स (इसके बाद *ओ एच टी*), 656, एन एम एम एल, नई दिल्ली.
40. 16 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 296. निष्पक्ष लगने की धुन कभी-कभी मजाक को हद तक पहुंच जाती थी. उदाहरण के लिए भारत कार्यालय के अधिकारियों ने भारत के लिए विदेशमंत्री को सूचित किया कि संदेश भेजना अक्लमंदी की बात नहीं होगी क्योंकि भारत में इसकी खबर फैल जाएगी

और इससे जिन्नाह नाराज हो जाएगा. यह सलाह गांधी जन्म दिन समारोह के लिए स्वराज हाउस लंदन द्वारा निमंत्रण के सिलसिले में दी गई थी. विदेशमंत्री ने कहा कि वह 'ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहता जिससे यह लगे कि कांग्रेस के लिए विशेष सहानुभूति दिखाई जा रही है', मैट्रोपोलिटन पुलिस कार्यालय पत्र (विशेष शाखा), न्यू स्कॉटलैंड यार्ड, 10 अक्तूबर 1946, पॉल (एस) 1417/1946, आई ओ आर एल/पीएंड जे/12/658.

41 14 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 223-26.

42. इस्मै द्वारा लंदन ले जाए गए वाइसरॉय के सम्मेलन के कागजात, 5 जुलाई 1947, वही, वाल्यूम 11, पृ. 918. आयरिश राष्ट्रवादियों ने भारत से आए एक कांग्रेसी को बताया कि आयरलैंड की तरह भारत का विभाजन किया गया. पाकिस्तान इसलिए बनाया गया जिससे कि ब्रिटिश शासन बना रहे. न्यू स्कॉटलैंड यार्ड रिपोर्ट सं. 22, न्यू 3 सीरीज, 30 जुलाई 1947, पॉल (एस) 695/47; स्वराज हाउस में गतिविधियों के बारे में इंडियन पॉलिटिकल इंटेलिजेंस (आई पी आई) रिपोर्ट, 1945 47, आई ओ आर एल/पीएंडजे/12/658, भारत कार्यालय पुस्तकालय, लंदन.

43. जैनकिन्स से वाइसरॉय, 31 मई 1974, *टी पी*, वॉल्यूम 11, पृ. 24 और गांधी से माउंटबैटन, 10/11 जून 1947, वही, पृ. 262.

44. सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 245.

45 फ्रांसिस विलियम्स, *ए प्राइम मिनिस्टर रिमेंबर्स : दि वार एंड पोस्टवार मेमोइर्स आफ दि आर टी. औनरेबल अर्ल एटली*, लंदन, 1961, पृ. 211-12.

46. गवर्नर सम्मेलन, 16 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 269-79.

47. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 8 अगस्त 1947, वही, वॉल्यूम 12, पृ. 589.

48 वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 4 अगस्त 1947, वही, पृ. 529-30.

49. रजवाड़ों को स्वतंत्रता के मामले में कांग्रेस का रुख बिलकुल साफ था भावी भारत सरकार सबसे बड़ी शक्ति होगी और सभी राज्य उसके प्रति निष्ठा रखेंगे. महामहिम की सरकार द्वारा पाकिस्तान की मांग स्वीकार कर लिए जाने के बाद माउंटबैटन कांग्रेस को खुश रखना चाहता था. इसलिए वह कांग्रेस से सहमत हो गया. अधिकांश रजवाड़ों को इसके लिए उसने कहीं अपील (उदाहरण के लिए शामिल होना उनके अपने हित में है) तो कहीं धमकी (बाद में समाजवादी सरकार उनके साथ बुरा बर्ताव करेगी) का सहारा लिया. महामहिम की सरकार ने माउंटबैटन को सलाह दी थी कि वह निष्पक्षता बनाए रखे और राज्यों पर कोई दबाव न डाले. लेकिन अंतिम वाइसरॉय ने ऐसा करने से मना कर दिया बाद में महामहिम की सरकार ने स्वीकार किया कि माउंटबैटन सही था.

कांग्रेस के रुख के लिए देखें ए आई सी सी संकल्प, 15 जून 1947, वही, वॉल्यूम 11, पृ. 399; वी पी मैनन से पैट्रिक, 8 जुलाई 1947, माउंटबैटन और गांधी के बीच साक्षात्कार, 9 जुलाई 1947; बी पी मैनन से साइमन, 26 जुलाई 1947, वही, वॉल्यूम 12, पृ. 1, 50 और 363.

महामहिम की सरकार के रुख के लिए देखें भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी कागजपत्र, 31 मई 1947; भारत के बारे में महामहिम की सरकार का बयान, 3 जून 1947; वही, वॉल्यूम 11, पृ. 15 और 89; लिस्टोवैल से माउंटबैटन, 1 और 9 अगस्त 1947, वही, वॉल्यूम 12, पृ. 459 और 628.

माउंटबैटन के रुख के लिए देखें वाइसरॉय की स्टेट्स नैगोशिएटिंग कमेटी के सदस्यों के साथ बैठक 3 जून 1947; वाइसरॉय की 17वीं और 18वीं विविध बैठक, 7 और 13 जून 1947 के कार्यवृत्त, वही, वॉल्यूम 11, पृ. 80, 184 और 320; माउंटबैटन से लिस्टोवैल, 12 जुलाई 1947, वाइसरॉय की व्यक्तिगत रिपोर्ट सं. 14, 25 जुलाई 1947; भारतीय राज्यों के शासकों और प्रतिनिधियों के सम्मेलन में माउंटबैटन के भाषण की प्रेस विज्ञप्ति; माउंटबैटन से एटली, 25 जुलाई, 1947; माउंटबैटन से भोपाल, 31 जुलाई 1947; वाइसरॉय की व्यक्तिगत रिपोर्ट सं. 15, 1 अगस्त 1947; माउंटबैटन से लिस्टोवैल, 4 और 8

अगस्त 1947; वहीं, वाल्यूम 12, पृ. 126, 338, 347, 436-43, 443-56, 579 और 584.
मांउटबैटन ने बड़ी दृढ़ता के साथ आजादी के लिए ट्रावनकोर की योजना को दबा दिया और कहा कि भारत में शामिल होना उसके अपने हित में होगा. साथ ही उसने महाराजा को धमकी दी कि यदि वह भारत संघ में शामिल न हुआ तो कांग्रेस आंदोलन छेड़ देगी. विस्तृत विवरण के लिए देखें सी पी रामास्वामी अय्यर का बगैर तारीख का बयान, सी. 16 जुलाई 1947; क्रिप्स से अय्यर, 17 जुलाई 1947, वी पी मैनन से आबैल 20 जुलाई 1947; साइमन और अय्यर के बीच साक्षात्कार, 21 जुलाई 1947; माउंटबैटन से ट्रावनकोर, 22 जुलाई 1947; वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट सं. 14, 25 जुलाई 1947; ट्रावनकोर से माउंटबैटन, 30 जुलाई 1947; मद्रास राज्यों के रेजीडेंट मे आबैल, 30 जुलाई 1947; वही, पृ. क्रमश: 202, 216, 274-76, 281, 298, 337, 424 और 421.
(जिन्नाह द्वारा उकसाए जाने पर) हैदराबाद द्वारा भारत में मिलने से इनकार के लिए देखें मौंकटन से इम्मै, 9 जून 1947, वही,वॉल्यूम 11, पृ. 214; और मौंकटन से माउंटबैटन, 28 जुलाई 1947, वही, वॉल्यूम 12, पृ. 377.

50. माउंटबैटन से जैनकिन्स, 19 जून 1947, वही, वॉल्यूम 11, पृ. 508.
51 वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट सं. 11, 4 जुलाई 1947, वही, पृ. 894.
52 वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट सं. 13, 18 जुलाई 1947, वही, पृ. 231
53 माउंटबैटन से लिस्टोवैल, 2 अगस्त 1947, वही, वॉल्यूम 12, पृ. 489.
54 भारत--बर्मा कैबिनेट कमेटी कागजपत्र 12 जून 1947, वही, वॉल्यूम 11, पृ. 313. नेहरू ने पहले द्वीपों पर भारत संघ का दावा महामहिम की सरकार के सामने पेश कर दिया : 'ये भी कुदरती तौर पर भारत संघ में जाएंगी', 3 जून की मसौदा घोषणा पर 16 मई 1947 को नोट, वही, वॉल्यूम 10, पृ. 857. दस दिन बाद महामहिम की सरकार में इन्हें रखने के लिए सेना प्रमुखों के विचार को विदेशमंत्री ने आगे प्रस्तुत किया. भारत--बर्मा कैबिनेट कमेटी कागजपत्र, 26 मई 1947, वही, पृ. 995. माउंटबैटन भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी से यह बात नहीं मनवा सका कि द्वीपों में कांग्रेस की दिलचस्पी और उन पर ब्रिटिश भारत के मुख्य आयुक्त का शासन उन्हें भारत में रखने के लिए पर्याप्त आधार है, 28 मई 1947 की बैठक जिसमें कमेटी के नियमित सदस्यों के अलावा माउंटबैटन, औचिनलेक और इस्मे ने भी भाग लिया, वही, पृ. 1017. माउंटबैटन ने महामहिम की सरकार के इस दावे को साफ तौर पर नामंजूर कर दिया कि द्वीप उपनिवेश है. उसने चेतावनी दी कि इस प्रकार के रुख से 'भावनाएं भड़केंगी'. इस विषय पर बातचीत की जा सकती है, वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट सं. 9, 12 जून 1947, वही, वॉल्यूम 11, पृ. 306. भारत स्वतंत्रता मसौदा बिल में जब द्वीपों को शामिल किया गया तो लीग ने इस पर एतराज किया. माउंटबैटन और महामहिम की सरकार ने उनकी इस मांग को नामंजूर कर दिया कि कराची चिटगांव मार्ग पर ये द्वीप जहाजों में इंधन भरने की सुविधाएं दें. देखें मसौदा बिल पर मुसलिम लीग की टिप्पणियां; भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी बैठक, 3 जुलाई 1947, वही, वाल्यूम 11, पृ. क्रमश: 859, 832, 938-39 और 868. साथ ही देखें गुप्ता, 'इंपीरियल स्ट्रैटेजी', पृ. 20.
55. भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी पेपर, 17 जून 1947 और 17 जून 1947 को बैठक, *टी पी*, वॉल्यूम 11, पृ. क्रमश: 345-48 और 481
56. वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट सं. 3, 17 अप्रैल 1947, वही, वॉल्यूम 10, पृ. 296-303 सर टी. शॉन ने जिन्नाह को 'पाकिस्तान के मुद्दे पर बिलकुल न झुकने वाला बताया है. इससे उसके मनोरोगी होने की गंध आती है', 16 अप्रैल 1947, वही, पृ. 279-80. साथ ही देखें वाइसरॉय की स्टाफ बैठक रिपोर्ट, 11 अप्रैल 1947, वही, पृ. 190-92.
57. जैनकिन्स द्वारा नोट, 16 अप्रैल 1947, वही, पृ. 281-84.
58. एन डब्ल्यू एफ पी गवर्नर से माउंटबैटन, 9 जुलाई 1947, वही, वॉल्यूम 12, पृ. 54.

59. देखें अध्याय 10, पंजाब और बंगाल के विभाजन पर खंड.
60. माउंटबैटन से लिस्टोवैल, 30 जून 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 11, पृ. 806.
61. भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी, 3 जुलाई 1947 बैठक, वही, पृ. 868.
62. माउंटबैटन से एटली, 3 जुलाई 1947 और वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट सं. 11, 4 जुलाई 1947, वही, पृ. 863 और 989.
    मोरिस जोन्स ने तर्क दिया है कि जिन्नाह द्वारा एक गवर्नर जरनल की बात को नामंजूर कर दिए जाने के बाद संयुक्त समन्वय का नाकामयाब हो जाना तय था. उसके विचार से एक गवर्नर जनरल के बजाए तकनीकी और आर्थिक मामलों पर ध्यान देने वाली सलाहकार समितियां बनाना ठीक रहता, 'दि ट्रांसफर आफ पावर 1947 : ए व्यू फ्रॉम दि साइडलाइन्स', *एम ए एस*, वॉल्यूम 16.1, 1982, पृ. 1-32. एटली का विचार था कि यदि माउंटबैटन दोनों देशों का गवर्नर जरनल होता तो हत्याकांड न होता, इसके लिए देखें मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 318. लेकिन जलाल ने जिन्नाह की कार्रवाई के साथ सहानुभूति जताई है और कहा है कि प्रांतों पर मजबूत नियंत्रण के लिए यह जरूरी था, जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 292.
63. जिन्नाह से माउंटबैटन, 12 जुलाई 1947 और जिन्नाह के साथ इस्मे की बैठक, 24 जुलाई 1947, *आई पी*, वॉल्यूम 12, पृ. 121-24 और 322-25.
64. जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 270-71.
65. वही, पृ. 280.
66. मूर, *एंडगेम्स आफ एंपायर*, पृ. 7.
67. दो विख्यात आरोपपत्रों के लिए देखें चौधरी मुहम्मद अली, *दि इमर्जेंस आफ पाकिस्तान*, लाहौर 1973 और जी डब्ल्यू चौधरी, *पाकिस्तान्स रिलेशन्स विद इंडिया*, 1945-66, लाहौर 1968. आरोपों के बारे में फिर से बयान (जिसका माउंटबैटन ने उत्तर दिया) के लिए देखें 14 से 18 मार्च 1979 के *डॉन* में क्रमबद्ध बहस. यह हाशिम रजा संपादित *माउंटबैटन एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया* के रूप में प्रकाशित हुई, नई दिल्ली 1989. माउंटबैटन की मृत्यु पर *डॉन* में संपादकीय में भी माउंटबैटन द्वारा पाकिस्तान को नुकसान की बात कही गई है.
68. माउंटबैटन ने यह स्वीकार किया है कि 'पाकिस्तान के लिए भारतीय गवर्नर जनरल के मामले में जिन्नाह की बेशक मनोवैज्ञानिक जीत हुई है', 24 जुलाई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 322-25.
69. पंजाब सीमा आयोग के एक सदस्य जस्टिस एम. सी. महाजन का विचार था कि माउंटबैटन द्वारा रैडक्लिफ को प्रभावित किए जाने का कोई सबूत नजर नहीं आता. आयोग के हिंदू और मुसलिम सदस्यों में कोई समझौता नहीं हो सका इसलिए रैडक्लिफ को फैसला सुनाना पड़ा. रैडक्लिफ के फैसले में गुरदासपुर जिले की शकरगढ़ तहसील ही पाकिस्तान को दी गई ताकि जम्मू कश्मीर जाने के लिए भारत के पास भी मार्ग रहे. 15 अगस्त 1947 के काल्पनिक विभाजन में पूरा गुरदासपुर जिला पाकिस्तान को दिया गया था, एम.सी. महाजन, *लुकिंग बैक*, बंबई, 1963.
70. सत्ता हस्तांतरण में तेजी की भिन्न धारणाओं वाले इतिहासकारों और टीकाकारों ने आलोचना की है. जलाल ने इसे 'घृणित पलायन' बताया है. ब्रिटिश अफसरों और के.बी.सईद ने इसकी आलोचना की है. देखें जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 193; हंट और हैरीसन, *डिस्ट्रिक्ट आफीसर इन इंडिया*, पृ. 242-43; के.बी. सईद, *पाकिस्तान : दि फॉर्मेटिव फेज 1857-1948*, लंदन, 1968, पृ. 169.
    कुछेक लेखक माउंटबैटन का सीधे-सीधे समर्थन न करके कांग्रेस के ऊपर जिम्मेदारी डाल देते हैं. मूर का कहना है कि माउंटबैटन ने वापसी की तारीख को इसलिए पीछे खिसकाया क्योंकि वह लीग के सदस्यों को सरकार से बर्खास्त करने की कांग्रेस की मांग को पूरा नहीं कर सका : 'डोमिनियन सरकारों को सत्ता हस्तांतरण में तेजी के लिए माउंटबैटन को दोषी ठहराया जाता है लेकिन वास्तव में इसके लिए

कांग्रेस ने मजबूर किया,' देखें आर.जे. मूर 'दि माउंटबैटन वाइसरॉयलिटी', *जे सी पी पी*, वॉल्यूम 22.2, 1984, पृ. 204-15.

वाई कृष्णन ने शीघ्र तारीख को कांग्रेस के लिए 'सौदा' बताया है. इससे उसे राष्ट्रमंडल में जाने के लिए प्रेरित किया गया. 'माउंटबैटन एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया,' *हिस्ट्री*, वॉल्यूम 68.222, 1983, पृ. 22 38

71. पटेल के साथ वाइसरॉय का इंटरव्यू, 24 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 398.
72. भारत से लौटने के दो दशक बाद भी माउंटबैटन ने अपने निर्णय को सही बताया-'यदि मुझे फिर वही सब करना होता तो मैं सत्ता उतनी ही तेजी के साथ हस्तांतरित करता', बी. आर नंदा के साथ इंटरव्यू, *ओ एच टी*, 351, एन एम एम एल
73. रोनाल्ड विनगेट, *लॉर्ड इस्मै : ए बायोग्राफी*, लंदन 1970, पृ. 167.
74 माउंटबैटन से इंटरव्यू, 17 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 309.
75 देखें अध्याय 7, फुटनोट 43.
76 विनगेट, *लॉर्ड इस्मै*, पृ 167.
77 मैमरवी के विचार को शाहिद हमीम, *डिसास्ट्रश ट्विलाइट : ए पर्सनल रिकार्ड आफ दि पार्टिशन आफ इंडिया*, लंदन 1986 में उद्धृत किया गया है. साथ ही देखें रॉबिन जैफरे, 'दि पंजाब बाउंडरी फोर्स एंड दि प्राब्लम आफ आर्डर, अगस्त 1947', *एम ए एस* 8.4, 1974, पृ 491-520.
78 ब्रिगेडियर आर सी बी ब्रिस्टोव, *मेमोरीज आफ दि ब्रिटिश राज - ए सोल्जियर इन इंडिया*, लंदन 1974.
79 लॉकहार्ट ने ब्रिस्टोव की *मेमोरीज आफ दि ब्रिटिश राज* का आमुख लिखा है.
80 एच बी हॉडसन ने माउंटबैटन की स्थिति को स्वीकार किया है, '*दि रोल आफ माउंटबैटन*' सी एच फिलिप्स और एम डी वेनराइट संपादित 'पार्टिशन आफ इंडिया, पॉलिसीज एंड पर्सपेक्टिव्स लंदन 1970 में', पाकिस्तान चार्जशीट के लिए देखें फुटनोट 67.

भाग चार

राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता

अध्याय नौ

कांग्रेस और मुसलिम लीग की पाकिस्तान की मांग

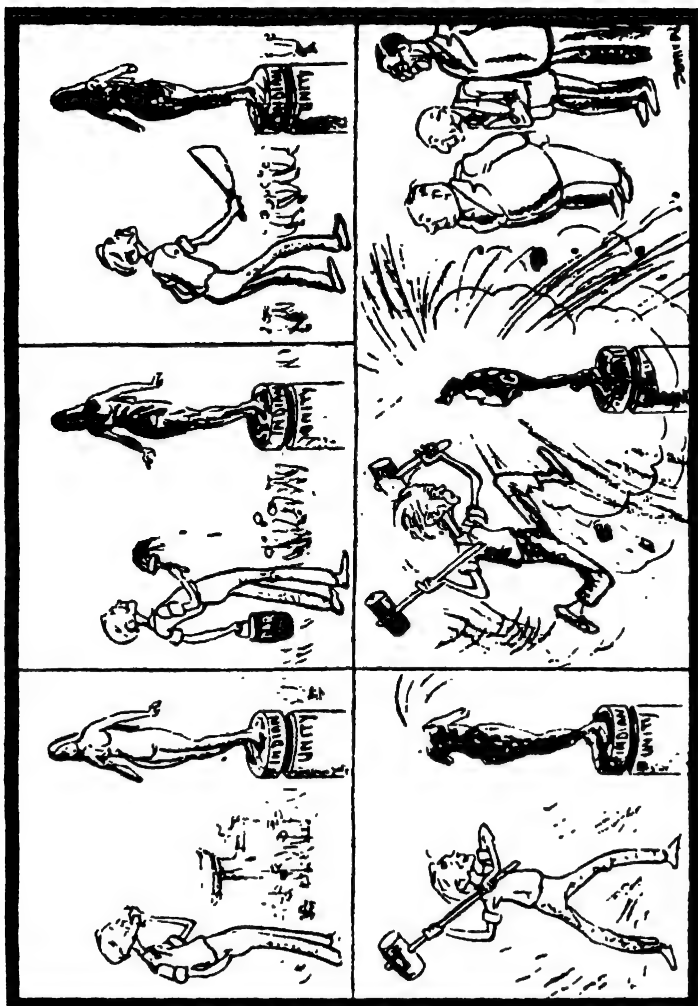
मुसलिम लीग ने 1940 में अपने लाहौर अधिवेशन में पाकिस्तान की मांग उठाई। ऐसा उसने उस समय अपनी खराब हालत के कारण किया। लीग की स्थापना 1906[1] में हो गई थी लेकिन 1920 से वह निष्क्रिय थी।[2] 1936-37 के चुनावों में इसका प्रदर्शन बहुत खराब रहा। मुसलिम सीटों पर कांग्रेस कुछ ज्यादा न कर सकी (क्योंकि कांग्रेसी मुसलिम लीग के प्रचार का मुकाबला नहीं कर सके)। लेकिन मुसलिम बहुसंख्यक प्रांतों में लीग की हालत इससे भी खराब रही।[3] 1937 के चुनावों से पहले लीग और हिंदू महासभा दोनों के प्रति कांग्रेस का रवैया तिरस्कारपूर्ण हुआ करता था। कांग्रेसी कांग्रेस के सदस्य होने के साथ-साथ लीग या महासभा के सदस्य भी हो सकते थे क्योंकि (भोलेपन के साथ) यह मानकर चला जाता था कि सभी राजनीतिक समूह भारत की आजादी के लिए लड़ रहे हैं। दिसंबर 1938 में जाकर कांग्रेस कार्यसमिति ने यह कहा कि लीग और हिंदू महासभा सांप्रदायिक संगठन हैं।[4] इसी प्रकार कांग्रेस ने पाकिस्तान की मांग के खिलाफ तीखी प्रतिक्रिया तो की लेकिन उसके विरोध के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाया।[5]

कांग्रेस अपनी ताकत के साथ खुश होती रही और उसने इस ओर ध्यान नहीं दिया कि वाइसरॉय उसके खिलाफ जिन्नाह कार्ड के प्रयोग की तैयारी कर रहा है। जिन्नाह का यह सोचना सही था कि अंग्रेज पाकिस्तान की मांग को नामंजूर नहीं करेंगे क्योंकि इससे उन्हें स्वतंत्रता के लिए कांग्रेस की मांग को अस्वीकार करने में मदद मिलेगी। मार्च 1940 में लिंलिथगो ने 'इंतजार करो और देखो' का सुझाव दिया ; 9 अप्रैल को युद्ध कैबिनेट ने घोषणा की कि लाहौर संकल्प ने स्थिति को उलझा दिया है ; 18 अप्रैल 1940 को जेटलैंड ने कहा कि संयुक्त भारत के लिए दोनों समुदायों में समझौता जरूरी है।[6] इन बयानों का साफ मतलब था कि अब के बाद अंग्रेज विभाजन के विकल्प को खुला रखेंगे और भविष्य में संविधान पर चर्चाओं में लीग को अधिक महत्व देंगे।[7]

वास्तव में लीग की ताकत के बने रहने के बारे में लिंलिथगो इतना चिंतित था कि जिन्नाह द्वारा पाकिस्तान की लगातार मांग के कारण 1941 में जब सिकंदर हयात खान ने मुसलिम लीग कार्य समिति से इस्तीफा देने का प्रस्ताव किया तो उसने पंजाब के गवर्नर से कहा कि वह सिकंदर को इस्तीफा न देने के लिए राजी करे।[8]

कांग्रेस ने मार्च 1942 में किए गए क्रिप्स प्रस्ताव को दृढता के साथ ठुकरा दिया क्योंकि इसका मतलब होता प्रांतीय आत्मनिर्णय द्वारा पिछले दरवाजे से पाकिस्तान की

MARCH OF TIME



स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 4 अप्रैल 1946

मांग को स्वीकार कर लेना।[9] क्रिप्स की भारत यात्रा और उसके प्रस्ताव ने अंग्रेजों की स्थिति को स्पष्ट कर दिया। उन्होंने मान लिया कि सत्ता हस्तांतरण के मामले में कांग्रेस और मुसलिम लीग मुख्य पार्टियां हैं। पाकिस्तान की लीग की मांग सिद्धांत रूप में मान ली गई थी और विभाजन के विचार को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिया गया था – 'पाकिस्तान की मांग एक कदम और आगे बढ़ गई थी।'[10] 1942 के आंदोलन से दूर रहने के लिए लीग की मुसलिमों से अपील से हिंदू-मुसलिम मतभेद और भी गहरे हो गए थे। इसके अतिरिक्त कांग्रेस से संतुलन बनाए रखने के लिए वाइसरॉय ने एन डब्ल्यू एफ पी, सिंध, असम और बंगाल में गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनाने की सलाह दी। लीग ने अपना रुतबा बढ़ा लिया और पाकिस्तान की मांग को जोर से उठाने लगी।

मुख्य रूप से सी. राजगोपालाचारी के कहने पर गांधी ने जुलाई 1944 में मुसलिम बहुल प्रांतों में आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार कर लिया।[11] वे जिन्नाह के साथ किसी समझौते के लिए बहुत उत्सुक थे। जिन्नाह के साथ उनकी लंबी बातचीत हुई जिसे गांधी-जिन्नाह वार्ता के नाम से जाना जाता है। मई 1944 में जेल से अपनी रिहाई के बाद गांधी ने जिन्नाह को एक फार्मूले का प्रस्ताव किया जिसके तहत यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के बाद उत्तर-पश्चिम और पूर्वी भारत में चुने गए, आपस में सटे, बहुसंख्यक जिलों में बालिग लोगों का एक जनमत संग्रह कराया जाएगा और यदि बहुसंख्या अलग प्रभुता संपन्न देश के लिए अपना मत दे तो इसे स्वीकार कर लिया जाए। सी. राजगोपालाचारी का मानना था कि पाकिस्तान की बात को मान लेने से मुसलिमों में विश्वास पैदा होगा और वे पाकिस्तान मांगना बंद कर देंगे। अत: पाकिस्तान की मांग को सिद्धांत रूप में स्वीकार करते हुए गांधी ने यह मत व्यक्त किया कि (फार्मूले के अनुसार) यह विभाजन 'एक ही परिवार के सदस्यों के बीच होगा' और 'इसमें सामान्य हितों के लिए भागीदारी रहेगी।'[12] गांधी के प्रस्ताव से सिख, महासभा और एकतावादी भयभीत हो गए लेकिन मुसलिम लीगी पाकिस्तान की मांग को सिद्धांत रूप में स्वीकार कर लिए जाने से बहुत खुश थे।

लेकिन बातचीत असफल हो गई क्योंकि जिन्नाह शुरू में ही प्रभुता संपन्न देश दिए जाने से कम कुछ भी मंजूर करने के लिए तैयार नहीं था।[13] उसने महत्वपूर्ण स्थिति अख्तियार कर ली और वह ऐसे व्यक्ति के रूप में जाना जाने लगा जो हर प्रस्ताव को ठुकरा देता है। उसने पंजाब में जो इज्जत गंवाई थी वह उसे लगभग वापस मिल गई।[14] बातचीत के बाद वह मुसलिमों के प्रवक्ता के रूप में उभरा। गांधी ने भी इसे स्वीकार किया।[15] गांधी-जिन्नाह वार्ता गांधी के हिसाब से बेकार का प्रयास रहा। जून-जुलाई 1945 में जब शिमला सम्मेलन हुआ तो कांग्रेस राष्ट्रीय कार्यकारिणी बनाने में सहयोग के लिए तैयार थी। वे सीटों के बंटवारे में हिंदू-मुसलिम बराबरी के लिए भी राजी हो गए। वाइसरॉय वावेल न तो सभी मुसलिमों को नामित करने के जिन्नाह के दावे को स्वीकार कर सका और न ही मुसलिम

लीग के बगैर आगे बढ़ सका। उसने सम्मेलन को नाकामयाब घोषित कर दिया। जिन्नाह ने राजनीतिक प्रगति को वीटो कर देने की अपनी क्षमता सफलतापूर्वक लोगों को दिखा दी।[16]

मतपत्रों की लड़ाई, 1946

19 सितंबर 1945 को यह घोषणा की गई कि केंद्रीय सभा और प्रांतीय विधान सभाओं के लिए चुनाव 1945-46 की सर्दियों में होंगे। यह लीग और कांग्रेस में मुकाबला था। बाकी पार्टियों की मौजूदगी न के बराबर थी। एक सरकारी रिपोर्ट में कहा गया कि 'गैर कांग्रेसी और गैर लीगी पार्टियों के पास न तो संगठन है और न ही कारगर मशीनरी।'[17]

लड़ाई मुसलिम चुनाव क्षेत्रों में होनी थी। लीग गांधी-जिन्नाह वार्ता और शिमला सम्मेलन के बाद बने अपने दबदबे को सुदृढ़ करना चाहती थी और उसे वोटों में बदलना चाहती थी। 11 सितंबर 1945 के अपने बयान द्वारा क्रिप्स प्रस्ताव को (उसके स्थानीय विकल्प सहित) फिर से जीवित कर दिया था। इसलिए चुनाव जीतना और भी अधिक महत्वपूर्ण बन गया था। विधान सभाओं में बहुमत और मुसलिम बहुल प्रांतों में जन समर्थन से ही पाकिस्तान के बारे में फैसला होना था। भारत में मुसलिमों का प्रतिनिधित्व करने के लीग के दावे की जांच भी चुनावों से होनी थी। पंजाब के चुनाव अभियान ने मुसलिम लीग की ताकत और कमजोरियों को उजागर कर दिया।[18] कमजोर संगठन और जमींदारों तक सीमित उसका सामाजिक आधार उसकी कमजोरियां थीं। वाइसरॉय ने नोट किया:[19]

> लीग का संगठन कमजोर है – नेता ज्यादातर सामाजिक हैसियत वाले लोग हैं। वे जनसंपर्क की तकलीफ नहीं उठाते। यदि जिन्नाह पैसा इकट्ठा कर सके और मजबूत संगठन बना सके तभी चुनाव नतीजे जिन्नाह के नजरिए से बेहतर हो सकते हैं।

लेकिन जब लीग ने जमींदारों को नहीं बल्कि किसानों को निशाना बनाकर अपना प्रचार शुरू किया तो उसमें तेजी आई। इसमें संभवत: कम्युनिस्टों से भी मदद मिली। 1945 के अंत तक लीग संगठन गांवों तक पहुंच गया था और उसकी स्थिति एकतावादियों के मुकाबले बेहतर हो गई थी।[20]

लीग ने मौलवियों को अपने पक्ष में फतवा देने के लिए प्रेरित किया। कुछ प्रचारकों ने मतदाताओं को धमकी दी कि यदि उन्होंने लीग का समर्थन नहीं किया तो वे मुसलिम नहीं रहेंगे और उनकी शादियां अवैध हो जाएंगी। यदि वे इससे भी नहीं डरे तो उन्हें धमकी दी गई कि उन्हें 'बिरादरी से बाहर निकाल दिया जाएगा और उनके मुर्दों को मुसलिम कब्रिस्तानों में दफनाने नहीं दिया जाएगा।' साथ ही उन्हें 'मुसलिम नमाजों में शामिल नहीं होने दिया जाएगा।' मौहम्मद मूनुस (जो उस समय एन डब्ल्यू एफ पी से युवा कांग्रेसी थे और अब्दुल गफार खां के रिश्तेदार थे) ने बाद में लिखा कि 1946 के चुनाव अभियान में

लीगियों ने खूनी मुशायरे आयोजित किए जिनमें हिंदुओं द्वारा कथित रूप से अपवित्र की गई मस्जिदों की ईंटों और उनके द्वारा कथित रूप से जलाए गए कुरान के पन्नों को बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया गया। मुसलिमों को कुरान और गीता में से एक को चुनने के लिए कहा गया। जैसा कि एक अंग्रेज राजनेता ने लिखा है, यह एक तरह से धार्मिक आदेश ही था। कौन सा मुसलमान कुरान को छोड़कर गीता को अपनाएगा ? इसलाम के खतरे में होने के भय ने लीग को चुनाव में जीत दिला दी।[21]

लीग ने अपने संगठन और धार्मिक आकर्षण के कारण पंजाब चुनाव में सफलता हासिल की।[22] लेकिन जलाल ने इसके दूसरे कारण बताए हैं। उसने लीग की कामयाबी को अंग्रेजों और कांग्रेस का उपहार बताया : '1946 के चुनावों में जिन्नाह की जीत का बड़ा कारण अंग्रेजों द्वारा मतदाताओं को यह बताने में उनकी हिचक थी कि पाकिस्तान बनने से क्या होगा। कांग्रेस भी उतनी ही जिम्मेदार थी क्योंकि वह प्रांतों में अपने संभावित मित्रों को लीग की लहर से बाहर नहीं रख सकी।' जलाल यह नहीं मानती हैं कि लीग की कामयाबी का कारण उसका धार्मिक आकर्षण था। उनका तर्क है कि स्थानीय मुसलिम नेताओं के संरक्षण के कारण चुनाव में लीग की जीत हुई।[23]

> इससे किसी को इनकार नहीं है कि पीरों की पसंद महत्वपूर्ण थी। लेकिन वे स्थानीय संरक्षण व्यवस्था का हिस्सा थे। पीर और जमींदार एकजुट थे। वे पंजाब के मैदानों में संघर्षरत सांसारिक और साधू नहीं थे ... लेकिन 1945-46 में लीग को वोट समय को देखकर की गई कार्रवाई थी। जिन्नाह ने समझ लिया था कि पंजाब के राजनीतिक जितनी आसानी से 1946 में लीगी बने वे हवा का रुख बदलते हुए देखकर उतनी ही आसानी से पाला बदल सकते हैं।

कांग्रेस के नेता इस प्रचार और इसके संभावित प्रभाव को लेकर नाराज थे। नेहरू ने लिखा : 'जब अल्लाह और कुरान को चुनाव में इस्तेमाल किया जाता है तो नई बात पैदा होती है।'[24] लेकिन जीतने के लिए नीचता पर उतरने का कोई इरादा नहीं था। इसके विपरीत समस्या यह थी कि कांग्रेस के चुनाव अभियान का मुख्य मुद्दा लीग नहीं अंग्रेजों का विरोध था। कांग्रेस के नारे थे - आई एन ए के 'गुमराह देशभक्तों को रिहा करो' और 1942 के आंदोलन में दमन करने वाले 'दोषी अधिकारियों को सजा' दो। वास्तव में कांग्रेस के चुनाव प्रचार से ऐसा कुछ नहीं लगता था कि झगड़े का कारण पाकिस्तान का मुद्दा है या चुनाव सांप्रदायिक राजनीति का अखाड़ा है।

कांग्रेस के नेता व्यापक जनाधार के लीग के दावे को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे। नेहरू के ये विचार 1937 में तो उपयुक्त थे लेकिन 1946 में मन की इच्छा लगते थे।[25]

. मुसलिम लीग नवाबों और तालुकदारों का संगठन है। यह गरीबी और भूख की

समस्याओं से ध्यान हटाने और कुछ मुट्ठी भर लोगों के लाभ के लिए सामंतवाद और पूंजीवाद को बचाने के उद्देश्य से पाकिस्तान का नारा लगाती है।

नेहरू ने स्पष्ट किया कि कांग्रेस मुसलिमों की भावनाओं को अस्वीकार नहीं करना चाहती : 'कांग्रेस मुसलिमों के वास्तविक डर और उनकी आकांक्षाओं को समझना चाहती है।' लेकिन वह इस बारे में लीग की व्याख्या को मंजूर करने को तैयार नहीं थी। कांग्रेस लीग द्वारा पाकिस्तान की मांग के बारे में कुछ नहीं सुनना चाहती थी : 'पाकिस्तान के लिए गुहार काल्पनिक डर के कारण की जा रही है।'[26] लेकिन यदि यह मुसलिमों का समवेत स्वर बन जाए तो कांग्रेस ने उसे सुनने का वायदा किया : 'कांग्रेस ने कहा है कि यदि मुसलिम पाकिस्तान चाहते हैं तो कांग्रेस उसमें आड़े नहीं आएगी।'[27]

मुकाबले के दौरान लीग ने यह सिद्ध करने की कोशिश की कि पाकिस्तान की मांग मुसलिमों की समवेत मांग है और वही उनकी प्राधिकृत प्रवक्ता है। लीग ने केंद्रीय विधान सभा चुनावों में सभी मुसलिम सीटों को जीता और 89 प्रतिशत मुसलिम वोट प्राप्त किए।[28] निर्णायक मुकाबला प्रांतों के चुनाव के साथ होने वाला था। कांग्रेसी नेता आराम से बैठे हुए थे। उन्हें अभियान के शुरू में ही धक्का लगा। नामांकन के समय ही यह जाहिर हो गया कि कांग्रेसी मुसलिम कुछेक ही हैं और उनमें जीतने वाले तो और भी कम हैं। नवंबर 1945 में नेहरू का यह विश्वास सही साबित नहीं हुआ - 'हम हर सीट पर अपना उम्मीदवार खड़ा करेंगे और हम अच्छा प्रदर्शन करेंगे।'[29]

गैर-कांग्रेसी राष्ट्रवादी मुसलिमों के साथ समझौता किया जाना था लेकिन इसमें भी बहुत समस्याएं थीं। वे सीटों में पहली पसंद चाहते थे, अपनी अलग पहचान बरकरार रखना चाहते थे, विशेष रूप से धार्मिक अधिकारों के लिए निश्चित आश्वासन चाहते थे और जैसा कि बिहार में देखा गया, धन और आदमियों के मामले में उनकी बहुत जरूरतें थीं। इस बारे में हम अभी चर्चा करेंगे। कइयों के बारे में डर था कि नामांकन या जीतने के बाद लीग में शामिल हो सकते हैं। बंगाल में कृषक प्रजा पार्टी के सदस्य और मुसलिम बोर्ड के सचिव शमसुद्दीन ने चुनाव में मदद करने का पटेल को भरोसा दिलाया। लेकिन इसके शीघ्र बाद वह मुसलिम लीग में शामिल हो गया।[30] पंजाब में कांग्रेस ने अहरार पार्टी का समर्थन किया लेकिन उसके बहुत सारे उम्मीदवार लीग में शामिल हो गए। इस पर पटेल ने दु:ख प्रकट किया 'बेकार में ही पैसा गंवा दिया।'[31]

चुनाव अभियान के वास्तव में शुरू होने से पहले 2 जनवरी 1946 को पटेल ने मौलाना आजाद को लिखा : 'मेरे विचार से पूरे भारत में कांग्रेस टिकट पर चुनाव लड़ना ठीक रहता।[32] ऐसा लगता है कि मौलाना आजाद राष्ट्रवादी मुसलिम संगठनों के साथ संयुक्त मोर्चा चाहते थे लेकिन नेहरू पटेल से सहमत थे कि 'कांग्रेस का सीधा आकर्षण ज्यादा है।'[33] राष्ट्रवादी मुसलिम बोर्ड बनाए गए और कांग्रेस, जमायत- उल-उलेमा, अहरारों, मोमियों आदि के बीच सीटों पर समझौता हुआ।

बिहार चुनाव, 1946

मुसलिम सीटों को पाने की कोशिश में कांग्रेस को जो दिक्कतें उठानी पड़ीं उन्हें बिहार के मामले को निकट से देखकर समझा जा सकता है। यहां चुनाव अभियान की देखरेख राजेंद्र प्रसाद ने की। उन्होंने इस संबंध में कई दस्तावेज छोड़े हैं।

शुरुआत ही अशुभ रही। केंद्रीय सभा चुनावों में तीन सीटों में से दो सीटें राष्ट्रवादी मुसलिम संगठनों में तालमेल न होने के कारण बगैर लड़े चली गईं और तीसरी सीट मुसलिम लीग ने जीत ली।[34] प्रांतीय चुनावों में व्यापक प्रचार द्वारा सीटें जीतने की अच्छी उम्मीद थी। इसके लिए धन की बहुत जरूरत थी और राजेंद्र प्रसाद ने पटेल को पहले ही चेतावनी दे दी थी कि मुसलिम सीटों के लिए बहुत पैसा खर्च करना पड़ेगा। राष्ट्रवादी मुसलिम संस्थाओं के पास धन की कमी थी। मोमिनों को बिहार की 40 सीटों में 20-25 सीट जीतने की उम्मीद थी। लेकिन यह गरीब तबके की पार्टी थी।[35]

मुसलिम सीटों पर हुआ 2,63,575 रु. का खर्च कुल खर्चे के तीन-चौथाई के बराबर था।[36] चंडी थाना जिला कांग्रेस समिति के अध्यक्ष अबू नासर अब्दूल बाएस ने राजेंद्र प्रसाद को सुझाव दिया था कि प्रत्येक मुसलिम सीट के लिए 10000 रु. आबंटित किए जाएं और कांग्रेस सभी सीटों पर लड़े।[37] (कोई भी सीट नहीं आती तो भी) विचारधारात्मक नजरिए से यह बेहतर रहता क्योंकि मुसलिम आवाम के पास कांग्रेस का संदेश तो पहुंचता।

जैसा कि अबू नासर ने बताया है, बहुत से राष्ट्रवादी संगठन धार्मिक सवालों में उलझे हुए थे।[38] यह मुसलिमों के धार्मिक अधिकारों के बारे में कांग्रेस से लिए जाने वाले वचनों के स्वरूप से स्पष्ट है। इन वचनों में शामिल हैं – रोजगार कोटा, प्राइमरी स्कूलों में मुसलिम अध्यापक की नियुक्ति, विशेष काजी अदालतें आदि। मुसलिम संसदीय बोर्ड के अध्यक्ष काजी अहमद हुसैन साहेब ने सिफारिश की कि कांग्रेस ये वचन दे दे क्योंकि 'इन धार्मिक संस्थाओं के समर्थन के बगैर हम चुनाव नहीं जीत सकते।'[39] राजेंद्र प्रसाद इस विचार से सहमत नहीं थे। उन्होंने कहा कि केवल धार्मिक शिक्षा की आजादी को सुनिश्चित किया जाना चाहिए और कुछ नहीं।[40]

ध्यान देने योग्य बात यह है कि बिहार में राष्ट्रवादी मुसलिमों ने धार्मिक नजरिए से काम किया। लीग तथा उसके द्वारा धर्म के सीधे-सीधे चतुर इस्तेमाल का मुकाबला करने की उम्मीद उनसे कैसे की जा सकती थी। उलेमाओं, मौलानाओं और मौलवियों के दौरे चुनाव अभियान का अनिवार्य हिस्सा थे।[41] इस प्रकार के प्रचार की स्पष्ट सीमाएं हैं। धर्म और राजनीति के संबंध पर सवाल खड़ा करने के बजाए उसे मजबूत बनाया जाता है। अभियान की दूसरी कमजोरियां भी थीं। कुछ राष्ट्रवादी मुसलिम लीग के विरोध के सामने टिक नहीं सके। इसलामपुर, पूर्णिया से उम्मीदवार शाह ओजायर मोमिनी को 'लीगियों द्वारा हमले का डर था। इसलिए वे जनता के सामने आने को टालता रहा।' स्थानीय जिला कांग्रेस समिति के सचिव के अनुसार इसी कारण से वह चुनाव हार गया।[42] देश के दूसरे

हिस्सों की तरह बिहार में राष्ट्रवादी मुसलिमों के पास लीग के एक और हथियार का कोई जवाब नहीं था - अलीगढ़ मुसलिम विश्वविद्यालय के छात्रों के दल पाकिस्तान का संदेश लेकर प्रांतों में फैल गए।[43] जब वे लहरिया सराय पहुंचे तो एक स्थानीय मुसलिम ने राजेंद्र प्रसाद को तुरंत पैसा भेजने के लिए कहा ताकि उनके प्रचार का मुकाबला किया जा सके।[44] पटना के एक राष्ट्रवादी नेता युनुस ने अभियान के शुरू में अन्य बातों के अलावा ठीक सुझाव दिया कि 'देशभक्ति का माहौल तैयार करने के लिए' 2000 लड़के प्रांत का दौरा करें।[45]

एक और समस्या विभिन्न संगठनों के प्रयासों में तालमेल रखने की थी। एक राष्ट्रवादी मुसलिम बोर्ड बनाया गया। लेकिन संयुक्त घोषणापत्र के मामले में समस्या खड़ी हो गई। कभी-कभी जब दूसरी संस्थाएं यह कहती थीं कि उनकी जीत के बेहतर अवसर हैं तो कांग्रेसियों की बात नहीं मानी जाती थी। पटेल का विचार था कि शपथ पर हस्ताक्षर करने की बात तो दूर कांग्रेस मुसलिम (या कांग्रेस सिख) का मुसलिम चुनाव बोर्ड के नीचे काम करना ही गलत है। यदि ऐसा हुआ तो हम 'कांग्रेस को पूरी तरह से खत्म कर देंगे।[46]

जैसा कि हमने पहले कहा है मुसलिम सीटों को जीतने के बारे में उम्मीद गलत थी। नेहरू हमेशा की तरह आशावान थे :[47]

> मैं इस बात को दोहराना चाहता हूं कि मुसलिम इलाकों में चुनाव कार्य करने से कांग्रेस कार्यकर्ताओं की आंखें खुली हैं। लोगों ने हैरतअंगेज जोश दिखाया। हमने इन इलाकों की उपेक्षा कैसे की। हमें हर सीट पर लड़ना चाहिए।

बाद में 2 मार्च 1946 को राजेंद्र प्रसाद द्वारा लिए गए जाएजे के अनुसार बिहार की कुल 40 सीटों में से कांग्रेस और उसके साथी 15 से 20 मुसलिम सीटें जीतेंगे।[48] यू.पी. के नेता जी.बी. पंत की भी ऐसी ही उम्मीद थी कि 'यू.पी. के ग्रामीण इलाकों में 41 सीटों में से कांग्रेस आधी सीटें जीतेगी।'[49] लेकिन 8 मार्च 1946 को राजेंद्र प्रसाद ने स्वीकार किया कि 'कांग्रेस चार से ज्यादा सीटों की उम्मीद नहीं कर सकती। हम इन चार सीटों के लिए भी निश्चित नहीं हैं।' कुल मिलाकर राजेंद्र प्रसाद को 10-12 सीटों पर जीतने की उम्मीद थी।[50] जनवरी 1946 के अंत में नेहरू ने क्रिप्स के सामने स्वीकार किया कि अधिकांश सीटें मुसलिम लीग को मिलेंगी।[51]

इस आशा के टूटने का क्या कारण था ? राजेंद्र प्रसाद का निष्कर्ष था कि कांग्रेस टिकट पर सभी सीटों पर लड़ा जाना चाहिए था।[52] स्पष्ट है कि उनके अनुसार राष्ट्रवादी मुसलिमों के अस्त-व्यस्त, बगैर तालमेल वाले संयुक्त अभियान के कारण आशा टूटी। पाकिस्तान धर्म के मैदान पर खड़ा किया गया था। इस बात की बिंदुवार विस्तृत व्याख्या की जरूरत थी कि पाकिस्तान किस प्रकार भारतीय मुसलिमों के हित में नहीं है। वास्तव में यह मुसलिम अल्पसंख्या वाले यू.पी. और बिहार जैसे प्रांतों में हानिकारक है। एक मत

यह भी था कि कांग्रेस ने देरी से कोशिशें शुरू कीं। मुसलिम आवाम से पार्टी की अलहदगी चुनाव के समय शब्दों से दूर नहीं की जा सकती थी। युनुस ने 10 दिसंबर 1945 को ही राजेंद्र प्रसाद को लिख दिया था कि लीग सभी 40 सीटें जीतेगी और यह कांग्रेस के लिए बहुत घातक होगा :[53]

> मुसलिम आवाम का सोचना था कि कांग्रेस चुनाव के मौके पर उन्हें मनाने की कोशिश कर रही है। इससे उनमें विरोध की भावना पैदा हुई ... इसके लिए कांग्रेस ही दोषी है क्योंकि वह मुसलिम आवाम के साथ जनसंपर्क की केवल बात करती है लेकिन करती कुछ नहीं है।

बिहार में जो हो रहा था वह शेष भारत में भी हो रहा था। जोशपूर्ण शब्द मुसलिम मतदाताओं के लीग के साथ जाने की अप्रिय संभावना को छिपा नहीं सके। पंजाब के कांग्रेसी नेता भीमसेन सच्चर ने 2 जनवरी 1946 को पटेल को बता दिया कि 'कांग्रेस को मुश्किल से दो मुसलिम सीटें मिलेंगी।' फिर भी एक महीने बाद पटेल ने बी.एस. जिलानी को लिखा : 'हमें उम्मीद है कि पंजाब से लीग का खात्मा हो जाएगा।'[54] लीग पंजाब में सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। पटेल ने इसकी यह कहकर निंदा की कि 'यह प्रांत या देश के लिए सही नहीं हुआ है। हमारे सभी प्रयास और साधन बेकार चले गए। सभी आशाएं गलत थीं। हमारे सभी गणित और उम्मीदें भी गलत थीं।'[55] पूरे भारत के नतीजों से भी ज्यादा खुशी नहीं हुई। लीग ने 492 मुसलिम सीटों में से 428 सीटें जीतीं जबकि कांग्रेस ने 968 सामान्य सीटों में से 930 सीटें जीतीं।

आश्चर्य की बात है कि कांग्रेस अपनी हार की पुराने तरीके से व्याख्या करती रही। उनका यही विश्वास और तर्क था कि मुसलिम आवाम से केवल संपर्क स्थापित करने की जरूरत है। कांग्रेस की अपील उनके पास पहुंचाने के बाद वे कांग्रेस के साथ हो जाएंगे। मुसलिम जनसंपर्क की बात एक दशक पहले डिब्बे में बंद करके रख दी गई थी। उसे बाहर निकाल कर झाड़-पोंछा गया। जयप्रकाश नारायण ने 1946 में किसी समय 'नोट ऑन दि कॉम्युनल क्वेश्चन' लिखे। उनमें मुसलिमों के आर्थिक कल्याण से लेकर कांग्रेस समितियों में उनके प्रतिनिधित्व तक बहुत से कार्य बताए गए। सभी ठीक और आवश्यक थे। लेकिन सांप्रदायिकता के दानव से लड़ने के लिए कुछ नहीं सुझाया गया।[56] कांग्रेस समय के साथ नहीं चल सकी। कांग्रेस की सोच सालों पुरानी थी। उसे यह स्वीकार करने में भी छह महीने लगे कि मुसलिम सीटों पर लीग की जीत से अधिकांश भारतीय मुसलिमों का प्रवक्ता होने का उसका दावा मजबूत हुआ है। नेहरू ने बड़ी सतर्कता के साथ उनके इस अधिकार का अनुमोदन किया।[57]

चुनाव के नतीजे को देखते हुए हम यह मानने को तैयार हैं कि मुसलिम लीग भारत में मुसलिमों की भारी बहुसंख्या का प्राधिकृत प्रतिनिधि संगठन है। लोकतांत्रिक सिद्धांतों के

अनुसार उसे भारत में मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करने का निर्विवाद अधिकार है बशर्ते कि इन्हीं कारणों से लीग भी यह स्वीकार करे कि कांग्रेस गैर मुसलिम और इसके साथ जुड़े मुसलिमों का अधिकृत प्रतिनिधि संगठन है।

चुनाव में जिन्नाह की जीत ने इस अनुमोदन को दबा दिया।

एकता की संक्षिप्त टिमटिमाहट - 1946 की गर्मी

यह घोषणा की गई कि लीग के लिए वोट पाकिस्तान के लिए वोट है। लेकिन लीग की चुनावी जीत से पाकिस्तान नहीं बन गया। अंग्रेजों के राजी होने पर ही पाकिस्तान बन सकता था।

नीति के बारे में सार्वजनिक बयानों से ऐसा लगता था कि लीग के प्रति अंग्रेजों का रुख बदला है। जुलाई 1945 में शिमला सम्मेलन की नाकामयाबी की घोषणा करके वावेल ने लीग को एक तरह से वीटो अधिकार दे दिया। इसके विपरीत एटली ने 15 मार्च 1946 को हाउस आफ कॉमन्स में घोषणा की कि अल्पसंख्यकों को बहुसंख्यकों के मार्ग में वीटो का रोड़ा अटकाने की इजाजत नहीं दी जाएगी।[58] यह भाषण कैबिनेट मिशन की भारत को रवानगी के मौके पर दिया गया था। इसलिए यह माना गया कि मिशन का ऐसा ही रुख रहेगा।[59]

मिशन ने देखा कि मुसलिम लीग से सहानुभूति के बावजूद ब्रिटिश अधिकारी पाकिस्तान के खिलाफ हैं। पंजाब का गवर्नर ग्लैंसी पाकिस्तान के एकदम खिलाफ था।[60] बंगाल का गवर्नर बरोस मुक्त फैडरेशन के पक्ष में था।[61] यू.पी. के गवर्नर वाइली के अनुसार पाकिस्तान को समर्थन 'पीछे हटने की बड़ी कार्रवाई होगा।'[62] सिंध के गवर्नर मडी ने रिपोर्ट भेजी कि सिंध के मुसलिम अलग देश नहीं चाहते। वे एक ऐसी व्यवस्था चाहते हैं जिसमें हिंदुओं का वर्चस्व न हो।[63] असम के गवर्नर क्लो ने दलील दी कि हमें 'अपनी पूरी ताकत एकता के लिए लगा देनी चाहिए।'[64] ब्रिटेन में सेना प्रमुखों का विचार था कि विभाजन के बजाए मुक्त अखिल भारतीय फैडरेशन कहीं अधिक बेहतर है।[65] एटली ने उनके विचारों के बारे में मिशन को सूचित कर दिया।

लंबे विचार-विमर्श के बाद मिशन ने 16 मई को एक बयान दिया जिसमें पाकिस्तान का नाम लेकर उल्लेख नहीं किया गया। तीन स्तरीय संघीय ढांचे की बात की गई जिसमें मुसलिम बहुसंख्यक प्रांतों की स्वायत्तता को सुनिश्चित किया जाएगा।[66] प्रभुतासंपन्न पाकिस्तान से इनकार किया गया।

प्रभुता संपन्न पाकिस्तान के खिलाफ मिशन के रुख के दो अलग कारण थे। पहला, ब्रिटिश कूटनीतिज्ञ और रणनीतिज्ञ साम्राज्यवाद के बाद की विश्व व्यवस्था में संयुक्त भारत के हामीदार थे।[67] दूसरे, यह समझा जाता था कि लीग के मुकाबले कांग्रेस से ज्यादा खतरा है। इसलिए कांग्रेस का सहयोग ज्यादा जरूरी माना गया। भारत सरकार के गृह सदस्य ने

5 अप्रैल 1946 को लिखा कि लीग से संबंध टूटने पर यदि उसने लड़ाई की तो उन्हें 'पीट दिया जाएगा क्योंकि कांग्रेस केंद्र सरकार की सहायता करेगी; लेकिन कुल मिलाकर मेरा यह मानना है कि हम कांग्रेस विद्रोह को दबा नहीं पाएंगे।'[68] यदि विद्रोह को दबा भी दिया गया तो बाद में क्या होगा। कांग्रेस को सरकार में शामिल करना जरूरी समझा गया।

अंग्रेजों के रुख, विशेष रूप से पाकिस्तान के खिलाफ कैबिनेट मिशन की घोषणा पर कांग्रेस नेताओं का खुश होना स्वाभाविक था। उनका मानना था कि अंग्रेजों की चाल या कम से कम उनकी मौन सहमति से पाकिस्तान बन सकता है। अंग्रेज अब इसके पक्ष में नहीं थे इसलिए पाकिस्तान के विचार को दफन कर दिया गया है। विशेष रूप से पटेल का तो यही विचार था। के.एम. मुंशी ने 17 मई 1946 को पटेल को तार भेजा :[69] 'मुबारक। ईश्वर की कृपा से पाकिस्तान की बात खत्म हो गई है।' पटेल ने उत्तर दिया :[70]

> ईश्वर की कृपा से हमने अपने देश से एक विपत्ति को टाल दिया है। कई सालों बाद किसी रूप में पाकिस्तान की नीति के खिलाफ पहली बार अधिकृत तौर पर घोषणा हुई है। रोड़ा अटकाने वाले तत्वों से बाधा और उनका वीटो अधिकार हमेशा के लिए खत्म हो गया है।

जाहिर है कि यह बगैर सोचे की गई बात थी। कैबिनेट योजना में समूह बनाने की जो बात कही गई थी और मिशन के सदस्यों ने अलग से (जिन्नाह को) जो अर्थ बताया था उससे किसी न किसी रूप में पाकिस्तान की संभावना बनी हुई थी।[71]

कांग्रेस खुश थी कि 'पाकिस्तान के लिए शरारतपूर्ण मांग अब हमें सुननी नहीं पड़ेगी'[72] क्योंकि उसे विश्वास था कि केवल अंग्रेजों के पास पाकिस्तान बनाने या उसे नष्ट करने की शक्ति है। कांग्रेस नेताओं का मानना था कि जिन्नाह अंग्रेजों के सहयोग के बगैर अपनी इच्छा पूरी नहीं कर सकता है। जब जिन्नाह ने यह कहा कि वह ब्रिटिश सरकार के फैसले को चुपचाप स्वीकार नहीं करेगा तो ज्यादातर लोगों ने उसे गंभीरता से नहीं लिया। जिन्नाह अंग्रेजों ने ही खड़ा किया था और उसके द्वारा अपने आकाओं की इस तरह अवहेलना असंभव लगती थी। जनवरी 1945 के आखिर में क्रिप्स के सामने नेहरू ने यह तर्क दिया:[73]

> (जिन्नाह) यह धमकी देता है कि यदि उसकी मर्जी के खिलाफ कुछ किया गया तो खूनखराबा और उपद्रव होंगे। जिन्नाह की धमकी में मुझे दम नजर नहीं आता। मुसलिम लीग के नेता (ज्यादातर जमींदार) इतने प्रतिक्रियावादी हैं और सामाजिक परिवर्तन के खिलाफ हैं कि वे सीधी कार्रवाई की हिम्मत नहीं कर सकते। उनकी जिंदगी आराम में गुजरी है। वे ऐसा करने के लिए ताकत नहीं रखते।

जुलाई 1945 में शिमला सम्मेलन के दौरान सप्रु का विचार था कि वाइसरॉय जिन्नाह के बगैर ही आगे बढ़े क्योंकि 'जिन्नाह और मुसलिम लीग और जो चाहे कर लें नागरिक

अवज्ञा नहीं कर सकते।'[74] 1946 में सार्वजनिक रूप में नेहरू ने भी यही बात कही : 'मैं देखना चाहता हूं कि जिन्नाह भारत में कैसे क्रांति लाता है। क्रांति की बात करना एक चीज है और उसे लाना दूसरी चीज।'[75]

नेहरू ने मखौल उड़ाया और पटेल ने इसे खारिज कर दिया। जयकर ने जगदीश प्रसाद और गोपाल स्वामी अयंगर के साथ जिन्नाह के बारे में पटेल से बात की। जयकर ने पटेल की प्रतिक्रिया के बारे में अपनी डायरी में लिखा :[76]

> वे क्रिप्स और पैथिक लॉरेंस से अनौपचारिक रूप से मिले थे और उनको स्पष्ट कर दिया था कि यदि मजबूर किया गया तो कांग्रेस जिन्नाह के 100 मुल्लाओं से ज्यादा मुसीबत खड़ी कर सकती है। यदि स्थिति को नियंत्रित करने की जिम्मेदारी कांग्रेस सरकार को दे दी जाए तो वह जिन्नाह द्वारा पैदा किए गए हालात पर काबू पा सकती है।

जिन्नाह ने कलकत्ता में जब अपना पहला गोला दागा तो सपरु, नेहरू और पटेल तीनों को अपने विचार बदलने पड़े।

पिस्तौल नकली है

क्रिप्स को अपने पत्र में नेहरू ने खून खराबे की धमकियों को खोखला बताया। इससे आगे निकलकर जिन्नाह ने अपनी प्रत्यक्ष कार्य योजना को ठोस रूप दे दिया।[77] मुसलिम लीग विधायकों के 7-9 अप्रैल 1946 को हुए सम्मेलन में भविष्य का संकेत मिल गया।[78] 1940 के लाहौर संकल्प में पाकिस्तान की जो परिभाषा दी गई थी उसके अनुसार भारत के उत्तर पश्चिम और पूर्व में दो स्वतंत्र देश होंगे। इसमें संशोधन करके यह कहा गया कि पाकिस्तान पश्चिम और पूर्वी हिस्सों वाला प्रभुता संपन्न एक राष्ट्र होगा। जनता समिति संकल्प ने साफ कर दिया कि मुसलिम 'अपने जीवन और राष्ट्रीय अस्तित्व के लिए सभी साधनों का प्रयोग करते हुए एकता को लादने का विरोध करेंगे।'[79]

जिन्नाह के उद्‌घाटन भाषण ने इसकी शुरुआत कर दी :

> खून खराबे की धमकी धोखा है सचाई नहीं। दुर्भाग्य से यदि अंग्रेज इस धमकी में आ गए तो मुसलिम चुपचाप नहीं बैठा रहेगा। वह अपना काम करेगा और खतरों का सामना करेगा। नेहरू का कहना है कि थोड़ी बहुत गड़बड़ी होगी। वे अभी भी आनंद भवन में ही रह रहे हैं।

सुहरावर्दी ने बड़े नाटकीय ढंग से घोषणा की कि 'बंगाल में एक-एक मुसलमान अपना जीवन देने के लिए तैयार है।' खलीकुज्जमा ने इससे सहमत होते हुए कहा : 'हमें हुक्म का इंतजार है।' खान अब्दुल कयूम खान जो कुछ समय पहले तक एन डब्ल्यू ई पी कांग्रेस में था उसने चेतावनी दी कि यदि एकता लादी गई तो 'तलवार उठाने और विद्रोह करने के

अलावा मुसलिमों के पास और कोई चारा नहीं रह जाएगा।' फिरोज खान नून वाइसरॉय की एग्जीक्यूटिव कॉसिल में था और उसे राजनीति में 'नरम विचार' वाला समझा जाता था। उसने गर्जना की : 'यदि अंग्रेज अखंड हिंदुस्तान के लिए हमारी आजादी को बेचेंगे, यदि अंग्रेजों ने हम पर अखंड सरकार लादी तो मुसलमान वह तबाही मचाएंगे जिस पर हलाकूखान को शर्म आ जाए। इसकी पूरी जिम्मेदारी अंग्रेजों पर होगी।'

कैबिनेट मिशन के बयान में खुले तौर पर पाकिस्तान के खिलाफ घोषणा जरूर की गई लेकिन अनिवार्य रूप से समूह बनाने की बात में पाकिस्तान की संभावनाएं छिपी थीं। जिन्नाह इस ढुलमुल बात से संतुष्ट नहीं था और उसे डर था कि समूह बनाने के बारे में कांग्रेस की व्याख्या को स्वीकार किया जा सकता है। उसने एटली से अपील की कि वह 'मुसलमानों को अपना खून बहाने के लिए मजबूर न करें।'[80] 29 जुलाई 1946 को ऑल इंडिया मुसलिम लीग ने 10 जुलाई के नेहरू के बयान को बहाना बनाकर 16 मई के बयान के लिए अपनी मंजूरी वापस ले ली।[81]

नई नीति की घोषणा की गई :

> ऑल इंडिया मुसलिम लीग की कौंसिल ने अब यह समझ लिया है कि पाकिस्तान प्राप्त करने, अपने सही अधिकारों को लेने, अपनी इज्जत को बचाने तथा इस समय अंग्रेजों की गुलामी और बाद में हिंदुओं के वर्चस्व से बचने के लिए सीधी कार्रवाई का समय आ गया है।

कार्य समिति को आदेश दिए गए कि वह ठोस कार्यक्रम बनाए और 'जरूरत पड़ने पर संघर्ष के लिए मुसलमानों को संगठित करे।' मुसलिम लीग अंग्रेजों की छत्रछाया में पली थी। लेकिन अब वह अंग्रेजों के सामने झुकने को तैयार नहीं थी। जिन्नाह ने कहा :

> आज हमने संविधान और सांविधानिक रास्तों को रुखसत कर दिया है। इन तकलीफदेह वार्ताओं के दौरान दोनों पार्टियों ने हमारे ऊपर पिस्तौल ताने रखीं ; एक के पीछे सत्ता और मशीनगनें थीं तो दूसरी के पास असहयोग और नागरिक अवज्ञा आंदोलन की धमकी थी। हालात का मुकाबला किया जाना चाहिए ! हमारे पास भी पिस्तौल होनी चाहिए।

आश्चर्य की बात है कि आयशा जलाल मुसलिम लीग की हठ और सीधे कार्रवाई की धमकी को केवल सौदेबाजी मानती हैं जिससे कि महामहिम की सरकार समूह बनाने की योजना के बारे में निश्चित आश्वासन दे, लीग संविधान सभा और अंतरिम सरकार में निश्चित रूप से आ सके। उनके अनुसार संविधानों और सांविधानिक रास्तों को रुखसत करने की बात कौंसिल के मिजाज को दर्शाती है। इसे बातचीत के लिए 'विदाई' नहीं 'सौदेबाजी' के रूप में देखा जाना चाहिए। सीधी कार्रवाई की धमकी 'केवल धमकी है संचाई नहीं।'[82]

कलकत्ता, 16 अगस्त 1946 – गोला दागा

पहली कार्रवाई कलकत्ता में हुई।[83] पाकिस्तान का सवाल हल किए जाने के लिए सड़कों पर आ गया। सम्मेलन नाकाफी हो गया।[84] 16 अगस्त 1946 को सीधी कार्रवाई दिवस घोषित किया गया। कलकत्ता में व्यापक रूप से सांप्रदायिक हिंसा हुई। मुसलिम लीग की सरकार ने दंगे भले ही न भड़काए हों लेकिन वह चुपचाप देखती रही। मरने वालों की संख्या 5000 हो गई। पहल मुसलमानों ने की (जिन्नाह भले ही इससे इनकार करे)।[85] हिंदू सांप्रदायिक समूहों ने जवाबी कार्रवाई की। ऐसा माना जाता है कि उन्होंने जो नुकसान उठाया उससे ज्यादा नुकसान पहुंचाया।

घटनाओं द्वारा इस तरह भयानक मोड़ ले लिए जाने से कांग्रेस नेता हक्के-बक्के रह गए। घटना के बारे में सार्वजनिक रूप से कुछ नहीं कहा गया। गांधी की प्रतिक्रिया ने जनता की मन:स्थिति को उजागर किया :[86] 'मैं जो कहना चाहता हूं कह नहीं पा रहा हूं। मेरे पास शब्द नहीं हैं। कई बार चुप्पी बहुत कुछ कह देती है क्योंकि चुप्पी में सचाई होती है।'

घबराहट इसलिए थी क्योंकि 'काले और कभी माफ न किए जा सकने वाले अपराध'[87] सांप्रदायिक दंगे नहीं थे। एक नई बात पैदा हा गई थी। गांधी ने देखा कि हालात सांप्रदायिक दंगों से आगे निकल गए हैं : 'अभी गृहयुद्ध की स्थिति पैदा नहीं हुई है। लेकिन हम उसके नजदीक हैं।'[88] शिकार लोगों की दशा और सरकार तथा आतंक के बीच संबंध में नेहरू को फासीवाद के लक्षण नजर आए :[89]

> सुहरावर्दी के अधीन प्रांतीय सरकार ने पूरी गुंडागर्दी दिखाई है। शुरू में हिटलर की सरकार ने जो कुछ किया यह भी वैसा ही कर रही है ... सरकार शर्मनाक तरीके से भेदभाव कर रही है ... बंगाल से आने वाले लोग हिटलर के आतंक से भागकर आए हुए शरणार्थियों की याद दिलाते हैं।

किसी स्थिति को समझ लेना उससे निपटने के काबिल हो जाना नहीं है। बेचारगी स्पष्ट थी : 'उसकी (कलकत्ता की) परेशानी में हम कुछ नहीं कर सके।'[90] केवल केंद्र के हस्तक्षेप और निष्पक्ष जांच की मांग की गई।[91] यहां तक कि सुहरावर्दी मंत्रिमंडल के इस्तीफे की मांग पर भी जोर नहीं दिया गया, हालांकि इस बात में कोई शक नहीं था कि 'किसी भी समय देश में ऐसी सरकार एक दिन के लिए नहीं टिक सकती।'[92]

लेकिन लीग द्वारा कलकत्ता में अपनी ताकत दिखाए जाने के बाद जब वावेल ने 'लीग को खुश रखने की नीति फिर से शुरू करने की कोशिश'[93] की तो कांग्रेस नेताओं ने पूरी दृढ़ता के साथ इसका विरोध किया। 27 अगस्त 1946 को कलकत्ता से लौटने के बाद वावेल गांधी और नेहरू से मिला और उसने स्पष्ट किया : 'मुसलिम लीग से बातचीत में दिक्कत को मैं समझता हूं लेकिन कलकत्ता में जो कुछ हुआ उसे देखते हुए बातचीत जरूरी है।'[94]

नेहरू ने साफ-साफ कहा कि वाइसरॉय की बात मानने के विनाशकारी परिणाम होंगे : 'हमारी घोषित नीति उचित मानी जाती है। धौंस में आकर उसे बदलना शांति का रास्ता नहीं है बल्कि और धौंस और हिंसा को बढ़ावा देना है।'[95] इसने उनके पहले के रुख को साफ कर दिया : 'हम हत्यारों से हाथ नहीं मिलाएंगे और न ही उन्हें देश की नीति तय करने देंगे।'[96] गांधी ने नेहरू के शब्द दोहराए :[97]

> कांग्रेस से यह उम्मीद नहीं की जानी चाहिए कि वह बंगाल में हाल ही में दिखाए गए वहशीपन के आगे झुक जाएगी या अपना सही रास्ता बदल लेगी। इस तरह झुकने से बढ़ावा मिलेगा और इस प्रकार की त्रासदियां बार-बार होंगी। दोनों ओर बदले की भावना और गहरी होगी तथा मौका मिलते ही खुद को अधिक खूंखार तथा घृणित रूप में प्रकट करेगी।

वावेल के साथ इंटरव्यू के बाद उन्होंने सुधीर घोष को तार भेजा : 'गांधी कहते हैं कि वाइसरॉय ने बंगाल त्रासदी को हतोत्साहित किया। कृपया दोस्तों को बता दें कि उसकी सहायता के लिए योग्य और कानूनी दिमाग वाले व्यक्ति होने चाहिए। नहीं तो इस प्रकार की त्रासदी फिर होगी।'[98] अपने देशवासियों से संयम रखने का आग्रह करते हुए कहा कि हिंसा को फैलने से रोकने की जिम्मेदारी मुसलिम लीग सहित सभी की है।[99]

नेहरू ने निष्पक्षता की मिसाल कायम करते हुए लोगों से बंगाल प्रांत कांग्रेस कमेटी की राहत और पुनर्वास कमेटी के लिए चंदा इकट्ठा करने की अपील की और कहा कि इसका इस्तेमाल सभी समुदायों के लिए किया जाएगा।[100] कलकत्ता हत्याओं पर कांग्रेस नेताओं की प्रतिक्रिया संतुलित और संयत थी। उन्होंने लीग के खिलाफ जनभावनाएं भड़काकर राजनीतिक लाभ उठाने की कोशिश नहीं की। उन्होंने खुश करने और बदले की भावना के खतरों के प्रति सरकार और लोगों को आगाह किया। उन्होंने आने वाली घटनाओं का जिक्र करते हुए इस तथ्य की ओर लोगों को ध्यान दिलाया कि कलकत्ता घटना के साथ भारतीय राजनीति में आतंकवादी हिंसा का प्रवेश हो गया है। यह गृहयुद्ध का संकेत है।

गांधी ने इस सबके ऐसे आयाम की ओर ध्यान दिलाया जिसकी ओर किसी अन्य का ध्यान नहीं गया था अर्थात किस प्रकार यह हिंसा ब्रिटिश शासन के जीवन को बढ़ा रही है : 'बेवकूफी के साथ की जा रही यह हिंसा ब्रिटिश या विदेशी शासन के जीवन को बढ़ा रही है। यदि हमें ब्रिटिश बंदूकों और संगीनों की जरूरत है तो अंग्रेज यहां से नहीं जाएंगे...'[101]

जिन्नाह और दूसरे लीगियों की प्रतिक्रिया इसके बिलकुल उलटी थी। जिन्नाह ने इस बात पर टिप्पणी करने से इनकार कर दिया कि सीधी कार्रवाई से लीग का क्या मतलब है : 'मैं नीतिशास्त्र पर चर्चा नहीं करूंगा।' लियाकत अली ने इसे 'कानून के खिलाफ कार्रवाई' बताया।[102] जानबूझकर रखी गई इस अस्पष्टता के पीछे इरादा यह था कि स्थानीय

लीगी अपनी मर्जी के अनुसार इसका जो चाहे अर्थ लगा लें। सुहरावर्दी ने जिस तरह कलकत्ता हत्याओं के लिए लोगों को उकसाया इस बारे में कुछ कहने की जरूरत नहीं है। लीग मंत्रिमंडल द्वारा शासित सिंध सहित अन्य प्रांतों में सीधी कार्रवाई दिवस शांति के साथ बीत गया।[103] जिन्नाह ने कलकत्ता हिंसा की निंदा जरूर की और कहा कि हिदायतों (कौन सी हिदायतें यह कोई नहीं जानता) को न मानने वाले लीगियों के खिलाफ बंगाल प्रांतीय लीग कार्रवाई करेगी ; लेकिन हिंसा भड़काने वाले लीगियों की उसने निंदा नहीं की।

सिंध के कानून और व्यवस्था मंत्री गुलाम अली खान ने घोषणा की कि पाकिस्तान का विरोध करने वाले किसी भी व्यक्ति का 'खात्मा कर दिया जाएगा।' ममदोत ने मुसलिम लीग के इस पक्के इरादे को बताया कि 'जाग्रत राष्ट्र के लिए उपयुक्त सभी तरीके इस्तेमाल किए जाएंगे ... भारत में इसलाम की आजादी के लिए चलाए जा रहे जिहाद में हम सब कुछ झोंक देंगे।' कलकत्ता में स्थिति के नियंत्रण में आ जाने के साथ-साथ जिन्नाह ने चेतावनी दी कि 'अंतरिम सरकार बनने के अभूतपूर्व और भयंकर परिणाम होंगे।'[104]

जिस प्रकार जिन्नाह ने कलकत्ता हिंसा की जिम्मेदारी से अपनी पार्टी को मुक्त कर दिया उसी प्रकार आयशा जलाल ने जिन्नाह को इससे मुक्त कर दिया। उनके अनुसार 'सांविधानिक कार्रवाई के हामीदार जिन्नाह को न तो इस तरह की घटनाओं की उम्मीद थी और न वह ऐसा चाहता था...' 'जिन्नाह की अपनी प्राथमिकताओं को भय और लालच से पागल हुई भीड़ ने कुचल दिया।'

जलाल ने आगे तर्क दिया है कि लीग का संगठन और संसाधनों की ऐसी खराब हालत थी कि सीधी कार्रवाई दिवस जैसी कोई चीज मनाने के लिए उसे 10 मुल्ला और 10 पीर बुलाने पड़े। हिंसा लीग के किसी बयान से नहीं भड़की बल्कि मुसलिम मुल्लाओं ने भड़काई। आंदोलन के शुरू हो जाने के बाद जिन्नाह उसे दिशा नहीं दे सकता था और न उसे काबू में रख सकता था।[105]

बगैर अधिकार के जिम्मेदारी - कांग्रेस अंतरिम सरकार और नोआखाली

2 सितंबर 1946 को केवल कांग्रेस के प्रतिनिधियों वाली अंतरिम सरकार को शपथ दिला दी गई। नेहरू टीम के प्रधान थे। लीग ने अनिष्ट सूचक धमकियां देकर इसका स्वागत किया। जिन्नाह को भारत का विभाजन ही एकमात्र विकल्प नजर आ रहा था। उसने घोषणा की कि भारत गृहयुद्ध के कगार पर है। पंजाब प्रांतीय लीग ने सभी बलशाली मुसलमानों से नेशनल गार्ड में शामिल होने के लिए कहा। गजनफर अली ने कहा कि मुसलमान सीधी कार्रवाई के लिए तैयार हो जाएं और 'आजाद पाकिस्तान बनाने के जबर्दस्त संघर्ष के लिए आखिरी इशारे का इंतजार करें।' लीग कार्रवाई समिति ने सीधी कार्रवाई को भारत के काफिरों के खिलाफ जिहाद बताया।[106]

अस्थायी रूप से ही सही वावेल ने लीग के लिए कोई जगह बनवाने में अपनी विफलता

कबूल की। वह कलकत्ता हिंसा के रूप में ब्लैकमैल के सामने कांग्रेस को झुकाने में भी कामयाब नहीं हो सका। वावेल सांप्रदायिक झगड़ा फैलाने की लीग की ताकत से डरा हुआ ही नहीं था। जिन्नाह के अड़ियलपन के बावजूद लीग के नजरिए से उसे हमदर्दी थी। उसने जिन्नाह का समर्थन करने की बात स्वीकार की थी :[107]

> लीग के लिए यथासंभव सबसे बढ़िया सौदे के लिए मैंने जी तोड़ कोशिश की और कई बार कड़वी बातचीत भी की। जिन्नाह की खुद की गलती के कारण लीग के लिए फायदेमंद अंतरिम सरकार नहीं बना सके। इसलिए जिन्नाह और लीग के रवैए से मुझे थोड़ी तकलीफ हुई है।

उसने लीग की सीधी कार्रवाई को भी ठीक बताया और कहा कि यह कार्रवाई कांग्रेस द्वारा भड़काए जाने के कारण की गई :[108] 'दुर्भाग्य की बात है कि लीग को ये संकल्प पास करने के लिए बाध्य कर दिया गया है। मेरे विचार से उन्हें इस स्थिति में धकेल देने में नेहरू के असंयमित भाषणों का सबसे अधिक योगदान रहा।'

वह पूरी तरह से कांग्रेस सरकार के गठन को रोकना चाहता था। उसने एटली और पैथिक लॉरेंस को यह समझाने की पूरी कोशिश की कि कांग्रेस ने मिशन योजना को वास्तव में स्वीकार नहीं किया है। इसलिए उसे सरकार बनाने के लिए आमंत्रित नहीं किया जाना चाहिए। इसके विपरीत उन्होंने वावेल को सलाह दी कि वह कांग्रेस से विच्छेद को हर सूरत में टाले और इसे ध्यान में रखते हुए संविधान की बैठक होने और अंतरिम सरकार बनने तक समूह बनाने के मुद्दे पर जोर न दे : 'हम यह महसूस करते हैं कि अगस्त के अंत में संविधान सभा की बैठक होने तक कांग्रेस के साथ मतभेदों के खुलकर सामने आने को रोकना बहुत जरूरी है।'[109] वावेल ने केवल कांग्रेस की अंतरिम सरकार बना दी लेकिन लीग के लिए सर्वोत्तम सौदे के अपने प्रयासों को नहीं छोड़ा। वह सरकार में शामिल होने की जिन्नाह की शर्तों पर बातचीत करता रहा और उनकी सरकार में शीघ्र शामिल होने की कोशिश में लगा रहा।

कांग्रेस को सरकार में शामिल करा दिए जाने और उससे संभावित क्रांति खतरे के दूर हो जाने के बारे में आश्वस्त हो जाने के बाद एटली और उसके साथी इस बात के लिए तैयार थे कि यदि वावेल लीग को सरकार में ला सकता है तो ले आए। उन्होंने इस आधार पर अपने रुख को सही बताया कि सरकार में लीग के शामिल न होने से 'गृहयुद्ध अवश्यंभावी हो जाएगा।' कलकत्ता में भय का बीज बोया गया और नोआखाली में वह अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया। नोआखाली दंगों के 15 दिन के भीतर 25 अक्तूबर 1946 को लीग के सदस्य सरकार में शामिल हो गए।[110]

कांग्रेस देश के शासन की जिम्मेदारी को संभालने की आवश्यकता को ध्यान में रखते

हुए सरकार में शामिल हुई। कलकत्ता दंगों के शुरू होने से पहले ही राजगोपालाचारी ने पटेल को चेतावनी दी थी :[111]

> जिन्नाह और लीग परेशानी पैदा करने पर आमदा हैं। इसलिए चुनौती को स्वीकार करना हमारा अपरिहार्य और अनिवार्य कर्तव्य बन जाता है। यदि हम अंतिरम सरकार में शामिल नहीं होते तो हम पर यह आरोप लगेगा कि हमने मुश्किल हालात में अपनी जिम्मेदारी से मुंह फेर लिया।

केवल भारतीयों के बीच झगड़ों के मामलों में शांति कायम रखने के प्रति अंग्रेज अधिकारियों की उदासीनता की प्रवृत्ति नजर आने लगी। बाद में यह उनकी आम प्रवृत्ति बन गई। कलकत्ता घटनाओं से स्पष्ट हो गया था कि अंग्रेज जिन्नाह की चुनौती का मुकाबला नहीं करेंगे।

पूर्वी बंगाल में नोआखाली में सांप्रदायिक दंगे 10 अक्तूबर 1946 को शुरू हुए और नोआखाली जिले, संदविप द्वीप तथा दक्षिण पश्चिमी तिपैरा जिले के गांवों में फैल गए।[112] हत्याएं, जबर्दस्ती धर्म परिवर्तन, अपहरण और लूटपाट आम बात बन गए। हिंदू कुल जनसंख्या के 18 प्रतिशत के बराबर थे लेकिन वे कुल में से 75 प्रतिशत जमीन के मालिक थे। वे इन दंगों का शिकार बने। केवल जलमार्ग से ही संचार संभव था। इसलिए दंगों को दबाना, राहत पहुंचाना और यहां तक कि दंगों के बारे में सूचना इकट्ठी करना मुश्किल हो गया। खबरें धीरे-धीरे पहुंची और जब कई स्रोतों से इसकी पुष्टि हुई तो दिल दहल गया। नेहरू ने कड़ी प्रतिक्रिया की :[113] 'भारत के दूसरे हिस्सों विशेषकर पूर्वी बंगाल में जो जघन्य कार्य हुआ है उससे मुर्दे का भी दिल दहल सकता है। मैं तो मुर्दा नहीं हूं, जीवित हूं।'

कलकत्ता की तरह यहां भी त्रासदी गहरी होती गई क्योंकि इसे रोकने की बात तो दूर उसे कम करने की कोशिश भी नहीं की गई :[114] 'यह बिलकुल साफ है कि बंगाल सरकार स्थिति को काबू में लाने में पूरी तरह से नाकामयाब रही है। बहुत से लोगों का मानना है कि वह उसे काबू में लाना भी नहीं चाहती।' पटेल ने शिकायत की कि 'ब्रिटिश गवर्नर नोआखाली के बजाए दार्जलिंग में हैं और उसने इन उपद्रवों को रोकने के लिए कुछ नहीं किया।'[115]

नेहरू और पटेल दोनों ने वाइसरॉय पर बंगाल में हस्तक्षेप करने, मंत्रिमंडल को बर्खास्त करने और दिल्ली से शासन पर जोर डाला। लेकिन इसका कोई असर नहीं हुआ। पटेल ने विरोध भेजने और केंद्र द्वारा पूरे बंगाल में नहीं तो कम से कम उपद्रवग्रस्त जिलों में कानून और व्यवस्था की जिम्मेदारी लेने का आग्रह किया।[116] उन्होंने क्रिप्स से हस्तक्षेप करने के लिए कहा और शिकायत की कि 'प्रांतीय स्वायत्तता सरकारी कार्रवाई को रोकने के लिए आड़ का काम कर रही है।'[117] उन्हें कुछ शुभकामनाओं के साथ धीरज रखने की सलाह दी गई।[118] क्रिप्स ने पैथिक लॉरेंस को पत्र दिखाया। उसने पटेल पर धारा 93 का गलत अर्थ लगाने का आरोप लगाया और कहा कि स्थापित सांविधानिक उपबंध को हटाने का

कोई कारण नजर नहीं आता। उसने भारतीयों में शांति रखने की जिम्मेदारी से पल्ला झाड़ लिया और तर्क दिया कि परस्पर निभाव द्वारा ही गृहयुद्ध से बचा जा सकता है।

विदेश मंत्री ने गर्वनर में अपना विश्वास व्यक्त किया।[119] गवर्नर ने मुख्यमंत्री और यहां तक कि लीग को दंगों में भागीदारी से मुक्त कर दिया।[120] इसके बावजूद वावेल के अनुसार गवर्नर ने 'उस (सुहरावर्दी) पर पूरी तरह से अविश्वास किया।' लेकिन स्वयं वावेल के अनुसार 'सुहरावर्दी हमेशा की तरह बदमाश नजर आ रहा था ...'[121] सरकार ने जिला स्तर पर कुछ न किए जाने की बात मंजूर की। पुलिस महानिरीक्षक ने वाइसरॉय को बताया कि पुलिस ने 'स्थिति को ठीक से नहीं समझा।'[122] पूर्वी कमान के प्रभारी जनरल बचर के अनुसार लोगों का पुलिस में कोई विश्वास नहीं था और सैन्यदल देरी से मौके पर पहुंचा।[123] मेजर जनरल रेकिंग और ब्रिगेडियर थापर बुरी तरह से प्रभावित इलाके चंद्रपुर में थे। उन्होंने वाइसरॉय को बताया कि पुलिस 'सांप्रदायिक भेदभाव'[124] रखती हैं। उपद्रवों के एक महीने बाद तक शांति बहाल नहीं की जा सकी और पुलिस दलों पर हमले होते रहे।[125] लीग मंत्रिमंडल ने हत्या, उपद्रव और यहां तक कि बलात्कार सहित आपराधिक मामलों को वापस लेने के लिए दबाव डाला।[126] लगभग दो महीने बाद गवर्नर ने स्वीकार किया कि सांप्रदायिक कलह से निपटने के लिए सरकार के पास कोई शक्ति नहीं है।[127]

कुल मिलाकर प्राधिकारी कार्रवाई की मांग पर चुप्पी साधे रहे। वे घटनाओं के महत्व को कम आंकते रहे और लगातार यह कहते रहे कि हिंदुओं द्वारा दिए गए और कांग्रेस द्वारा स्वीकार किए गए आंकड़े बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताए गए हैं। विदेशमंत्री ने तो यहां तक कह दिया कि 'अपने रिवाजों के अनुसार हिंदुओं ने घटनाओं को बहुत बढ़ा-चढ़ाकर बताया।'[128]

पूर्वी बंगाल के उपद्रवों ने कांग्रेस नेताओं के सामने इस कष्टदायक सचाई को उजागर कर दिया कि अंतरिम सरकार में उसकी हैसियत केवल जिम्मेदारी की है। उसके पास कोई ताकत नहीं है। पटेल ने वावेल को लिखा : 'हमने भारत सरकार में जिम्मेदारी ली है। यदि हम पूर्वी बंगाल में आतंक के राज को समाप्त करने में शक्तिहीन बने रहे तो यह अजीब विरोधाभास होगा।'[129] वे सही थे। यह विरोधाभास ही था जिसका कोई सरल समाधान नहीं था। नेहरू ने तकलीफ के साथ-साथ अपना दृढ़ संकल्प दिखाया :[130]

> हजारों लोगों की हत्या और उनके साथ लगातार बुरे बरताव को असहाय होकर देखने के सिवाय यदि हम कुछ नहीं कर सकते तो हमारे द्वारा अंतरिम सरकार बनाए जाने का क्या फायदा।
>
> मैं बहुत बेचैन हूं। मेरा विचार है कि या तो हम किसी तरह से मुद्दे का मुकाबला करें या सार्वजनिक जीवन से हट जाएं।

लीग यही तो चाहती थी। गजनफर अली शीघ्र ही अंतरिम सरकार का लीग सदस्य बनने

वाला था। उसने लाहौर में इसलामिया कॉलेज के छात्रों के सामने हालात को ऐसे रखा:[131]

> केंद्र में पूरी तरह से कांग्रेस सरकार बना दिए जाने के बाद देश के कई हिस्सों में जो उपद्रव हुए हैं उन्होंने यह बात निर्विवाद रूप से साबित कर दी है कि दस करोड़ भारतीय मुसलमान ऐसी सरकार के सामने नहीं झुकेंगे जिसमें उनका सच्चा प्रतिनिधि नहीं है।

नोआखाली की घटनाओं ने यह दिखा दिया कि सरकार में शामिल होने के बावजूद कांग्रेस नेता सार्वजनिक रूप से विरोध करने और निजी तौर पर पूरी तरह से असहाय महसूस करने के आलवा कुछ नहीं कर सकते थे।

रोशनी की तलाश : गांधी नोआखाली में

सबसे पहले गांधी ने तथ्यों का पता लगाने के लिए कांग्रेस अध्यक्ष कृपलानी को नोआखाली भेजा। एक नाकामयाब कोशिश और सुहरावर्दी द्वारा मना किए जाने के बावजूद कृपलानी और उनकी पत्नी सुचेता प्रभावित इलाकों में पहुंचने में आखिरकार कामयाब हो गए। लोग इतने असहाय थे कि सुचेता नोआखाली में ही रुक गईं और वहां सात महीने रहीं।[132] जब उनको वहां रहते हुए तीन सप्ताह बीत गए तो गांधी 6 नवंबर को नोआखाली पहुंचे।

अभी वे कलकत्ता में ही थे कि बिहार में दंगे शुरू हो गए। थोड़ी हिचकिचाहट के बाद उन्होंने यह निर्णय लिया कि 'हालांकि बिहार को भी मेरी जरूरत है लेकिन मुझे अपना नोआखाली कार्यक्रम नहीं छोड़ना चाहिए। इसके बजाए वे अपना खाना कम करके बिहार घटनाओं के लिए' थोड़ा प्रार्यश्चित करेंगे।[133] नोआखाली ने उनका ध्यान पूरी तरह से खींच लिया।

कलकत्ता की घटनाओ से तो वे केवल दु:खी हुए लेकिन नोआखाली की घटनाओं से वे समझ गए कि अहिंसा के उनके संदेश को लोगों ने ऊपर-ऊपर से अपनाया है। उन्होंने महसूस किया कि अहिंसा के तकनीक को फिर से मांजे जाने की जरूरत है। अंग्रेजों के साथ तो इस तकनीक ने अच्छा काम किया है लेकिन लगता है हिंदू-मुसलिम संबंधों के मामले में उसने कोई काम नहीं किया।' हमेशा की तरह उन्होंने खुद में ही कमी निकाली : 'इस अंधेरे का कारण मेरे भीतर है।'[134] जैसा कि उन्होंने खुद कहा 'यह मेरे जीवन का सबसे मुश्किल अभियान है।'[135]

नोआखाली में उनके रहने के पीछे दो मकसद थे। एक तो वे बैर भाव को कम करना चाहते थे, अपनी मौजूदगी से हिंदुओं में विश्वास बहाल करना चाहते थे और मुसलमानों के दिलों में तबदीली लाना चाहते थे। यह बहुत मुश्किल काम था। लेकिन गांधी को आशा थी कि नोआखाली ऐसी क्यारी और नर्सरी होगा जिसमें सांप्रदायिक दोस्ती के पौधे की

रखवाली की जाएगी और उसे बढ़ते हुए देखा जाएगा। बाद में इसकी पौध पूरे देश में लगाई जाएगी।

गांधी 6 नवंबर 1946 से 2 मार्च 1947 तक नोआखाली में रहे। इसके पश्चात वे एक पखवाड़े के बाद लौटने का इरादा बनाकर बिहार चले गए। इसी समय वे दिल्ली में राजनीतिक उथल-पुथल में फंस गए। नोआखाली में शुरू में उन्होंने पूजा बैठकों और घर-घर जाकर हिंदुओं और मुसलमानों तक पहुंचने की कोशिश की। उन्होंने वीर की अहिंसा का संदेश दिया। इसमें सहन शक्ति की बहुत जरूरत है और भड़काए जाने के बावजूद जवाबी कार्रवाई के लिए कोई स्थान नहीं है। इसमें आखिरी उपाय हत्या नहीं आत्महत्या है। हिंदू अपने घर लौटें और यदि मरना बदा है तो वहीं मरें। वे कहीं और भागकर न जाएं : 'यदि वे समूह बनाकर रहेंगे तो इसका मतलब मुसलिम लीग के दो राष्ट्रों के शरारतपूर्ण सिद्धांत को मंजूर कर लेना होगा।'[136] मुसलमान अपने कृत्यों पर पश्चाताप करें और यह सुनिश्चित करें कि ऐसी घटनाएं फिर न हों। कुछ मुसलमान अफसरों ने कहा कि यह सांप्रदायिक मांग है। धर्म चाहे जो हो निष्पक्ष अफसरों की मांग की जानी चाहिए।[137] गांधी ने ठीक ही समझा कि लोगों के संप्रदायीकरण के इस तरह के तरीके विनाशकारी उपद्रवों की तरह ही घातक हैं। वे इन उपद्रवों के पीछे राजनीतिक इरादों को खोजना चाहते थे ताकि उनसे लड़ा जा सके।

अनेक इरादों और लक्ष्यों को पूरा करने के लिए उनके कार्यक्रम में बहुत विविधता होती थी। स्थिति की खुद जानकारी लेने के लिए सबसे पहले उन्होंने विभिन्न शहरों और गांवों का दौरा किया और सैकड़ों लोगों, हिंदू और मुसलमानों से मिले। 20 नवंबर 1946 को वे एक टाइपिस्ट परशुराम और एक दुभाषिए एन.के. बोस के साथ श्रीराम पुर गांव में रुक गए। यहां वे 43 दिन रहे। उन्होंने खुद को दोस्तों, पुराने साथियों और सुविधाओं से दूर कर लिया। उन्होंने *हरिजन* के लिए लिखना बंद कर दिया और अपने भीतर ध्यान लगा लिया। एन.के. बोस के अनुसार गांधी 'खुद को ज्यादा से ज्यादा असुविधा पहुंचाने पर आमादा थे और चाहते थे कि कैसे भी नोआखाली के किसानों का मन जीत लें।'[138] गांधी के लिए व्यक्तिगत और सामाजिक में कोई फर्क नहीं था। समाज को सांप्रदायिक नासूर से मुक्ति के तरीकों की उनकी तलाश में खुद के भीतर कमी की मुस्तैदी से तलाश शामिल होती थी।[139] गांधी ने एक और पहलू पर खुद बल दिया। वे एक पौध ध्यान से लगाना चाहते थे ताकि यह समझ सकें कि पौधा कैसे जीवित रहता था। बाद में गांधी ने पदयात्रा शुरू की और रातों को विभिन्न गांवों में ठहरे। इस तरह से वे ज्यादा से ज्यादा लोगों तक पहुंचना चाहते थे। सुचेता कृपलानी ने लिखा है कि पदयात्रा मुसलमानों द्वारा की गई हिंसा के प्रायश्चित के लिए थी।[140]

गांधी जब तक नोआखाली में रहे तब तक यह जगह लोगों के आकर्षण का केंद्र बनी रही। क्या गांधी का बेजोड़, व्यक्तिगत प्रयोग कामयाब होगा ? उनके साथ-साथ हजारों

लोगों को उम्मीद थी कि वे कोई रास्ता खोज लेंगे। जैसे-जैसे समय बीतता गया लोग इस कोशिश के पीछे बहादुरी और आदर्श की सराहना और इसके सूक्ष्म लेकिन बुनियादी असर की प्रशंसा करते रहे। परंतु लोग गांधी के इस मूल इरादे को लेकर बहुत आशावान नहीं थे कि नोआखाली रास्ता दिखाएगा।

गांधी के अभियान के लक्ष्य थे हिंदुओं की अपने घरों को वापसी (और उनमें सुरक्षा की भावना पैदा करना) और मुसलमानों के दिलों को जीतना तथा उनमें पछतावे के अंकुर पैदा करना। इसमें भी आंशिक सफलता मिली। सुचेता कृपलानी के अनुसार गांधी की यह उम्मीद अवास्तविक थी कि लोग 'डर छोड़कर' अपने घर लौट आएंगे : 'गांधी यह नहीं समझ सके कि बेहिसाब तकलीफ उठाने वाले और चोट खाने वाले हिंदुओं से यह बहुत ज्यादा उम्मीद करना था।'[141]

एन.के. बोस ने नोट किया कि गांधी की मौजूदगी में कुछ हिंदू धीरे-धीरे जरूर लौटे।[142] इस मामले में अपनी हार को गांधी ने सुहरावर्दी के सामने स्वीकार किया : 'मेरी पूरी कोशिशों के बावजूद लोगों का जाना जारी है। कुछेक लोग ही अपने गांवों को लौटे हैं।'[143]

नोआखाली की स्थिति के बारे में सात महीने बाद लिखी गई एक सरकारी रिपोर्ट में कहा गया है कि हिंदू इतने भयभीत थे कि वे परेशान किए जाने के मामलों की रिपोर्ट करने या उन्हें सही बताने से डरते थे। वे बेइज्जती बहिष्कार, डकैती और इनसे भी बुरे व्यवहार को चुपचाप सह जाते थे : 'भीतर ही भीतर निश्चित रूप से तनाव है। हिंदुओं में असुरक्षा की भावना है। हिंदुओं में हिम्मत अभी तक नहीं लौटी है। उनमें डर और शक घर किए हैं।'[144]

मुसलमानों के हृदय परिवर्तन का गांधी का प्रयास भी बेकार रहा। वहां अपने प्रवास के आखिरी दिनों में मुसलमानों का विरोध उन्हें साफ-साफ देखने को मिला। अपनी पदयात्रा के दौरान जब वे गांवों से गुजरते थे तो रास्ते को टट्टी डाल कर गंदा कर दिया जाता था और उस पर शीशे बिखेर दिए जाते थे। इसके उत्तर में गांधी ने नंगे पैर यात्रा का निश्चय किया।[145] इसके बाद मुसलमानों ने उनकी प्रार्थना सभाओं का बहिष्कार करना शुरू कर दिया।[146] गांधी ने खुद कहा कि 'भारत में अधिकांश मुसलिम समुदाय द्वारा अब उन्हें मित्र दुश्मन नं. एक के रूप में देखा जाता है।'[147] नोआखाली में ठहरने के उनके फैसले की मुख्यमंत्री और मुसलिम लीग शुरू से आलोचना कर रहे थे। उन्होंने उन पर इस दुर्भाग्यपूर्ण घटना का राजनीतिक लाभ उठाने का आरोप लगाया। उन्होंने उन पर केवल हिंदुओं का ध्यान रखने का भी आरोप लगाया और कहा कि उन्होंने नोआखाली को ही अपना मुख्यालय क्यों बनाया, बिहार को क्यों नहीं बनाया ?

कुछ लोगों ने इस बात को पकड़ लिया और तख्तियों, पत्रों और बयानों द्वारा गांधी से बिहार जाने की मांग की गई। वे दबाव में नहीं आए। उन्होंने स्वीकार किया है कि यह दबाव बहुत ज्यादा था। वे दृढ़ बने रहे और कहा कि उन्हें अपनी सच्ची धर्मनिरपेक्षता का

सबूत देने की कोई आवश्यकता नहीं है।[148] लेकिन एक मामले में वे सुहरावर्दी के सामने झुक गए। कर्नल एन.एस. गिल के नेतृत्व में आई एन ए स्वयंसेवकों का एक दल राहत कार्य के लिए जब नोआखाली पहुंचा तो उन्होंने उन्हें बिहार जाकर मुसलमानों को राहत पहुंचाने के लिए कहा। लेकिन अपने मामले में वे अपनी बात पर अड़े रहे और अपने एक पुराने साथी तथा सरकार में मंत्री सईद महमूद की अपील पर ही बिहार गए।[149]

एक सच्चा आदमी होने के नाते गांधी ने यह देख लिया कि उनके और मुसलमानों के बीच एक दीवार खड़ी हो गई है और वे उनसे मिलने के लिए तैयार नहीं हैं। जब हिंदू दोस्तों ने उनसे पूछा कि (बिहार की तरह) उन्होंने बंगाल की घटनाओं पर मुसलमानों के खिलाफ उपवास क्यों नहीं किया तो उन्होंने कबूल किया कि 'आज वे ऐसा नहीं कर सकते। यदि मुसलमान यह समझ लें कि वे उनके दोस्त हैं तो वे उनके खिलाफ भी उपवास कर सकते हैं।[150] गांधी का यह मानना कि 'मुसलमान उन्हें अपना दोस्त नहीं समझते, उनके लिए बहुत तकलीफदेह बात रही होगी।'

हिंदुओं में असुरक्षा और मुसलमानों में शत्रुता की भावना बनी रही। उनके निकट के साथी नोआखाली में रहने के उनके निर्णय की आलोचना कर रहे थे क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से उथल-पुथल भरे उन महीनों में कांग्रेस के मार्गदर्शन के लिए दिल्ली में उनका रहना बहुत जरूरी था। बिड़ला ने नोआखाली में अपने मास्टर के अभियान की खुलेआम आलोचना की :

> अब मुझे इस शांति अभियान से निराशा होने लगी है। बापू अपनी तपश्चर्या करते रहे लेकिन यह दुनिया जैसी है वैसी ही रहेगी। इसका तुरंत कोई लाभ मिलने में बहुत संदेह हैं ... हिंदू और मुसलमानों में यदि कोई एकता होगी तो संविधान सभा में ही होगी।[151]

पटेल ने सोचा 'बापू के इन भागीरथ प्रयासों का क्या नतीजा निकला है।'[152] उन्होंने नोआखाली में ठक्कर बापा को लिखा : 'आप असुरों के बीच फंसे हैं। पता नहीं ईश्वर को आप पर दया आएगी या नहीं और लोग आपको इस भयानक कुंड से निकलने देंगे या नहीं।'[153]

नेहरू ने अपनी चिड़चिड़ाहट दिखाई :[154]

> मुझे पक्का विश्वास है कि नोआखाली जिले का आपका दौरा बहुत महत्वपूर्ण है। मैं आपको आपकी प्रवृत्ति के खिलाफ जाने के लिए नहीं कहता। लेकिन मेरा यह विचार है कि दिल्ली में महत्वपूर्ण निर्णय लिए जा रहे हैं और लिए जाएंगे। इनसे हमारा भविष्य और वर्तमान प्रभावित होने वाला है। ऐसे क्षण आपकी उपस्थिति आवश्यक है। हम सब तरफ बह कर जा रहे हैं। मुझे संदेह है कि हम सही दिशा में जा रहे हैं। हम

> हमेशा संकट में रहते हैं और स्थिति पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है ... यदि आप होते तो हमारी मुसीबतें कुछ कम हो जातीं।

एक अलग संदर्भ में उनके द्वारा माउंटबैटन को यह कहा गया बताते हैं कि 'श्री गांधी भारत के तन पर जख्मों के कारण का पता लगाकर पूरे तन के इलाज में योगदान करने के बजाए एक के बाद एक जख्म को ठीक करने के लिए मरहम लिए घूम रहे हैं।'[155] नेहरू की बात सही लगती है। जोखिम भरी भूल-भुलैया से जहाज को निकालने के लिए इस समय उन्हें इसकी कमान संभालनी चाहिए थी।

यह बात इस तथ्य को देखते हुए और भी सही लगती है कि नोआखाली भौगोलिक दृष्टि से भले ही अलग-थलग हो लेकिन वह सांप्रदायिक तूफान के प्रकोप से दूर नहीं था। उसने उलटे इसके प्रकोप को और बढ़ाया। ऐतिहासिक ताकतें ध्यान से उपचार की उनकी भावना के मुकाबले इतनी मजबूत थीं कि उन पर इसका कोई असर नहीं हो सकता था। बंगाल के गवर्नर ने ठीक ही कहा 'इस भूभाग में मुसलिम चीते और हिंदू मेमने को इकट्ठा करने के लिए एक दर्जन गांधी चाहिए।'[156] टुकड़े-टुकड़े होकर अलग-अलग हो चुके समुदायों को इकट्ठा करना बहुत धीमा और टेढ़ा काम होता है। जिस कपड़े को आप रफू करने की कोशिश कर रहे हैं यदि उसे दूसरे किनारे से फाड़ा जा रहा हो तो ऐसी कोशिश की दु:खद व्यर्थता साफ जाहिर होती है।

अप्रैल 1947 में जब नोआखाली में फिर उपद्रव भड़के तो गांधी ने सुहरावर्दी के सामने मंजूर किया 'शायद मेरी मौजूदगी से भी हालात में कोई फर्क नहीं पड़ता।'[157] जुलाई 1947 में एक प्रार्थना सभा में उन्होंने कहा : 'मेरे भीतर आग जल रही है। यदि मैं नोआखाली चला जाऊं तो यह आग शांत हो जाएगी ... यहां मैं बेचैन हूं। नोआखाली में मैं बेचैन नहीं था। मैं रोजाना बहुत पैदल यात्रा करता था। मैं नए गांवों में भी जाता था और भारी संख्या में हिंदू और मुसलमानों से मिलता था।'[158]

गांधी ने यह निश्चय कर लिया था कि एकता का रास्ता दिल्ली से नहीं नोआखाली और बिहार से निकलेगा। गांधी ने एक प्रार्थना सभा में अपने रुख को स्पष्ट किया :[159]

> बहुत से लोग व्यंग्य करते हैं कि 'नोआखाली में मुझे क्या मिला।' पूरे भारत के बारे में फैसले के साथ नोआखाली के बारे में अपने आप फैसला हो जाएगा। लेकिन मैं दूसरा मार्ग अपनाता हूं। मैंने बचपन में एक सूत्र सीखा था, 'छोटी दुनिया में जो होगा वह पूरे ब्रह्मांड में होगा।'

दु:ख की बात यह है कि गांधी का संकरा, टेढ़ा-मेढ़ा रास्ता और नेहरू का मुख्यधारा वाला रास्ता दोनों ही बंद हो गए। या तो दोनों ही रास्ते सही थे या फिर दोनों ही गलत। कोई भी विभाजन की त्रासदी को नहीं टाल सकता था।

सीधी कार्रवाई के मोर्चे के रूप में अंतरिम सरकार

बंगाल में सीधी कार्रवाई ने अंतरिम सरकार की शक्तिहीनता को कांग्रेस नेताओं के सामने उजागर कर दिया था। जब अंतरिम सरकार खुद सीधी कार्रवाई का एक पक्का केंद्र बन गइ तो यह और भी अधिक बर्दाश्त के बाहर हो गया। सरकार के लीगी सदस्यों ने शुरू में ही यह साफ कर दिया था कि सीधी कार्रवाई को छोड़ने और अपनी गतिविधियों को सांविधानिक दायरे तक सीमित रखने का उनका कोई इरादा नहीं है। वाइसरॉय और दूसरे लोगों ने यह तर्क दिया था कि सरकार में लीग के आने से गृहयुद्ध का डर खत्म हो जाएगा और संविधान की दिशा में प्रगति की संभावना बढ़ेगी। इस तर्क के पीछे मंशा कुछ और ही थी। वास्तव में वे कांग्रेस को कमजोर बनाना चाहते थे। वावेल ने लीग को अंतरिम सरकार में शामिल कर लिया। ऐसा करने से पहले प्रारंभिक पूर्व शर्त – कैबिनेट मिशन योजना की मंजूरी को भी पूरा नहीं किया गया।[160]

सरकार में लीग के एक सदस्य गजनफर अली खान ने बड़े साफ शब्दों में कहा : 'हम पाकिस्तान के अपने लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में लड़ाई के लिए अंतरिम सरकार में शामिल हो रहे हैं। अंतरिम सरकार सीधी कार्रवाई अभियान के लिए एक मोर्चा है।'[161]

अगले दिन पटेल ने वाइसरॉय के सामने अपना विरोध प्रकट किया, भाषण को वापस लेने की मांग की और इस्तीफे का संकेत दिया।[162]

राजा गजनफर अली का भाषण (प्रतिलिपि संलग्न) क्षुब्ध कर देने वाला और भविष्य के लिए अशुभ है। ध्यान देने की बात यह है कि भाषण अत्यधिक संवेदनशील छात्रों के सामने इस महीने की 19 तारीख को दिया गया। इससे पहले जिन्नाह द्वारा लीग की ओर से उसका नाम अंतरिम सरकार के लिए भेजा जा चुका था। पद की शपथ लेने से पहले क्या उसे अपना भाषण वापस नहीं लेना चाहिए ?

यदि प्रशासन चलाने का काम तुरंत शुरू करने के बजाए विभाजन पर बहस करनी है और उपद्रवों को बढ़ावा देना है तो कांग्रेस को सोचना पड़ेगा कि वह आपके आमंत्रण पर ली गई इस जिम्मेदारी को संभाले या नहीं।

पटेल के विरोध का वाइसरॉय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि लगभग दो महीने बाद नेहरू को न्यूयार्क हैरेल्ड फोरम में भारतीय मामलों पर वाद विवाद में एम.ए.एच. इस्पाहानि द्वारा ऐसे ही भाषण की ओर ब्रिटिश सरकार का ध्यान खींचना पड़ा। इस्पाहानि ने कहा कि 'लीग के (अंतरिम सरकार में) शामिल होने का केवल यही अर्थ है कि पाकिस्तान के लिए संघर्ष अब सरकार के भीतर और बाहर दोनों जगह चलाया जाएगा।'[163] गजनफर अली का हौसला काफी बढ़ गया और फरवरी 1947 में उसने सार्वजनिक रूप से घोषणा की कि 'मोहम्मद बिन कासिम और महमूद गजनी ने कुछेक हजार वाली सेनाओं के साथ भारत पर हमला किया और लाखों हिंदुओं को हरा दिया; इंसा अल्लाह कुछेक लाख मुसलमान करोड़ों हिंदुओं पर भारी पड़ेंगे।'[164] अब यह केवल आपित्तजनक भाषणों का

सवाल नहीं रह गया था। पंजाब लीग यूनिट ने खिज्र हयात खान के नेतृत्व में एकतावादी अकाली - कांग्रेस संयुक्त मंत्रिमंडल के खिलाफ नागरिक अवज्ञा की घोषणा कर दी थी। अंतरिम सरकार के सदस्यों विशेष रूप से लियाकत अली खान और गजनफर अली खान खुले आम इसके साथ जुड़ गए थे। खिज्र हयात द्वारा आर एस एस और मुसलिम लीग नेशनल गार्ड्स पर प्रतिबंध लगाए जाने का लीगियों ने व्यापक पैमाने पर विरोध किया। जिन्नाह ने वाइसरॉय को पूरे देश में भयंकर परिणामों की चेतावनी दी। प्रतिबंध हटा लिए जाने के बाद भी प्रदर्शन, सभाएं और हड़तालें जारी रहीं।[165] नेहरू ने 'अंतरिम सरकार के कुछ सदस्यों द्वारा पंजाब आंदोलन में सक्रिय रूप से भाग लेने और वहां संयुक्त सरकार को उलटने का प्रयास करने की ओर वाइसरॉय का ध्यान दिलाया। यह न केवल सांविधानिक क्रियाविधि के खिलाफ है बल्कि पूरी तरह से मर्यादाहीनता है।'[166]

उन्होंने आसफ अली के सामने अपनी बात अधिक स्पष्टता से रखी : 'इस समय वे पंजाब और सीमा प्रांत में आक्रामक सीधी कार्रवाई अभियान चला रहे हैं। केंद्र सरकार के सदस्यों द्वारा प्रांतों में विद्रोह का नेता बन जाना कितनी बेतुकी बात है।'[167]

अब पटेल ने इस्तीफे की पेशकश नहीं की बल्कि लीग के सदस्यों से इस्तीफा देने की मांग की : 'यदि वे अपना काम जारी रखना चाहते हैं तो इस्तीफा देना ही उनके लिए सम्मान की बात होगी।'[168] वाइसरॉय ने केवल यह सूचित किया या कहा कि उसने कांग्रेस नेता के विरोध के बारे में लीग के संबंधित नेताओं को बता दिया है।

पंजाब मंत्रिमंडल को हटा देने में अपनी कामयाबी से प्रोत्साहित होकर लीग ने उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत में कांग्रेस मंत्रिमंडल के खिलाफ अपने आंदोलन को तेज कर दिया। उत्तर पश्चिम सीमा प्रांत से अंतरिम सरकार में एक लीगी सदस्य सरदार अब्दुर रब निश्तार ने अबोत्ताबाद में जोर देकर कहा : 'सीमा प्रांत में मुसीबत की जड़ वहां की बनावटी सरकार है जो 95 प्रतिशत मुसलमानों पर लाद दी गई है। मौजूदा सरकार बर्दाश्त के बाहर हो गई है। इस हुकूमत को फेंकना होगा। इसे फेंका जाना चाहिए।'[169]

पटेल ने मांग की कि लीग सदस्य 'सांविधानिक मर्यादा' का पालन करें या पद छोड़ दें। माउंटबैटन ने मामले को उठाया जरूर लेकिन इसका कोई फायदा नहीं हुआ।[170]

हिंसा छोड़ने और शांति बनाए रखने के लिए हिंदुओं और मुसलमानों को संयुक्त अपील (15 अप्रैल 1947 को की गई) पर जब जिन्नाह ने गांधी के साथ अपना नाम देने के लिए सहमति दी तो इससे कुछ उम्मीद बंधी। लेकिन इस अपील को कारगर बनाने के लिए सीधी कार्रवाई को छोड़ना जरूरी था। जैसा कि पटेल ने कहा :[171]

> मेरी पक्की धारणा है कि जब तक मुसलिम लीग को अपने 'सीधी कार्रवाई' संकल्प को वापस लेने के लिए बाध्य नहीं किया जाएगा और इसके बाद उसके अनुयायियों को काबू में रखने के लिए सक्रिय प्रयास नहीं किए जाएंगे तब तक अपील को कामयाब

बनाने के लिए आवश्यक मनोवैज्ञानिक माहौल नहीं बनेगा और अपील का कोई फायदा नहीं होगा।

गांधी ने भी संकेत दिया कि जिन्नाह अपील के प्रति ईमानदार नहीं है। उन्होंने बहुत अच्छे ढंग से सवाल किया : 'मना किए जाने के बावजूद मुसलमान हत्याएं क्यों करते हैं? जिन्नाह ने शांति के लिए बयान पर दस्तखत किए हैं। वह बहुत बड़े संगठन का प्रमुख है। उसकी बात मानी जाती है।'[172] लीग आखिर तक सीधी कार्रवाई से पीछे नहीं हटी।

आयशा जलाल मुसलिम लीग की स्थिति को अंतरिम सरकार के रुबरु देखती हैं, अलग से नहीं। उनका तर्क है कि जिन्नाह केंद्रीय प्रशासन को अकेले कांग्रेस द्वारा नहीं चलाने देना चाहता था। साथ ही वह यह भी नहीं दिखाना चाहता था कि वह कांग्रेस के दबाव में आ गया है। वावेल को उद्धृत करते हुए उन्होंने कहा है कि यह केवल 'उनके आत्मसम्मान की संतुष्टि' का सवाल था और लीग बड़ी आसानी से उसमें आ जाती। उन्होंने आगे तर्क दिया है कि जिन्नाह की हताशा इस बात से नजर आ जाती है कि मुसलमान प्रतिनिधित्व के बारे में एकाधिकार और मुसलमानों के मामलों पर वीटो के अधिकार की उसकी मांग के पूरे न किए जाने के बावजूद वह अंतरिम सरकार में शामिल हो गया।[173]

सरकार के भीतर से असहयोग

मरकार के बाहर लीग के सदस्य जो कुछ कर रहे थे समस्या केवल उसी की नहीं थी। सरकार के भीतर उनका टकराववादी रवैया जिसे नेहरू ने 'भीतर से अहसयोग कहा है' भी इतनी ही बड़ी समस्या था।[174] जब लीग के नुमाइंदों की घोषणा की गई तो नेहरू को यही अंदेशा हुआ। लियाकत अली को छोड़कर इनमें से बाकी सभी घटिया किस्म के लोग थे। 'इनकी पसंद से ही जाहिर हो जाता है कि वे काम में सहयोग के बजाए संघर्ष चाहते हैं। मुसलिम लीग ने अपने सबसे काबिल लोगों को नहीं भेजा है।'[175]

शीघ्र ही यह बात साफ हो गई कि लीग सदस्यों का 'कैबिनेट' दृष्टिकोण में विश्वास नहीं है और वे एक अलग 'ब्लॉक' के रूप में काम करना चाहते हैं। वाइसरॉय सरकार का शासकीय प्रमुख था। कांग्रेसी सदस्यों ने शासकीय बैठकों से पहले अनौपचारिक बैठकें करने और आम सहमति बनाने की रणनीति बनाई ताकि वाइसरॉय नाम का प्रमुख रह जाए। लीग के सदस्यों ने इन बैठकों में भाग लेने से इनकार कर दिया। इसकी वजह से वाइसरॉय को निर्णायक की मनपसंद भूमिका मिल गई। नेहरू द्वारा विदेशों में प्रतिनिधियों की नियुक्ति पर बगैर किसी आधार के आपत्ति की गई। लियाकत अली खान के बजट ने कांग्रेस के पूंजीवादी समर्थकों को कथित रूप से परेशानी में डाल दिया।[176]

इस रवैए का दोतरफा असर हुआ। एक तो इससे ब्रिटिश अधिकारियों को लाभ मिला। ये अधिकारी किनारे पर डाल दिए जाने से खुश नहीं थे। वाइसरॉय और उसके सलाहकारों ने साफ कर दिया कि उनकी सहानुभूति किस तरफ है और जैसा कि नेहरू ने कहा है

उन्होंने इस ढंग से खुले आम काम किया 'मानो कि वे मुसलिम लीग से मिले हुए हों।'[177] लीग द्वारा सहयोग न किए जाने की स्थिति को तो कांग्रेसी नेता सह गए होंगे लेकिन सरकार द्वारा समर्थित या सहानुभूति प्राप्त उनके दुराग्रह को सहना बहुत मुश्किल था।

दूसरे कांग्रेस नेताओं ने यह बात समझ ली कि लीग के साथ देश का प्रशासन संयुक्त रूप में चलाना असंभव है। विभाजन से ठीक पहले स्वतंत्रता सप्ताह आयोजनों के अवसर पर पटेल ने कहा : 'पिछले एक वर्ष में' शासन चलाने के मेरे अनुभव से साफ हो जाता है कि मुसलिम लीग के साथ मिलकर कोई रचनात्मक काम करना नामुमकिन है। शासन में लीग के प्रतिनिधि रोड़ा अटकाने के सिवाय कुछ नहीं करते। उनका रवैया केवल बाधा पहुंचाने वाला है।'[178]

धीरे-धीरे मन में यह बात बैठती गई कि बगैर किसी शक्ति के पूरे देश की जिम्मेदारी लेने के बजाए देश के अधिकांश हिस्से पर नियंत्रण प्राप्त करना बेहतर है। इसका मतलब विभाजन के लिए मौन मंजूरी था। विभाजन के दो महीने बाद एक भाषण में नेहरू ने कहा कि अंतरिम सरकार का अनुभव विभाजन को स्वीकार कर लेने का महत्वपूर्ण कारण था।[179]

ऐसा लगता है कि बाद में इसकी बुद्धिसंगत व्याख्या की गई है। विभाजन को स्वीकार कर लेने के कांग्रेस के निर्णय की प्रतिक्रिया इतनी घुमावदार थी कि उसके एक निश्चित निर्धारक तत्व को प्रस्तुत करना कठिन है। यदि हम इस प्रक्रिया को एक के बाद एक विकल्प के खत्म हो जाने और आखिर में विभाजन का विकल्प शेष रह जाने के रूप में देखें तो लीग के साथ अंतरिम सरकार चलाने का अनुभव एक दरवाजा बंद करने जैसा था।

राजनीतिक प्रगति में बाधा

लेकिन लीग का सबसे घातक हथियार न तो सीधी कार्रवाई की पिस्तौल थी और न असहयोग का धारदार ब्लेड था। यह हथियार था राजनीतिक प्रगति को रोक देने और सभी सांविधानिक समाधानों को व्यर्थ कर देने की उसकी क्षमता। केवल इस बात पर अड़कर कि कैबिनेट मिशन योजना की उसकी व्याख्या को स्वीकार किया जाए उसने अंततः पूरी योजना को ही चौपट कर दिया। उसने योजना के दीर्घकालिक प्रावधानों को स्वीकार करने से इनकार कर दिया लेकिन वह इसके अल्पकालिक पहलू अर्थात अंतरिम संयुक्त सरकार बनाने के लिए तैयार हो गई। यह अंतर्विरोध था और लीग सदस्यों को अंतरिम सरकार में शामिल होने की अनुमति देने से पहले इसे सुलझा लिया जाना चाहिए था। लेकिन वाइसरॉय ने इसकी अनदेखी कर दी और लीग द्वारा अपना रुख साफ करने की कांग्रेस की मांग के बावजूद उन्हें सरकार में शामिल कर लिया।

बातचीत के जारी रहने के दौरान ही नेहरू ने जिन्नाह को लिखा : 'मुझे उम्मीद है कि यदि आपकी कमेटी लीग के राष्ट्रीय कैबिनेट में शामिल होने या इस बारे में आपकी कौंसिल को सिफारिश करने का निर्णय भी इसके साथ लेगी।'[180] पटेल के विचार से लीग द्वारा

योजना के दीर्घकालिक पहलुओं को नामंजूर कर दिया जाना इस बात का सूचक है कि वह विभाजन के लिए तुली हुई है। उन्होंने वाइसरॉय को अपने इस डर के बारे में लिखा कि अंतरिम सरकार में अपनी मौजूदगी से लीग 'विभाजन की वही फाड़ पैदा करना चाहती है जिसे दीर्घकालिक व्यवस्था में हमेशा के लिए खत्म करने की बात कही गई है।'[181]

लेकिन नेहरू की आशाओं और पटेल की चेतावनियों का कोई असर नहीं हुआ। वाइसरॉय ने लीग को सरकार में लाने का पक्का निश्चय कर लिया था। नेहरू ने कहा 'वे अगले दरवाजे से नहीं आए। अब वे पिछले दरवाजे से घुसना चाहते हैं।'[182] बिलकुल यही बात हुई।

लीग द्वारा दीर्घकालिक योजना को नामंजूर कर देने का मतलब यह हुआ कि वह संविधान सभा में शामिल नहीं होना चाहती।[183] कांग्रेस ने सभा के लिए अपने सदस्य चुन लिए और मुसलिम सीटों को खाली छोड़ दिया। बहुत से प्रतिनिधियों विशेषकर बंगाल, पंजाब और सिंध से प्रतिनिधियों के बगैर संविधान निर्माण का कार्य पूरी तरह से शुरू नहीं किया जा सकता था। इसके अतिरिक्त कांग्रेस नेताओं ने लीग द्वारा सभा के बहिष्कार को खत्म करने के लिए दबाव डाला। लेकिन इसका कोई असर नहीं हुआ। इस स्थिति के लिए ब्रिटिश सरकार भी आंशिक रूप से जिम्मेदार थी क्योंकि समूह बनाने के बारे में अपनी ढुलमुल राय को उसने स्पष्ट नहीं किया। उसने अपनी गोलमोल बात जारी रखी और बातचीत के लिए नेताओं को लंदन बुलाया।

पटेल बातचीत करने की ब्रिटिश सरकार की चालबाजी पर नाराज थे। उनके विचार से लंदन वार्ता कांग्रेस को मुसलिम लीग के सामने झुकाने के लिए दबाव डालने की एक और कोशिश भर थी। लीग ने अब यह बात कुछ हद तक समझ ली थी कि 'हिंसा का खेल दोनों ही पक्ष खेल सकते हैं और भड़काए जाने पर नरम हिंदू कट्टर मुसलमानों की तरह वहशीपन के साथ जवाब दे सकते हैं।'[184] लेकिन बातचीत के लिए बुलाकर ब्रिटिश सरकार ने इस समझ को बेकार कर दिया। जिन्नाह 'एक बार फिर मुसलमानों को आश्वस्त कर सकता था कि मुसीबत खड़ी करके और हिंसा द्वारा वह उन्हें और रियायतें दिलवा सकता है।'[185] पटेल के अनुसार यह 'दुर्भाग्य की बात है कि ब्रिटिश सरकार दृढ़ रवैया नहीं अपना रही है और धोखेबाजी को नहीं पकड़ रही है।'[186] उन्हें बहुत भयंकर आसार नजर आ रहे थे। उन्हें डर था कि सिख संविधान सभा से बाहर निकल जाएंगे, कांग्रेस को भी उसे छोड़ना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में अल्पसंख्यकों को वीटो का अधिकार मिल जाएगा।[187] वे और नेहरू कांग्रेस द्वारा वार्ता में भाग लिए जाने के पक्ष में नहीं थे। लेकिन ब्रिटिश प्रधानमंत्री की व्यक्तिगत अपील पर नेहरू अंततः चले गए।[188]

वार्ता लाभदायक नहीं रही और 6 दिसंबर 1946 के बयान में महामहिम की सरकार ने समूह बनाने की ऐसी व्याख्या की जो लीग के अनुकूल थी।[189] कांग्रेस ने महामहिम की सरकार के बयान पर विचार किया (और बाद में इसे स्वीकार कर लिया)। लेबर सरकार

के विचार से कांग्रेस द्वारा संविधान सभा की क्रियाविधि के बारे में गारंटी न दिए जाने की स्थिति में लीग का सभा में जाने से इनकार तर्कसंगत था।[190] बहस के बाद कांग्रेस ने यह बात भी मान ली। लेकिन इसके बावजूद लीग ने सभा में शामिल होने की जरा भी मंशा नहीं जताई।

आखिरकार लीग की कार्यसमिति ने 31 जनवरी 1947 को एक संकल्प पास कर दिया जिसमें न केवल संविधान सभा के बहिष्कार बल्कि पूरी कैबिनेट मिशन योजना को समाप्त करने की मांग की गई।[191] अंतरिम सरकार के कांग्रेस सदस्यों ने वाइसरॉय को एक संयुक्त पत्र लिखा : 'हमारा स्पष्ट मत है कि मुसलिम लीग के फैसले के परिणामस्वरूप उसके सदस्य अंतरिम सरकार में बने नहीं रह सकते।'[192] राजेंद्र प्रसाद ने निजी तौर पर इस मांग के पूरे किए जाने के प्रति संदेह व्यक्त किया : 'अंतरिम सरकार में शामिल होने के लिए वे दूसरी बार अयोग्य हो गए हैं। लेकिन इस अयोग्यता के बावजूद उन्हें सरकार में शामिल किया गया और अभी इसमें बने हुए हैं।'[193] वे सही थे। लीग से सरकार छोड़ने के लिए कहने का सरकार का कोई इरादा नहीं था। लेकिन कांग्रेस के रूख के बारे में उसे कोई निर्णय तो लेना ही था। 20 फरवरी 1947 के नीति बयान में नए वाइसरॉय की नियुक्ति और एक या अधिक उत्तराधिकारियों को सत्ता हस्तांतरण की निश्चित तारीख की घोषणा की गई। इसका उद्देश्य शासकीय प्राधिकार के पतन की प्रक्रिया को रोकना था। लेकिन अब इसका प्रयोग मौजूदा सांविधानिक संकट को सुलझाने के लिए किया गया। प्रधानमंत्री ने आशा व्यक्त की कि अब भविष्य को रूप देने की ओर ध्यान दिया जाएगा।[194]

कांग्रेस की प्रतिक्रिया में अंग्रेजों से और अपेक्षा नहीं की गई। नेहरू ने तर्क दिया कि इस समय उदारता की बहुत जरूरत है।[195] 'हाल ही की घटनाओं और माउंटबैटन के शीघ्र आने को ध्यान में रखते हुए मामले पर तुरंत जोर देना ठीक नहीं समझा गया। हर नजरिए से मुसलिम लीग को संविधान सभा में लाने के लिए एक और कोशिश करना ठीक होगा।'

एक समय यह विचार व्यक्त किया जाता था कि तीसरे पक्ष अर्थात अंग्रेजों के चले जाने के बाद कांग्रेस-लीग मतभेदों को आसानी से दूर किया जा सकता है। ऐसा लगता है कि लियाकत अली को नेहरू की अपील में यही विचार काम कर रहा था :[196]

> घटनाओं को व्यावहारिक रूप से समझने और शीघ्र निर्णय लेने का समय अब आ गया है। अंग्रेज जाने वाले हैं और निर्णय लेने का भार हम पर आ गया है। दूर रहकर आलोचना करना हममें से किसी के लिए भी ठीक नहीं है ... मामलों पर विचार करने के लिए मैं और आप मिल सकते हैं।

यह सब नहीं होना था। बोझ बनी सांझी सरकार में झगड़ा कड़वाहटपूर्ण अंत तक चलना था। जब पाकिस्तान का बनना पक्का नजर आने लगा तो नेहरू ने मांग की कि 'शेष भारत के लिए कांग्रेस को खुली छूट दी जाए।'[197] अंतरिम सरकार को व्यवहार में डोमिनियन

सरकार माना जाए और वाइसरॉय अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा करे। देश के हालात को देखते हुए सख्त कार्रवाई की बहुत जरूरत थी। ऐसा करना भी मुमकिन नहीं था क्योंकि सरकार के लीग सदस्य हर काम में रोड़ा अटका रहे थे। पटेल ने माउंटबैटन से कहा 'कांग्रेस की सलाह के खिलाफ मुसलिम लीग के सदस्यों को लाने से केंद्र इतना कमजोर हो गया है कि भारत बड़ी तेजी से एक अराजक देश में बदलता जा रहा है।'[198] माउंटबैटन ने इस मांग को यह कहकर नामंजूर कर दिया कि यह 'आने वाले दो या तीन महीनों में लीग को कुचल देने' की कांग्रेस की इच्छा का सूचक है।[199] संबंध विच्छेद को रोकने के लिए कांग्रेस ने मौन सहमति दे दी। 19 जुलाई 1947 को भारत और पाकिस्तान के लिए दो अस्थायी सरकार बनाए जाने तक लीग अंतरिम सरकार में शामिल रही।

गांधी अंतरिम सरकार या लीग द्वारा विधानसभाओं के बहिष्कार लेकिन अंतरिम सरकार में शामिल होने के मामले में प्रत्यक्ष रूप से सहभागी नहीं थे। अपनी आदत के अनुसार वे समस्या की तह में गए और उन्हें दोनों ही स्थितियों में कमी नजर आई। कांग्रेस-लीग की साझी सरकार के चलने के बारे में उन्हें कोई भ्रम नहीं था। वास्तव में जून 1946 में ही उन्होंने वाइसरॉय और विदेशमंत्री को आने वाली घटनाओं के बारे में बता दिया था। बाद में वही हुआ :[200]

> यदि उसने दो विरोधियों की साझा सरकार बनाने की कोशिश की तो उसे बहुत निराशा होगी ... सही काम करने की हिम्मत रखो। आप उनमें से किसी एक को चुनो। मेरे विचार से आप दो घोड़ों पर एक साथ सवारी करने में कभी कामयाब नहीं होंगे। या तो कांग्रेस या लीग द्वारा प्रस्तुत नामों को चुनो। ईश्वर के लिए दो विरोधियों का मिश्रण तैयार करने की कोशिश मत करो। ऐसा करके आप भयंकर विस्फोटक पदार्थ ही तैयार करेंगे।

गांधी को लीग द्वारा संविधान सभा के बहिष्कार पर कांग्रेस नेताओं की तरह अचंभा नहीं हुआ।[201] एक तो उनका यह मानना था कि अंग्रेजों के तत्वावधान में इसकी बैठक गलत है। यदि यह लीग के सामने समर्पण है तो भी इसकी बैठक नहीं होनी चाहिए। बुनियादी बात यह है कि सभा की बैठक बुलाने और लीग को इसमें शामिल कराने के लिए अंग्रेजों का मुंह ताकना गलत है। कांग्रेस संविधान सभा की बैठक बुलाने के लिए हैसियत और ताकत प्राप्त होने तक इंतजार करे और लीग को इसमें शामिल होने के लिए आमंत्रित करे। इसके बाद जो भी शामिल हों उनके साथ संविधान निर्माण का काम शुरू करें। लेकिन संविधान उन्हीं हिस्सों के लिए बनाया जाए जिनका सभा में प्रतिनिधित्व हो, पूरे भारत के लिए नहीं।

विचार और कार्य दोनों ही मामलों में गांधी स्वतंत्रता और आत्मनिर्भरता पर बल देते थे। जो व्यक्ति अपनी दृढ़ धारणा के अनुसार काम करता है वह यह नहीं देखता कि दूसरा

क्या कर सकता है या उसे क्या करना चाहिए। लीग या ब्रिटिश प्राधिकारियों पर कांग्रेस के दबाव की व्यर्थता को देखते हुए ऐसा लगता है कि कांग्रेस नेताओं को गांधी की सलाह मान लेनी चाहिए थी। लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया और संघर्ष की ओर कदम बढ़ते गए।

समझौते की बात खत्म

लीग की सीधी कार्रवाई ने कांग्रेस सदस्यों की शक्तिहीनता को उजागर कर दिया। अंतरिम सरकार में लीग के सदस्यों द्वारा सीधी कार्रवाई को बढ़ावा दिए जाने और सरकार में उनके झगड़ालू रवैए से कांग्रेस नेताओं ने समझ लिया था कि लीग के साथ देश को चलाना असंभव है। इन दो तकलीफदेह बातों में से जो तीसरी तकलीफदेह बात कांग्रेस की समझ में आ गई वह यह थी कि जिन्नाह और लीग के साथ समझौता नहीं हो सकता है। पाकिस्तान के अलावा बाकी सभी रियायतें उनके लिए नाकाफी थीं।

कुछ दे-दिवा कर सांप्रदायिकता से लड़ने की नीति तभी सही हो सकती थी जब प्रतिनिधित्व, सुरक्षा, आरक्षण जैसे मुद्दों को लेकर वास्तविक शिकायत हो और उसे दूर किया जा सकता हो। राष्ट्र प्राप्त करने की ओर अग्रसर सांप्रदायिकता प्रांतीय स्वायत्तता, सरकार में बराबरी या समूह बनाने जैसी सांविधानिक रियायतों से संतुष्ट नहीं हो सकती थी। आखिरकार कांग्रेस नेतृत्व ने यह समझ लिया कि बातचीत का रास्ता खत्म तो नहीं हुआ है लेकिन इससे मामला सुलट नहीं सकता है।

जिन्नाह के कार्य करने के ढंग के बारे में नेहरू का जायजा बिलकुल सही था :[202] 'पिछले कुछ वर्षों में हमारा बार-बार यह अनुभव रहा है कि मि. जिन्नाह कोई वायदा नहीं करता है और किसी समझौते पर नहीं पहुंचना चाहता है। उसे जो कुछ मिलता है उसे लेकर और की मांग करने लगता है।'

जिन्नाह ने एक अन्य मोर्चे पर अर्थात मुसलमानों के निर्विवाद नेता की अपनी हैसियत को बरकरार रखने के लिए अपने इस रुख को इस्तेमाल किया : 'जिन्नाह का हमेशा यह उसूल रहता था कि कोई भी ऐसा सकारात्मक कार्य मत करो जिससे अनुयायी बंट जाएं : कभी कोई बैठक मत बुलाओ और न कोई बयान दो क्योंकि इससे मुसलमानों में आंतरिक मतभेद पैदा हो सकते हैं।'[203]

तो जिन्नाह से कैसे निपटा जाए ? उसके तरीके का कैसे उत्तर दिया जाए। नेहरू को जिन्नाह के बारे में कुछ भी समझ में नहीं आता था : 'हमारे सामने ऐसा शख्स है जो न तो राजनीतिक है और न आर्थिक, न तर्कसंगत और न युक्तियुक्त।'[204]

गांधी तर्क या बुद्धि के पीछे नहीं दौड़ते थे। इसलिए उन्होंने जिन्नाह की समस्या को समझ लिया। उनके विचार से यह मनोवैज्ञानिक समस्या थी। उन्होंने इससे इसी स्तर पर निपटने का सुझाव दिया। 1944 में जिन्नाह से बातचीत में उन्होंने समझ लिया कि वह

विक्षिप्त से भी आगे है :[205] 'विक्षिप्त बीच-बीच में अपनी विक्षिप्तता छोड़कर तर्कसंगत बन जाता है। जिन्नाह दुष्ट प्रतिभावान है। वह खुद को पैगंबर ... और इसलाम का रक्षक समझता है।'

गांधी ने जिन्नाह के रवैए की जड़ में जाने की कोशिश की और यह निष्कर्ष निकाला कि इसका मुकाबला तर्क से नहीं किया जा सकता। इसको केवल निष्क्रिय बनाया जा सकता है। जैसा कि गांधी के जीवनीकार ने कहा है कि 'एक बहुत बड़ा त्याग किया जाना चाहिए।'[206] जिन्नाह को देश को चलाने की शक्ति और जिम्मेदारी दी जानी चाहिए। उसे प्रधानमंत्री बना देना चाहिए।

गांधी ने 1946 के मध्य और 1947 के मध्य में यह सुझाव दिया। लेकिन दोनों ही बार कांग्रेस नेताओं ने इसे नामंजूर कर दिया। यह बात सही है कि व्यावहारिक राजनीति की दृष्टि से यह संभव विकल्प नहीं है। इसका मतलब जिम्मेदारी को छोड़ देना और उसे लीग को सौंप देना है जिससे न तो सीधी कार्रवाई छोड़ी जाए और न पाकिस्तान की मांग। खतरा बहुत था, जिम्मेदारी मिलने पर नम्र हो जाने के बजाए यदि जिन्नाह सत्ता के नशे में चूर हो जाए तो क्या होगा ? क्या बहुसंख्यक जनता जिन्नाह को सबसे बड़ा पद दिए जाने को विश्वासघात और कर्तव्य त्याग बताकर उसकी निंदा नहीं करेगी ?

कांग्रेस के जवाब में बुद्धिमत्ता थी। लेकिन यह विकल्प कभी नहीं आजमाया गया। इसलिए यह नहीं कहा जा सकता कि वह काम नहीं करता। एक बार माउंटबैटन ने ऐसे ही कहा कि वह जिन्नाह को प्रधानमंत्री बना हुआ देखना चाहता है। इस पर जिन्नाह के जवाब से लगता है कि गांधी अपनी बात मनवाने के काफी नजदीक पहुंच गए थे। माउंटबैटन के अनुसार जिन्नाह ने कहा तो कुछ नहीं लेकिन इस विचार से उसे निश्चित रूप से गुदगुदी हुई।[207] जिन्नाह के व्यक्तित्व में जिम्मेदारी के अभाव को देखते हुए इससे बहुत विस्फोटक स्थिति पैदा हो गई होती।

जिन्नाह को सबसे बड़ा पद देने की बात तो दूर नेहरू ने अब यह बात समझ ली थी कि जिन्नाह को और एकतरफा रियायतें नहीं दी जा सकती हैं : 'हमने वाइसरॉय को साफ-साफ बता दिया है कि अब हम ऐसा कोई एकतरफा करार नहीं करेंगे जिससे हम तो बंध जाएं लेकिन जिन्नाह को किसी तरह का कोई वायदा न करना पड़े।'[208] लेकिन यह निश्चय कर लेने के बाद भी समझौता नजदीक नजर नहीं आया। नेहरू को विश्वास हो गया था कि कोई समझौता कितना भी वांछनीय हो उसे प्राप्त करना असंभव है :[209]

> हम ऐसी अवस्था में पहुंच गए हैं जब मौजूदा रास्ते पर चलना नामुमकिन हो गया है। कोई समझौता होना चाहिए और यदि कोई समझौता नहीं होता है तो इस संकट को समाप्त करने का कोई और तरीका होना चाहिए ... सौभाग्य से हम ऐसी अवस्था में पहुंच गए हैं जब हमें किसी न किसी तरीके से इस शोचनीय स्थिति को खत्म कर देना चाहिए।

दूसरा रास्ता देश का विभाजन था। यह बात साफ-साफ तो नहीं की गई थी। लेकिन एक महीने पहले दिए गए सार्वजनिक बयान में इसे मंजूर कर लिया गया था :[210] 'मैं चाहता हूं कि जो हमारे रास्ते में रोड़ा अटकाना चाहते हैं वे दूसरा रास्ता पकड़ लें। मेरी इच्छा है कि 80 या 90 प्रतिशत भारत के उस नक्शे के अनुसार चले जो कि मेरे मन में है।'

विडंबना साफ नजर आ रही थी। लीग को रियायतें देने की कांग्रेस नीति का उद्देश्य पाकिस्तान बनने से रोकना था। वह इसमें कामयाब नहीं हो सकी। कटे-छंटे रूप में ही सही आखिरकार पाकिस्तान देना पड़ा। वास्तव में इसे सभी रियायतों को समाप्त कर देने वाली रियायत के रूप में देखा गया। उम्मीद थी कि खुश करने से विभाजन रुक जाएगा। लेकिन खुश करने की नीति को समाप्त करने के लिए विभाजन करना पड़ा।[211] उलटाव पूरा हो गया था।

संदर्भ और टिप्पणियां

1 1906 से लकर 1930 के दशक के शुरू तक मुसलिम लीग ने बड़े मुसलिम जमींदारों के हितों का ही प्रतिनिधित्व किया. उसका मुख्य काम मुसलिमों को रियायतें देने के लिए सरकार से याचना करना था. '1906 में अपनी स्थापना के समय से ही लीग भीतरी राजनीतिक गतिविधियों में लगी हुई थी. मुसलिम लीग संगठन में बड़ी जन सभाएं आयोजित करने का रिवाज नहीं था.' खलिक उजम्मां, *पाथवे टु पाकिस्तान*, पृ. 137.

2. 1927 में लीग की कुल सदस्यता 1330 थी. 1931-33 में इसका सालाना खर्चा 3000 रु. था. संभवत. 310 सदस्यों वाली इसकी परिषद के लिए कोरम संख्या 10 थी. दिल्ली से आगे रहने वाले लीगियों ने शायद ही इसमें कभी भाग लिया. साथ ही देखें, *पाकिस्तान : दि फॉर्मेटिव फेज़*, पृ. 176-77; जं एच जैदी द्वारा संपादित *इंट्रोडक्शन टु एम.ए. जिन्नाह - इस्पाहानी कॉरसपोंडेंस 1936-48*, कराची, 1976, पृ. 10-14; जैड.एच जैदी, 'आसपेक्ट्स आफ दि डेवेलपमेंट आफ मुसलिम लीग पालिसी 1937-47', सी एच. फिलिप्स और एम.डी. वेनराइट संपादित *दि पार्टिशन आफ इंडिया : पालिसीज एंड पर्सपेकटिव्ज*, लंदन, 1970, पृ. 246 पर; और बिपन चंद्र, *कम्युनलिज्म इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1984.

3. बंगाल में 117 मुसलिम सीटों में से लीग ने 38 सीटें जीतीं, पंजाब में इसने 84 में से 7 पर चुनाव लड़ा और केवल 2 पर जीत हासिल की. सिंध में इसने संभवत: 33 सीटों में से 3 पर विजय पाई, देखें सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 13.

4. 'कम्युनलिज्म - दि एक्सट्रीम फेज', चंद्रा, *इंडियाज स्ट्रगल फॉर इंडिपेंडेंस* में.

5. राजगोपालाचारी ने इसे 'शरारतपूर्ण विचार' बताया; नेहरू ने इसे पागलपन की योजना बताकर खारिज कर दिया; गांधी ने 'साफ असत्य' बताकर इसका विरोध किया. इन विचारों को उद्धृत करते हुए अनिता इंद्रसिंह ने कहा है कि अंग्रेजों के भीतरी समर्थन से की गई इन 'तीखी प्रतिक्रियाओं' ने 'पाकिस्तान की मांग को आवश्यकता से अधिक महत्व दे दिया', सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पाकिस्तान*, पृ. 58-59

6. एंटनी थॉमस, 'लॉर्ड लिंलिथगो एंड दि लीग : ब्रिटिश पालिसी टुवर्ड्स दि मुसलिम लीग, 1937-42' अप्रकाशित सेमिनार परचा, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

7. कांग्रेस ने 'अगस्त प्रस्ताव' को दृढ़ता के साथ ठुकरा दिया. लीग ने भी इसे यह कहकर नामंजूर कर दिया कि उसे केंद्र में बराबर साझेदारी का प्रस्ताव नहीं किया गया है. लेकिन लीग इस शर्त से खुश थी

कि भविष्य में सभी सांविधानिक चर्चाओं में अल्पसंख्यकों से सलाह ली जाएगी. देखें. मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 9.

8. लिंलिथगो के लिए यह महत्वपूर्ण था कि लीग 'एक ठोस राजनीतिक सत्ता औग मुसलिमों की प्रवक्ता बनी रहे. जिन्नाह ही 'ऐसा व्यक्ति' था जिसने मुसलिमों को एकजुट किया हुआ था और जिसका उन पर कारगर नियंत्रण था. लिंलिथगो से आमरे, 15 मई 1941, *लिंलिथगो कॉरसपोंडेंस*, वॉल्यूम 10, सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन* में उद्धृत, पृ. 66.
9. क्रिप्स द्वारा लाई गई मसौदा घोषणा के अनुसार निचले सदनों के निर्वाचित सदस्य समानुपातिक प्रतिनिधित्व द्वारा संविधान तैयार करने वाली संस्था बनाएंगे. अंग्रेज इस संविधान को स्वीकार कर लेंगे. लेकिन संविधान को स्वीकार न करने वाला प्रांत इससे अलग हो सकता है और अपना संविधान बना सकता है. मसौदा घोषणा, *टी पी*, वाल्यूम 1, पृ. 314-15. मूर का मानना है कि क्रिप्स प्रस्ताव ने 'प्रांतों को संघ से बाहर निकलने और अलग डोमिनियन बनाने का विकल्प देकर पाकिस्तान को सिद्धांत रूप में मान्यता दे दी'. 2 अप्रैल 1942 के कांग्रेस कार्य समिति के संकल्प में 'स्थानीय विकल्प' के प्रावधान की निंदा की गई लेकिन यह साफ कर दिया गया कि वह 'किसी भी क्षेत्रीय इकाई के लोगों की घोषित और सिद्ध इच्छा के खिलाफ उन्हें भारत संघ में रहने के लिए बाध्य नहीं करेगी', मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 54-56. साथ ही देखें आर.जे. मूर, *चर्चिल, क्रिप्स एंड इंडिया, 1939- 1945*, ऑक्सफोर्ड, 1979, पृ. 88 और 145.
10 अप्रैल 1942 के पहले पखवाड़े के लिए यू पी एफ आर, होमपॉल 18/4/42.
11 राजा जी के फार्मूले में उत्तर-पश्चिम और पूर्वी भारत के सटे हुए मुसलिम बहुल जिलों में भारत से अलग होने के बारे में जनमत संग्रह की बात की गई है. यह युद्ध के बाद अंतरिम सरकार में लीग की भागीदारी और स्वतंत्रता के लिए उसके समर्थन के उपरांत ही किया जाना था. राजगोपालाचारी का मानना था कि केंद्र में राष्ट्रीय सरकार गठित करने के लिए जिन्नाह के साथ सहमति जरूरी थी. उन्हें विश्वास था कि जिन्नाह को उसके संगठन में ही हराया जा सकता है. लेकिन अंग्रेजों के उसके समर्थन से यह मुश्किल हो गया. देखें सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 109-10.
12. गांधी से सपरु, 26 फरवरी 1945.
13. जिन्नाह की दलील थी कि केवल मुसलिम यह तय करेंगे कि कोई क्षेत्र भारत से अलग हो या नहीं और जिलों से नहीं सभी छह प्रांतों से पाकिस्तान बनेगा प्रभुता संपन्न पाकिस्तान के भारत के साथ केवल संधि से संबंध होंगे. पाकिस्तान स्वतंत्रता के बाद नहीं बल्कि उससे पहले बने. मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 56.
14. सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन* में उद्धृत, पृ. 112
15. जयकर ने गांधी से ठीक ही कहा कि 'मुसलिम लीग ने आपको देने के बजाए आपसे लिया अधिक है'. एम.आर. जयकर से गांधी, 29 सितंबर 1944, *जयकर पेपर्स*, कौरसपोंडेंस, फाइल 826, एन ए आई.
16. शिमला सम्मेलन और उसके नाकामयाब हो जाने के लिए इस पुस्तक का अध्याय दो देखें.
17. मार्च 1946 में बिहार में चुनाव के बारे में आर.बी. नंदलाल सिन्हा, चुनाव अधिकारी, बिहार की रिपोर्ट, 1946, एन एम एम एल, नई दिल्ली.
18 1946 के पंजाब चुनावों पर बहुत दस्तावेज उपलब्ध हैं. देखें इयान टालबोट, 'दि 1946 पंजाब इलेक्शन्स', *एम ए एस*, वॉल्यूम 14.1, 1980, पृ. 66-69; डेविड गिलमार्टिन, 'रिलीजियस लीडरशिप एंड दि पाकिस्तान मूवमेंट इन दि पंजाब', *एम ए एस*, वॉल्यूम 13.3, 1979, पृ. 485-517; चौधरी, 'दि कांग्रेस ट्राइम्फ इन साउथ-ईस्ट पंजाब', पृ. 92-105; जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 138-51; और सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 128 36.
19. विदेश मंत्री को, 12 अगस्त 1945, *टी पी*, वाल्यूम 6, पृ. 59.
20 चुनाव से ठीक पहले की गतिविधि को देखते हुए जलाल का यह कथन गलत हो जाता है कि लीग के

पास संगठन नहीं था. यदि संगठन में कोई कमी रह जाती थी तो उसे 'इसलाम खतरे में है' का नारा देकर दूर कर दिया जाता था. धार्मिक नेताओं, उलेमाओं, पीरों और सज्जाद नशीनों को लीग के पक्ष में इकट्ठा किया गया और उनका अच्छा प्रभाव भी पड़ा.

21. हारे हुए लेबर उम्मीदवार वैनिंग रिचर्डसन, जो उस समय भारत में था, से एटली, 25 मार्च 1946, मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर* में उद्धृत, पृ. 76. हर तरह का धार्मिक दबाव डाला गया. एम.एन. दास, *पार्टिशन एंड इंडिपेंडेंस आफ इंडिया : इनसाइड स्टोरी आफ दि माउंटबैटन डेज़*, नई दिल्ली 1982 में उद्धृत एक रिपोर्ट के अनुसार गैर लीगियों को अपना मुर्दा दफनाने नहीं दिया गया, पृ. 153. साथ ही देखें जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 147; और मोहम्मद युनुस, *ओ एच टी*, पृ. 392.
22 सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 135.
23 जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 135, 147 और 150.
24. नेहरू से वी.के कृष्णमैनन, सी. 1 नवंबर 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 97.
25 झांसी में भाषण, 2 मार्च 1946, वही, वॉल्यूम 15, पृ. 23.
26 लखनऊ में नेहरू का भाषण, 4 अक्तूबर 1945, वही, वाल्यूम 14, पृ. 211.
27 टीटागढ़ में नेहरू का भाषण, 10 मार्च 1946, वही, वॉल्यूम 15, पृ. 35
28 नेहरू ने बड़े असंतोषजनक तरीके से क्रिप्स को स्पष्ट किया कि जेल में रहने के कारण कांग्रेसियो को लोगों से संपर्क करने का अवसर नहीं मिला. 27 जनवरी 1946, वही, पृ 141.
29 वही
30. पटेल से मौलाना आजाद, 21 दिसंबर 1945, *एस पी सी*, वॉल्यूम 2, पृ. 47.
31 वही.
32 पटेल से आजाद, 2 जनवरी 1946, वही, पृ 52.
33. नेहरू से पटेल, 26 नवंबर 1945, वही, वॉल्यूम 2, पृ. 77.
34. राजेंद्र प्रसाद से पटेल, बगैर तारीख, *राजेंद्र प्रसाद पेपर्स* (इसके बाद आर पी पेपर्स), एफ नं. 7-5/45-6 ए एन ए आई.
35 राजेंद्र प्रसाद से पटेल, 7 नवंबर 1945, वही.
36 मौमिन 1,17,000 रु.
उलेमा कांग्रेस 34,405 रु
मुसलिम कांग्रेस 1,12,370 रु
(सामान्य) 91,437 रु. (उम्मीदवारों द्वारा खर्च किए गए 11,750 रु सहित)
कुल 3,55,248 रु.
वही, कॉलम 4, 3-एन/45-6/47.
37. बगैर तारीख का पत्र, वही, 9-आर/45-6.
38. राजेंद्र प्रसाद को बगैर तारीख का पत्र, वही.
39 काजी अहमद हुसैन साहेब, फुलवारी शरीफ से राजेंद्र प्रसाद, 22 नवंबर 1945, वही, 5 आरपी/पी एस एफ (I) /1945.
40. राजेंद्र प्रसाद से मौलाना आजाद, 19 दिसंबर 1945, वही
41. जलाल के अनुसार सिंध में राष्ट्रवादी मुसलिमों की मदद के लिए बलूचिस्तान से एक दर्जन मुल्लाओं को बुलाया गया, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 166.
42. संभवतः राजेंद्र प्रसाद द्वारा लिखी गई बिहार चुनावों पर रिपोर्ट, *आर पी पेपर्स*, 9 आर/45 6, कॉलम I.
43. देखें गुप्ता संपादित *मिथ एंड रियलिटी* में मुशिरुल हसन का 'नेशनलिस्ट एंड सेपरेटिस्ट ट्रेंड्स इन अलीगढ़, 1915-47'.

44. एस. हक से राजेंद्र प्रसाद, 19 फरवरी 1946, *आर पी पेपर्स*, 9-आर/45-6, कॉलम I
45 युनुस से राजेंद्र प्रसाद, 10 दिसंबर 1945, वही.
46 पटेल से राजेंद्र प्रसाद, 10 नवंबर 1945, वही, 7-एम/45-6.
47. नेहरू से पटेल, 26 नवंबर 1945, *एस पी सी*, वॉल्यूम 2, पृ. 77 के एम मुंशी ने बाद में दावा किया कि वे नेहरू और अन्यों के आशावाद से सहमत नहीं थे जिनका 'विश्वास था कि मुसलिम जनता कांग्रेस के साथ थी और चुनाव में मुसलिम जनता कांग्रेस को वोट देगी मुझे विश्वास था कि ऐसा कुछ नहीं होगा और न ही ऐसा हुआ', *ओ एच टी*, सं 15, एन एम एम एल
48 राजेंद्र प्रसाद से पटेल, *आर पी पेपर्स*, 7 5/45-6
49 पटेल से राजेंद्र प्रसाद, 6 मार्च 1946, वही
50 राजेंद्र प्रसाद से पटेल, 8 मार्च 1946, *आर पी पेपर्स*, 7-5/45-6
51 नेहरू से क्रिप्स, 27 जनवरी 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 141 नवंबर 1945 के शुरू में नेहरू ने वी.के. कृष्णमैनन को सूचित किया था कि कांग्रेस को अच्छी उम्मीदें हैं और अकेले यू पी में 25 राष्ट्रवादी मुसलिम जीतेंगे, सी. 1 नवंबर 1947, वही, पृ. 96.
52 राजेंद्र प्रसाद से पटेल, 8 मार्च 1946, *आर पी पेपर्स*, 7-5/45-6.
53. युनुस से राजेंद्र प्रसाद, 10 दिसंबर 1945, वही, 9 आर/45-6, कॉलम-I.
54 3 फरवरी 1946, जी एम नंदुरकर, संपादित *सरदार्स लेटर, मोस्टली अन नॉन* (इसके बाद *एस एल एम यू*), वाल्यूम I, अहमदाबाद 1977, पृ. 48.
55 पटेल से भीमसेन सच्चर, 20 फरवरी 1936, *एस पी सी*, वॉल्यूम 2, पृ. 305
56 अन्य सुझाव थे : सांप्रदायिक भेदभाव रखने वालों को पार्टी की निर्वाचित सीटों पर आने से रोक लगाई जाए, सेवा केंद्र अथवा कौमी खिदमत मरकज स्थापित करना जिनमें लाइब्रेरी और चिकित्सा क्लिनिक हों, लाइसेंसों, ठेकों, नौकरियों में मुसलिमों का हिस्सा सुनिश्चित करना; राष्ट्रवादी मुसलिमों को सहायता आदि, *ए आई सी सी पेपर्स*, जी-36/1946
57 नेहरू से जिन्नाह, 6 अक्तूबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी सिरीज, वॉल्यूम I, पृ. 173.
58 *पार्लियामेंटरी डिबेट्स* (हंसर्ड), हाउस आफ कॉमन्स, सरकारी रिपोर्ट, वॉल्यूम 420, सं. 130, भारत (कैबिनेट मिशन), स्थगन प्रस्ताव पर बहस, 15 मार्च 1946, कॉलम 1424, *एन एम एम एल* में प्रकाशित वॉल्यूम के रूप में उपलब्ध
59. भारत को कैबिनेट मिशन के बारे में और जानकारी के लिए देखें इस पुस्तक का अध्याय छह; सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 142-78, और मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, अध्याय-2.
60 वाइसरॉय, कैबिनेट शिष्टमंडल और प्रांतों के गवर्नरों की बैठक का रिकार्ड, 29 मार्च 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 41
61. सर एफ बरोस का नोट, बगैर तारीख, सी 1 अप्रैल 1946, वही, पृ 65.
62. सर एफ वाइली का नोट, बगैर तारीख, सी. 1 अप्रैल 1946, वही, पृ 70.
63. वाइसरॉय, कैबिनेट शिष्टमंडल और प्रांतों के गवर्नरों की बैठक का रिकार्ड, 28 अप्रैल 1946, वही, पृ. 44.
64. सर ए क्लो का नोट, 3 अप्रैल 1946, वही, पृ. 44
65. 13 अप्रैल 1946, वही, पृ. 260-61.
66. बयान के पाठ के लिए देखें, वही, पृ. 582-91.
67. देखें इस पुस्तक का अध्याय छह.
68 इस नोट के दो रूप तैयार किए गए एक वाइसरॉय के लिए और दूसरा कैबिनेट शिष्टमंडल के लिए. बाद में वाइसरॉय के आदेश पर इन्हें शिष्टमंडल के सदस्यों को नहीं दिया गया, *टी पी*, वॉल्यूम 7, पृ. 149-51.

69 *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 1. पृ. 195-96.

70 वही.

71. देखें इस पुस्तक का अध्याय छह

72. 2 जून 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 104.

73. नेहरू से क्रिप्स, 27 जनवरी 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 142

74. जगदीश प्रसाद को, 5 जुलाई 1945, *तेजबहादुर सपरु पेपर्स* (इसके बाद *सपरु पेपर्स*), *एन एम एम एल*, एस-1, रॉल -4, पृ. 338.

75. सिंगापुर में प्रेस सम्मेलन, 20 मार्च 1946, वही, वॉल्यूम 15, पृ. 49.

76. *जयकर पेपस* एन ए आइ, 7 अप्रैल 1946, फाइल सं. 866, क्र सं. 35

77. पाकिस्तान के नजरिए से इन घटनाओं के विवरण के लिए निम्नलिखत काम मूल्यवान हैं : सैयद शरीफुद्दीन पीरजादा की *इवोल्यूशन आफ पाकिस्तान*, नई दिल्ली, 1987; जमीलुद्दीन अहमद (संकलनकर्ता) *कायदे आजम एज सीन बाई हिज कंटेपोरेरीज*, लाहौर, 1966; डॉ. शफीक अली खान की दो पुस्तकें, *इकबाल्स कंसेप्ट आफ ए सेपेरेट नॉर्थ वेस्ट मुसलिम स्टेट* (1930 में इलाहाबाद में उसके भाषण की समीक्षा), कराची 1987 और *टू नेशन थ्यरी : एज ए कंसेप्ट, स्ट्रैटेजी एंड आइडियोलोजी*, कराची 1973.

78 सम्मेलन की रिपोर्ट और निम्नलिखत भाषणों के लिए देखें सैयद शरीफुद्दीन पीरजादा संपादित, *फाउंडेशन आफ पाकिस्तान : ऑल इंडिया मुसलिम लीग डॉक्यूमेंट्स*, वाल्यूम 2, 1924 47, 1970, पृ. 509 20.

79. देखें खान, *टू नेशन थ्यरी*, पृ. 60

80. 6 जुलाई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 107 ऑल इंडिया नेशनल लीग (अमरीकी शाखा) ने ब्रिटिश संसद से अपील की कि पिछले युद्ध में जिन मुसलिमों ने ब्रिटेन के लिए अपना खून बहाया उन्हें 'इज्जत के साथ जीने' दिया जाए राष्ट्रपति ट्रूमैन के कार्यालय को दी गई प्रति फाइल 5(I), सेलेक्शन फ्राम हैरी एस. ट्रूमैन लाइब्रेरी, मैनुस्क्रिप्ट सेक्शन, *एन एम एम एल*.

81. संकल्प के पाठ और जिन्नाह के भाषण के लिए देखें पीरजादा, *फाउंडेशन आफ पाकिस्तान*, पृ. 558 पादरियों और सम्मानों को छोड़ने के आह्वान का अच्छा उत्तर मिला. इससे कांग्रेसियों को आश्चर्य हुआ क्योंकि उन्होंने लीगियों की पदवियों मे चिपके रहने के लिए आलोचना की थी. वास्तव में कांग्रेस की शर्त थी कि कोई सदस्य खिताब मंजूर नहीं करेगा. इसे राष्ट्रवादी मुसलिमों के कांग्रेस में शामिल होने के रास्ते में रुकावट समझा जा रहा था. सिंध प्रांत कांग्रेस कमेटी के सचिव आर.के. सिधवा ने आग्रह किया कि यह शर्त हटा दी जाए जिससे कि मुसलिम कांग्रेस में आ सकें इस उदाहरण से जाहिर है कि कांग्रेस नेता मुसलिमों को समझने में कितनी गलती कर रहे थे आर के. सिधवा से आजाद, 1 अगस्त 1945, *आर पी पेपर्स*, एन ए आई, 5-आर पी/पी एस एफ (II)/1945. नेहरू के 10 जुलाई 1946 के बयान के लिए देखें इस पुस्तक का अध्याय तेरह.

82 जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 212-13.

83. कलकत्ता उपद्रवों के बारे में देखें सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 182-87.

84. मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 162.

85. 10 सितंबर 1946 को एक प्रेस वक्तव्य में जिन्नाह ने कहा कि उपद्रव लीग द्वारा घोषित विरोध दिवसों को हुए. इससे सिद्ध होता है कि लीग ने पहल नहीं की : 'हम शांतिपूर्ण विरोध के अपने अधिकार का प्रयोग कर रहे हैं हमने यह गड़बड़ी शुरू नहीं की. यह विरोध के असर को कम करने और मुसलिम लीग को हतोत्साहित करने की संगठित और सोची समझी चाल थी'. ए.एम जैदी संपादित, *इवोल्यूशन आफ मुसलिम पॉलिटिकल थॉट्स इन इंडिया*, वॉल्यूम 6, *फ्रीडम एट लास्ट*, नई दिल्ली, 1979, पृ. 465.

86. प्रार्थना बैठक, नई दिल्ली 28 अगस्त 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 85, पृ. 22.
87. पटेल से शरत बोस, 24 अगस्त 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 177.
88. *हरिजन*, 15 सितंबर 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 3, पृ. 177.
89 नेहरू से कृष्ण मैनन, 5 अक्तूबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 169.
90. पटेल से शरत बोस, 24 अगस्त 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 177.
91 वही, और नेहरू से वावेल, 8 सितंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 156.
92 पटेल से शरत बोस, 24 अगस्त 1946, *एस पी सी*, वाल्यूम 3, पृ. 177
93. गोपाल, *जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी*, वॉल्यूम I, पृ. 340.
94 *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 312-13.
95 नेहरू से वावेल, 28 अगस्त 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 15, पृ. 318.
96. नेहरू से वावेल, 22 अगस्त 1946, वही, पृ. 307-308.
97. गांधी से वावेल, 28 अगस्त 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 85, पृ. 215. वावेल की समझ में यह बात नहीं आई कि गांधी हिंसा के आगे झुकने को हिंसा से बुरा क्यों मानते हैं : 'गांधी ने मेज पर मुक्का मारा और कहा, 'यदि भारत खून में नहाना चाहता है तो यही होगा', 27 अगस्त 1946, *वावेल्स जरनल*.
98. गांधी से एस घोष, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 85, पृ. 215.
99. *हरिजन*, 25 अगस्त 1946.
100. 27 सितंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 49
101 *हरिजन*, 25 अगस्त 1946.
102. *मॉर्निंग न्यूज*, 2 अगस्त 1946, सिंह द्वारा उद्धृत, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 181
103. देखें सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 182-87 और प्रांतों विशेषकर पंजाब, बिहार, सी पी और बरार, दिल्ली, मद्रास, बंगाल, यू.पी., असम, उड़ीसा और सिंध से एफ आर जिसमें 16 अगस्त तक लोगों के जमावड़े और झगड़े के बारे में विस्तार से सूचना दी गई है. होमपॉल 18/8/46.
104 इस पैरा में सभी उद्धरण सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन* से हैं, पृ. 178-88.
105 जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 216-17.
106. देखें सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 190.
107. वावेल से बुरोज, बंगाल गवर्नर, 19 जुलाई 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 87.
108. वावेल से करोए, एन डब्ल्यू एफ पी गवर्नर, 29 जुलाई 1946, वही, पृ. 139.
109 पैथिक लॉरेंस से वावेल, 26 जुलाई 1946, वही, पृ. 124; मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 166 और इस पुस्तक का अध्याय छह .
110. पैथिक लॉरेंस से क्रिप्स, 8 नवंबर 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 14; और मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 174.
111. 1 अगस्त 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 249.
112. और विवरण के लिए देखें सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 195-97. पार्थ चैटर्जी ने 'बंगाल पॉलिटिक्स एंड दि मुसलिम मासेज 1920-47' में कृषि ढांचे के संदर्भ में संप्रदायीकरण पर चर्चा की है, वाल्यूम 20.1, 1982: 25-41.
113. प्रेस को इंटरव्यू, 2 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वाल्यूम 1, पृ. 54.
114. नेहरू से वावेल, 15 अक्तूबर 1946, वही, पृ. 51.
115. पटेल से क्रिप्स, 19 अक्तूबर 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 181-82.

116 वावेल के लिए गृह विभाग का नोट, 25 अक्तूबर 1946, उक्त में ही मुद्रित, पृ. 304
117 पटेल से क्रिप्स, 19 अक्तूबर 1946, वही, पृ. 182
118. 24 अक्तूबर 1946, क्रिप्स से पटेल, वही, 184.
119. पैथिक लॉरेंस से क्रिप्स, 28 अक्तूबर 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ 830.
120 बंगाल गवर्नर से विदेशमंत्री, 17 अक्तूबर 1946, वही, पृ. 745.
121. वही, वाल्यूम 9, पृ 15 16
122. वही, पृ 14.
123 वही, पृ. 13
124 वही, पृ 17
125. 18 नवंबर 1946 वही, पृ 98
126 एम ओ कार्टर, 'ट्रबल इन 1946', *एम ओ कार्टर पेपर्स*, सेंटर फॉर साउथ एशियन स्टडीज, कैंब्रिज, पृ. 10 11, सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन* में उद्धृत, पृ. 196
127. बंगाल के गवर्नर से विदेशमंत्री, 3 दिसंबर 1946, वही, पृ. 250.
128 विदेशमंत्री से वाइसरॉय, 16 दिसंबर 1946, वही, पृ. 80.
129. 25 अक्तूबर 1946, *एस पी सी*, वाल्यूम 3, पृ 303.
130 नेहरू से वावेल, 15 अक्तूबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 51
131 19 अक्तूबर 1946, जैटो, *फ्रीडम एट लास्ट*, पृ 470.
132 सुचेता कृपलानी, *एन अनफिनिस्ड आटोबायोग्राफी*, अहमदाबाद 1978, पृ 43-53
133 *हरिजन* में खुला पत्र, 10 नवंबर 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 86, पृ 81 82
134 प्रेस के साथ इंटरव्यू, 2 दिसंबर 1946, वही, पृ 182
135 गांधी से अगथ हैरिसन, 5 दिसंबर 1946, वही, पृ 196
136 एन के बोस, *माई डेज विद गांधी*, कलकत्ता, 1953, पृ. 96.
137. वही, पृ. 61.
138 वही, पृ 58.
139 गांधी को अपने अपूर्ण ब्रहमचर्य में हिंसा की जड़ें नजर आई, उन्होंने अपने तन को शरीरधारी कॉस्मिक चेतना का वाहक बनाने का निश्चय किया लेकिन उनके प्रयोग हिंसा को रोकने और राजनीतिक घटनाओं के प्रवाह को रोकने के लिए आध्यात्मिक शक्ति नहीं दे सके. भिखु पारेख का मानना है कि यह तो होना ही था क्योंकि किसी के देशवासियों के ऊपर आध्यात्मिक शक्ति जैसी कोई चीज़ नहीं है, गांधी ने अपनी प्रकृति के अनुसार दूसरे लोगों के कृत्यों के लिए खुद को बढ़ा-चढ़ा कर जिम्मेदार बताया. देखें भिखु पारेख, *कोलोनियलिज्म, ट्रेडिशन एंड रिफॉर्म : एन एनालिसिस आफ गांधीज पॉलिटिकल डिस्कोर्स*, नई दिल्ली, 1989, पृ 195-96.
140. कृपलानी, *एन अनफिनिस्ड आटोबायोग्राफी*, पृ 52
141. वही.
142. बोस, *माई डेज विद गांधी*, पृ. 56.
143. वही, पृ. 92.
144. चिटगांव डिविजन के कमिशनर की सहायक सचिव होम(पॉल) विभाग को गोपनीय सरकारी रिपोर्ट, 13 मई 1947, वही के परिशिष्ट के रूप में मुद्रित.
145. कृपलानी, *एन अनफिनिस्ट आटोबायोग्राफी*, पृ. 52.
146 बोस, *माई डेज विद गांधी*, पृ. 140 और 152.
147 वही, पृ 149

148 उन्होंने पटेल को बताया, 'मैं ही जानता हूं कि बिहार जाने के लिए मेरे ऊपर कितना दबाव डाला जा रहा है'. 14 जनवरी और 6 फरवरी 1947. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 86, पृ. क्रमश: 352 और 437.
149. पटेल को, 3 मार्च 1947. वही. वॉल्यूम 87, पृ. 37.
150. वही वॉल्यूम 86, पृ. 127
151. जी.डी. बिड़ला से प्यारे लाल, 18 जनवरी 1947, जी डी. बिड़ला की *बापू : ए यूनीक एसोसिएशन* में, वॉल्यूम 4, बंबई, 1977, पृ. 433. 'इस भाग्यहीन जगह जहां ठहरे हुए पानी में हलचल के कोई संकेत नहीं है' में प्यारे लाल का जोश दो महीने में ठंडा हो गया
152 प्यारे लाल को, 16 दिसंबर 1946, *एस एल एम बी*, वॉल्यूम 1, पृ 233
153 17 दिसंबर 1946, वही, पृ. 225
154 नेहरू से गांधी, 10 फरवरी 1947 और 30 जनवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 110-11 और 36.
155 नेहरू के साथ साक्षात्कार के बारे में माउंटबैटन का नोट, 1 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ 70-72.
156. वही, वॉल्यूम 9, पृ. 301
157. 18 अप्रैल 1947, बोस, *माई डेज विद गांधी*, पृ 210-11.
158. प्रार्थना सभा, नई दिल्ली, 11 जुलाई 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 318.
159. वही.
160 देखें इस पुस्तक का अध्याय छह .
161 20 अक्तूबर 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ 301-302
162 वही
163 4 दिसंबर 1946 को भारत कार्यालय में एक सम्मेलन में नेहरू ने इस भाषण का उल्लेख किया, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 129 .
164 7 फरवरी 1947 की फ्री प्रेस जर्नल रिपोर्ट, पटेल से वावेल के साथ संलग्न, 14 फरवरी 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ 6.
165 देखें सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 209-11
166 9 मार्च 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ 293.
167. 24 फरवरी 1947, वही, पृ. 51.
168 पटेल से वावेल, 26 जनवरी 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 5 7 जनवरी 1947 को पटेल ने गांधी के सामने स्पष्ट किया कि वे 'अंतरिम सरकार मे इस्तीफे की नेहरू की बेकार की धमकियों के क्यों खिलाफ हैं इससे कांग्रेस की प्रतिष्ठा को नुकसान पहुंचता है और सेवाओं का मनोबल गिरता है' *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 86, पृ. 288.
169 पटेल से माउटबैटन का अनुलग्नक, 1 मई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 146.
170 वही.
171. पटेल से माउंटबैटन, 20 अप्रैल 1947, वही, पृ. 23
172 प्रार्थना सभा, 1 मई 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 394
173. देखें जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 224-25.
174. नेहरू से वी.के. कृष्णमैनन, 13 अक्तूबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 521.
175. नेहरू से वावेल, 15 अक्तूबर 1946, वही, पृ. 187
176. देखें आर चट्टोपाध्याय, 'लियाकत अली खान्स बजट आफ 1947-8 : दि ट्रिस्ट विद डैस्टिनी', *सोशल साइंटिस्ट*, 16.6 व 16.7, जून-जुलाई 1988 : 77-89

177. नेहरू से कृष्णमैनन, 17 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 541.
178. 11 अगस्त 1947, दिल्ली, जी एम नंदूरकर संपादित, *सरदार पटेल : इन ट्यून विद दि मिलियन्स*, वॉल्यूम 1, अहमदाबाद, 1975, पृ. 4.
179 लखनऊ में भाषण, 19 अक्तूबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वाल्यूम 4, पृ. 171. एच.एम. पटेल का मानना है कि विवाद के बावजूद एक निश्चित संतुलन पैदा कर लिया गया था जिससे रोजमर्रा का काम बगैर किसी रुकावट के चलता रहता था. उनके विचार से सामाजिक और विकास संबंधी नजरिए को लेकर संगीन और जबर्दस्त मतभेद थे : 'पुरानी कैबिनेट के मुसलिम लीग सदस्यों ने हर कदम पर रोड़े अटकाए. उन्होंने देश को बगैर किसी रुकावट के चलाना असंभव बना दिया. देश का जो हिस्सा अलग हो जाना चाहता था उसे अलग होने देने और शेष देश का प्रशासन अपने आदर्शों के अनुसार चलाने का निर्णय कांग्रेस ने अंततः ले ही लिया. देश के पुनर्निर्माण की सभी योजनाओं में बाधा पैदा करने वाले रोजाना के संघर्ष का यही एकमात्र इलाज था'. वह संयुक्त सचिव था और उसने कैबिनेट के सचिव के रूप में काम किया, *ओ एच टी*, एन एम एम एल और इंटरव्यू, आनंद 1985, आई सी एस एस आर प्रोजेक्ट, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.
180. 6 दिसंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 174; और नेहरू से वावेल, 23 अक्तूबर 1946, वही, पृ 194.
181. 10 अक्तूबर 1946, *एस पी सी*, 3, पृ. 302.
182. नेहरू से वी के कृष्णमैनन, 13 अक्तूबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 521
183 संविधान सभा की बैठक बुलाए जाने को जिन्नाह ने कांग्रेस को खुश करने की कार्रवाई बताया और अपनी पार्टी सदस्यों को इसमें भाग लेने से रोका 21 नवंबर 1946 का बयान, नई दिल्ली, जैदी, *फ्रीडम एट लास्ट* में उद्धृत, पृ. 510.
184. पटेल से क्रिप्स, 15 दिसंबर 1946, *एम पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 314.
185. वही
186. पटेल से अमृत कौर, 28 नवंबर 1946, वही, पृ. 290.
187. वही.
188 पटेल से क्रिप्स, 15 दिसंबर 1946, वही, पृ. 313-14.
189. पटेल ने गांधी को लिखा : 'जवाहरलाल इंगलैंड से लौट आए हैं. मैं नहीं गया अगर वे भी जाने से मना कर देते तो बेहतर होता. लेकिन उन्होंने मेरी सलाह नहीं मानी. वे एक तरह से हारे हुए व्यक्ति के रूप में लौटे हैं'. 9 दिसंबर 1946, नंदूरकर, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 1, पृ. 221.
190. सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 207.
191 जैदी, *फ्रीडम एट लास्ट*.
192. 5 जनवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 34.
193. सच्चिदानंद सिन्हा को, 8 फरवरी 1947, *आर पी पेपर्स*, 5-डी/46-7.
194 एटली के बयान के पाठ के लिए देखें *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 773-75. इस वॉल्यूम में अध्याय सात देखें.
195. नेहरू से कृष्णमैनन, 5 फरवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 46.
196. 9 मार्च 1947, वही, पृ. 69.
197. नेहरू से कृष्णमैनन, 17 मई 1947, वही, पृ. 167.
198. पटेल और नेहरू के साथ वाइसरॉय का इंटरव्यू, 17 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 870-71.
199. नेहरू से कृष्णमैनन, 17 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 167.
200. 12 और 13 जून 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 84, पृ. 324 और 328.

201. उनके विचार संविधान सभा के बारे में 3 और 17 दिसंबर 1946 को लिखे गए उनके दो नोटों से लिए गए हैं, वही, वॉल्यूम 86, पृ. 184-85 और 235.

202. एरिक मीविले को, 25 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ 178 जिन्नाह के बारे में सपरु की टिप्पणी और भी नाटकीय थी. 'वह आलिवर ट्विस्ट की तरह है उसे जितना अधिक दो उसकी मांग उतनी ही अधिक बढ़ती जाती है.' सपरु के मित्र ईश्वरदत्त ने डिकन्स की उपमा को आगे बढ़ाते हुए लिखा : 'यदि डिकन्स का मिकाबर हमेशा किसी चीज की इंतजार में बैठा रहता था तो एक दूसरे संदर्भ में मि. फिलिफ गुएडेला के एक चुटकुले को उद्धृत करके हम कह सकते हैं कि जिन्नाह उलटे मिकाबर की तरह किसी बात से इनकार करने के लिए इंतजार करता रहता था' सपरु से जगदीश प्रसाद, 5 जुलाई 1945 और के ईश्वरदत्त से सपरु, 15 मई 1946, *सपरु पेपर्स* क्रमशः रॉल 1, पृ. 338 और रॉल 4, डी-117.

203. 24 मार्च 1947 को नेहरू के साथ इंटरव्यू का माउंटबैटन का रिकार्ड, *टी पी*, वाल्यूम 10 पृ. 11-13.

204. नेहरू से अकबर हैदरी, 24 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 173 जिन्नाह से सपरु विषय पर पी सुब्बरायन ने 21 सितंबर 1942 को नेहरू को उद्धृत किया : 'जवाहरलाल ने जो कहा है वह बिलकुल सही है' उन्होंने कहा जिन्नाह बहुत टेढ़ा आदमी है. वह क्षितिज की तरह है. उसके जितने नजदीक जाओ, वह उतना ही दूर जाता है'. *सपरु पेपर्स*, एस-1, रॉल 6, एस 419.

205. लुइस फिशर को, 17 जुलाई 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 85, पृ. 514.

206. बी आर नंदा, *महात्मा गांधी : ए बायोग्राफी*, नई दिल्ली, 1968, पृ. 503.

207. 9 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 103-104.

208. बलदेव सिंह को, 25 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 174.

209 नेहरू से अकबर हैदरी, 24 मई 1947, वही, पृ. 173.

210 जलियांवाला बाग दिवस बैठक, नई दिल्ली, 13 अप्रैल 1947, वही,पृ. 89. देखें इस पुस्तक का अध्याय बारह.

211. पटेल ने यह विचार एन वी गाडगिल के सामने व्यक्त किया : 'मुसलिम लीग को खुश करने का अब सवाल नहीं पैदा होता. वे जो चाहते थे हमने उनको दे दिया है. अब हमें नए सिरे से शुरुआत करनी चाहिए. सभी तरह की स्थितियों से निपटने के लिए अब हमारे पास मजबूत केंद्रीय सरकार और मजबूत केंद्रीय सेना होनी चाहिए. हमें अधिप्रतिनिधित्व वाले सांप्रदायिक मतदाताओं से बचना चाहिए.' 23 जून 1947, नंदुर्कर, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 2, पृ. 230.

अध्याय दस

हिंदू सांप्रदायिकता के दो चेहरे : बहुसंख्या की प्रतिक्रिया, अल्पसंख्या का भय

सांप्रदायिकता का समाधान निरर्थक था। फासीवाद के नजदीक होने के कारण इसके अधिक विनाशकारी परिणाम हुए। यदि जिन्नाह का कार्यक्षेत्र बातचीत की टेबल तक सीमित रहता था तो खुश करने की कारवाई केवल दुर्भाग्यपूर्ण होती। उसकी लड़ाई गलियों तक फैल गई थी। ऐसी स्थिति में खुश करने की कार्रवाई का मतलब था फासीवादी तरीकों को बढ़ावा देना। बेरोकटोक सीधी कार्रवाई के प्रत्येक दौर ने अगले दौर की नींव रखी। शीघ्र ही सीधी कार्रवाई केवल लीग का हथियार नहीं रह गया। हिंदू सांप्रदायिकता भयंकर तेजी के साथ बढ़ने लगी। डर, बलप्रयोग और आतंक के जो तरीके लीग द्वारा अपनाए जाते थे वह भी इन्हें अपनाने लगी। अप्रैल 1947 में नेहरू ने कहा :[1]

> हिंसा और वहशीपन का जो नजारा पिछले आठ महीनों में भारत में देखने को मिला है वह 'सीधी कार्रवाई' के नाम पर लीग की सोची समझी नीति का परिणाम है। इस हिंसा से दूसरों में भी हिंसा की प्रवृत्ति आई है। मुसलिम लीग की युक्तियां ब्राउन शर्ट और ब्लैक शर्ट धारी नाजियों की प्रारंभिक युक्तियों से बहुत मेल खाती हैं। जैसे जैसे इन युक्तियों की कामयाबी में विश्वास बढ़ता जाता है उनका प्रयोग और भी मुस्तैदी से होने लगता है। पंजाब में वे मंत्रिमंडल को गिराने में कामयाब हो गए। इसके तुरंत बाद भयंकर परिणाम सामने आए...। मेरे विचार से यह दिखा देना अनिवार्य है कि इन तरीकों को कामयाब नहीं होने दिया जा सकता। खुश करने की नीति से बढ़ावा मिलता है तथा जो लोग इन तरीकों के खिलाफ हैं और इनसे पीड़ित होते हैं उनको तकलीफ होती है। जब उन्हें लगता है कि सरकार भेदभाव कर रही है तो वे दुखी होते हैं और कानून को अपने हाथों में ले लेते हैं।

नेहरू के ये विचार अक्तूबर 1946 के आखिर में बिहार में हुए भयंकर सांप्रदायिक दंगों के अनुभव और समझ पर आधारित थे। गुस्सा अगस्त 1946 में कलकत्ता में सांप्रदायिक दंगों और इनमें अनेक बिहारियों की हत्या के समय से ही सुगबुगा रहा था। बिहार के हिंदुओं में बदले और नफरत की भावना तेजी से फैल रही थी। उनके मन में यह बात घर कर रही थी कि हिंदुओं को अपनी मदद खुद करनी होगी। जैसी कि नेहरू ने चेतावनी दी थी 'वे कानून को अपने हाथों में ले रहे थे।'[2]



वसंत में जो फूल खिलते हैं, इससे ट्रूला का कोई लेना देना नहीं है

स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 3 मई 1947

बहुसंख्या की प्रतिक्रिया

उपद्रव सारण जिले के छपरा में 25 अक्तूबर 1946 को शुरू हुए और देहाती इलाकों में फैल गए। पटना, गया और मुंगेर जिलों के हिंदू किसानों ने भी दंगे शुरू कर दिए और मुसलमानों के गांव के गांव तबाह कर दिए गए। मृत लोगों की संख्या संबंधी अनुमानों में बहुत अंतर था। वाइसरॉय बंगाल के लीग नेता नाजिमुद्दीन द्वारा की गई 10 से 20 हजार मृतकों की संख्या को स्वीकार करना चाहता था। अंत में यह संख्या 5 से 10 हजार स्वीकार की गई। डी आई जी, सी आई डी, बिहार ने कुल संख्या 2870[3], नेहरू ने 4300-4700[4] और बिहार सरकार ने 213 हिंदुओं सहित 5246 बताई है।[5] उपद्रव अप्रत्याशित नहीं थे। मुख्य सचिव ने जिलाधीशों और पुलिस अधीक्षकों को 21 अगस्त 1946 को एक गुप्त सरक्यूलर भेजा था जिसमें चेतावनी दी गई थी कि बंगाल से आए शरणार्थियों द्वारा सुनाई गई ज्यादतियों की कहानियों से सांप्रदायिक दंगे भड़क सकते हैं। साथ ही कहा गया कि यदि दंगे भड़के तो उन्हें पूरी ताकत के साथ काबू में किया जाए।[6] बिहार के गवर्नर ने 26 अक्तूबर 1946 को वाइसरॉय को सूचित किया कि समुदाय एक दूसरे के दुश्मन बने हुए हैं। अंत में उसने कहा कि 'यदि अगले कुछ महीने बगैर गंभीर दंगों और खून खराबे के निकल जाएं तो हमारा बहुत सौभाग्य होगा।'[7] उसके पास खबर नहीं पहुंची थी लेकिन उपद्रव पहले ही शुरू हो चुके थे। शुरू में भीड़ अपना काम बेरोकटोक करती रही। यह गड़बड़ी अचानक शुरू होने, इसके दूर-दूर तक फैले होने, राजधानी में कुछ मंत्रियों और गवर्नर के अनुपस्थित होने तथा ब्रिटिश अधिकारियों की उदासीनता के कारण हुआ।[8] लेकिन सरकार के हरकत में आने के बाद उसने दंगों को दबाने की पूरी कोशिश की और दो सप्ताह के भीतर स्थिति नियंत्रण में आ गई।

नेहरू ने बात बिलकुल साफ कर दी। वे अंतरिम सरकार के लीग सदस्यों के साथ कलकत्ता में थे और पूर्वी बंगाल में समझदारी और शांति के लिए अपील कर रहे थे। तभी उन्हें बिहार में दंगों की खबर मिली। वे बिहार के लिए दौड़े तथा शांति बहाल होने तक वहीं रहने का निश्चय किया। उनकी कार्रवाई और भाषण में गांधी की स्पष्ट झलक थी :[9]

> जब तक आशा की किरण नजर नहीं आएगी मैं बिहार से नहीं जाऊंगा ... जहां तक मेरा सवाल है मैं इस धरती पर कहीं भी फिर कभी सांप्रदायिक हत्याकांड नहीं होने दूंगा। सांप्रदायिक दंगों को रोकने के लिए मैं बिहार के हर गांव में जाऊंगा ...
>
> अगर कोई व्यक्ति अपने हमवतन को मारना चाहता है उसे पहले जवाहरलाल की हत्या करनी होगी। इसके बाद उसके शव को रौंदकर वह अपनी खून की प्यास को बुझा सकता है।

हिंदू भीड़ के कार्य की उन्होंने सख्त शब्दों में निंदा की। पटना में उनको सुनने के लिए जमा भीड़ में उन्होंने कहा : 'आपको यह समझ लेना चाहिए कि आपका व्यवहार पशु

जैसा है जहां अपने जीवन की रक्षा बाकी सब चीजों से ज्यादा महत्वपूर्ण बन जाती है। लेकिन नहीं, आप तो जानवरों से भी बदतर हैं क्योंकि जानवर भीड़ के रूप में इकट्ठे होकर हमला तो नहीं करते।'[10] निजी तौर पर, एक दोस्त को भेजे गए पत्र में उन्होंने स्वीकार किया है कि भोले-भाले किसानों के व्यवहार से वे दंग रह गए हैं 'यहां अनहोनी बात हो गई है, ऐसी बात जिस पर मैं कुछ दिन पहले विश्वास नहीं करता था। हिंदू किसानों की भीड़ ने वहशीपन और अमानवीयता की हद पार कर दी है।... बिहार के सीधे, भोले-भाले और अजीज किसान एक साथ इस तरह से पागल हो सकते हैं यह सोचकर मूल्य व्यवस्था के ऊपर मेरा पूरा विश्वास डगमगा जाता है।'[11] सार्वजनिक तौर पर उन्होंने अपनी निराशा और दु:ख को प्रकट नहीं किया। वे जहां भी गए वहां उन्होंने स्पष्ट कर दिया कि उपद्रवों को शांत करने के लिए पर्याप्त ताकत का प्रयोग किया जाएगा : 'मैं आपको खबरदार करता हूं कि यदि आप इन हत्याओं, आगजनी और लूटपाट को बंद नहीं करते तो पुलिस आएगी और आपको गोली मारेगी ... इस खून खराबे को रोकने के लिए सरकार मशीनगनों, बमों और अपनी पूरी ताकत का प्रयोग करेगी।'[12]

नेहरू द्वारा बम गिराने की धमकी की रिपोर्ट पर अपनी सहज प्रतिक्रिया में भारत के लिए विदेशमंत्री ने कहा : 'मैं मानता हूं कि मुझे बहुत आश्चर्य हुआ।'[13] नेहरू ने भी निजी तौर पर अपनी प्रतिक्रिया पर आश्चर्य व्यक्त किया। जब नेहरू को यह पता चला कि आगे बढ़ती हुई भीड़ पर सेना की फायरिंग से 400 लोग मर गए लगते हैं तो उन्हें 'लगा कि संतुलन थोड़ा ठीक हो गया ... सामान्य तौर पर ऐसी स्थिति से मैं भयभीत हो जाता। लेकिन क्या आप मुझ पर विश्वास करेंगे ? यह सुनकर मुझे बहुत राहत मिली। हम परिस्थितियों के अनुसार बदलते रहते हैं। नए अनुभवों और भावनाओं की तह पुराने अनुभवों और भावनाओं पर चढ़ती रहती हैं।'[14] अंग्रेजों और मुसलमानों को नेहरू की प्रतिक्रिया की प्रचंडता पर आश्चर्य हुआ लेकिन उन्होंने इसका अनुमोदन किया।[15]

कुछ हिंदुओं का मानना था कि उन्होंने उनकी ज्यादा कटु निंदा की है। पटना में उन्हें 'वापस जाओ' और 'जवाहरलाल मुर्दाबाद' के नारों का सामना करना पड़ा।[16] बिहार के एक कांग्रेसी एच.बी. चंद्रा को दु:ख था कि बिहारी किसानों की निंदा की जा रही है और वह भी 'केवल लीग मुसलमानों और विदेशी मन वाली सेवाओं या ब्रिटिश हितों द्वारा ही नहीं बल्कि उन चुने हुए प्रतिनिधियों के द्वारा भी जो लोकतंत्र के नाम पर जनमंच के रूप में काम करने का दम भरते हैं।' उसका मानना था कि 'नोआखाली के दंगों की कांग्रेस द्वारा निंदा को अनपढ़ किसानों ने लड़ाई का संकेत मान लिया और जैसे ही उन्हें अपनी गलती का अहसास हुआ उन्होंने अपनी लड़ाई रोक दी।' अत: उनको हिंदू या राष्ट्र विरोधी कहना गलत है।[17] ऐसा लगता है कि नेहरू के रुख पर हिंदुओं के उत्तेजित होने के बारे में जी.डी. बिड़ला ने पटेल को लिखा। इसी बारे में पटेल का पत्र और तार प्राप्त हुए। पटेल ने 'हिंदू' आलोचना के मामले में नेहरू का मुस्तैदी से समर्थन किया। इस संदर्भ में उन्होंने

जी.डी. बिड़ला को लिखा :[18]

> मुझे मालूम है कि बिहार में पंडित जवाहरलाल नेहरू के भाषणों पर पूरे देश में विशेषकर बिहार में हिंदू बहुत उत्तेजित और नाराज हैं। हमारे लोग बहुत संकुचित दृष्टि से चीजों को देख रहे हैं। आज माहौल ही कुछ ऐसा है कि लोग अपना संतुलन जल्दी खो बैठते हैं। मेरे विचार से कुछ असावधानीपूर्ण कार्यों को छोड़कर बिहार में कानून और व्यवस्था बहाल करने के लिए कड़े प्रयासों द्वारा उन्होंने राष्ट्रवाद और कांग्रेस की बहुत बड़ी सेवा की है।

लेकिन पटेल ने यह महसूस किया कि घटनाओं को बढ़ा-चढ़ाकर रखने और कांग्रेस मंत्रिमंडल की आलोचना की लीग की प्रवृत्ति को देखते हुए हिंदुओं की कड़ी निंदा के रुख के नकारात्मक पहलू भी थे।[19]

इन ज्यादतियों से जुड़े लोगों के वहशीपन की तो हमें निंदा करनी चाहिए लेकिन बिहार के लोगों और उनके मंत्रिमंडल की लीग द्वारा हिंसक और अशिष्ट आलोचना का रास्ता खोलकर हम बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। बंगाल में जो कुछ हुआ और आज भी जो हो रहा है उसके खिलाफ इनमें से किसी ने भी मुंह नहीं खोला है। हम घबराकर किसी अविवेकपूर्ण कार्य की ओर धकेले जाने के प्रति सावधान रहें।

पटेल के इस रुख के पीछे व्यावहारिकता, साथी और पार्टी के प्रति निष्ठा, सद्भावनाओं के अनावश्यक प्रदर्शन के प्रति अधीरता काम कर रही है। नेहरू की भूमिका का जो असर हुआ इसकी उन्होंने प्रशंसा की लेकिन उन्हें डर था कि इससे लीग की स्थिति मजबूत बना दी गई है।

पटेल का विचार था कि विशेष रूप से लीग की आलोचना और केंद्र के हस्तक्षेप के खिलाफ कांग्रेस मंत्रिमंडल का समर्थन किया जाना चाहिए। पूर्वी बंगाल में उन्होंने केंद्र के हस्तक्षेप की मांग की लेकिन बिहार के मामले में उन्होंने इसका पुरजोर विरोध किया। जब वाइसरॉय ने स्थिति की रिपोर्ट देने के लिए अपने निजी उप सचिव, स्टॉक को बिहार भेजा तो पटेल ने इसका विरोध किया और पूछा कि स्टॉक को पूर्वी बंगाल क्यों नहीं भेजा।[20] जब स्कॉट ने अपनी रिपोर्ट में मंत्रिमंडल की कड़ी आलोचना की तो पटेल ने बिहार के मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिन्हा से आग्रह किया कि 'आपकी प्रांतीय स्वायत्तता में जो कोई भी हस्तक्षेप करे आप उसका कड़ा विरोध करें।'[21] इसे दोहरा मानदंड कहा जा सकता है। लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वाइसरॉय और उसका स्टाफ लीग समर्थक थे। नोआखाली में हुई मौतों के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर दिए गए अनुमानों को कम करने की वाइसरॉय ने पूरी कोशिश की लेकिन बिहार के बारे में 10 से 20 हजार मौतों के बारे में नाजिमुद्दीन द्वारा दिए गए आंकड़ों को स्वीकार करने के लिए वह तैयार था। बिहार और उत्तर प्रदेश में हत्याओं के बारे में उसने कहा कि 'भारत में ब्रिटिश राज के शुरू होने से

लेकर अब तक जो हुआ यह उससे कहीं ज्यादा है।'[22]

राहत और पुनर्वास के कार्य में भी लीग के साथ किसी प्रकार के सहयोग को उन्होंने नामंजूर कर दिया। उन्होंने मुख्यमंत्री से कहा कि वह स्वयंसेवकों की गतिविधियों पर नजर रखे और राहत कार्यों पर अपना नियंत्रण रखे।[23] उनके विचार से 'यदि कोई परेशानी है तो वह मुसलमान पीड़ितों को राहत और उनके पुनर्वास को लेकर है क्योंकि मुसलिम लीग ने अड़ियल रुख अपना रखा है और उसने राहत कार्यों को अपने हाथों में ले लिया है।'[24] नेहरू भी इस बात से सहमत थे कि बिहार लीग की दिलचस्पी शरणार्थियों की सहायता करने में कम और राजनीतिक लाभ उठाने में ज्यादा है।'[25] लीग नेताओं ने मांग की कि पूरी राहत सामग्री उनके मार्फत भेजी जाए तथा उनको और उनके सेवकों को शिविरों का पर्यवेक्षण करने दिया जाए। सरकार ने लीग को प्रमुख राहत एजेंसी स्वीकार कर लिया और इसके स्वयंसेवकों को सरकारी शिविरों को चलाने[26] तथा सरकारी सप्लाई को अपने पास रखने की अनुमति दे दी। उसने उनके लिए भारी मात्रा में 3,553 गैलन पैट्रोल मंजूर कर दिया,[27] लीग द्वारा चलाए जा रहे निजी शिविरों के लिए डाक्टर और दवाइयां दे दी[28] और शिविर स्थानों पर पूरा नियंत्रण दे दिया।

बंगाल में हिंदू स्वयंसेवकों को हतोत्साहित किया गया। निरंजन सिंह और आई एन ए के उनके साथियों को यह कहकर लौटा दिया कि वे पहले मुसलमानों की सेवा करके अपनी सदाशयता साबित करें। यहां तक कि गांधी पर भी नोआखाली को छोड़ने के लिए दबाव डाला गया। पूर्वी बंगाल के शरणार्थी शिविरों में बहुत भीड़ थी। वहां सफाई नहीं थी और ईंधन, कपड़ों, खाने, चिकित्सा सहायता की हालत बहुत खराब थी। सुचेता कृपलानी ने नोआखाली में राहत कार्य को संगठित करने की कोशिश की। उन्होंने लिखा है कि 'पूर्वी बंगाल में जो कुछ हुआ उसे देखते हुए बिहार सरकार द्वारा शरणार्थियों को दी गई हर तरह की सहायता से मुझे बहुत राहत मिली है।'[29] अपने खराब कार्य के बावजूद बंगाल के मुख्यमंत्री सुहरावर्दी ने लीग के राहत प्रयासों में बिहार सरकार द्वारा बाधा पहुंचाने का आरोप लगाया।[30]

बिहार और नोआखाली के बारे में क्रमश: कांग्रेस और लीग नेताओं के विरोधी रुखों का सपरु ने निम्नानुसार सारांश प्रस्तुत किया है :[31]

> कांग्रेस और लीग नेताओं ने बिहारियों के गलत आचरण की आम तौर पर निंदा की है तथा किसी और ने नहीं बल्कि जवाहरलाल और बिहार के कांग्रेस मंत्रियों ने पूरी स्थिति पर नियंत्रण कायम किया है। नोआखाली और पूर्वी बंगाल में उपद्रव अभी भी जारी हैं। पूर्वी बंगाल और नोआखाली में पीड़ितों के लिए जिन्नाह ने सहानुभूति का एक शब्द तक नहीं कहा है। यह बात हिंदुओं की आत्मा में लोहे की सलाख की तरह घुस गई है।

बिहार में मंत्रिमंडल और कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने उपद्रवों को मुस्तैदी से दबाया और बड़े पैमाने पर राहत कार्य चलाया। इसके बावजूद लीग कांग्रेस को बदनाम कर सकी क्योंकि कांग्रेसजन तथा मंत्रिमंडल के लोग सीधे मुसलमानों के पास नहीं गए।[32] लीग ने उपद्रवों से पूरा राजनीतिक लाभ उठाया और सांप्रदायिक उद्देश्यों को

पूरा करने के लिए इनका उपयोग किया। बंगाल में शरणार्थियों के आने के कार्य को लीग ने यदि संगठित रूप में नहीं चलाया तो प्रभावित जरूर किया।[33] बंगाल में मुफ्त जमीन और मकानों का वायदा किया गया और शाहबाद जैसे उपद्रवों से अप्रभावित जिलों से भी लोग अपना घर छोड़कर चले गए। नवंबर के तीसरे सप्ताह से लेकर दिसंबर 1946 के आखिर तक 60000 शरणार्थी बिहार छोड़कर चले गए।[34] जब लीग के स्वयंसेवक लोगों से अपने घर न लौटने के लिए कह रहे थे, उस समय भी पटेल ने सुझाव दिया था कि केवल जिलाधीशों को उनके प्रवेश के लिए मना करने के अधिकार होने चाहिए।[35] लेकिन लीग का काम बेरोकटोक चलता रहा।

पटेल कांग्रेस मंत्रिमंडल द्वारा की गई राहत पहल की आलोचना या इस दिशा में और कुछ करने के सुझाव से बहुत बेचैन थे। नोआखाली में राहत कार्य के लिए पटेल ने एन एस गिल के लिए निधियों और आई एन ए के 100 लोगों का बंदोबस्त किया था।[36] गांधी इस बात से सहमत हो गए थे कि गिल और उनका दल अपनी सदाशयता कायम करने के लिए पहले बिहार जाए और मुसलमानों की सेवा करे। पटेल ने इसका अनुमोदन नहीं किया 'मुझे मालूम नहीं कि बिहार में आपके स्वयंसेवक क्या काम कर सकते हैं। वहां कोई उपद्रव नहीं हो रहे हैं... मेरे विचार से वहां आपको आदमियों को भेजना ऊर्जा और पैसे की बरबादी है।'[37] उन्होंने गांधी को बताया कि बिहार सरकार हर महीने 50 लाख रु. राहत पर खर्च कर रही है। अपने गांवों को वापस लौटने में मुसलमानों की हिचकिचाहट के बारे में उन्होंने उदासीन होकर लिखा : 'उन्हें अपने घर पर जो राशन मिलता था उससे दुगुना या तिगुना उन्हें यहां मिल रहा है। उन्हें घर लौटने की क्या जरूरत है ?'[38]

क्या बिहार के मामले से कांग्रेस का हिंदू रूप में सांप्रदायीकरण हो गया ? लीगी ही नहीं दूसरे लोग भी इस मत को स्वीकार करेंगे। वाइसरॉय ने बड़े स्पष्ट रूप में यह विचार व्यक्त किया कि कांग्रेस का नीचे का तबका यू.पी. और बिहार में हत्याओं के लिए जिम्मेदार था : 'वे निस्संदेह संगठित थे। कांग्रेस के समर्थकों ने उन्हें पूरी तरह से संगठित कर दिया था।'[39] बिहार के एक कांग्रेसजन एच.बी. चंद्रा ने राजेंद्र प्रसाद से शिकायत की कि हिंदू किसान भीड़ का बेदर्दी से दमन एकदम गलत है क्योंकि ये लोग नोआखाली के बाद कांग्रेस की चेतावनी को ही कार्यान्वित कर रहे हैं।[40] नेहरू के विचार से हिंदू महासभा के प्रति झुकाव रखने वाले कुछ कांग्रेसी ही कृत्य में शामिल हुए। दूसरों ने 'बहुत भयंकर स्थिति में उत्कृष्ट'[41] कार्य किया। उपद्रवों के बारे में एक नोट में गिरिधर सिंह ने लिखा है कि मोकामा और सुलतानगंज में कांग्रेसियों ने उपद्रवों को टाला।[42] सी आई डी की एक

रिपोर्ट में ऐसे बहुत से उदाहरण दिए गए हैं जहां हिंदुओं, विशेषकर कांग्रेस कार्यकर्ताओं ने अपनी जान जोखिम में डालकर भीड़ को वापस जाने के लिए कहा।[43] कांग्रेस मंत्रिमंडल के बारे में बिहार के गवर्नर हफ डो ने ये विचार व्यक्त किए : 'कुल मिलाकर मेरे मंत्रिमंडल को उपद्रव शुरू होने के समय से ही मुस्तैदी से काम करने का श्रेय दिया जाना चाहिए। सेना के अधिकारी इस बात से सहमत होंगे कि स्थिति को यथासंभव कम से कम समय में अपने नियंत्रण में कर लेने के उनके कार्य में मंत्रिमंडल ने कोई बाधा नहीं पहुंचाई।'[44]

बिहार ने कांग्रेस को हिंदू सांप्रदायिकता का खतरनाक चेहरा दिखा दिया। यह व्यापक पैमाने पर हुए उपद्रवों में विशेष रूप से देखने को मिला। कांग्रेस ने भी यह दिखा दिया कि यदि उसे ऐसे घातक संकट का सामना करना पड़ा तो वह उसे समाप्त करने के लिए अपने पास उपलब्ध हर हथियार का उपयोग करेगी।

गांधी का रास्ता हमेशा की तरह दूसरों से जुदा था। बिहार दंगों के समाचार से उन्हें बहुत दु:ख हुआ। भारत के सत्याग्रह का पहला अनुभव उन्हें बिहार के चंपारण में मिला था। उनका मन उन दिनों में चला गया। नेहरू को अपना एक पत्र उन्होंने इन शब्दों के साथ खत्म किया : 'क्या यही ब्रजकिशोर प्रसाद का बिहार है ?'[45] नोआखाली के रास्ते से जब वे कलकत्ता पहुंचे तो उनके सामने एक उलझन आ गई। क्या वे मुसलमानों की पुकार सुनकर नोआखाली के बजाए बिहार चले जाएं। उन्होंने अपने मूल कार्यक्रम पर कायम रहने का निश्चय किया : 'बिहार को भी मेरी जरूरत है लेकिन मुझे नोआखाली के अपने कार्यक्रम को रद्द नहीं करना चाहिए।'[46] लेकिन बिहार ने उन्हें कार्रवाई के लिए बाध्य कर दिया। गांधी ने उपवास पर जाने का निश्चय किया। उन्होंने नेहरू को लिखा :[47]

> बिहार की घटनाओं से मुझे बहुत दु:ख पहुंचा है। मुझे अपना कर्तव्य साफ नजर आ रहा है... भीतर से यह चीत्कार सुनाई दिया, 'आप यह हत्याकांड क्यों देखें। यदि धूप की तरह साफ आपके शब्दों पर कोई ध्यान नहीं देता तो आपका काम पूरा हो चुका है। आप मर क्यों नहीं जाते हैं ?' इसकी वजह से मैं उपवास के लिए बाध्य हो गया हूं। मैं एक बयान देना चाहता हूं कि यदि बिहार और दूसरे प्रांतों में हत्याकांड नहीं रुका तो मैं उपवास द्वारा अपने प्राण दे दूंगा।

उन्होंने आश्रम में अपने अनुयायियों को लिखा कि वे उनके साथ उपवास न करें।[48] गांधी दंगों की जांच के पक्ष में थे। उन्होंने नोआखाली से दंगों की जांच कराने के लिए दबाव डाला। पटेल का तर्क था कि यह लीग के हाथों में खेलना होगा। लेकिन उन्होंने इसकी परवाह नहीं की। वे सचाई जानना चाहते थे, फिर उससे चाहे लीग को लाभ हो या कांग्रेस को नुकसान। उनके विचार से जांच कराने के मुकाबले जांच न कराने से लीग को ज्यादा लाभ होगा। 'मेरा यह पक्का विचार है कि यदि जांच आयोग नियुक्त नहीं किया गया तो लीग की रिपोर्ट को सही मान लिया जाएगा।'[49] इसके अलावा नेहरू की टिप्पणियों ने

उन्हें बिहार सरकार पर दबाव डालने के लिए प्रेरित किया। नेहरू ने लिखा था कि बिहार मंत्रिमंडल खुली जांच के पक्ष में नहीं है।[50] उनकी आगे टिप्पणी उत्साहवर्धक नहीं थी : 'इस दिशा में सरकार बहुत निष्क्रिय है। वे बहुत धीरे काम करते हैं ... मुसलमान जनसंख्या में बहुत ज्यादा भय और आशंका है ... हिंदुओं में कोई दु:ख या पछतावा नहीं है।'[51] बंगाल में लीग के समर्थकों द्वारा बिहार जाने के लिए गांधी पर दबाव कम नहीं हुआ। लेकिन गांधी झुके नहीं। उन्होंने प्रतीक्षा करने का निश्चय किया। उन्होंने सैयद महमूद और निरंजन सिंह गिल से लीग की रिपोर्ट की जांच करने और आम स्थिति के बारे में पता लगाने के लिए कहा।[52]

13 फरवरी 1947 को बिहार सरकार ने जांच आयोग की नियुक्ति के फैसले की घोषणा की। उनके द्वारा चौकसी यहीं समाप्त हो जानी चाहिए थी। लेकिन लगता है कि 16-17 फरवरी 1947 को लिखे गए सैयद महमूद के एक लंबे पत्र को पढ़कर उन्होंने बिहार जाने का निश्चय कर लिया।[53] सैयद महमूद ने लिखा कि उपद्रवों के चार महीने बाद भी शुबहा और खौफ खत्म नहीं हुआ है। इसे खत्म करना बहुत बड़ी चुनौती है। केवल राहत कार्य काफी नहीं है। यह कार्य मौलाना आजाद की मुख्यमंत्री को सलाह के बावजूद उन्हें नहीं सौंपा गया है। बेचैनी पैदा करने वाली और भी बातें कही गई थीं। महमूद का मानना था कि चाहे वे कांग्रेसी हों या अन्य, नोआखाली के लिए बदला लेने वाले लोगों ने दंगे कराए। नोआखाली का बदला लेने की बात करने वाले जुलूस को बेरोकटोक जाने देना एलान-ए-जंग है। महमूद की आखिरी गंभीर टिप्पणी यह थी कि पाकिस्तान अब राजनीतिक आदर्श से आगे बढ़कर शरणस्थली बन गया है। महमूद चाहता था कि हिंदुओं में पश्चाताप और मुसलमानों में विश्वास पैदा करने के लिए गांधी बिहार आएं। 2 मार्च 1947 को गांधी नोआखाली से बिहार के लिए चल पड़े।

जांच आयोग की नियुक्ति के बारे में यदि गांधी का कांग्रेसजनों से विरोध था तो दंगों के कारणों के बारे में नेहरू से उनका मतभेद था। नवंबर 1946 के शुरू में बिहार पहुंचने के शीघ्र बाद नेहरू ने पटेल को लिखा : 'यहां यह सब देखकर यही कहा जा सकता है कि लोगों पर पागलपन सवार हो गया है।'[54] इसे उन्होंने 'जन विद्रोह' और अलग-थलग घटना बताया। गांधी को इसमें एक प्रवृत्ति नजर आई : 'बिहार में 1942 और उससे पहले से ही संगठित हिंसा हो रही है। गुंडों के लिए हमारी कमजोरी 1942 में अपनी चरमसीमा पर पहुंच गई।'[55] 12 मार्च 1947 में पटना में एक प्रार्थना सभा में उन्होंने इस कनेक्शन को बिलकुल साफ कर दिया। गांधी ने कहा कि उनके विचार से 1942 में लोग अहिंसा के सीधे मार्ग से कई बार अलग हटे। शायद इसकी वजह से ही वे रास्ते से भटक गए। उन्होंने सामान्य कानून हीनता का उदाहरण भी दिया जो लोगों में घर कर गई है। यहां तक कि वे बगैर टिकट यात्रा करते हैं, गैर कानूनी ढंग से चैन खींचते हैं और फिजूल की बदले की भावना दिखाकर जमींदारों की फसलों या उसकी चीजों को जलाते हैं।[56] दंगों के दमन को

लेकर भी उनका नेहरू से मतभेद था। उन्हें यह घटनाओं से निपटने का विदेशी तरीका लगा। उनके अनुसार ऐसी स्थिति में सरकार छोड़ देना सबसे बढ़िया रास्ता है।[57] लेकिन इसे कोई समर्थन नहीं मिला।

उनके बिहार में आने से स्थानीय कांग्रेसजनों विशेषकर मंत्रियों के साथ मतभेद के नए क्षेत्र सामने आए।[58] गांधी प्रभावित गांवों को पैदल जाना चाहते थे लेकिन मृदुला साराभाई ने उनसे इसके लिए मना किया। मंत्री भी यही चाहते थे। गांधी चाहते थे कि यदि मुसलमान अपने घरों से जाना चाहें तो सरकार उनके मकानों को खरीदे। मंत्रियों ने इस आधार पर इसका विरोध किया कि इससे मुसलमानों के कुछ जगह जमावड़े बन जाएंगे। गांधी का विचार था कि सैयद महमूद राहत कार्यों का प्रभारी हो लेकिन मंत्री इससे सहमत नहीं थे। साथ ही मंत्रियों का यह मानना था कि गांधी द्वारा कांग्रेसजनों और मंत्रियों के खिलाफ शिकायतें सुने जाने से उनकी स्थिति कमजोर हुई है।

गांधी के बिहार से दिल्ली रवाना होने तक भी जांच आयोग का सवाल सुलझाया नहीं जा सका। गांधी जब पटना में थे उस समय मुख्यमंत्री उनके सामने बार-बार यही दोहराता रहा कि लीग जांच का राजनीतिक लाभ उठाएगी। लेकिन गांधी अपने निश्चय पर कायम रहे। बाद के महीनों में उनके मन में इस बात के लिए बहुत नाराजगी रही कि घोषणा कर देने के बाद भी जांच आयोग नियुक्त नहीं किया गया।[59] आजादी मिलने के बाद बिहार सरकार ने जांच के अपने निर्णय को इस आधार पर वापस ले लिया कि इससे पुराने जख्म ताजा हो जाएंगे। आशा की एक किरण जरूर थी : 'हां, एक बात जरूर है और वह यह कि हिंदू मुझे अपना सेवक मानते हैं और मुझ पर विश्वास करते हैं। इसी वजह से बिहार में हिंदू शांत हुए। अभी भी ये लोग कितना पश्चाताप कर रहे हैं।[60]

अल्पसंख्यकों के रूप में हिंदू : पंजाब और बंगाल के विभाजन की मांग

लीग द्वारा शुरू की गई सांप्रदायिक हिंसा की एक प्रतिक्रिया हिंदुओं द्वारा जवाबी हिंसा के रूप में हुई। बिहार ने इस विकल्प का परीक्षण देखा। लेकिन मुसलमान बहुसंख्या वाले प्रांतों में अल्पसंख्यक इस विकल्प का आसानी से प्रयोग नहीं कर सकते थे। वे हस्तक्षेप और अपनी रक्षा के लिए केंद्र सरकार की ओर देख रहे थे। जब केंद्र सरकार ने यह नहीं किया तो पहले हिचकिचाहट के साथ और बाद में कर्कश तरीके से उन्होंने अपने प्रांतों के हिंदू और मुसलमान बहुसंख्यक क्षेत्रों के विभाजन की मांग उठाई।

बंगाल में सुहरावर्दी के नेतृत्व वाले लीग मंत्रिमंडल से लोगों का विश्वास खत्म हो गया। बहुत लोगों का मानना था कि अगस्त 1946 के कलकत्ता दंगों में उसकी मिलीभगत थी। कुछ लोग नोआखाली में हिंदुओं की तकलीफों के प्रति उसकी बेरुखी के कारण उसका विश्वास नहीं करना चाहते थे।[61] मार्च-अप्रैल 1947 तक जनमत भारत के अंग के रूप में अलग पश्चिम बंगाल राज्य के पक्ष में हो गया।[62] कांग्रेस नेताओं के पास ऐसे ज्ञापनों

(जिन पर सैकड़ों ग्रामवासियों के हस्ताक्षर या अंगूठा निशानी होते थे) के अंबार लग गए जिनमें लीग के शासन में न रहने की घोषणा की गई होती थी।[63] बंगलादेशीय कायस्थ सभा, असम बंगाल इंडियन टी प्लांटर्स एसोसिएशन, कलकत्ता मोटर डीलर्स एसोसिएशन, बार एसोसिएशन आफ बारिसाल, खुलना और कुस्तिया, निगम आयुक्तों और यहां तक कि कालीघाट काली मंदिर का पुरोहित हस्ताक्षर करने वालों में शामिल थे। बंगाल के बाहर कानपुर, नागपुर और बनारस के बंगालियों ने मांग का समर्थन किया। जदुनाथ सरकार, मेघनाद साहा, सुनीति कुमार चटर्जी, कालिदास नाग और आर.टी. मजुमदार जैसे विद्वान सार्वजनिक रूप में बंगाल के विभाजन के पक्ष में हो गए।[64] भारतीय विधानसभा के सात और राज्य परिषद के चार बंगाली सदस्यों ने सवाल किया 'आजादी के साथ रहना है या गुलामी के साथ'। उन्होंने भारत संघ के भीतर पश्चिम और उत्तर बंगाल के रूप में अलग स्वायत्त प्रांत का विकल्प चुना।[65] कांग्रेस पर आगे आने और बंगाल के विभाजन की मांग को स्वीकार करने के लिए पूरा जोर डाला गया।

1947 में फरवरी के अंत और मार्च के शुरू में हुई घटनाओं के कारण कांग्रेस ने पंजाब के विभाजन की मांग का समर्थन करने का निर्णय लिया। लीग के नागरिक अवज्ञा आंदोलन के कारण खिज्र हयात खान के संयुक्त मंत्रिमंडल का पतन हो गया और 'वहां हत्या और हिंसा का दौर' शुरू हो गया। कांग्रेस कार्य समिति की 8 मार्च 1947 को बैठक हुई जिसमें यह मांग की गई कि भारत के विभाजन की स्थिति में पंजाब का भी विभाजन किया जाए। अगले दिन नेहरू ने संकल्प को वावेल के सामने स्पष्ट किया : 'यदि कुछ दिखाने की जरूरत थी तो हाल की घटनाओं ने यह दिखा दिया है कि जिस तरह से दूसरों पर बल प्रयोग नहीं किया जा सकता उसी तरह से गैर मुसलिम अल्पसंख्यकों पर भी बल प्रयोग नहीं किया जा सकता।[66] अगले कुछ सप्ताहों में रावलपिंडी के इलाकों में दंगे हुए और अलग प्रांत के लिए गैर-मुसलिम अल्पसंख्यकों का संकल्प और भी पक्का हो गया। मार्च के आखिर में पंजाब के गवर्नर ने इस बात की पुष्टि कर दी कि सिख पंजाब का विभाजन चाहते हैं।[67] 2 अप्रैल 1947 को इंडियन सेंट्रल लेजिस्लेचर के पंजाब के सदस्यों ने नेहरू को एक अभ्यावेदन में तर्क दिया कि अब विभाजन ही एक मात्र हल रह गया है।[68] अंतरिम सरकार में रक्षामंत्री बलदेव सिंह ने 27 अप्रैल 1947 को वाइसरॉय को लिखे गए एक पत्र में यही रुख अपनाया : 'हिंदू और सिख अंततः इस पक्के निश्चय पर पहुंचे हैं कि पंजाब का तुरंत विभाजन ही एकमात्र समाधान है।'[69]

कांग्रेस कार्यसमिति के 8 मार्च 1947 के संकल्प में बंगाल के विभाजन की बात अप्रत्यक्ष रूप से कही गई थी। 9 अप्रैल 1947 को बंगाल कांग्रेस ने इसकी साफ तौर पर मांग की। बंगाल राज्य कांग्रेस समिति की कार्यकारिणी ने दो क्षेत्रीय मंत्रिमंडल बनाने का आग्रह किया और मांग की कि मौजूदा लीग सरकार को सत्ता हस्तांतरण की स्थिति में जो क्षेत्र भारत में रहना चाहे उनका एक अलग प्रांत बनाया जाए।[70]

कांग्रेस नेताओं ने यह समझ लिया कि दो प्रांतों का विभाजन चाहे कितना भी अवांछनीय हो लेकिन इसके सिवाय अब कोई चारा नहीं रह गया है। वे लीग पर अंकुश नहीं लगा सके, हिंसा नहीं रोक सके और बंगाल तथा पंजाब में अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान नहीं कर सके। नेहरू ने एक ब्रिटिश पत्रकार एन.एन. ब्रेल्सफोर्ड को स्पष्ट किया कि 'हाल की घटनाओं के बाद' प्रांतों का विभाजन 'अपरिहार्य हो गया लगता है।'[71] उन्होंने ग्वालियर में ऑल इंडिया स्टेट्स पिपुल्स कॉन्फ्रेंस सत्र में प्रांतों के विभाजन की मांग करने के कांग्रेस के निर्णय की पैरवी की : 'उसने ऐसा इसलिए किया क्योंकि और काई रास्ता नहीं बचा था। यहां सवाल वांछनीयता का नहीं वास्तविकताओं से मुकाबला करने का था।'[72]

राज्यों के विभाजन की कांग्रेस की मांग का एक रणनीतिक पहलू भी था। नेहरू ने नोट किया कि महामहिम की सरकार के 20 फरवरी 1947 के बयान में पंजाब और बंगाल प्रांतों को यह विकल्प दिया था कि यदि वे चाहें तो संविधान सभा से अलग रह सकते हैं। नेहरू ने तार्किक तरीके से इस विकल्प का अधिकार इन प्रांतों के हिस्सों को दे दिया और यह निष्कर्ष निकाला कि पश्चिम बंगाल और पूर्वी पंजाब का संविधान सभा में प्रतिनिधित्व हुआ। अत: वे भारत का हिस्सा होंगे। उन्होंने इस संभावित स्थिति को गांधी के सम्मुख स्पष्ट किया।[73]

इसके फलस्वरूप पहले भारत संघ बंगाल, पंजाब और सिंध के अलावा पूरे भारत के लिए बनेगा। हां, संघ संविधान सब पर लागू होगा या कहें कि सबके लिए खुला होगा; लेकिन ये प्रांत इसे न मानने का फैसला कर सकते हैं : यदि ऐसा हुआ तो दूसरा सवाल यह पैदा होता है कि बंगाल और पंजाब के वे हिस्से जिनका संविधान सभा में पूरा प्रतिनिधित्व है (पश्चिम बंगाल और दक्षिणी पंजाब) संघ का हिस्सा होने चाहिए। इसका मतलब हुआ पंजाब और बंगाल का विभाजन।

इन प्रांतों के विभाजन का मतलब यह हुआ कि वास्तव में पाकिस्तान का बहुत सीमित क्षेत्र होगा। कांग्रेस नेताओं का मानना था कि 'जो कटा-छंटा पाकिस्तान होगा उसे लेने का कोई लाभ नहीं होगा।'[74] ऐसे बेकार अंत को देखते हुए जिन्नाह इसका नाम लेना बंद कर देगा। वह पाकिस्तान से कम सौदे के लिए मान जाएगा। अपने स्वभाव के प्रतिकूल नेहरू ने तर्क दिया कि कड़ी सौदेबाजी के लिए समय आ गया है : 'मेरा और कार्य समिति के अधिकांश सदस्यों का यह मानना है कि कड़ी सौदेबाजी का समय अब आ गया है। हमें तत्काल विभाजन के लिए जोर डालना चाहिए जिससे कि सचाई सामने आ सके। जिन्नाह की पाकिस्तान की मांग का यही सही जवाब है।'[75]

माउंटबैटन अपने कारणों से देश की एकता चाहता था। उसकी उम्मीद दो प्रांतों के विभाजन की मांग पर टिकी हुई थी : 'पाकिस्तान की सीमाएं बताना मुश्किल था। इसलिए मुसलिम लीग इज्जत के साथ एक भारत के लिए सहमत हो सकती थी।'[76] पाकिस्तान की बात को व्यर्थ कर देने के लिए विभाजन की मांग का एक लाभ यह होगा कि अधिक

तर्कसंगत समाधान का रास्ता खुलेगा।[77] लेकिन इससे जिन्नाह को एकता के रास्ते पर लाने के पहले प्रयासों की तरह ये प्रयास भी विफल हो गए।[78] धौंस में आने के बजाए जिन्नाह ने उलटी धमकी दी कि यदि कांग्रेस ने पंजाब और बंगाल के विभाजन की मांग की तो लीग दूसरे प्रांतों के विभाजन की मांग करेगी। उसने सलाह दी कि 'ब्रिटिश सरकार इसका समर्थन न करे ... क्योंकि इस रास्ते पर चलने से और कई प्रांतों का विभाजन होगा और आज जो हालात हैं भविष्य में उससे भयंकर हालात होंगे।'[79] जिन्नाह ने पंजाब और बंगाल के विभाजन की कांग्रेस की मांग को हिकारत के साथ नामंजूर कर दिया। उसने बड़े साफ शब्दों में माउंटबैटन को बताया 'यह डरकर पाकिस्तान की मांग से उसे पीछे हटाने के लिए चाल है। वह इतनी आसानी से नहीं डरेगा। यदि मैं कांग्रेस की चाल में फंस गया तो मुझे बहुत खेद होगा।'[80] माउंटबैटन ने जिन्नाह को यह समझाने की पूरी कोशिश की कि उसे किसी चाल में फंसाने की कोशिश नहीं की जा रही है। शुरू से ही मुसीबत में फंसने वाले छोटे पाकिस्तान के बजाए कैबिनेट मिशन योजना के तहत स्वायत्तता जिन्नाह और मुसलमानों के लिए बेहतर होगी।[81] लेकिन जिन्नाह अड़ा रहा। शायद उसका विचार था कि छोटा देश अधिक व्यवहार्य होगा।[82] माउंटबैटन ने स्वीकार किया : 'जिन्नाह को रास्ते पर लाने के लिए उसने सब तरह के तर्क दिए लेकिन ऐसा लगता है कि तर्क की बातों का उस पर कोई असर नहीं होता। कुछ भी कहो, वह पाकिस्तान की बात से पीछे नहीं हटेगा।'[83] भले ही यह नासमझी की बात लगे लेकिन उसके साथी मुसलमान 'इस बात के लिए तैयार थे कि कैबिनेट मिशन योजना की धारा बी और सी के अनुसार उन्हें छोटे केंद्र वाला पूरा पाकिस्तान भले ही न मिले, वे प्रारंभिक पूरी आजादी वाला छोटा पाकिस्तान ले लेंगे।'[84]

जब जिन्नाह नहीं झुका तो आशाएं पंजाब और बंगाल में उसके मुसलमान अनुयायियों पर केंद्रित हो गईं। ऐसा विश्वास था कि दो प्रांतों के विभाजन की घोषणा होते ही मुसलमान लीग के खिलाफ बगावत कर देंगे और प्रांत की एकता बनाए रखने के लिए उसे छोड़ देंगे। एक ही दिन 12 अप्रैल 1947 को वाइसरॉय के साथ अलग-अलग इंटरव्यू में पटेल और आजाद ने इस संभावना का खाका खींचा।[85] नेहरू ने पंजाब के गवर्नर जैनकिन्स से पूछा कि उसके विचार से यदि लीग के सदस्यों को यह पता चला कि पाकिस्तान बनाने के लिए पंजाब का विभाजन जरूरी है तो क्या उनमें फूट पैदा हो जाएगी तो उसने बताया कि यह संभव है लेकिन यह कितनी गहरी होगी कहा नहीं जा सकता।[86] यह आशा भी पूरी नहीं हुई। लीग जिन्नाह के साथ रही।

अब चालबाजी की लीग की बारी थी। जैसे-जैसे कांग्रेस ने प्रांतों के विभाजन की आवश्यकता पर बल दिया, मुसलिम लीग बंगाली और पंजाबी लोगों तथा उनकी संस्कृतियों की अलंघ्य एकता कि बात जोर-शोर से करने लगी। माउंटबैटन ने स्वीकार किया कि वह जिन्नाह के रुख से दंग रह गया : 'उसने मुझसे बंगाल और पंजाब की एकता को नष्ट न करने की अपील की। इनकी सामान्य राष्ट्रीय विशेषताएं, सामान्य इतिहास और सामान्य

जीवन पद्धतियां हैं। यहां हिंदू कांग्रेस के सदस्य होने के बजाए खुद को बंगाली या पंजाबी अधिक मानते हैं।'[87] लेकिन उसने जल्दी ही खुद को संभाल लिया और पूछा : 'मैंने कहा कि मैं आपके तर्क से प्रभावित हुआ हूं; मैं भारत में कहीं पर भी विभाजन के बारे में अपने विचारों को बदलूंगा। पंजाब और बंगाल के भीतर विभाजन के लिए सहमत न होने के वास्ते उसने जो तर्क दिया था वह पूरे भारत के लिए ज्यादा लागू होता था।'[88] इससे वह 'बूढ़ा भला आदमी बिलकुल पागल हो गया', लेकिन इसके बावजूद टस से मस नहीं हुआ।

इस स्पष्ट विडंबना, जिसमें कांग्रेस विभाजन के लिए और लीग एकता के लिए कह रही थी पर बाद में और टिप्पणियां हुईं।[89] नेहरू ने आसफ अली को बताया : 'पहले की स्थिति में अजीब परिवर्तन हुआ है। सुहरावर्दी यह कहता घूम रहा है कि बंगाल एक राष्ट्र है। इसी प्रकार शौकत हयात खान और फिरोजखान नून घोषणा कर रहे हैं कि पंजाबी एक हैं और उन्हें कोई अलग नहीं कर सकता। जाहिर है कि दो राष्ट्रों का सिद्धांत बंगाल और पंजाब में काम नहीं कर रहा है।'[90] राजेंद्र प्रसाद जैसे लोगों ने यह मान लिया था कि और कोई विकल्प नहीं बचा है। वे भी इस अजीब स्थिति पर टिप्पणी किए बगैर नहीं रह सके : 'समय की कैसी विडंबना है कि जो लोग विभाजन के खिलाफ लड़े और जिन्होंने इसे समाप्त करवाया, वे लोग ही अब यह मांग कर रहे कि 'इसका विभाजन किया जाए और यह मांग उसी तरह से मानी जाए जिस प्रकार इसको समाप्त करने की मांग मानी गई थी।'[91] पाला बदलने की इस स्थिति से राष्ट्रवादी बंगालियों और कांग्रेसियों को बहुत तकलीफ हुई लेकिन ब्रिटिश अधिकारियों को बहुत मजा आया। बंगाल के गवर्नर ने टिप्पणी की, 'कर्जन अपनी कब्र में हंस रहा होगा।' यह कम शब्दों में कितनी सही बात है।[92]

कांग्रेस की स्थिति में यह अंतर्विरोध और भी पैना हो गया जब बंगाल के कुछ लीगियों ने यह ठोस प्रस्ताव रखा कि बंगाल पाकिस्तान या भारत से अलग राष्ट्रमंडल से जुड़ा स्वतंत्र देश हो। यह कोई नया विचार नहीं था। जिन सालों में लीग बंगाल में तेजी से फैली उस समय उनका अनकहा प्रचार संयुक्त स्वतंत्र बंगाल के लिए होता था। उत्तर पश्चिम भारत में मुसलिम बहुसंख्या वाले क्षेत्रों के साथ उसके संघ का क्या स्वरूप होगा यह कभी नहीं बताया गया। बहुत बाद में अप्रैल 1946 में लीग ने राष्ट्रीय स्तर पर पाकिस्तान देश के निर्माण की बात कही। पाकिस्तान के बारे में 1940 के लाहौर संकल्प सहित सभी संदर्भों में मुसलिम बहुसंख्यक क्षेत्रों की बात कही गई थी।[93] बंगाल के लीगी काफी बाद तक अपने प्रांत के लिए इसके अर्थ को नहीं समझ सके। बंगाल के विभाजन की मांग के स्पष्ट रूप ले लेने के बाद बंगाल के लीगियों ने प्रांत की एकता बनाए रखने के विकल्पों का पता लगाना शुरू किया। यह साफ था कि हिंदू अल्पसंख्यक पाकिस्तान में रहने का समर्थन नहीं करेंगे। इसलिए स्वतंत्र देश के प्रस्ताव पर विचार शुरू हुआ। लेकिन इसके लिए विचार से आगे बढ़कर योजना जनवरी 1947 में बनी जब शरत बोस और अबुल हाशिम ने विचार

विमर्श किया। सुहरावर्दी द्वारा इस मामले को उठा लिए जाने के बाद घटना चक्र तेजी से घूमना शुरू हुआ।[94]

सुहरावर्दी को बंगाल के गवर्नर बुरोज से समर्थन प्राप्त करने में ज्यादा दिक्कत नहीं हुई। बुरोज को डर था कि बंगाल के विभाजन से सांप्रदायिक युद्ध छिड़ जाएगा और पूर्वी पाकिस्तान प्रांत बन जाएगा जो ग्रामीण गंदी बस्ती से बेहतर नहीं होगा। शीघ्र ही बुरोज को वाइसरॉय का समर्थन प्राप्त हो गया। उसने अपने कारणों से इस पहल का स्वागत किया। माउंटबैटन प्रांतों के विभाजन की बात जिन्नाह के गले नहीं उतार सका। वह किसी ऐसी चीज की तलाश में था जो कांग्रेस को संतुष्ट कर सके और लीग भी उससे सहमत हो। सिंध के गवर्नर मडी ने कहा था कि सिंध और पंजाब के पश्चिमी आधे हिस्से से युक्त पाकिस्तान 'आर्थिक दृष्टि से पूरी तरह से व्यवहार्य होगा।'[95] बंगाल के गवर्नर के सचिव टाइसन का विचार था कि सुहरावर्दी 'विभाजन के बजाए हिंदुस्तान को पसंद करेगा।'[96] माउंटबैटन ने संभावित योजना सुझाने के लिए इन दोनों बयानों को जोड़ा। उसने बहुत उम्मीद बांध ली : 'इस हल से सभी खुश हो सकते हैं। श्री जिन्नाह को व्यवहार्य पाकिस्तान मिल जाएगा जिसमें बोझ समझा जाने वाला एन डब्ल्यू एफ पी नहीं होगा। कांग्रेस को शेष भारत मिल जाएगा।'[97] कांग्रेस नेतृत्व माउंटबैटन की इस उम्मीद से सहमत नहीं था कि 'सुहरावर्दी अपने भाग्य को कांग्रेस के साथ जोड़ लेगा।'[98] किरणशंकर राय ऐसा अकेला बड़ा कांग्रेसी नेता था जिसे माउंटबैटन अविभक्त बंगाल के विचार के लिए सहमत करा सका।[99] शरत बोस इसके लिए पहले से ही तैयार था। दूसरों को शक था कि स्वतंत्र बंगाल पाकिस्तान के लिए तैयारी मात्र है। इस पहल के लिए जिन्नाह के समर्थन से शक और भी बढ़ गया। उसने वाइसरॉय को बताया : 'मैं बहुत खुश हूं। कलकत्ता के बगैर बंगाल का क्या लाभ; इसलिए उन्हें अविभक्त और स्वतंत्र रहने दो। मुझे विश्वास है कि उनके साथ हमारी मित्रता रहेगी।'[100]

नेहरू ने इस विचार के प्रति अपना विरोध काफी पहले वाइसरॉय को जता दिया था। उन्होंने स्पष्ट किया कि बंगाली हिंदू स्वतंत्र बंगाल के खिलाफ थे क्योंकि 'बाद में इसे किसी न किसी तरह पाकिस्तान से जोड़ने का रास्ता निकाल लिया जाएगा।'[101] उनके विचार से 'स्वतंत्रता के लिए सहमत होने वाले गैर- मुसलिमों की संख्या एक प्रतिशत से अधिक नहीं होगी।[102] प्रेस इंटरव्यू में उनके बयान को शासकीय कांग्रेस बयान के रूप में लिया गया : 'मौजूदा परिस्थितियों में बंगाल की स्वतंत्रता का मतलब है बंगाल पर मुसलिम लीग का वर्चस्व। इस मामले में रुचि रखने वाले लोग भले ही कुछ न करें लेकिन व्यवहार में इसका यही मतलब है कि पूरा बंगाल पाकिस्तान के हाथों में चला जाएगा।'[103] पटेल ने अपनी बात और साफ तौर पर रखी : 'प्रभुता संपन्न स्वतंत्र बंगाल गणतंत्र की बात नासमझ और सीधे लोगों को मुसलिम लीग के जाल में फंसाने का एक बहाना है। यदि गैर-मुसलिम जनसंख्या को जीवित रहना है तो बंगाल का विभाजन करना ही होगा।'[104]

नेहरू और पटेल की इस जबर्दस्त प्रतिक्रिया से जाहिर होता है कि अधिकांश बंगाली हिंदू कितनी तेजी के साथ प्रभुता संपन्न बंगाल योजना और प्रांत के विभाजन मांग कर रहे थे। यह माना जाने लगा कि प्रभुता संपन्न अविभक्त बंगाल का मतलब है हमेशा के लिए मुसलिम वर्चस्व। जब इसकी संभावना होने लगी तो तत्काल विभाजन की जोरदार मांग उठने लगी। बंगाल नेशनल चैंबर आफ कामर्स की 25 अप्रैल 1947 को हुई बैठक में बंगाल के विभाजन के बारे में संकल्प पेश करते समय नलिनी रंजन सरकार के भाषण से उनका रुख साफ हो जाता है :[105]

> हम जिस भावना के साथ विभाजन की मांग कर रहे हैं वह लीग की पाकिस्तान की मांग के पीछे की भावना से अलग है। बंगाल की एकता और अखंडता में हमारा दृढ़ विश्वास रहा है। यह दु:ख की बात है कि हमें प्रांत के विभाजन के लिए जोर देना पड़ रहा है। कोई बेहतर विकल्प न होने के कारण हम इसके लिए मजबूर हो गए हैं। यह हमारी पसंद नहीं है। मुसलिम लीग द्वारा भारत संघ के बाहर बंगाल में प्रभुता संपन्न पाकिस्तान बनाने की मांग से पैदा कठिन स्थिति के कारण हम यह कर रहे हैं।

सुहरावर्दी द्वारा व्यक्त भावनाओं को उन्होंने नामंजूर कर दिया : 'पिछले कुछ सालों में बंगाल में जो कुछ हुआ है उसे देखते हुए हिंदू संस्कृति और एकता के लिए भावनाएं और चिंताएं वास्तविक नहीं लगती हैं।' उन्होंने स्वतंत्र बंगाल को व्यर्थ बताते हुए यह आशंका जताई कि वह ग्रामीण अर्थव्यवस्था बन जाएगा और आत्मनिर्भर नहीं बन पाएगा।' प्रख्यात वैज्ञानिक जगदीश चंद्र बोस की विधवा लेडी अबला बोस ने राजेंद्र प्रसाद को अपने पत्र में यही भावनाएं व्यक्त की :[106]

> अपने प्यारे बंगाल के विभाजन के बारे में सोचकर हमारा दिल टुकड़े-टुकड़े हो जाता है। लेकिन और कोई विकल्प नहीं है। यह निश्चित है कि हम लीग सरकार के अधीन नहीं रह सकते। बंगाल में कांग्रेस विचारधारा के लोगों को यह देखकर दु:ख होता है कि हमें बंगाल कांग्रेस से नहीं, श्यामा प्रसाद मुखर्जी से सही नेतृत्व मिल रहा है। कुछ कांग्रेसी कांग्रेस के द्रोही शरत बोस से मिल गए हैं ... हमारी सारी आशाएं दिल्ली में नेताओं पर टिकी हैं। बंगाली नेताओं पर से हमारा विश्वास उठ गया है।

राजेंद्र प्रसाद द्वारा पूरे समर्थन के निजी आश्वासन से कांग्रेस की स्थिति का भी संकेत मिलता है :[107]

> हमारे बारे में आप निश्चिंत रहें। मुसलिम क्षेत्र से इन इलाकों के विभाजन के लिए हम भरसक कोशिश करेंगे ... मेरा एक निश्चित विचार है। सरकार में दूसरे साथियों के भी निश्चित विचार हैं। बंगाल की भावनाओं का मैंने अंदाजा लगाया था। अब रोजाना इस बात की पुष्टि हो रही है कि मेरा अंदाजा ठीक था। मुझे पता चला है कि

शरत चंद्र बोस अलग-थलग पड़ गए हैं। बंगाल में उनके विचारों का कोई समर्थन नहीं करता।

राजेंद्र प्रसाद स्थिति को बढ़ा-चढ़ा कर नहीं बता रहे थे। सचाई यही थी कि बंगाल के अधिकांश हिंदुओं को शरत बोस और के.एस. राय का योजना को समर्थन पसंद नहीं था। उनमें से कुछ ने पटेल को लिखकर यह मांग की थी कि वे बंगाल को इन देशद्रोहियों के चंगुल से छुडाएं।[108] पटेल ने जवाब दिया कि वे जनभावनाओं को महसूस कराएं। इसके बाद 'ये नेता लोगों की आवाज को अनसुना करने की हिम्मत नहीं करेंगे।'[109] उन्होंने अपनी ओर से भरोसा दिलाया कि वे कांग्रेस के अधिकृत मत को लागू करवाएंगे। उन्हें विश्वास था कि के.एस. राय रास्ते पर आ जाएगा। उन्होंने उसको एक सख्त पत्र लिखा : 'सभी कांग्रेसियों के लिए अपने निजी विचारों को छोड़ना और कांग्रेस के अधिकृत मत के पीछे एकजुट होना अनिवार्य है। विचारों की वैयक्तिक अभिव्यक्ति उस नीति के अनुरूप होनी चाहिए और कोई विरोधी मत नहीं होना चाहिए। मुझे विश्वास है कि एक अनुशासित कांग्रेसी की तरह आप इस सलाह को समझेंगे।'[110]

शरत बोस के लिए पटेल ने डांटने का नहीं बल्कि अपील का स्वर अपनाया शायद उनके साथ लंबे समय से चले आ रहे मतभेदों के कारण :[111] 'आने वाली पीढ़ियों को प्रभावित करने वाले महत्वपूर्ण मामलों को समझौते से निपटाया जाना चाहिए। इस तरह के मामलों को निपटाने के लिए हम सबको कांग्रेस की संयुक्त ताकत के लिए पूरा योगदान करना चाहिए।' के.एस. राय इस मामले पर नेहरू और पटेल के साथ विचार- विमर्श के लिए दिल्ली आए। लेकिन शरत बोस अपने रुख पर अड़े रहे और उन्होंने कांग्रेस द्वारा विभाजन की मांग को स्वीकार कर लिए जाने की खुलकर आलोचना की : 'यह सही नहीं है कि बंगाली हिंदू एकमत से विभाजन की मांग कर रहे हैं। पश्चिम बंगाल के आंदोलन ने इसलिए जोर पकड़ा है क्योंकि कांग्रेस हिंदू महासभा की सहायता के लिए आ गई है और पिछले अगस्त से बाद की घटनाओं को लेकर सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काया जा रहा है।[112] उन्होंने भावी पीढ़ियों के गुस्से की बात की : 'मुझे डर है कि भारत के विभाजन को स्वीकार करने और बंगाल तथा पंजाब के विभाजन का समर्थन करने के लिए भावी पीढ़ियां हमें कोसेंगी।'

पटेल पर कोई असर नहीं हुआ लेकिन शरत बोस को गांधी से समर्थन मिला। देश के विभाजन के लिए पंजाब और बंगाल प्रांतों के बंटवारे का कांग्रेस का प्रस्ताव गांधी को शुरू से ही पंसद नहीं था। वे बिहार में थे। उन्हें इस बात की जानकारी ही नहीं थो कि कांग्रेस कार्य समिति ने यह कदम क्यों उठाया। स्थानीय लीगियों ने दो प्रांतों के विभाजन के बारे में चुभने वाले सवाल किए : 'मुझसे एक मुसलिम लीगी ने पूछा ... यदि यह बात मुसलिम बहुसंख्यक प्रांतों पर लागू होती है तो यह बिहार जैसे कांग्रेस बहुसंख्यक प्रांत पर क्यों नहीं लागू होती है।'[113] गांधी ने पटेल और नेहरू से स्पष्टीकरण मांगा। लेकिन उनमें

से किसी के भी तर्क से वे सहमत नहीं हुए। गांधी को इस बात से कोई फर्क नहीं पड़ता था कि यह प्रस्ताव 20 फरवरी के बयान से आया है या जिन्नाह के लिए यही जवाब बचा है या सांप्रदायिक हिंसा के विस्तार और उसकी तीव्रता के कारण यह बेहद जरूरी हो गया है। वे विभाजन की किसी भी योजना का समर्थन नहीं कर सकते थे और उन्होंने यह बात सार्वजनिक तौर पर साफ कर दी :[114]

> जिन्नाह साहब पाकिस्तान चाहते हैं। कांग्रेसजनों ने भी पाकिस्तान की मांग को मंजूर करने का निश्चय कर लिया है। लेकिन वे इस बात पर जोर दे रहे हैं कि पंजाब और बंगाल के हिंदू और सिख (बहुसंख्यक) क्षेत्रों को पाकिस्तान में शामिल नहीं किया जा सकता। केवल मुसलिम (बहुसंख्यक) क्षेत्रों को भारत से अलग किया जा सकता है। लेकिन मैं किसी भी कीमत पर पाकिस्तान के लिए सहमत नहीं हो सकता। मैं देश के विभाजन के किसी भी प्रस्ताव को बर्दाश्त नहीं कर सकता।

विभाजन की योजना से बुनियादी घृणा के कारण उनका स्वतंत्र बंगाल योजना की ओर झुकाव हो गया। सुहरावर्दी और शरत बोस द्वारा प्रस्ताव को संयुक्त रूप से प्रस्तुत किए जाने में उन्हें आशा की किरण नजर आई। आखिरकार उन्होंने यह सोचा कि बंगाल की एकता भारत की एकता का आधार बन सकती है क्योंकि दो राष्ट्रों के जिस सिद्धांत पर पाकिस्तान की मांग टिकी है वह सिद्धांत ही कमजोर पड़ जाएगा : 'यह मान लेना कि बंगाली हिंदू और बंगाली मुसलमान एक हैं लीग के दो राष्ट्रों के सिद्धांत पर जबर्दस्त आघात है।'[115]

लेकिन एक समस्या थी। बंगाली हिंदू (और पंजाबी हिंदू और सिख) मुसलिम वर्चस्व में रहने की अपनी अनिच्छा को जोरदार शब्दों में बयान कर रहे थे। गांधी ने देखा कि उन्हें इसके लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। उन्हें चयन का अधिकार मिलना चाहिए। इसके अनुसार कांग्रेस कार्य समिति के लिए एक नोट में उन्होंने मान लिया कि पूर्वी पंजाब और पश्चिम बंगाल, असम तथा एन डब्ल्यू एफ पी के साथ पाकिस्तान से अलग रह सकते हैं।[116] इसका मतलब भी दो प्रांतों का विभाजन ही था। यह इन क्षेत्रों के भारत संघ में बने रहने के नेहरू के विकल्प से भिन्न बात नहीं थी। गांधी ने कहा कि वे पाकिस्तान से बाहर रह सकते हैं। गांधी को उम्मीद थी कि हिंदू इस विकल्प का प्रयोग नहीं करेंगे : 'बंगाल के विभाजन के लिए आंदोलन को रोकने का सबसे बढ़िया तरीका यह है कि हिंदुओं को तर्क द्वारा प्रेरित किया जाए और उन्हें तुरंत यह आश्वासन दिया जाए कि उन पर किसी प्रकार की जबर्दस्ती नहीं की जाएगी। यदि सुहरावर्दी इस तरीके से काम करें तो पूरा बंगाल स्वतंत्र प्रांत बन सकता है।'[117] सुहरावर्दी ने ठीक ही बताया कि हिंदुओं का उस पर विश्वास नहीं है और वे उसकी बात का भरोसा नहीं करते।[118] इससे पहले गांधी ने यहां तक प्रस्ताव किया था कि वे हिंदुओं से अतीत को भूल जाने की अपील करने और बंगाल की एकता

का अभियान चलाने के लिए उसके साथ जाने को तैयार हैं।[119] अब उन्होंने प्रस्ताव किया 'मैं आपके अवैतनिक निजी सचिव के रूप में काम करने और उस समय तक आपके साथ एक छत के नीचे रहने को तैयार हूं जब तक हिंदू और मुसलमान भाइयों की तरह न रहने लगें।'[120] सुहरावर्दी की कथित प्रतिक्रिया इस प्रकार थी : 'कितना वाहियात प्रस्ताव है। इसके परिणामों की थाह लेने से पहले मुझे दस बार सोचना पड़ेगा।'[121] जब गांधी को इस बारे में बताया गया तो उन्होंने अपने प्रस्ताव को दोहराते हुए सुहरावर्दी को पत्र लिखा।[122] इससे भी कुछ नहीं हुआ। अगस्त 1947 के मध्य में जब बंगाल का विभाजन सचाई बन गया और प्रधानमंत्री पद छिन जाने से सुहरावर्दी की अक्ल ठिकाने आ गई तो कांग्रेस शासित कलकत्ता में मुसलमानों के जीवनों की रक्षा करने की आवश्यकता से बाध्य होकर वह उपद्रवग्रस्त बेलियाघाट में गांधी के साथ एक छत के नीचे रहा।

गांधी के प्रस्ताव से सुहरावर्दी उलझन में पड़ गया था लेकिन अधिकांश बंगाली हिंदुओं ने उनके रुख की कड़ी आलोचना की। *अमृत बाजार पत्रिका* के संपादकीय में यह टिप्पणी की गई : 'लेकिन उनको हम बता दें कि राष्ट्रवादी बंगाल आज निश्चित रूप से और बहुत साफ-साफ बंगाल के विभाजन के पक्ष में है।[123] कुछ लोगों ने इस योजना के घृणित पक्षों की ओर ध्यान दिलाया। केंद्रीय सभा के सदस्य के सी नियोगी ने पटेल को चेतावनी दी कि एकता के लिए वोट खरीदने के वास्ते बहुत मोटी रकम खर्च की जा रही है।[124] इंडियन मर्चेंट एसोसिएशन के अध्यक्ष पी.बी. मुखर्जी ने बताया कि उसने विधायकों को घूस दिए जाने की बात सुनी है। उसने मतदान दिल्ली में कराने के लिए पटेल पर जोर डाला।[125] धौंसपट्टी का भी सहारा लिया गया। बंगाल विधानसभा में कांग्रेस पार्टी के सदस्य एन. दत्त को 'एस एस मुख्यालय' से चेंतावनी दी गई कि वह 'बंगाल के विभाजन के पक्ष में प्रचार तुरंत बंद करे' नहीं तो 'तुम्हारा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाएगा।' पत्र में आगे लिखा गया:[128]

> बंगाल स्वतंत्र और प्रभुतासंपन्न और अविभक्त देश होगा जिसमें वर्ग, जाति और धर्म का कोई भेदभाव नहीं होगा। लेकिन इस देश का नाम 'आजाद पाकिस्तान' होगा और संख्याबल के कारण उस पर मुसलमानों का वर्चस्व होगा। याद रखो मुसलिम बंगाल अब बेकार नहीं है और न ही नौकरियों के पीछे भाग रहा है। मुसलिम बंगाल के युवा अपने प्यारे 'पाकिस्तान' को प्राप्त करने और बाद में उसकी रक्षा करने के लिए अपने खून का कतरा-कतरा बहा देंगे।

अशुद्ध शाधनों ने लक्ष्य को खराब कर दिया। गांधी ने दुखी होकर एकता के अभियान के लिए अपने समर्थन को वापस ले लिया।[127]

मुझे पता चला है कि बंगाल के विभाजन को रोकने के लिए पैसा उड़ाया जा रहा है। पैसे की मदद से कोई भी स्थायी चीज प्राप्त नहीं की जा सकती। पैसे से खरीदी गई वोट

की कोई ताकत नहीं होती। मैं कभी भी ऐसे काम में सहायता नहीं दे सकता। मैं अपने किसी सगे व्यक्ति द्वारा की गई गुंडागर्दी को भी बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए मैं शरत बाबू को बता देना चाहता हूं कि हम दोनों ही बंगाल के विभाजन को रोकना चाहते हैं। लेकिन फिलहाल हम इसके बारे में भूल जाएं। यह कार्य अशुद्ध साधनों से पूरा नहीं किया जा सकता।

शरत बोस को गांधी के पत्र से जाहिर होता है कि नेहरू और पटेल की आशंकाओं ने उनके विचारों को प्रभावित किया :[128]

> वे दोनों इस प्रस्ताव के सख्त खिलाफ हैं और उनका विचार है कि यह हिंदुओं और अनुसूचित जाति नेताओं में फूट डालने के लिए एक चाल मात्र है। यह उनका केवल शक नहीं पक्का विश्वास है। उनका यह भी मानना है कि अनुसूचित जाति वोटें प्राप्त करने के लिए पैसा बहाया जा रहा है। यदि ऐसा है तो आप संघर्ष को फिलहाल छोड़ दें। भ्रष्ट तरीकों से प्राप्त की गई एकता सच्चे विभाजन से बुरी होगी क्योंकि विभाजन द्वारा दिलों के बंटवारे और हिंदुओं के दुर्भाग्यपूर्ण अनुभवों को तो स्वीकारा जाएगा।

शरत बोस द्वारा अपने प्रयास जारी रखने के लिए दो पूर्व शर्तें रखी गईं। कोई भ्रष्टाचार नहीं होना चाहिए और बंगाल लीग योजना के लिए अपना समर्थन लिखित में दे।[129] पहली शर्त को सुनिश्चित नहीं किया जा सकता था और दूसरी शर्त को इस बीच हुई घटनाओं को देखते हुए पूरा नहीं किया जा सकता था। बंगाल प्रांत मुसलिम लीग ने इस सवाल पर अकरम खान के संसदीय समूह और सुहरावर्दी शिविर के बीच विवाद को निपटाए जाने के लिए 28 मई 1947 को जिन्नाह को भेज दिया। उसने स्वतंत्र बंगाल के खिलाफ फैसला सुनाया।[130] गांधी द्वारा शरत बोस को लिखे जाने के एक दिन बाद 9 जून 1947 को ऑल इंडिया मुसलिम लीग की कौंसिल ने 3 जून की योजना को मंजूर कर लिया जिसमें केवल दो डोमिनियनों को सत्ता हस्तांतरण की बात कही गई थी। योजना के अंग के रूप में बंगाल के विभाजन को खेद के साथ स्वीकार कर लिया गया।[131]

अंततः माउंटबैटन द्वारा बंगाल की एकता के विचार से पीछे हटने के साथ यह विचार हमेशा के लिए छोड़ दिया गया। उसके द्वारा समर्थन वापस लिया जाना गांधी और जिन्नाह द्वारा समर्थन वापस लिए जाने से ज्यादा निर्णायक सिद्ध हुआ क्योंकि वह इस समय तैयार की जा रही सांविधानिक योजना में इस प्रस्ताव को डलवा या उससे निकलवा सकता था। 10 अप्रैल 1947 को अस्थायी रूप से बनाई गई उसकी मूल योजना में पंजाब और बंगाल के विभाजन तथा दो डोमिनियन भारत और पाकिस्तान बनाने की बात कही गई।[132] वाइसरॉय के निजी सचिव मीविले ने जब इस योजना को 30 अप्रैल 1947 को नेहरू को दिखाया तो उन्होंने इसे मौन स्वीकृति दे दी।[133] जैसा कि हमने पीछे देखा इस बीच माउंटबैटन के मन में यह विचार आया कि अविभक्त स्वतंत्र बंगाल अखिल भारतीय गतिरोध को खत्म करने

की कुंजी बन सकता है। 1 मई 1947 को योजना में संशोधन करके उसने यह प्रावधान डाल दिया कि प्रांत पहले स्वतंत्रता के लिए वोट डालेंगे और इसके सप्ताह बाद विभाजन के लिए वोट डालेंगे।[134] यह उम्मीद की गई कि इससे एकता की संभावनाएं बढ़ेंगी। लेकिन वास्तव में इसने दो डोमिनियनों के बजाए कई उत्तराधिकारी देशों की संभावना को बढ़ा दिया।

नेहरू ने 10 मई 1947 को प्रस्ताव को संशोधित रूप में देखा तो उन्होंने बहुत तीखी प्रतिकूल प्रतिक्रिया की और घोषणा की कि उन्हें इनसे कुछ लेना-देना नहीं है।[135] उनका विचार था कि जिन मूल प्रस्तावों के बारे में उनके और माउंटबैटन के बीच परस्पर सहमति हुई थी उनको ब्रिटिश सरकार ने 'अनिष्ट सूचक अर्थ' दे दिया है : 'पूरा दृष्टिकोण ही हमारे दृष्टिकोण से एकदम अलग था और भारत की जो तसवीर उभर रही है उसने मुझे डरा दिया है।'[136] मीविले ने जोर देकर कहा कि उन्हें पूरा मसौदा दिखा दिया था।[137] लेकिन उन्होंने आरोप लगाया कि उन्हें केवल डेढ़ पृष्ठ का कच्चा मसौदा दिखाया गया था। प्रस्तावों पर वाइसरॉय को तुरंत भेजे गए प्रारंभिक नोट[138] के बाद एक लंबा नोट भेजा गया जिसमें बाल्कनीकरण के डर को अभिव्यक्त किया गया।[139] अगले दिन वाइसरॉय के साथ अधिकृत बैठक में नेहरू ने स्पष्ट किया कि किस प्रकार सहमत फार्मूले को पूरी तरह से बदल दिया गया है।[140]

बात भारत संघ की उतनी नहीं थी जितनी कि भारी संख्या में उत्तराधिकारी देशों की थी जिन्हें सैद्धांतिक रूप में सत्ता हस्तांतरित की जानी थी और जिन्हें एक या दूसरे समूह में शामिल होना था ... इससे लोग ये सोचेंगे कि भारत का बाल्कनीकरण किया जा रहा है। इस क्रियाविधि में पहले अलगाव होगा और बाद में शामिल होने के लिए अनुरोध किया जाएगा। इससे पहले की प्रक्रिया बिलकुल उलटी थी – पहले एकता के लिए अनुरोध और फिर अलग होने का विकल्प।

माउंटबैटन नेहरू को विमुख नहीं करना चाहता था (और शायद यह नहीं स्वीकार करना चाहता था कि इस सारी गड़बड़ी में महामहिम की सरकार का नहीं बल्कि उसका हाथ है)। इसलिए उसने उस समय लंदन गए अपने सेनाध्यक्ष इस्मै को सूचित किया कि उसने 'स्वतंत्र रूप से अलग रहने के लिए प्रांतों को उपलब्ध विकल्प को निकाल दिया है।'[141] माउंटबैटन किसी भी मुद्दे पर नेहरू के विरोध का जोखिम नहीं उठाना चाहता था क्योंकि इससे नेहरू के साथ नाजुक संतुलित समीकरण गड़बड़ा जाता। माउंटबैटन की राष्ट्रमंडल कूटनीति और सत्ता के शांतिपूर्ण हस्तांतरण की उसकी योजना की सफलता के लिए इस समीकरण का बना रहना जरूरी था। शीघ्र आने वाले कार्यों को पूरा करने के लिए भी नेहरू का सहयोग आवश्यक समझा गया। माउंटबैटन का मानना था कि 'यदि उसकी कांग्रेस से बिगड़ गई तो देश को चलाना मुश्किल हो जाएगा।'[142] अविभक्त बंगाल की कहानी यहीं खत्म हो जानी चाहिए थी लेकिन ऐसा नहीं हुआ। माउंटबैटन ने एकता के

लिए सुहरावर्दी और बंगाल के गवर्नर के प्रयासों को रोकने में हिचकिचाहट दिखाई।

इसके विपरीत उसने संकेत दिया कि वह बंगाल के विधायकों द्वारा एकता के लिए दिए गए संयुक्त अभ्यावेदन पर विचार करेगा।[143] माउंटबैटन का स्पष्ट रुख तब सामने आया जब नेहरू ने एक विदेशी पत्रकार को साफ-साफ बताया कि कांग्रेस अविभक्त बंगाल के लिए तभी सहमत होगी जब वह भारत में रहे।[144] उसने स्वीकार किया कि नेहरू के बयान से 'बंगाल की एकता को बनाए रखने की संभावनाओं पर ... बहुत बुरा असर पड़ा है।'[145] कैबिनेट इंडिया कमेटी उससे सहमत थी कि अलग डोमिनियन के रूप में स्वतंत्र बंगाल की संभावना नहीं है।[146] फिर भी माउंटबैटन ने प्रसारण के दो पाठ तैयार कराए जिनमें से एक में अविभक्त बंगाल की बात की गई। ऐसा इस आधार पर किया गया कि संयुक्त सरकार बन सकती है और वह इसकी मांग कर सकती है।[147] लेकिन इस प्रसारण का उपयोग नहीं किया गया।

माउंटबैटन ने 1 जून 1947 को बंगाल के गवर्नर को लिखा कि एकता की योजना के प्रति कांग्रेस के विरोध को देखते हुए उसे छोड़ना होगा।[148] अब बंगाल के गवर्नर ने योजना को छोड़ने से इनकार कर दिया। उसने तर्क दिया कि संयुक्त सरकार आवश्यकता है और यदि उसके मंत्रिमंडल ने इसका अनुमोदान नहीं किया तो वह उसे बर्खास्त करने के लिए तैयार है।[149] लेकिन एकता की संभावना अब खत्म हो गई थी। इसलिए सुहरावर्दी और के.एस. राय दोनों ही कोई अल्पकालिक प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं थे।[150] 20 जून 1947 को पश्चिम बंगाल के अधिकांश विधायकों ने बंगाल के विभाजन के पक्ष में वोट दिया। 58 ने पक्ष में और 21 ने विरोध में वोट दिया। इस प्रकार मामला विभाजन के पक्ष में निपट गया क्योंकि 3 जून की योजना में यह व्यवस्था की गई थी कि विधानसभा में किसी भी समूह के बहुसंख्यक सदस्य यदि विभाजन के पक्ष में हुए तो बंगाल और पंजाब का विभाजन कर दिया जाएगा।[151]

प्रांतों के विभाजन के लिए कांग्रेस समर्थन : व्यापक अर्थ

पंजाब और बंगाल प्रांतों के विभाजन की मांग का समर्थन करके कांग्रेस को क्या मिला ? यह उम्मीद भी पूरी नहीं हुई कि यह 'पाकिस्तान के लिए जवाब' होगा। कटे पर नमक लगाते हुए कांग्रेस पर यह आरोप भी लगाया गया है कि वह हिंदू सांप्रदायिकता के आगे झुक गई है। बंगाल के गवर्नर ने टिप्पणी की : 'हिंदू महासभा के रुख पर किसी को आश्चर्य नहीं हुआ है लेकिन स्थानीय कांग्रेस नेताओं द्वारा राष्ट्रवाद के बजाए सांप्रदायिकता को तरजीह दिए जाने की मुसलमानों ने तुरंत आलोचना की।[152] सबसे कड़ी निंदा शरत बोस ने की जिसने आरोप लगाया कि 'कांग्रेस द्वारा हिंदू महासभा की सहायता के कारण आंदोलन ने जोर पकड़ा ... ।'[153] अप्रैल 1947 के आरंभ में तारकेश्वर में हिंदू महासभा के सम्मेलन में 'भारी संख्या में उत्साही श्रोता' आए। इसके बाद से कांग्रेस को सांप्रदायिक बताने का

खतरा बढ़ गया।[154] बंगाली हिंदुओं के लिए एक अलग प्रदेश के लिए कार्रवाई परिषद बनाने के वास्ते श्यामा प्रसाद मुखर्जी को प्राधिकृत किया गया और संविधान सभा से सीमा आयोग गठित करने के लिए कहा गया।[155] आंदोलन से सुरक्षित दूरी रखकर ही शुद्धता कायम रखी जा सकती थी। लेकिन जनमत का भारी दबाव पड़ा। धर्मनिरपेक्ष बुद्धिजीवियों सहित हिंदुओं का यह मानना था कि लीग के वर्चस्व वाली अर्थात सांप्रदायिक सरकार के अधीन उनका कोई भविष्य नहीं है। कांग्रेस ने खुद लीग सरकार पर निर्दयता और कलकत्ता तथा नोआखाली के दंगों में मिलीभगत का आरोप लगाया था। इसलिए बंगाल में अल्पसंख्यकों की असुरक्षा की सचाई से वह कैसे इनकार कर सकती थी ? वह अंतरिम सरकार में होने के बावजूद हालात में कोई परिवर्तन नहीं ला सकी। इसलिए विभाजन के पक्षधरों का साथ देने के सिवाय उसके पास और कोई विकल्प नहीं था।

इसलिए कांग्रेस ने वही किया जो उसने पाकिस्तान की मांग सामने आने के समय किया था। उसने लीग द्वारा पाकिस्तान की मांग को सांप्रदायिक बताकर नामंजूर कर दिया था। लेकिन मुसलमानों की शिकायतों और आकांक्षाओं को उसने सही माना था। उसने आत्मनिर्णय के मुसलमानों के अधिकार को स्वीकार किया। इसी प्रकार प्रांतों का विभाजन भी सांप्रदायिक मांग थी क्योंकि इसका मतलब यह मान लेना है कि दो समुदाय साथ नहीं रह सकते। लेकिन वास्तव में स्थिति भिन्न थी। कांग्रेस स्वतंत्र भारत में मुसलमानों को धर्मनिरपेक्ष सरकार, धर्मनिरपेक्ष संविधान और धर्मनिरपेक्ष समाज दे रही थी। अविभक्त पंजाब और बंगाल का मतलब था कि हिंदू एक सांप्रदायिक समाज में सांप्रदायिक सरकार के अधीन रहेंगे।

प्रांतों के विभाजन पर कांग्रेस के रुख के पीछे इरादे और उसके परिणामों के बीच एक और गंभीर अंतर था। अंतत: जब बंगाल और पंजाब का विभाजन हुआ तो इसे कांग्रेस की जीत के रूप में देखा गया। उनके विभाजन के लिए कांग्रेस की मांग को मंजूर कर लिया गया था और उनकी एकता के लिए लीग की मांग को नामंजूर कर दिया गया था। अकसर यह बात भुला दी जाती है कि प्रारंभ में यह मांग एक शर्त पर उठाई गई थी और वह यह कि यदि सांप्रदायिक आधार पर पाकिस्तान बना तो पंजाब और बंगाल का विभाजन होगा। लेकिन सशर्त मांग धीरे-धीरे स्वायत्त मांग बन गई। इस परिवर्तन की ओर ध्यान नहीं गया। पाकिस्तान बने या न बने प्रांतों का प्रशासनिक विभाजन हो। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। विभाजन की मांग इसलिए स्वीकार की गई थी कि पाकिस्तान में मुसलिम सांप्रदायिक शासन में अल्पसंख्यक सुरक्षित नहीं रहेंगे। पटेल के बयान से यह पक्ष उजागर होता है ; 'गैर मुसलिम जनसंख्या के अस्तित्व को कायम रखने के लिए बंगाल का विभाजन करना होगा।'[156] इसी प्रकार नेहरू ने वाइसरॉय को लिखा : 'इस विभाजन से पहले और उसके अलावा हाल की घटनाओं के कारण बंगाल और पंजाब का प्रशासनिक विभाजन स्पष्ट और तत्काल आवश्यकता बन गया है।'[157]

जैसा कि हम जानते हैं माउंटबैटन और महामहिम की सरकार सांविधानिक गतिरोध को करार के जरिए दूर करने पर जोर दे रहे थे लेकिन करार हो नहीं पा रहा था। कांग्रेस और लीग का रुख एक दूसरे से उलट था। कांग्रेस देश की एकता चाहती थी और लीग विभाजन। कैबिनेट मिशन की योजना में दोनों पक्षों को यह बताने की कोशिश की गई थी कि उन्होंने जो मांगा था उन्हें वही मिल रहा है। लेकिन स्पष्टीकरण मांगे और दिए जाने के बाद वास्तविकता सामने आ गई। कांग्रेस दोनों प्रांतों के विभाजन की मांग की सक्रिय समर्थक बन गई। इसलिए इस मांग को 'कांग्रेस की मांग' माना जाने लगा। माउंटबैटन ने इसका कारगर ढंग से प्रयोग किया। उसने प्रांतों के विभाजन को कांग्रेस की मांग और पाकिस्तान की मांग को लीग की मांग कहा। जून की योजना में इन दोनों मांगों को जोड़ दिया गया। परस्पर रियायत की बात कही गई। कांग्रेस देश के विभाजन की लीग की बात को मान लेगी। इसके बदले वे लीग प्रांतों के विभाजन को स्वीकार कर लेगी। लेकिन प्रांतों का विभाजन वास्तव में कांग्रेस की मांग नहीं थी। कांग्रेस की वास्तविक मांग एकता के लिए थी। विभाजन की मांग करते समय वह लीग की मांग के पीछे तर्क को लक्ष्य बना रही थी। गांधी ने इस राह के खतरों के बारे में बताया :[158]

> पाकिस्तान का एकमात्र विकल्प अविभक्त भारत है और कोई तरीका नहीं है। यदि आप किसी भी प्रांत के विभाजन के सिद्धांत को स्वीकार कर लेते हैं तो आप मुसीबतों के सागर में फंस जाएंगे। अविभक्त भारत के आदर्श को पकड़कर आप सभी मुसीबतों से बच जाएंगे।

लेकिन भारत के विभाजन को स्वीकार कर लेने के बाद क्या किया जाए, गांधी ने भी इसे स्वीकार किया?

संदर्भ और टिप्पणियां

1. नेहरू से माउंटबैटन, 17 अप्रैल 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 94.
2. बिहार दंगों के बारे में नेहरू का नोट, 6 नवंबर 1946, वही, वॉल्यूम 1, पृ. 72.
3. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 22 नवंबर 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 130-40, और डी आई जी, सी आई डी की रिपोर्ट, 16 दिसंबर 1946, *आर पी पेपर्स*, 6-बी/46, भाग-1, सेन.76.
4. नेहरू से सुहरावर्दी, 1 जनवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 105.
5. एल.पी सिंह, 'दि बिहार गवर्नमेंट्स केस', 2 फरवरी 1947, *आर पी पेपर्स*, 6-बी/46, पार्ट-1, क्र. सं. 1.
6. सं. 1917 सी सिक्रेट, बिहार सरकार, राजनीतिक विभाग (विशेष प्रभाग) बिहार स्टेट आरकाइव्ज, पटना, क्र. सं. 2.
7. *टी पी*, वॉल्यूम 8, पृ. 813-14.
8. बिहार दंगों के बारे में नेहरू का नोट, 5 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 74.

9. नेहरू से पटेल, 5 नवंबर 1946 और तारेगना में भाषण 5 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 68 और 63
10. 6 नवंबर 1946, वही, पृ. 66.
11. पद्मजा नायडू को, 5 नवंबर 1946, वही, पृ. 65
12. बिहार शरीफ और फतुहा में भाषण, 4 नवंबर 1946, वही, पृ 55 और 57
13. वाइसरॉय को, 8 नवंबर 1946, *टी पी* वॉल्यूम 9, पृ. 34.
14. पद्मजा नायडू को, 5 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 65
15. वाइसरॉय ने स्वीकार किया कि नेहरू की कोशिशों से बिहार में स्थिति को काबू में करने में मदद मिली चांसलर, चेंबर आफ प्रिंसेस के सलाहकार सुलतान अहमद ने नेहरू की कार्रवाई का निश्चित रूप से अनुमोदन किया होता उसने राजेंद्र प्रसाद से आग्रह किया कि वे हिंदुओं को 'चारों ओर भेजें और हिंदुओं ने जो कुछ किया है या लोगों को जो करने दिया है इसके लिए उन्हें सख्त भाषा में फटकारें'. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 22 नवंबर 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 139-40; और सुलतान अहमद से राजेंद्र प्रसाद 24 दिसंबर 1946, *आर पी पेपर्स*, एफ सं 6-बी/46 (भाग 1) क्र.सं 78 देखें सपरू से रशब्रुक विलियम्स, 28 नवंबर 1946, *सपरू पेपर्स*, एस आई, रॉल 6, डब्ल्यू 18.
16. बिहार दंगों के बारे में नेहरू का तीसरा नोट, 8 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला वॉल्यूम 1, पृ 85.
17. एच बी चंदा से राजेंद्र प्रसाद, अदिनांकित, *आर पी पेपर्स*, एफ सं 6-बी/46-भाग-1, क्र सं 83
18. पटेल से जी डी बिड़ला, 15 दिसंबर 1946, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 1, पृ. 222
19. पटेल से राजेंद्र प्रसाद, 11 नवंबर 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 171.
20. पटेल से वाइसरॉय, 22 नवंबर 1946 वही, पृ. 175 76
21. 26 नवंबर 1946, वही, पृ 174
22. वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 22 नवंबर 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ 138 40
23. 26 नवंबर 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ 174
24. पटेल से एन.एस. गिल, 26 जनवरी 1947, वही, वॉल्यूम 4, पृ 224
25. नेहरू ने सुहरावर्दी को बताया कि 'जब मैं वहां था तो मैंने पाया कि मुस्लिम लीग शरणार्थियों को सरकारी सहायता में रोड़ा अटका रही है' 29 दिसंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 99
26. नेहरू से सुहरावर्दी, 11 जनवरी, 1947, वही, पृ. 106
27. सुहरावर्दी के आरोपों पर (बिहार सरकार द्वारा) नोट, *आर पी पेपर्स*, 6 बी/46, पार्ट-1, क्र.सं 80
28. आई जी, सिविल अस्पताल बिहार से मंत्री, चिकित्सा विभाग को, 1 जनवरी 1947, वही, भाग 2, क्र सं 5
29. ए पी रिपोर्ट, अदिनांकित, वही, क्र. सं. 77
30. सुहरावर्दी से गांधी, 15 दिसंबर 1946, वही, भाग-1, क्र.सं 80
31. रशब्रुक विलियम्स को, 28 नवंबर 1946, *सपरू पेपर्स*, एस 1, रॉल 6, डब्ल्यू-13.
32. उपद्रवों के बारे में गिरिधर सिंह का नोट, *आर पी पेपर्स*, 6 बी/46, भाग-1, क्र सं 85.
33. नेहरू से सुहरावर्दी, 1 जनवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ. 104
34. सुहरावर्दी के आरोपों पर (बिहार सरकार द्वारा) नोट, *आर पी पेपर्स*, 6-बी/46, भाग 1, क्र. सं 80.
35. पटेल से वाइसरॉय के निजी सचिव को, 25 नवंबर 1946, *एस पी सी*, वॉल्यूम 3, पृ. 172.
36. पटेल से गिल, 19 नवंबर 1946, वही, पृ 188-189.
37. पटेल से एन एस गिल, 26 जनवरी और 10 फरवरी 1947, वही, वॉल्यूम 4, पृष्ठ क्रमशः 224 और 227

38 9 दिसंबर 1946, नंदूरकर संपादित, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 1, पृ 221
39 वाइसरॉय से विदेशमंत्री, 22 नवंबर 1946, *टी पी*, वॉल्यूम 9, पृ. 139 40
40 राजेंद्र प्रसाद को, अदिनांकित *आर पी पेपर्स*, 6-बी/46, भाग 1, क्र.सं 83
41. नेहरू से पटेल, 5 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 64
42 *आर पी पेपर्स*, 6 बी/46 भाग 1, क्र सं. 85
43 डी आइ जी, सी आई डी द्वारा रिपोर्ट, 16 दिसंबर 1946, वही, क्र सं. 76
44 बिहार गवर्नर से वाइसरॉय, 22/23 नवंबर 1946, *टी पी*, वाल्यूम 9 पृ 149.
45 5 नवंबर 1946 *एम जी सी डब्ल्यू* वॉल्यूम 86 पृ 79
46 'बिहार को', 6 नवंबर 1946, वही, पृ. 81
47 5 नवंबर 1946 वही वॉल्यूम 86, पृ 78
48 किशोर मशरूवाला को इन हिदायतों के साथ कि इसे दूसरे आश्रमवासियों को पढ़कर सुना दिया जाए, वही, पृ 73
49 गांधी से पटेल, 4 जनवरी 1947, *एम जी सी डब्ल्यू* वॉल्यूम 86 पृ 352
50. 30 जनवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 111
51 नेहरू से गांधी, 19 और 30 जनवरी 1947, वही, वॉल्यूम 3 और 4, पृ क्रमशः 496 और 111
52 31 दिसंबर 1946 और 8 फरवरी 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 86 पृ क्रमशः 293 और 448
53 *आर पी पेपर्स*, 24 सी/46-7, क्र.सं 58
54 5 नवंबर 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 1, पृ 63
55 शरत बसु और अन्यों के साथ 24 नवंबर 1946 को चर्चा *एम जी सी डब्ल्यू*, वाल्यूम 86, पृ 158
56 उनके सबोधन की रिपोर्ट, वही, वाल्यूम 87, पृ 75
57 प्रार्थना सभा में भाषण, 5 नवंबर 1946, कलकत्ता, वही, वॉल्यूम 86, पृ 80
58 पटेल के साथ अपनी बातचीत के बारे में के.बी सहाय के नोट, 1 अप्रैल 1947 में इन मतभेदों की चर्चा की गई है देखें *आर पी पेपर्स*, 24-सी/46-7, कॉलम I, क्र सं 87
59 राजेंद्र प्रसाद ने गांधी के असंतोष की जानकारी बिहार के मुख्यमंत्री को दो बार 25 मार्च और 19 जून 1947 को दी, वही, क्र.सं 84 और 10
60 गांधी से सुहरावर्दी, 12 मई 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 458
61 सुहरावर्दी ने यह कहकर खुद को ही धोखा दिया कि 'हिंदू राज मे मुसलमानों के बजाए मुसलमान राज में हिंदू ज्यादा संतुष्ट रहते हैं', कैबिनेट शिष्टमंडल, वाइसरॉय और एच एस सुहरावर्दी के बीच बैठक, 9 अप्रैल 1946, आई ओ आर एल/पी एंड जे/10/32, *कैबिनेट मिशन पेपर्स - मोसलम व्यू अपटू अप्रैल 1946* इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन उसके बाद के कार्यों से भी विश्वास कायम नहीं हुआ उसने इस बात पर जोर दिया कि नए भर्ती किए गए सभी पुलिसमैन मुसलमान हों अंततः 600 पंजाबी मुसलमान लिए गए, इन्हें सुहरावर्दी की निजी सेना माना जाता था. वे यह कहते घूमते थे कि उन्हें एक खास उद्देश्य के लिए भर्ती किया गया है जिसके बारे में बाद में बताया जाएगा देखें बंगाल के गवर्नर के सचिव टाइसन के साथ माउंटबैटन का इंटरव्यू, 15 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ 268. कलकत्ता मौतों से हिंदुओं ने समझ लिया था कि वे आजाद, संघीय भारत में भी मुस्लिम लीग सरकार के अधीन नहीं रह सकते हैं देखें लियोनार्ड गॉर्डन, 'डिवाइडेड बंगाल : प्रॉब्लम्स आफ नेशनलिज्म एंड आइडेंटिटी इन दि 1947 पार्टिशन', *जे सी सी पी*, वॉल्यूम 16.1, मार्च 1978, 136-68. 'लेकिन मुख्यमंत्री, श्री सुहरावर्दी के अधीन मुसलिम मंत्रिमंडल की पिछले दो वर्षों से अधिक अवधि के दौरान अत्यधिक सांप्रदायिकता से बंगाली हिंदुओं ने यह समझ लिया था कि थोड़ी बहुत संख्या वाली मुसलिम सरकार से उन्हें न्याय नहीं मिल सकता है. प्रांत का विभाजन दो बुराइयों में से कम गंभीर बुराई है', फाइल 3, स

2. *बेल पेपर्स* कैंब्रिज साउथ एशियन आरकाइव.

62. लगातार प्रभुत्व की आशंका नई नहीं थी. यह उस समय ही पैदा हो गई थी जब नेहरू अवार्ड से लेकर सांप्रदायिक अवार्ड तक एक के बाद एक सांविधानिक प्रस्तावों में हिंदू अल्पसंख्यक कुछ न कुछ खोते गए. 1916 के लखनऊ समझौते में बंगाल में हिंदू अल्पसंख्यकों को तरजीह देने की बात कही गई है लेकिन नेहरू रिपोर्ट में बंगाल में किसी समूह को आरक्षण देने से इनकार किया गया है. सांप्रदायिक अवार्ड एक कदम आगे चला गया है. उसमें मुसलिम बहुसंख्या को आरक्षण दिया गया और 44 प्रतिशत हिंदुओं के लिए केवल 31 प्रतिशत सीटें छोड़ी गई हैं. जया चैटर्जी के अनुसार बंगाल का विभाजन बंगाली भद्रलोक की इच्छा का परिणाम था. इसके द्वारा वे अपने प्रभुत्व को फिर से कायम करना चाहते थे. इस स्थापना में इस इच्छा को ही प्राथमिकता दी गई है. विभाजन में मुसलिम सांप्रदायिकता की भूमिका को कम करके बताया गया है. चैटर्जी, *बंगाल डिवाइडेड*.
63 *आर पी पेपर्स*, 6-1/45-6-7. देखें *ए आई सी सी पेपर्स*, बंगाल विभाजन फाइलें, सी एल 8, सी एल-14 सी, सी एल 14- डी, और सी एल 21.
64. वही, 6-1/45-6-7. क्र.सं. 91, अदिनांकित. लंदन में खुफिया प्राधिकारियों ने रिपोर्ट दी कि स्वराज हाउस के डॉ. एन गांगुली के नेतृत्व में 200 छात्रों ने 'प्रांत में कानून और व्यवस्था कायम करने में बंगाल सरकार की विफलता' के खिलाफ चारिंग क्रॉस पर प्रदर्शन किया और आरोप लगाया कि नोआखाली में दंगे 'ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के भाड़े के एजेंटों द्वारा उकसाए गए', इंडियन पॉलिटिकल इंटेलिजेंस रिकार्ड्स, पॉल (एम) 1551/1946, न्यू स्कॉटलैंड यार्ड रिपोर्ट, सं. 4, 6 नवंबर 1946, आई ओ आर एल/पीएंडजे/12/658, ब्रिटिश लाइब्रेरी, लंदन.
65. वही, 1-बी/47, क्र.सं. 32.
66 9 मार्च 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 67.
67 जेंकिन्स से माउंटबैटन, 24 मार्च 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 15. सुविख्यात पत्रकार बी. शिवराव इसमे सहमत था : 'पंजाब के दंगों ने हिंदू और सिखों के मत को इतना प्रभावित किया है कि अगले वर्ष एक कटा छंटा पाकिस्तान बन सकता है'. सपरू को, 14 मार्च 1947, *सपरु पेपर्स*, एस-2, रॉल 4, आर 160..
68. *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 88.
69 वही, पृ. 467
70 बंगाल के गवर्नर से वाइसरॉय, 11 अप्रैल 1947, वही, पृ. 203.
71. 15 अप्रैल 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 91.
72. 18 अप्रैल 1947, वही, पृ. 270.
73 24 फरवरी 1947, वही, पृ. 53. जाहिर है कि यह तर्क की बात थी और यह तर्क बहुत लोगों को सही लगा इसे विभिन्न वाणिज्यिक संगठनों के प्रतिनिधियों की दिनांक 29 अप्रैल 1947 को आयोजित बैठक में बंगाल नेशनल चेंबर आफ कॉमर्स, कलकता द्वारा पारित प्रस्ताव में दोहराया गया 'यदि कोई क्षेत्र बाहर रहना चाहे तो रहे लेकिन वह उन क्षेत्रों को उनकी इच्छा के खिलाफ संघ के बाहर रहने के लिए नहीं कह सकता जो संघ के भीतर रहना चाहते हैं;' अन्यों के अलावा इसकी प्रतियां ब्रिटिश प्रधानमंत्री, भारत के लिए विदेशमंत्री और वाइसरॉय को भेजी गईं, *आर पी पेपर्स*, 19 पी/47, कॉलम 2, भाग 2, क्र. सं 32.
74. नेहरू से कृष्णमैनन, 23 फरवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 45.अगले दिन उन्होंने यही भावनाएं आसफ अली और गांधी के सामने व्यक्त कीं, वही, पृ. 51 और 53. बिहार के गवर्नर का विचार था कि प्रांतों के विभाजन के लिए समर्थन सही न होकर केवल रणनीतिक था: 'जो लोग विभाजन के विचार को हिचकिचाहट के साथ समर्थन देते हैं इस विश्वास के साथ ऐसा करते हैं

कि इससे पाकिस्तान की व्यर्थता उजागर हो जाएगी, इसलिए नहीं कि वे भारत के दो स्वतंत्र देशों के रूप में विभाजन के लिए मन बना रहे हैं,' वाइसरॉय को, 25 मार्च 1947, *टी पी*, वाल्यूम 10, पृ. 18.

75. गांधी को, 25 मार्च 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 77-78.
76. गवर्नरों के पहले सम्मेलन के पहले दिन का कार्यवृत्त, 15 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 251.
77 वही, पृ. 254.
78. सिखों के एक वर्ग ने 1934-44 में आजाद पंजाब की योजना चलाई. इसके अंतर्गत ऐसा प्रांत बनाने की बात कही गई जिसमें किसी भी समुदाय को पूर्ण बहुमत नहीं होगा. सबके एक जैसे लक्ष्य होंगे. जिन्नाह की पाकिस्तान की मांग को व्यर्थ करने के उद्देश्य से रावी नदी के साथ-साथ पंजाब के विभाजन की मांग के समर्थन के लिए सरदार रछपाल सिंह, आई जी, पुलिस अलवर ने हिंदू महासभा के नेता बी एस मुंजे से संपर्क किया. डायरी नोटिंग, 17 सितंबर 1946, *मुंजे पेपर्स*, एन एम एम एल, रॉल 4.
79. अदिनांकित बयान, *आर पी पेपर्स*, 17-पी/46-7, कॉलम 1, क्र. सं. 3.
80. 8 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 158-60.
81. जिन्नाह के साथ माउंटबैटन का इंटरव्यू, 9 और 10 अप्रैल 1947, वही, पृ. 163-64 और 186-88.
82. लीग की योजना समिति के सचिव ने 31 मई 1946 को तर्क दिया कि यदि गैर मुसलिम इलाके पाकिस्तान से निकल गए तो इस तरह से बना देश मिशन योजना के तहत स्वायत्तता से बेहतर होगा. आर जे. मूर द्वारा उदधृत, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 122
83. वाइसरॉय की उन्नीसवीं स्टाफ बैठक, 11 अप्रैल 1947, *टी पी*, वाल्यूम 10, पृ. 190.
84. वाइसरॉय की बीसवीं स्टाफ बैठक, 22 अप्रैल 1947, वही, पृ. 359.
85. वही, पृ. 214 और 216.
86. वाइसरॉय की तेरहवीं विविध बैठक, 11 मई 1947, वही, पृ. 760.
87. जिन्नाह के साथ माउंटबैटन का इंटरव्यू, 8 अप्रैल 1947, वही, पृ. 159
88. वही.
89. बौद्धिक कौशल से आयशा जलाल ने प्रांतों के विभाजन और देश के विभाजन का घालमेल कर दिया है और यह तर्क दिया है कि कांग्रेस विभाजन चाहती थी और लीग इसके खिलाफ थी. उन्होंने माउंटबैटन को नेहरू के बयान को उद्धृत किया है 'मि. जिन्नाह विभाजन के सख्त खिलाफ थे', लेकिन वे यह नहीं बतातीं कि बात पंजाब के विभाजन की हो रही थी, भारत के विभाजन की नहीं. जलाल *दि सोल स्पोक्समैन*. जलाल की स्थापना पर और विचार के लिए इस पुस्तक का अध्याय तेरह देखें .
90. 14 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 150.
91. सतीशचंद्र मुखर्जी को, 5 जून 1947, *आर पी पेपर्स*, एफ सं. 6-1/45-6-7, क्र. सं.52.
92 वाइसरॉय को, 7 मार्च 1947, दास द्वारा उद्धृत, *पार्टिशन एंड इंडिपेंडेंस आफ इंडिया*, पृ. 119.
93. देखें पीर जादा संपादित, *फाउंडेशन आफ पाकिस्तान*.
94. यह सारांश मुख्य रूप से शीला सैन, *मुसलिम पॉलिटिक्स इन बंगाल 1937-47*, नई दिल्ली, 1976 से लिया गया है. साथ ही देखें गॉरडन 'डिवाइडिड बंगाल'.
95 मडी के साथ माउंटबैटन का इंटरव्यू, 15 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 259.
96. टाइसन के साथ माउंटबैटन का इंटरव्यू, 15 अप्रैल 1947, वही, पृ. 264.
97. गवर्नरों के पहले सम्मेलन के दूसरे दिन का कार्यवृत्त, 15 अप्रैल 1947 वही, पृ. 270.
98. मडी के साथ माउंटबैटन का इंटरव्यू, 15 अप्रैल 1947, वही, पृ. 260.
99. के.एस. रॉय पहले स्वतंत्र बंगाल के विचार के खिलाफ था. लेकिन जब वाइसरॉय ने यह बताया कि सुहरावर्दी संयुक्त निर्वाचक समूह शुरू करेगा और संयुक्त मंत्रिमंडल बनाएगा तो उसने एकता का समर्थन कर दिया. देखें वाइसरॉय का के.एस. रॉय के साथ इंटरव्यू, 3 मई 1947, वही, पृ. 585.

100. 26 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ 450.
101. इंडियन एसोसिएशन के अध्यक्ष बी.एन. बनर्जी ने राजेंद्र प्रसाद को चेतावनी दी कि लीग 'अप्रत्यक्ष और घुमावदार तरीके से' पाकिस्तान प्राप्त करने की कोशिश कर रही है, 13 मई 1947, *आर पी पेपर्स*, 1 बी/47, क्र.सं. 4. हिंदू महासभा के नेता एस.पी. मुखर्जी ने माउंटबैटन को बताया: 'प्रभुता संपन्न अविभक्त बंगाल वास्तव में पाकिस्तान ही होगा।' 2 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ 557
102 वाइसरॉय की चौदहवीं विविध बैठक, वही,पृ. 764.
103 न्यूज क्रॉनिकल के नॉर्मन क्लिफ के साथ इंटरव्यू, 25 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला वॉल्यूम 2, पृ 179.
104 विनॉय कुमार राय को, 23 मई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 43
105. बंगाल नेशनल चेंबर आफ कॉमर्स की बैठक में भाषण, 29 अप्रैल 1947, वही, एफ स 19, पृ 47, कॉलम 1, भाग -2, क्र.स 32
106. 17 मई 1947, वही, एफ सं. 6-1/45-6-7, क्र सं. 40. एम एन साहा ने राजेंद्र प्रसाद को अपना पत्र इसी अपील के साथ समाप्त किया : 'मुझे उम्मीद है कि अंतरिम सरकार के सदस्य विभाजन के विचार का समर्थन करेंगे और बंगाली हिंदुओं और कलकत्ता शहर को सामने खड़ी बरबादी से रोकेंगे', वही, क्र.सं. 33.
107. एम एन. साहा और लेडी अबला बोस, 5 और 22 मई 1947, वही, क्र.सं. क्रमश: 34 और 45
108 विनॉय कुमार राय से पटेल, 16 मई 1947 और सुरेंद्रनाथ सेन से पटेल, 28 मई 1947 *एस पी सी* वॉल्यूम 4, पृ क्रमश: 42 और 51.
109 बिमल चंद्र सिन्हा को, 10 जून 1947, वही, पृ. 55.
110 पटेल से के एम रॉय 21 मई 1947, वी, पृ 46-47
111 पटेल से शरत बोस, 22 मई 1947, वही, पृ. 44.
112 शरत बोस से पटेल, 27 मई 1947, वही,पृ 45-46
113 गांधी से नेहरू, 20 मार्च 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ 124 25.
114 प्रार्थना सभा, 7 मई 1947, वही,पृ. 432. अगले दिन उन्होंने वाइसरॉय को लिखा : 'यदि पाकिस्तान गलत है तो बंगाल और पंजाब का विभाजन उसे सही नहीं बना देगा। दो गलत एक सही नहीं बनाते', *हरिजन*, 1 जून 1947
115 श्यामा प्रसाद मुखर्जी को 13 मई 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 485 केवल गांधी का ही इस पहलू की ओर ध्यान नहीं गया. शिवाराव ने टिप्पणी की कि सुहरावर्दी के बयान 'जिन्नाह के लिए बहुत परेशानी पैदा करने वाले हैं क्योंकि ये सीधे-सीधे दो राष्ट्रों के सिद्धांत के खिलाफ जाते हैं' सपरू को, 15 मई 1947, *सपरू पेपर्स*, एस-2 रॉल 4, आर 168
116 10 अप्रैल 1947 *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 246
117 प्रार्थना सभा, 9 अप्रैल 1947, वही, पृ. 245.
118 एच एस. सुहरावर्दी को इंटरव्यू, 12 मई 1947, वही, पृ 459
119 प्रार्थना सभा, 10 मई 1947, वही, पृ. 446.
120 12-13 मई 1947, वही पृ. 460.
121. बोस, *माई डेज विद गांधी*, पृ 233.
122 13 मई 1947, *आर पी पेपर्स*, 1 बी/47, क्र.सं. 4
123. वही, 19-पी/47, कॉलम 1, भाग 2, क्र स. 32.
124 11 जून 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 57.
125 मुखर्जी ने एक अस्पताल में एक मुसलिम परिवार को यह कहते सुना : एक सदस्य के लिए बीस लाख

का मतलब है पांच करोड़; हम इतना पैसा खर्च करने के लिए तैयार हैं. देखना यह है कि हम उन्हें खरीद पाते हैं या नहीं. हमें यह याद रखना चाहिए कि आम आदमी में गांधी, राजेंद्र प्रसाद या जवाहरलाल नेहरू जैसी ईमानदारी और दृढ़ निश्चय नहीं है. बीस लाख की बड़ी रकम को देखकर वे गद्दारी करके सीधे हमारे शिविर में आ सकते हैं.' 9 जून 1947. *आर पी पेपर्स*, 6. 1.45. 6. 7. क्र. स. 53

126 पत्र पर हस्ताक्षर थे 'सरदार, आजाद पाकिस्तान' और इस पर 30 अप्रैल 1947 तारीख पड़ी थी. सन दत्त मजूमदार से पटेल के साथ संलग्न, 8 मई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 36-37

127 प्रार्थना सभा, 8 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 110

128 8 जून 1947, पृ. 103.

129 वही

130 शीला सेन, *मुसलिम पॉलिटिक्स इन बंगाल, 1937-47*, नई दिल्ली, 1976, पृ. 242-43

131 संकल्प इस प्रकार था, 'ऑल इंडिया मुसलिम लीग की कौंसिल का यह विचार है कि भारत की समस्या का एकमात्र हल दो भागों में उसका विभाजन है - पाकिस्तान और हिंदुस्तान. इस आधार पर कौंसिल ने महामहिम की सरकार के बयान पर गहराई से ध्यान दिया है और उस पर विचार किया है. कौंसिल का यह विचार है कि वह बंगाल और पंजाब के विभाजन के लिए सहमत नहीं हो सकती या उसको अपनी मंजूरी नहीं दे सकती लेकिन इसे कुल मिलाकर सत्ता हस्तांतरण की महामहिम की सरकार की योजना पर विचार करना होगा.' 400 सदस्यों ने इसके पक्ष में और आठ ने इसके खिलाफ वोट दिया. [illegible] *इवोल्यूशन आफ मुसलिम पॉलिटिकल थॉट*, पृ. 238

132 स्टाफ के साथ वाइसरॉय की बारहवीं बैठक, 10 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 17[illegible]

133 मार्विले से माउंटबैटन, 30 अप्रैल 1947, वही, पृ. 488-90

134 वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट सं. 5, 1 मई 1947, वही, पृ. 539

135 उनके अपने शब्दों में, 'लेकिन पूरी सदभावना के साथ मैंने इस पर बहुत तीखी प्रतिक्रिया की. वास्तव में, इन्होंने मेरे मन को जबरदस्त धक्का पहुंचाया.' नेहरू से माउंटबैटन, 11 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 134

136 नेहरू से माउंटबैटन, 11 मई 1947, वही, पृ. 130

137 वाइसरॉय की चौदहवीं विविध बैठक 11 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 762-63

138 नेहरू से माउंटबैटन, 11 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 130-31.

139 नेहरू ने 'हर ओर विनाशकारी प्रवृत्तियों और अव्यवस्था तथा कमजोरी', 'कुछ नागरिक संघर्षों', 'हिंसा और अव्यवस्था' की बात की. उन्होंने कहा कि योजना 'भारत में' कई 'अल्स्टर' पैदा करेगी. मसौदा प्रारूपों पर नोट, 11 मई 1947, वही, पृ. 131-37

140 वाइसरॉय की चौदहवीं विविध बैठक, 11 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 763

141 13 मई 1947, वही, पृ. 807

142 यह तर्क देकर उसने कलकत्ता को स्वतंत्र शहर बनाने के बंगाल के गवर्नर के प्रस्ताव को नामंजूर किया. वाइसरॉय की नवीं विविध बैठक, 1 मई 1947, वही, पृ. 511.

143 माउंटबैटन से बरो, 16 और 18 मई 1947, वही, पृ. क्रमशः 849 और 889

144 *न्यूज क्रॉनिकल* के नॉर्मन क्लिफ के साथ इंटरव्यू, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 179.

145. भारत-बर्मा कैबिनेट कमेटी बैठक, 28 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 1014.

146. वही, पृ. 1018.

147. वाइसरॉय का सम्मेलन पेपर, 31 मई 1947, वही, वॉल्यूम 11, पृ. 1.

148 वही, पृ. 35

149. माउंटबैटन को, 2 जून 1947, वही, पृ. 64-65.
150. बरो से माउंटबैटन, 17 जून 1947, वही, पृ. 470.
151. जिन्नाह के साथ वाइसरॉय का इंटरव्यू, 23 जून 1947, वही, पृ. 581.
152. वाइसरॉय को, 11 अप्रैल 1947, वही, वॉल्यूम 10, पृ. 203.
153. पटेल को, 27 मई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 45-46.
154. बंगाल गवर्नर से वाइसरॉय, 11 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 203.
155. बी एस मुंजे की डायरी में 26 मार्च 1946 को यह लिखा गया : 'वे (मुखर्जी) पूरी तरह से विभाजन के पक्ष में हैं. मैंने उन्हें बताया कि मैं इसके पक्ष में नहीं हूं लेकिन मैं अपने विरोध के बारे में सार्वजनिक रूप में कुछ नहीं कहूंगा. परंतु सवाल यह है कि विभाजन कौन कराएगा ? *मुंजे पेपर्स*, रॉल 4, एन एम एम एल. महत्वपूर्ण बात यह है कि एस पी मुखर्जी अगस्त 1946 के दंगों से भी पहले दोनों प्रांतों के विभाजन के पक्ष में थे. सामान्यतः इन दंगों को ही बंगाल के सांप्रदायिक ध्रुवीकरण की शुरुआत माना जाता है. वास्तव में नेहरू ने भी इसे बहुत पहले देख लिया था. मुखर्जी से पहले 1945 में उन्होंने भविष्यवाणी की : 'यदि पाकिस्तान बना तो पंजाब और बंगाल के जिन हिस्सों में हिंदू बहुसंख्यक हैं वे हिंदुस्तान से मिल जाएंगे और पंजाब तथा बंगाल दोनों का विभाजन करना होगा'. लाहौर में भाषण, 26 अगस्त 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14, पृ. 165.
156. पटेल से किरण कुमार राय, 23 मई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 43.
157. 1 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 518.
158. अरुणा आसफ अली और अशोक मेहता के साथ बातचीत, 6 मई 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 421.

अध्याय ग्यारह

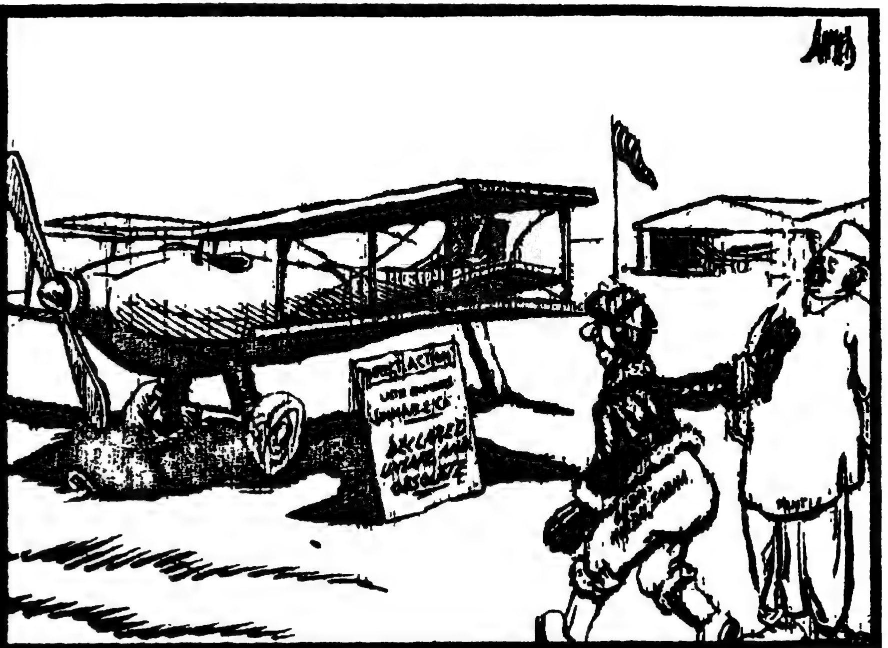
कांग्रेस पर हिंदू सांप्रदायिकता का दबाव

बिहार में क्रुद्ध हिंदू भीड़ और पंजाब तथा बंगाल में चिंतित हिंदू एवं सिख अल्पसंख्यक। बहुसंख्यकों की हठ और अल्पसंख्यकों का भय, हिंदू सांप्रदायिकता के ये दो चेहरे थे जिनसे कांग्रेस को मुकाबला करना पड़ा। जैसा कि हमने देखा हिंदू भीड़ को ताकत से दबाया जा सका और हिंदू अल्पसंख्यकों के डर को प्रांतों के विभाजन द्वारा यह आश्वासन देकर दूर किया जा सकता था कि धरती पर उनकी भी सिर छिपाने के लिए जगह होगी। हिंदू सांप्रदायिक विचारधारा द्वारा असंख्य तरीकों से डाले गए द्वेषजनक और स्पष्ट दबाव से मुकाबला करना कांग्रेस के लिए मुश्किल हो गया। कोशिश यह थी कि यदि संभव हो तो दोस्ती की बात करके और यदि जरूरी हो तो ताकत दिखाकर कांग्रेस को हिंदुओं की ओर झुकाया जाए और उसकी धर्मनिरपेक्षता में हिंदू तत्व लाया जाए।

एक ओर से कांग्रेस को सांप्रदायिक संगठन बनाने की कोशिशें भी चल रही थीं। कांग्रेस के विभिन्न स्तरों पर दबाव डाला जा रहा था। कांग्रेस पार्टी से कहा गया कि वह मुसलमानों को रिझाना बंद करे और हिंदू संस्था के रूप में काम करे। कांग्रेस प्रांतीय सरकारों से कहा गया कि वे अपनी निष्पक्षता (जिसे उसके मुसलिम समर्थक रुख के बहाने के रूप में देखा जाता था) को छोड़ें। पाकिस्तान बन जाने के बाद सत्ताधारी पार्टी के रूप में कांग्रेस पर भारत देश को हिंदू राष्ट्र के रूप में घोषित करने के लिए दबाव डाला गया।

हिंदू सांप्रदायिक विचारों की यह एक प्रवृत्ति थी जो सूक्ष्म दबाव, दोस्ताना सलाह और अपील के रूप में पेश की गई धमकियों द्वारा कांग्रेस को प्रभावित करने की कोशिश कर रही थी। दूसरी आक्रामक जुझारु प्रवृत्ति थी। इसके अंतर्गत यह दिखाया जाना था कि कांग्रेस मुसलिम चुनौती का मुकाबला करने या हिंदुओं की जान-माल की रक्षा करने में नाकामयाब है। इसलिए हिंदुओं के वास्तविक रक्षक के रूप में हिंदू संगठन बनाने होंगे। हिंदू सांप्रदायिक ताकतें इस बात को लेकर उलझन में थीं कि इनमें से किस प्रवृत्ति को अपनाया जाए। मुसलिम लीग ने बड़ी दृढ़ता के साथ अपना यह दावा रखा था कि वह ही भारतीय मुसलमानों की एकमात्र प्रवक्ता है। उसके इस दावे को अंग्रेजों और कांग्रेस ने कमोबेश स्वीकार कर लिया था। इससे प्रेरित होकर हिंदू महासभा नेताओं ने हिंदू महासभा को हिंदुओं की एकमात्र प्रतिनिधि संस्था बनाने की कोशिश की। संस्था के महासचिव ने जून 1945 में शिमला सम्मेलन में दावा किया कि महासभा हिंदुओं की प्रतिनिधि है।[1] चुनावों ने बड़ी बेरहमी से इन दावों को खोखला सिद्ध कर दिया और महासभा को धूल चाटनी पडी।

"STAND BACK, THERE!"



इन सारी बातों के बावजूद अवध की हिंदू सभा ने 1 अगस्त से सीधी कार्रवाई का निर्णय लिया है

स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 1 अगस्त 1947

1946 के आखिर में उसे फिर मौका मिला जब बिहार और यू.पी. में हिंदू दंगाइयों के खिलाफ सरकार ने सख्त कार्रवाई की और जनमत कांग्रेस के खिलाफ हो गया। महासभा के संगठनकर्ताओं ने सोचा कि कांग्रेस की अलोकप्रियता का अपने लिए लाभ उठाया जा सकता है।' दंगों के फैलने के साथ-साथ हिंदू संप्रदायवादी बड़ी आसानी से लोगों को यह बता सकते थे कि कांग्रेस उनकी सहायता के लिए नहीं आएगी और उन्हें आर एस एस या हिंदू नेशनल गार्ड जैसी स्वयंसेवक सेनाओं से जुड़कर आत्मरक्षा और जवाबी कार्रवाई के लिए खुद को तैयार कर लेना चाहिए।

पाकिस्तान बन जाने के बाद हिंदू सांप्रदायिक ताकतें पूरे जोर के साथ उभरकर सामने आईं। विभाजन से जुड़े विध्वंस के बाद देश में बने सांप्रदायिक माहौल ने इनके पनपने के लिए जमीन तैयार कर दी। इनमें पैदा हुआ नया आत्मविश्वास कठोर स्वरों और भड़काऊ जुझारू कार्रवाइयों के रूप में प्रकट हुआ। मुसलमानों के खिलाफ विषैले प्रचार से आगे बढ़कर दंगों में सक्रिय रूप से भाग लिया जाने लगा। सरकार का तख्ता पलटने और राष्ट्रीय नेताओं को फांसी पर लटकाने की बात होने लगी। अंत में गांधी की हत्या का षड्यंत्र रचा गया। इसे हद मानकर अंततः उनका दमन कर दिया गया। लेकिन इससे पहले उन्होंने इस धरती के सबसे बड़े सपूत के प्राण लेकर अपना सबसे बड़ा काम कर दिया।

हिंदू सांप्रदायिक ताकतों द्वारा कांग्रेस के खिलाफ खड़े होने का यह रुख मुख्य रूप से आजादी के बाद अपनाया गया। ऐसा तब किया जब मुसलमानों का साथ छोड़ने और हिंदू संस्था के रूप में काम करने के लिए कांग्रेस को प्रेरित करने की रणनीति नाकामयाब हो गई। 1945-47 के महत्वपूर्ण वर्षों में हिंदू सांप्रदायिक संगठनों की मूल रणनीति यह रहा करती थी कि कांग्रेस थोड़ी झुककर उनकी बात मान ले।

हिंदू सांप्रदायिक ताकतों ने सीधे खिलाफ खड़े होने के बजाए समझौते से अपनी बात मनवाने को पहला विकल्प क्यों बनाया? ऐसा कांग्रेस की जबर्दस्त ताकत के मुकाबले उनकी अपनी कमजोर स्थिति को देखते हुए किया गया। अपने असंतोष के बावजूद हिंदुओं की बहुसंख्या कांग्रेस के साथ थी। धीमे मुश्किल काम द्वारा हिंदुओं के बीच जगह बनाने के बजाए कांग्रेस को प्रेरित करके हिंदू सांप्रदायिक मांगें मनवा लेना हिंदू सांप्रदायिकता की प्रगति के लिए अधिक अच्छा था।

इसके अतिरिक्त हिंदू सांप्रदायिक नेताओं ने यह देख लिया था कि अब यह दूर की संभावना नहीं है। मुसलिम सांप्रदायिकता के दृढ़ बढ़ते कदमों के कारण कांग्रेस पीछे हट रही थी। नया दृष्टिकोण अपनाने के लिए बल देने का इससे बढ़िया अवसर और क्या होता ? उम्मीद यह थी कि दंगों के कारण सांप्रदायिकता से प्रभावित कांग्रेसजन कांग्रेस की रणनीति में परिवर्तन का खुलकर समर्थन करेंगे। राजनीतिक हालत को देखते हुए कांग्रेस में विचारधारात्मक परिवर्तन लाने का अभूतपूर्व मौका सामने नजर आता था। हिंदू

सांप्रदायिकता के सामने अब यह चुनौती थी कि क्या संभव को वास्तविक बनाया जा सकता है ?

क्या कांग्रेस हिंदू संस्थाओं से जुड़ जाए ?

हिंदू महासभा की ओर से कांग्रेस को पहला निमंत्रण 1945 की सर्दियों में मिला। एस.पी. मुखर्जी ने राजेंद्र प्रसाद को दोनों पार्टियों में चुनावी तालमेल का सुझाव दिया। यह तर्क दिया गया कि ऐसा होने पर हिंदू महासभा विधानसभा में हिंदू हितों को रख सकती है। राष्ट्रीय संस्था होने के कारण कांग्रेस यह काम खुलकर नहीं कर सकती है। राजेंद्र प्रसाद ने इस प्रस्ताव के बारे में अपने साथियों को बताया और कहा कि सामान्य चुनाव क्षेत्रों में चुनावी मुकाबले को टालकर जो पैसा और कार्यकर्ता हमारे पास खाली रहेंगे उनका प्रयोग मुसलिम लीग के साथ और प्रभावी ढंग से मुकाबले में किया जा सकता है। उन्होंने अपने विचारों को बड़ी सतर्कता से आगे रखा : 'कांग्रेस की स्थिति को नुकसान पहुंचाए बगैर यदि संभव हो सके तो मैं उसके साथ समझौता करना चाहूंगा।'[3]

पटेल ने दो आधारों पर किसी भी प्रकार के सहयोग से साफ इनकार कर दिया : पहला, महासभा की राजनीति संदिग्ध है।[4] दूसरे, पार्टी द्वारा कोई सीट जीते जाने की उम्मीद नहीं है।[5] उस समय कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद ने पटेल से सहमति जताई।[6] नेहरू ने प्रस्ताव को न केवल नामंजूर कर दिया बल्कि विश्लेषण करके विस्तार से यह बताया कि 'हिंदू महासभा से समझौता और करार करना किस प्रकार गलत नीति और हमारे लिए नुकसानदेह होगा।' लीग पहले ही कांग्रेस के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप पर हमला कर रही है। हिंदू महासभा के साथ समझौता करने के बाद कांग्रेस के धर्म निरपेक्ष स्वरूप पर ही सवाल उठने लगेंगे : 'पहले की तरह (वे) इस बात पर बल देंगे कि कांग्रेस एक अलग लिबास में हिंदू महासभा ही है ... कांग्रेस की छवि अन्य समूहों के सामने बगैर झुके काम करने वाली निष्पक्ष और अर्ध क्रांतिकारी पार्टी के रूप में है।'[7] नेहरू का यह डर कि महासभा के साथ मिलकर कोई भी काम करने से कांग्रेस के मुसलिम समर्थकों में चिंता पैदा हो जाएगी, पंजाब में सही साबित हुआ। जहां कांग्रेस नेताओं ने महासभा नेता गोकुल चंद नारंग को कांग्रेस उम्मीदवार के पक्ष में हट जाने के लिए राजी कर लिया। नेशनल वर्कर्स कॉन्फ्रेंस ने हिंदू संप्रदायवादियों के साथ कांग्रेस के किसी भी संबंध का सख्त विरोध किया। उनका विरोध इस बात से भी कम नहीं हुआ कि कांग्रेस को इससे एक सीट मिल रही है।[8] दिसंबर 1945 में एस.पी. मुखर्जी ने फिर इस मामले पर जोर दिया तो पटेल ने उन्हें हैरत में डालते हुए एकदम नामंजूर कर दिया : 'हिंदू महासभा को भंग कर दिया जाना चाहिए और इसके सदस्यों को कांग्रेस में आ जाना चाहिए।'[9] जाहिर है कि मुखर्जी का इस दोस्ताना सलाह को मानने का कोई इरादा नहीं था। अपने पहले संकेत के एक साल बाद उन्होंने जयकर

को लिखा : 'हिंदू महासभा को बढावा देना कांग्रेस के अपने हित में है। केवल वही प्रतिक्रियावादी लीग से ठीक से निपट सकती है।'[10]

क्या कांग्रेस अनिवार्य रूप से हिंदू संस्था थी?

जब यह साफ हो गया कि कांग्रेस हिंदू संगठनों के साथ दोस्ती की इच्छुक नहीं है तो हिंदू सांप्रदायिक तत्वों ने कांग्रेस को वास्तव में हिंदू संस्था के रूप में कार्य करने के लिए प्रेरित करने की युक्ति को अपनाया। 'यह हिंदू विरोधी नीति क्यों' शीर्षक से उत्तर प्रदेश सरकार को लिखे गए अपने एक पत्र में हिंदू राहत समिति, मेरठ ने कड़ी आलोचना की :[11]

> मुसलमानों को अनुचित रूप से खुश करने की आपकी नीति गलत है। इससे मुसलिम लीग कभी भी भारत की आकांक्षाओं का सम्मान नहीं करेगी। इससे जहर उगलने की उसकी ताकत और बढ़ेगी ... आप व्यक्तिगत रूप में दिव्यात्मा हो सकते हैं लेकिन हम मनुष्य हैं और मानते हैं कि धूर्त के साथ धूर्तता का व्यवहार ही किया जाना चाहिए ... इस प्रांत के बहुसंख्यक हिंदू राष्ट्रवादी और कांग्रेसी हैं। वे कांग्रेस की कामयाबी की कामना रखते हैं। उन्होंने अपना खून देकर कांग्रेस को जीवित रखा है। वह दिन बड़ा दु:खद होगा जिस दिन आपकी सरकार द्वारा अपनाई जा रही पक्षपातपूर्ण सांप्रदायिक राजनीति के कारण हमें उसी संस्था को पक्षपातपूर्ण और अन्यायी बताना पड़ेगा जो हमें जान से भी प्यारी है।

'एक हिंदू मात्र' बनवारी लाल द्वारा हिंदू महासभा के अध्यक्ष को लिखे गए पत्र में यही भावना व्यक्त की गई : 'हमें दृढ़ता के साथ मुसलमानों को यह बता देना चाहिए कि यदि आप मानवों के रूप में भारत में रहना चाहते हैं तो रहें नहीं तो अपना सामान और बंदूकें अपने ऊंटों पर लादकर अरेबिया चले जाएं।' पत्र में कांग्रेस से अपील की गई है कि वह 'मुसलिम अल्पसंख्यकों की गलत खुशी के लिए हिंदुओं के हितों की बलि न चढ़ाए।' आखिरकार कांग्रेस 'हिंदुओं के बलिदान और समर्पण की प्रतीक' है। उसे इस सचाई को याद दिलाया जाना चाहिए।[12]

राष्ट्रवादी मुसलमानों पर तीखा प्रहार किया गया है क्योंकि यह महसूस किया गया कि कांग्रेस में उनकी मौजूदगी उसे हिंदू संस्था के रूप में स्वीकार करने में सबसे बड़ी बाधा है। युक्ति यह थी कि राष्ट्रीय कार्य के प्रति उनकी निष्ठा पर सवाल खड़ा किया जाए, यह अर्थ लगाया जाए कि उनकी सहानुभूति वास्तव में लीग के साथ है और उन्हें यह बता दिया जाए कि उनकी संख्या इतनी कम है कि उन्हें महत्व नहीं दिया जा सकता। गोरखपुर से एक साप्ताहिक कल्याण में 'मौजूदा खतरे और हमारे कर्तव्य' शीर्षक से छपे एक भड़काने वाले पैंफलेट में यह आरोप लगाया गया : 'सचाई यह है कि राष्ट्रवादी मुसलमान मुसलमान पहले हैं और राष्ट्रवादी बाद में। यह मौलाना अब्दुल कलाम आजाद के भाषणों

से ही साफ है।'[13] बंबई से एक कांग्रेसी शांतिलाल शाह का भी यह विचार था कि आजाद 'लीग के प्रति थोड़े नरम हैं।'[14] तो फिर यह पूछा गया कि कांग्रेस 'इन मुट्ठी भर तथाकथित राष्ट्रवादी मुसलमानों के लिए हिंदुओं की बलि' क्यों चढ़ाती रहे ?

कांग्रेस द्वारा अनिवार्य रूप से अपना हिंदू स्वरूप स्वीकार कर लिए जाने का तर्क पहली बार नहीं दिया गया था। अंग्रेजों का हमेशा यह विचार रहा कि कांग्रेस राष्ट्रीय संस्था होने का दावा करती है लेकिन वास्तव में वह केवल हिंदू संस्था है। मुसलिम लीग ने अपनी यह मांग कभी नहीं छोड़ी कि कांग्रेस खुद को हिंदू पार्टी माने और केवल उसे मुसलमानों की एकमात्र प्रवक्ता माना जाए। जिन्नाह नेहरू के इस प्रस्ताव को मानने के बिलकुल खिलाफ था कि कांग्रेस लीग को भारतीय मुसलमानों की प्रमुख आवाज मानने को तैयार है बशर्ते कि इसके बदले में लीग यह मान ले कि कांग्रेस 'उन मुसलमानों की प्रतिनिधि है जिन्होंने अपना भाग्य इसके साथ जोड़ दिया है।'[15] ऐसा लगता है कि मुसलमान और हिंदू संप्रदायवादी एक मुद्दे पर सहमत थे और वह यह कि कांग्रेस राष्ट्रवादी मुसलमानों को छोड़ दे।

यह मुद्दा जुलाई 1945 में शिमला सम्मेलन के समय झगड़े का विषय बन गया। जिन्नाह ने जोर दिया कि कोई भी दूसरी पार्टी एग्जीक्यूटिव कौंसिल में किसी मुसलमान को अपने प्रतिनिधि के रूप में नामित नहीं कर सकती। सरकार ने कांग्रेस का पक्ष नहीं लिया लेकिन वह उसके मित्र पंजाब के एकतावादियों का साथ नहीं छोड़ सकती थी। वाइसरॉय ने जिन्नाह की चालबाजी को उजागर करने के बजाए सम्मेलन के भंग हो जाने की घोषणा करने का सरल मार्ग अपनाया। अंतरिम सरकार के गठन के लिए बातचीत के दौरान 1946 के मध्य में यह विवाद फिर खड़ा हुआ। व्यावहारिक तर्क यह था कि समझौते के हित में कांग्रेस मुसलमान नामित करने पर जोर न दे। राष्ट्रवादी मुसलमानों की कम संख्या को देखते हुए यह सैद्धांतिक हठधर्मी के सिवाय कुछ नहीं है। लेकिन जो लोग लीग के सर्वसत्तावाद के इस सांकेतिक विरोध के सांकेतिक महत्व को समझते थे उन्होंने मुसलमानों को प्रतिनिधि बनाने और नामित करने के कांग्रेस के अधिकार को स्वीकार किया।

वास्तव में गांधी ने ठीक स्पष्ट किया कि यह अधिकार नहीं कर्तव्य है : 'कोई अपना अधिकार तो छोड़ सकता है, ड्यूटी नहीं।'[16] उन्होंने यह माना कि कांग्रेस अध्यक्ष मौलाना आजाद के लिए कांग्रेस की नामितियों की सूची में किसी राष्ट्रवादी मुसलमान को शामिल किए जाने के लिए कहना तकलीफदेह लग सकता है। उन्होंने पटेल को सुझाव दिया कि कैबिनेट मिशन से बातचीत के लिए किसी और व्यक्ति को प्राधिकृत किया जाए।[17] उन्होंने कांग्रेस कार्यसमिति को चेतावनी दी कि यदि वे अपने कोटे में किसी राष्ट्रवादी मुसलमान को शामिल न करने के लिए राजी हो गए तो वे पूरे मामले से अपना पल्ला झाड़ लेंगे।[18] गांधी के कड़े रुख का कारण उनका यह विश्वास था कि यदि कांग्रेस इस मुद्दे पर झुक गई तो वह सबसे बड़ी राष्ट्रीय संस्था की स्थिति से नीचे गिरकर एक सांप्रदायिक संगठन,

एक हिंदू संस्था बनकर रह जाएगी। नेहरू ने भी यह माना कि कांग्रेस के स्वरूप से यह मुद्दा बहुत गहराई से जुड़ा है : 'कांग्रेस इस नजरिए से सहमत नहीं हो सकती थी, क्योंकि यदि वह ऐसा करती तो वह सांप्रदायिक संगठन बनकर रह जाती।'[19] यदि कांग्रेस यह रियायत दे देती तो उसे तुरंत व्यावहारिक लाभ मिल सकते थे लेकिन यह 'अपने पूर्व इतिहास को झुठलाना होता।'[20] डर यह था कि 'अपना राष्ट्रीय स्वरूप छोड़कर कांग्रेस अपनी प्रतिष्ठा गंवा देगी।'[21]

1946-47 के उथल-पुथल भरे दिनों में जब बड़े बड़े शिलाखंड बहकर जा रहे थे, एक चट्टान से चिपटे रहना फिजूल का कार्य लगता होगा। कांग्रेस के पास और कोई विकल्प नहीं था। क्या उसे उन धर्मनिरपेक्ष मुसलमानों को छोड़ देना चाहिए था जो भारी दबाव के बावजूद उसका साथ देते रहे ? क्या वह मात्र हिंदू संगठन बनने के लिए राष्ट्रीय संगठन के रूप में अपने पूर्व इतिहास को छोड़ देती ? या क्या वह धर्मनिरपेक्ष भारत के अपने भावी सपने को छोड़ देती ? जाहिर है कि बहुत भारी कीमत मांगी जा रही थी।

क्या एकता के लिए बल प्रयोग किया जाए ?

राष्ट्रवादी मुसलमानों के सवाल से भी बड़ा सवाल यह था कि क्या एकता को बनाए रखने के लिए ताकत का उपयोग किया जाए। लीग की हठ, ब्रिटिश सरकार द्वारा पाकिस्तान के मामले पर स्पष्ट रुख अपनाने से इनकार, आम आदमी के संप्रदायीकरण और परिणामस्वरूप एक के बाद एक प्रांत में सांप्रदायिक हिंसा के फैल जाने से कांग्रेस के सामने विकल्प कम होते गए और अंतत: दो विकल्प रह गए। पहला विकल्प यह था कि कांग्रेस एकता बनाए रखने में अपनी विफलता को स्वीकार कर ले और देश के विभाजन को मंजूर कर ले। दूसरा विकल्प यह घोषणा कर देना था कि कांग्रेस किसी भी स्थिति में पाकिस्तान बनाने के लिए तैयार नहीं होगी और इसकी मांग करने वालों के खिलाफ हर इंच पर लड़ेगी।

कांग्रेस के भीतर और बाहर हिंदू सांप्रदायिक मत यह था कि पाकिस्तान का पूरी ताकत के साथ विरोध किया जाए। यू.पी. विधानसभा में कांग्रेस स्पीकर ने 'कांग्रेस और देश के मर्दों' से अपील की कि वे 'अब भी इस गद्दारी को रोकें'।[22] कानपुर के एक कांग्रेसजन रामरतन गुप्ता ने संविधान सभा के सदस्यों का आह्वान किया कि वे जिन्नाह के इस अनावश्यक उपहार को रोकें क्योंकि यह 'हमारे स्वीकृत सिद्धांतों' को छोड़ देना और उनका निषेध है तथा जिन मतदाताओं की ताकत पर हमारा संगठन खड़ा है उनको दिए गए वचन को तोड़ना है।'[23] महासभा से सहानुभूति रखने वाले बंबई के उदार नेता एम.आर. जयकर ने अपने निकट के साथी सपरु के सामने दुखड़ा रोया :[24]

> हमारे पास कोई बेंजामिन फ्रैंकलिन नहीं है जो मुसलमानों को यह बता सके कि हम आपको अलग नहीं होने देंगे और यदि आप लड़ना चाहते हैं तो हम आपकी जमीन पर ही आप से लड़ेंगे।' शुरू से ही तुष्टीकरण की प्रक्रिया चल रही है। एक साल से

तुष्टीकरण का स्थान रियायतों ने ले लिया है जो हिंसा के थोड़े से डर से ही दे दी जाती हैं। यह तब तक चलता रहेगा जब तक कांग्रेस दृढ़ निश्चय नहीं करेगी और हिंसा का मुकाबला नहीं करेगी।

जयकर किससे फ्रैंकलिन बनने की उम्मीद कर रहे थे? एक साल पहले ऐसा लगता था कि पटेल यह काम करेंगे। जगदीश प्रसाद और गोपालस्वामी अयंकर के साथ जयकर पटेल से मिलने और अपना 'यह डर प्रकट करने के लिए गए थे कि कांग्रेस जिन्नाह को और रियायतें दे सकती है।' 7 अप्रैल 1946 को उनकी डायरी में जो लिखा है उससे लगता है कि वे आश्वस्त होकर लौटे थे।[25] मई 1947 में उन्होंने जो अफसोस प्रकट किया कि 'हमारे पास कोई बैंजामिन फ्रैंकलिन नहीं है' उससे लगता है कि उनकी पटेल से भी उम्मीद खत्म हो गई थी।

दूसरे कांग्रेसी नेताओं की क्या स्थिति थी ? क्या वे 'हिंसा का मुकाबला करने के लिए तैयार थे ?' गांधी की आपत्ति बुनियादी थी। वे किसी भी उद्देश्य के लिए ताकत के इस्तेमाल के खिलाफ थे। लीग ने संविधान सभा में आने से मना कर दिया था और अपने नोआखाली दौरे के दौरान गांधी ने मुसलमानों को देहात में दहशत फैलाते देखा था। इन दोनों ही अवसरों पर गांधी ने स्पष्ट कर दिया था कि चाहे किसी भी सीमा तक उकसाया जाए उनका रास्ता ताकत या मजबूरी का नहीं होगा, भले ही इसके बदले में पाकिस्तान देना पड़े।[26] नेहरू का दृष्टिकोण सैद्धांतिक होने के बजाए व्यावहारिक था : 'हम तलवार और लाठी का सहारा लेकर उन्हें रोक सकते थे लेकिन क्या उससे समस्या का हल हो जाता ?'[27] वास्तव में हिंसा से समस्या और भी विकट हो जाती : 'भारत की एकता बनाए रखने के लिए इस समय हिंसा के भयंकर परिणाम होते। गृहयुद्ध से भारत की प्रगति बहुत लंबे समय के लिए रुक जाएगी।'[28]

ऐसा लगता है कि इस विकल्प को उठाए जाने और बाद में उससे इनकार किए जाने से कांग्रेस नेताओं के लिए विभाजन को स्वीकार करना आसान हो गया। यदि चुनाव विभाजन और सांप्रदायिक गृहयुद्ध में करना था तो विभाजन को ही चुना जाता। अप्रैल 1947 के शुरू में माउंटबैटन के साथ अपनी बैठक में कृपलानी, राजगोपालाचारी और राजेंद्र प्रसाद ने दो विकल्पों में पाकिस्तान के विकल्प को मंजूरी दी। उस समय कांग्रेस अध्यक्ष कृपलानी ने बड़ी उदारता की बात कही : 'लड़ाई के बजाए हम उन्हें उनका पाकिस्तान लेने देंगे।'[29] राजगोपालाचारी ने स्वीकार किया कि 'अविभक्त भारत का आदर्श ताकत द्वारा थोपा नहीं जा सकता।'[30] राजेंद्र प्रसाद ने गृहयुद्ध के नेहरू के डर को दोहराया।[31] एक अन्य जगह राजेंद्र प्रसाद ने कहा है कि कांग्रेस और कुछ नहीं कर सकती थी : 'हमें इसे (विभाजन को) ताकत द्वारा रोकने या इसके लिए सहमति देने के लिए तैयार रहना चाहिए ... कांग्रेस का शुरू से ही यह विचार रहा है कि वह भारत के किसी भी हिस्से पर दबाव डालने का नहीं सोच सकती।'[32]

ताकत द्वारा एकता बनाए रखने के साथ समस्या केवल यही नहीं थी कि यह कांग्रेस के लोकतांत्रिक स्वभाव के खिलाफ था। अंतरिम सरकार में कांग्रेस के सदस्यों के मौजूद होने के बावजूद उसके पास राष्ट्रीय स्तर पर शासन की शक्ति नहीं थी। महत्वपूर्ण प्रांत पंजाब और बंगाल की घटनाओं पर नियंत्रण की शक्ति भी उसके पास नहीं थी। एकता कायम करने के लिए कांग्रेस के पास उपलब्ध उपकरण शासन की सशस्त्र सेनाएं नहीं थीं। उन पर तो अंग्रेजों का नियंत्रण था। उसका उपकरण उसके सदस्य थे। ताकत द्वारा एकता का मतलब था कि लीग के गुंडों के खिलाफ कांग्रेस के गुंडे खड़े किए जाएं, मुसलिम नेशनल गार्डों का मुकाबला करने के लिए स्वयंसेवक संस्थाएं बनाई जाएं। संक्षेप में कांग्रेस को भी हिंदू सांप्रदायिक संगठन, फासीवादी संगठन बना दिया जाए। विभाजन को ताकत के साथ रोकने के बजाए यदि कांग्रेस ने विभाजन को स्वीकार किया तो इसके लिए उसे दोषी नहीं ठहराया जा सकता।

कांग्रेस मंत्रिमंडल हिंदू विरोधी क्यों है?

हिंदू संस्था के रूप में कार्य करने से इनकार ने यदि सांप्रदायिक हिंदुओं और संगठनों को नाराज किया तो कांग्रेस मंत्रिमंडलों के कार्यों ने कम दुःख नहीं पहुंचाया। कांग्रेस सरकारों विशेष रूप से बिहार और यू.पी. की सरकारों की तीखी आलोचना हुई। दिसंबर 1946 के दंगों के बाद सरकार द्वारा किए दंडात्मक उपायों से हापुड़ के हिंदू नाराज थे। उन्होंने आरोप लगाया कि केवल हिंदुओं को दंड दिया जा रहा है। मुसलमानों को साफ छोड़ दिया गया है। 2 लाख रुपयों का सामूहिक जुर्माना केवल हिंदुओं पर लगाया गया। भारी संख्या में हिंदुओं को बगैर मुकदमे के नजरबंद कर लिया गया। गैर कानूनी अग्नि अस्त्रों के लिए केवल हिंदुओं के घरों की तलाशी ली गई। सरकार केवल मुसलमानों की शिकायतें सुनती है। उदाहरण के लिए रफी अहमद किदवई शहर में आए और कांग्रेसजनों सहित किसी भी महत्वपूर्ण हिंदू से बात किए बगैर लौट गए। उनका आरोप था कि सरकार पूरी तरह मुसलिम समर्थक नीति अपना रही है।[33]

हिंदू महासभा की शिकायत यह थी कि कांग्रेस मंत्रिमंडल केवल उसका दमन कर रहे हैं। जनवरी से मई 1947 की अवधि के लिए संगठन की रिपोर्ट में बिहार, यू.पी. और बंबई मंत्रिमंडलों का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है।[34] यह आरोप लगाया गया कि बिहार में सम्मेलन नहीं करने दिए गए। प्रांतीय हिंदू सम्मेलन को अपना अधिवेशन नहीं करने दिया गया। वक्ताओं को दौरे नहीं करने दिए गए। उनमें से कुछ को गिरफ्तार भी किया गया। उदाहरण के लिए रामगढ़ के राजा को लिया जा सकता है। उत्तर प्रदेश में हिंदू सभा बरेली के अध्यक्ष और कानपुर के साधारण सदस्य को गिरफ्तार कर लिया गया। वे केवल राहत कार्य में लगे थे। बदायूं में महासभा द्वारा आयोजित मंडलीय सम्मेलन को अस्तव्यस्त करने में मंत्रिमंडल की सहायता के लिए कांग्रेस विधायक आए लेकिन जिलाधीश

ने उनकी साजिशों को नाकाम कर दिया। बंबई सरकार ने केसरी और महासभा से जमानतें मांगी। रिपोर्ट में यह निष्कर्ष निकाला गया कि कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा किए गए 'विभिन्न दंडात्मक उपायों' के पीछे उद्देश्य 'हिंदू महासभा आंदोलन की बढ़ती लोकप्रियता को निष्फल' बनाना था।

बाबू नवलकिशोर प्रसाद ने बिहार सरकार के हिंदुओं के प्रति सामान्य रूप से तथा हिंदू महासभा के प्रति विशेष रूप से भेदभावपूर्ण रुख के खिलाफ राजेंद्र प्रसाद को व्यक्तिगत अभ्यावेदन किया।[35] यह आरोप लगाया गया कि बगैर मुकदमे के जेलों में सड़ रहे सभी 1000 नजरबंद हिंदू थे। 'हिंदू सभा के लोगों को कोई बैठक करने या धार्मिक जुलूस निकालने की अनुमति नहीं मिलती। पूरे प्रांत में उनकी गतिविधियों को दबा दिया गया है। श्रीकृष्ण सिन्हा ने व्यापक उत्तर दिया जिसमें हरेक आरोप से इनकार किया गया।[36] सबसे पहले नजरबंदों की संख्या बहुत बढ़ा-चढ़ा कर बताई गई थी। इनकी कुल सं. 327 थी। दूसरे, उनमें से 20 प्रतिशत मुसलमान थे। अकेले मुंगेर जिले में अवैध अग्नि अस्त्र रखने के लिए 25 मुसलमानों को नजरबंद किया गया था। तीसरे, सरकार ने दंगों के एक महीने बाद नवंबर 1946 से ही कड़े प्रतिबंध में धीरे-धीरे छूट देनी शुरू कर दी थी। लेकिन जब कभी भी सांप्रदायिक तनाव की आशंका बढ़ी तो थोड़े समय के लिए निषेधाज्ञा लगा दी गई। केवल हिंदू संगठनों पर प्रतिबंध लगाने की बात बिलकुल गलत है :

> यह कहना पूरी तरह से गलत है कि बैठकों और जुलूसों के लिए इजाजत देने के मामलों में हिंदू सभा के साथ भेदभाव किया जा रहा है। धार्मिक स्वरूप की जिन बैठकों और सभाओं की अनुमति मांगी गई है उनके लिए अनुमति दे दी गई है। पिछले जिला बोर्ड चुनावों में हिंदू सभा को दूसरी पार्टियों की तरह चुनाव बैठक आदि आयोजित करने की छूट दी गई है।

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के खिलाफ हिंदू संप्रदायवादियों की यह शिकायत थी कि उनके कार्य केवल हिंदू विरोधी नहीं थे बल्कि उन्होंने ब्रिटिश शासन काल की मुसलिम-समर्थक नीतियां जारी रखीं। एक बड़ी शिकायत यह थी कि मुसलमान अधिकारी महत्वपूर्ण पदों पर बने रहे और सेवाओं में मुसलमानों की अधिक संख्या को दुरुस्त नहीं किया गया। हिंदू सांप्रदायिक नेताओं और संगठनों ने अपने राष्ट्रीय सम्मेलनों में कुल जनसंख्या में विभिन्न समुदायों के अनुपात के अनुसार सेवाओं में प्रतिनिधित्व की मांग उठाई। अखिल भारतीय हिंदू महासभा ने 8 से 10 फरवरी 1947 तक हुई अपनी वार्षिक बैठक में इस आशय का संकल्प पारित किया।[37] सुविख्यात हिंदू सांप्रदायिक नेता मुंजे ने चेतावनी दी थी कि यदि कांग्रेस ने सेना को फिर से गठित नहीं किया तो वह प्रभुसत्ता कायम नहीं कर पाएगी।[38]

यू.पी. मंत्रिमंडल को मेरठ जिले में हापुड़ (यहां दिसंबर 1946 में दंगे हुए) में हिंदुओं से शिकायतें मिलीं :[39]

> आपका प्रशासन तंत्र सड़ा हुआ और सांप्रदायिक है। आपकी यू.पी. पुलिस में 70 प्रतिशत मुसलमान हैं। डिप्टी कलेक्टरों में भी 50 प्रतिशत मुसलमान हैं। ये लोग अपने सांप्रदायिक झुकाव को साफ जाहिर करते हैं। मुसलमान गुंडों को ओहदों पर बैठे अपने धर्म के इन लोगों से निश्चित रूप से बढ़ावा मिलता है। यही कारण है कि यू.पी. में मुसलमानों की संख्या 14 प्रतिशत होने के बावजूद वह मुसलिमों का गढ़ बना हुआ है ... चाहे जो हो आपके प्रांत के 86 प्रतिशत हिंदुओं को मुसलिम पुलिस और अफसरों की दया पर छोड़ देना उचित नहीं है। समय आ गया है कि आप अपने प्रशासन तंत्र का जायजा लें और इसके अनिच्छुक और अवांछित हिस्से को हटा दें।

यू.पी. के मुख्यमंत्री, जी.बी. पंत का उत्तर रिकार्ड में उपलब्ध नहीं है। लेकिन सरकार ने उनकी मांगें नहीं मानीं। वास्तव में कुछ महीनों बाद पटेल को पंत के पत्र में साफ-साफ कहा गया है कि वे इस मुश्किल रास्ते पर फूंक-फूंक कर कदम रखना चाहते हैं।[40]

बिहार मंत्रिमंडल से भी दो मांगें की गईं कि सेवाओं में मुसलमानों के अधिक प्रतिनिधित्व को ठीक किया जाए और महत्वपूर्ण पदों से मुसलमान अधिकारियों को हटाया जाए क्योंकि 'हिंदुओं' का इस बात से विश्वास उठ गया है कि मुसीबत आने पर उन्हें सरकार से कोई सहायता मिलेगी।[41] बिहार के मुख्यमंत्री ने कुछ भी छूट देने से इनकार कर दिया। उसने कहा कि अधिक प्रतिनिधित्व की समस्या उतनी गंभीर नहीं है जितनी कि पड़ोसी प्रांत यू.पी. में है। उदाहरण के लिए कांसटेबुलरी में सिर्फ 20 प्रतिशत मुसलमान हैं। शीघ्र ही यह प्रतिशत और कम हो जाएगा क्योंकि इस समय बनाए जा रहे 2000 आदमियों के विशेष पुलिस बल में कोई मुसलमान भर्ती नहीं किया जाएगा। सरकार पूरे मामले की जांच करा रही है और उसका पक्का विचार है कि मामले में जल्दबाजी नहीं की जानी चाहिए : 'हमने यह सोचा कि भारत संघ में अधिकारों और विशेषाधिकारों के सामान्य मामले की समीक्षा हो जाने तक हम प्रतीक्षा करें।' उसने इस दूसरी मांग पर और भी अधिक विरोध प्रकट किया कि मुसलमान अधिकारियों को हटा दिया जाए क्योंकि उन पर से हिंदुओं का विश्वास उठ गया है। मुसलमानों के महत्वपूर्ण पदों पर होने की शिकायत का उन्हें कोई आधार नजर नहीं आया क्योंकि 16 जिलाधीशों में से केवल एक मुसलमान था और वह भी दूरदराज के पलामू जिले में। हां, पुलिस अधीक्षक और उप मंडल अधिकारी के पदों पर 'कई मुसलमान अधिकारी' थे : 'मेरी समझ में यह नहीं आता कि इसमें क्या गलत है। क्या में ऊंचे रैंकों से मुसलमान अधिकारियों को निकाल दूं ? यदि नहीं तो क्या मैं उनको उन पदों से दूर रखूं जिनके वे अपनी लंबी सेवा और सेवा रिकार्ड के कारण हकदार हैं।'[42]

गांधी द्वारा प्राप्त और उनके द्वारा राजेंद्र प्रसाद को भेजी गई गुमनाम उर्दू याचिका पर श्रीकृष्ण सिन्हा की प्रतिक्रिया नवल किशोर प्रसाद की शिकायतों पर प्रतिक्रिया से बिलकुल अलग थी। याचिकाकर्ता ने शिकायत की कि अवैध हथियारों के लिए मुसलमानों के मकानों

की तलाशी ली जा रही है, स्त्रियों की बेइज्जती की जा रही है, मसजिदों और दरगाहों को अपवित्र किया जा रहा है तथा मुसलमान भारी संख्या में पाकिस्तान जा रहे हैं। श्रीकृष्ण सिन्हा ने बताया कि 'कुछ आरोप दुर्भावपूर्ण और गलत हैं' विशेष रूप से मसजिदों, पवित्र पुस्तकों और मुसलमान स्त्रियों को बेइज्जत करने संबंधी आरोप। लोग मुसलिम लीग के प्रचार के कारण जा रहे हैं और 'सरकार किसी भी रूप में इसके लिए जिम्मेदार नहीं है।' इन आरोपों के खंडन के बाद उन्होंने यह दिखाया है कि मुसलमानों की धार्मिक आजादी की पूरी सुरक्षा के लिए उनकी सरकार ने विशेष ध्यान दिया। मोहर्रम जुलूसों के लिए व्यापक इंतजाम किया गया लेकिन कुछ स्थानों पर 'मुसलमानों ने खुद जुलूस नहीं निकाले ताकि शेष विश्व की नजरों में भारतीय संघ सरकार को बदनाम किया जा सके।' बिहार के प्रमुख मुसलमानों ने अपील की कि हिंदू भावनाओं का आदर करते हुए गाय की कुर्बानी न दी जाए। इसके बावजूद बिहार प्रशासन ने जिलाधीशों को अनुदेश दिए कि 'गाय की कुर्बानी के रिवाजी हक की रक्षा के लिए कानून की पूरी ताकत लगा दी जाए और यदि जरूरी हो तो बल प्रयोग भी किया जाए[43]।'

जब हिंदू भावनाओं के सम्मान और मुसलमानों के 'रिवाजी हकों' के बीच चयन की बात आई तो बिहार के मुख्यमंत्री ने बगैर किसी हिचकिचाहट के मुसलमानों के रिवाजी हकों को चुना। नवल किशोर प्रसाद की शिकायतों के बारे में राजेंद्र प्रसाद को दिए गए उत्तर में उन्होंने अपने इस चयन का पूरा खुलासा दिया :[44]

> नवल बाबू और उनकी जैसी धारणा रखने वाले दूसरे लोग मुझसे यह चाहते हैं कि मैं इस प्रांत की 13 प्रतिशत आबादी वाले मुसलमानों की भावनाओं और उनकी वाजिब उम्मीदों की पूरी तरह से अनदेखी कर दूं और बहुसंख्यक समुदाय के हर वर्ग की उचित-अनुचित मांगों को पूरा करूं। नवल बाबू और उनके जैसे दूसरे लोगों को संतुष्ट करने के लिए यदि मुझे यह कीमत चुकानी है तो उनका नाराज रहना ठीक है।

क्या भारत हिंदू देश बने ?

3 जून 1947 को यह घोषणा की गई कि आजादी के बाद दो डोमिनियन भारत और पाकिस्तान बनेंगे। इसे मुसलिम लीग की विजय के रूप में देखा गया। उसके इस आग्रह को स्वीकार कर लिया गया था कि मुसलमान एक अलग राष्ट्र है और उनका अपना अलग देश होना चाहिए। हिंदू सांप्रदायिक संगठनों और व्यक्तियों ने तुरंत हिंदू राज का झंडा उठा लिया, एक हिंदू देश जो आगे अपने वाले मुश्किल समय में हिंदुओं के हितों की रक्षा करेगा। यह वही पुराना तर्क था कि केवल हिंदू पार्टी ही हिंदू हितों की रक्षा कर सकती है क्योंकि कांग्रेस ने हिंदू हितों को राष्ट्रीय एकता की बलि चढ़ा दिया है – हिंदू पार्टी से हिंदू देश तक सरलता से जाया जा सकता है।

हिंदू महासभा की अखिल भारतीय समिति की 7 और 8 जून 1947 को बैठक हुई और उसमें यह संकल्प लिया गया : 'समिति हिंदुओं को यह चेतावनी देना अपना कर्तव्य समझती है कि यदि वे भविष्य में और अधिक सावधान तथा सतर्क नहीं होंगे और वास्तविक तथा शक्तिशाली हिंदू देश बनाने के लिए तत्काल और कारगर कदम नहीं उठाएंगे तो नए प्रस्तावित शासन में न केवल उनके हित असुरक्षित रहेंगे बल्कि उन्हें भारत का जो कुछ हिस्सा मिला है उसे भी खो देंगे।'[45] पटेल के एक साथी ने लिखा, 'हिंदुओं के लिए निस्संदेह बहुत अच्छी बात है कि हम सांप्रदायिक नासूर से मुक्त हो गए हैं ... अलग हुआ क्षेत्र मुसलिम देश होगा। क्या अब समय नहीं आ गया है कि हम हिंदुस्तान को हिंदू देश और हिंदू धर्म को देश का धर्म मानें ?'[46] पटेल ने इस तरह की संभावना मे स्पष्ट रूप से इनकार किया : 'मैं नहीं समझता कि हिंदुस्तान को हिंदू देश और हिंदूवाद को राज्य धर्म बनाने पर विचार करना संभव होगा। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि दूसरे अल्पसंख्यक हैं जिनकी सुरक्षा भी हमारी मूल जिम्मेदारी है। शासन जाति या वंश का विचार किए बगैर सबके लिए होता है।'[47]

आजादी के महीनों बाद हिंदू सांप्रदायिक मंचों से हिंदू राज का नारा बगैर किसी डर के उठाया जाता रहा। नेहरू ने हर मौके पर सभी संभव तर्क देकर इस मांग का विरोध किया। शुरू में उनका रुख उपेक्षा वाला था : 'यह कुछ लोगों की मांग हो सकती है ... मेरी समझ में यह नहीं आता कि इसका क्या मतलब है।'[48] वे यह जानना चाहते थे कि हिंदू राज शब्द विवरणात्मक है या आदेशात्मक। क्या भारत इस अर्थ में हिंदू देश होगा कि इसके अधिकांश नागरिक हिंदू हैं ? या इसे इस अर्थ में हिंदू देश बनाने का इरादा है कि यह पूरी तरह से केवल हिंदुओं के लिए होगा ? जानबूझकर नासमझी द्वारा नेहरू का इरादा यह दिखाना था कि यह अवधारणा गलत है और इसमें कोई तत्व नहीं है। एक ऐसी ही तरकीब के तहत इसे अनावश्यक मांग के रूप में प्रस्तुत किया गया। क्या हिंदू संस्कृति को जीवित रहने के लिए हिंदू देश की आवश्यकता है ? उन्हें 'कोई संदेह नहीं था कि भारत पर हिंदू संस्कृति का प्रभाव रहेगा।'[49] इस मामले पर उन्होंने अपना रुख स्पष्ट किया : 'हिंदू राज के विचार के लिए मेरे विरोध का मतलब हिंदू संस्कृति से विरोध नहीं है। भारत प्रमुख रूप से हिंदुओं का देश है। हिंदू संस्कृति देश के अन्य सांस्कृतिक रूपों पर स्वाभाविक रूप से छाएगी। लेकिन मैं भारत में धर्मतंत्रात्मक राज्य स्थापित करने के खिलाफ हूं।'[50] इसके अलावा 'हिंदू राज की यह मांग बाहरी दुनिया को यह दिखाएगी कि भारत संकुचित विचारों वाला देश है और फासीवाद की ओर झुक रहा है ... यदि हम सांप्रदायिकता के मार्ग को अपनाएंगे तो दुनिया में कोई हमारी इज्जत नहीं करेगा।'[51] नेहरू ने इस मांग के पीछे राजनीति के सर्वसत्तावादी विचार का उल्लेख किया : 'फासीवादी संगठन के विचार और तरीके हिंदुओं में लोकप्रिय होते जा रहे हैं। हिंदू देश की स्थापना की मांग इसे साफ-साफ उजागर कर देती है।'[52] उन्होंने इस मांग के खतरनाक अर्थ का उल्लेख किया : 'हिंदू देश की यह

बात दो राष्ट्रों के सिद्धांत का ही उदाहरण है।'[53] एक और जगह उन्होंने स्पष्ट किया है : 'हिंदू देश की मांग गलत है। यह उन सिद्धांतों को खारिज कर देना है जिनके लिए हम लड़े हैं।'[54]

इस प्रकार कांग्रेस द्वारा पाकिस्तान की मांग को स्वीकार कर लिया जाना कितना भी दुर्भाग्यपूर्ण हो लेकिन इसका मतलब पाकिस्तान के आधार पर दो राष्ट्रों के सिद्धांत को मान लेना नहीं था।[55] कांग्रेस ने सांप्रदायिकता के खिलाफ लड़ाई में हार मान ली थी। लेकिन उसने धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों की बलि नहीं चढ़ाई थी। यदि कांग्रेस हिंदू देश की स्थापना की मांग के आगे झुक जाती तो यह सांप्रदायिक ताकतों की वास्तविक जीत होती। यह पाकिस्तान के निर्माण से भी बड़ा पुरस्कार होता।

हिंदू सांप्रदायिकता का दूसरा चेहरा : आत्मनिर्भरता और आग्रह

हिंदू सांप्रदायिक मत की एक धारा के अनुसार हिंदुओं का अपने जीवन, संपत्ति या राजनीतिक हितों की सुरक्षा के लिए कांग्रेस पर आश्रित रहना फिजूल है। जैसे-जैसे कांग्रेस को हिंदू सांप्रदायिक रूप देने के प्रयास विफल होते गए वैसे-वैसे यह विचारधारा मजबूत होती गई। कांग्रेस सरकारों का यह रुख था कि मुसलमान अल्पसंख्यकों की भलाई को अधिक प्राथमिकता दी जाए। इस पर हिंदू संप्रदायवादियों ने पूछा कि हिंदुओं की रक्षा कौन करेगा? हिंदू आत्मरक्षा तथा मुसलिम नेशनल गार्डों, मुसलिम लीग स्वयंसेवकों द्वारा फैलाए गए आतंक से लड़ने के लिए हथियार उठाएं। हिंदू महासभा और आर एस एस जैसी सांप्रदायिक संस्थाएं नेतृत्व प्रदान करेंगी।

कलकत्ता में लीग द्वारा अपनी फायर शक्ति का प्रदर्शन किए जाने के तीन दिन बाद महासभा के नेता बी.एस. मुंजे ने कहा कि जिन्नाह का मुकाबला करने के लिए 'हमें निपुणता के साथ हिंसा आयोजित करनी होगी।'[56] हिंदू मुसलिम लीग को पाकिस्तान के लिए लड़ाई को जीतने से कैसे रोकें इस बारे में व्यावहारिक तरीकों पर विचार करने के लिए हिंदू महासभा की अक्तूबर 1946 के मध्य में दिल्ली में बैठक हुई।[57] फरवरी 1947 तक आते-आते हिंदू महासभा द्वारा बनाई गई स्वयंसेवक सेना, हिंदू नेशनल गार्डों का कुछ प्रभाव बनने लगा था। हिंदू महासभा की कार्य समिति की 8 से 10 फरवरी 1947 तक बैठक हुई और उसमें यह नोट किया गया कि यू.पी., दिल्ली और महाराष्ट्र में हिंदू नेशनल गार्डों की नई शाखाएं बनाई गई हैं। बंगाल और बिहार में उसका तेजी से विस्तार हुआ है। यहां पिछले साल हुए सांप्रदायिक दंगों ने सांप्रदायिक कड़वाहट छोड़ी है जिसका सांप्रदायिक संस्थाएं लाभ उठा सकती हैं।[58]

पंजाब में मुसलिम लीग के नागरिक अवज्ञा आंदोलन द्वारा खिज्र हयात खान के संयुक्त मंत्रिमंडल के गिरा दिए जाने के बाद वहां स्थिति गंभीर हो गई थी। हिंदू महासभा के नेता गोकुल चंद नारंग ने कांग्रेस पर दबाव डाला कि वह अभी भी सामने आए और हिंदुओं के

प्रति अपने कर्तव्य को पूरा करे। उसने मुसलिम नेशनल गार्डों द्वारा पैदा की गई स्थिति और उससे निपटने के तरीके के बारे में पटेल को लिखा :[59]

> शांति बरकरार रखने के लिए कांग्रेस को भी नागरिक गार्डों का एक दल बनाना चाहिए। मैंने आठ साल पहले महात्मा गांधी और पहली कांग्रेस सरकारों के मुख्यमंत्रियों को जो सुझाव दिए थे उन पर यदि कांग्रेस अमल करती तो आज उसके पास भले ही बगैर अग्नि अस्त्रों वाली लेकिन दो लाख लोगों की सेना होती।

पटेल ने इस सलाह की उपेक्षा कर दी और इस आरोप से इनकार कर दिया कि कांग्रेस ने हिंदुओं के प्रति अपने कर्तव्य को पूरा नहीं किया है। उन्होंने प्रस्ताव किया कि 'यदि हिंदू महासभा को मदद मिलती हो'[60] तो सदस्य अंतरिम सरकार से त्यागपत्र देने के लिए तैयार हैं।

3 जून 1947 को यह घोषणा की गई कि उपनिवेशवादी ताकत के चले जाने के बाद दो देश, भारत और पाकिस्तान अस्तित्व में आएंगे। इससे जल्दी कुछ करने की जरूरत महसूस हुई। हिंदू महासभा की अखिल भारतीय समिति की 7 और 8 जून 1947 को बैठक हुई। इसमें हिंदुओं और सिखों को चेतावनी दी गई कि यदि वे संकट की इस घड़ी से जिंदा बचकर निकलना चाहते हैं तो हथियार संभाल लें और नागरिक सेना बना लें।[61] पूरे राजनीतिक क्षेत्र में इस विचार की गूंज सुनाई दी। पुरुषोत्तम दास टंडन ने कांग्रेस द्वारा विभाजन को स्वीकार कर लिए जाने को विश्वासघात बताया और युवाओं से आग्रह किया कि वे इसे रोकने के लिए आगे आएं।[62] टंडन ने बताया कि देश के नेता पाकिस्तान के खतरे के प्रति जागरूक नहीं हैं और चेतावनी दी कि यदि समय पर कार्रवाई नहीं की गई तो देश में तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दियों के हालात फिर पैदा हो जाएंगे। उन्होंने पुराणों को याद किया और कहा कि किस प्रकार महिषासुर का वध करने के लिए देवताओं की सामूहिक प्रतिभा से दुर्गा का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने भविष्यवाणी की कि दानवों का वध करने के लिए सत्पुरुषों के जन्म का समय अब आ गया है। व्यावहारिक कदम उठाते हुए उन्होंने एक स्वयंसेवक निकाय - हिंद रक्षक दल का गठन किया।[63] टंडन ने बताया कि दल आत्मरक्षा के लिए बनाया गया है। लेकिन इसका घोषित उद्देश्य पाकिस्तान और भारत सरकारों का तख्ता उलटना है।

आजादी मिलने और पाकिस्तान बनने के बाद हिंदू सांप्रदायिकता अपने यौवन पर पहुंच गई। कांग्रेस की आलोचना को मित्रवत सलाह और मांग को अपील के रूप में पेश करने का समय चला गया। अब उसका रुख कड़ा हो गया था। हिंदू महासभा ने 15 अगस्त 1947 को शोक दिवस के रूप में घोषित किया तथा मुसलमानों को बदनाम करने और राष्ट्रीय नेताओं की आलोचना करने का अभियान चला दिया। इससे उसके बहुत से समर्थक बन गए विशेषकर ऐसे हिंदू जिन्हें उनके घरों से उखाड़ दिया गया था या जिनके अपने

लोग सांप्रदायिक दंगों की बलि चढ़ गए थे और जिनके मन में आसानी से यह बात बैठा दी जाती थी कि मुसलमान और उनकी रक्षा करने वाली कांग्रेस सरकार उनकी मुसीबतों का कारण है तथा इन्हें हटाया जाना चाहिए। सांप्रदायिक विचारों के जड़ पकड़ने के लिए बहुत अनुकूल माहौल था। भारतीय शासन 'नवजात शिशु था'[64] और नाजुक नजर आता था।

शरणार्थियों के झुंड के झुंड दिल्ली पहुंच गए। वे हत्याओं और लूट की गाथाएं अपने साथ लेकर आए। इसके कारण शीघ्र ही सांप्रदायिक माहौल पैदा हो गया। सितंबर 1947 में शहर में दंगे भड़क उठे। मुसलमान अस्थायी शिविरों की ओर दौड़ने लगे या स्थायी आश्रय की तलाश में पाकिस्तान के लंबे मार्ग पर निकल पड़े। जिन लोगों ने दंगे भड़काए वे यही चाहते थे। लूट के मामले में मसजिदों को भी नहीं बख्शा गया। दिल्ली में कुछ मसजिदों को मंदिरों में बदल दिया गया। उन पर आर्य समाज या हिंदू महासभा के लहराते झंडे बेपरवाह भाव के साथ उनके नए धर्म का एलान कर रहे थे।[65] नेहरू का मत था कि दंगाइयों द्वारा नष्ट की गई मसजिदों के फिर से निर्माण की जिम्मेदारी सरकार को लेनी चाहिए।[66] दंगे अपने आप नहीं हुए बल्कि सिखों और हिंदुओं के सुसंगठित दलों ने कराए। हिंदू गिरोहों ने लूटपाट और विध्वंस का काम पकड़ा। महाराजा पटियाला और दूसरे सिख शासकों द्वारा प्रशिक्षित सिख आतंकवादियों (नेहरू के शब्द) ने नृशंस हत्याएं कीं।[67] इन उपद्रवों के पीछे आर एस एस का हाथ ही नहीं था, इसके बहुत से सदस्यों ने दंगों में सक्रिय रूप से भाग लिया। बाद के महीनों में आर एस एस ने इस मोर्चे पर अपनी गतिविधियां जारी रखीं। 'दंगों और अव्यवस्था के साथ इसके निकट संबंध[68]' के बारे में जनवरी 1948 तक सरकार के पास 'सूचना का अंबार[69]' लग गया। दंगे केवल संगठित गिरोहों का काम नहीं थे। सांप्रदायिक संगठनों द्वारा मुसलमानों और सरकार के विरुद्ध घातक प्रचार ने भी इन्हें भड़काया।[70] प्रेस और जन प्लेटफार्म दो मुख्य मंच थे। प्रेस ने कांग्रेस नेताओं को बदनाम करने का काम संभाला। दिल्ली से प्रकाशित *हिंदू आउटलुक* में अकसर कांग्रेस नेताओं पर सत्ता के दुरुपयोग का आरोप लगाया जाता था। शुरू में नेहरू का विचार था कि इस तरह की मामूली और घटिया आलोचना पर ध्यान न देना ही उचित है। लेकिन बाद में उन्होंने अखबार के खिलाफ कार्रवाई के लिए कहा। नवंबर 1947 में इस पर प्रतिबंध लगा दिया गया।[71]

हिंदू महासभा के जिम्मेदार नेता भी सरकार की परवाह न करने के मामले में पीछे नहीं रहे। संगठन ने भारत देश की प्रभुसत्ता के प्रतीक राष्ट्रीय झंडे को भारत का वास्तविक झंडा मानने से इनकार कर दिया और कहा कि उसका भगवा झंडा ही इस सम्मान के काबिल है। अखिल भारतीय हिंदू महासभा के अध्यक्ष भोपटकर ने एक जनसभा में घोषणा की कि नेहरू मंत्रिमंडल के एक सदस्य एस.पी. मुखर्जी ने भी महासभा के अनुशासन का पालन करते हुए दिल्ली स्थित अपने सरकारी निवास पर भगवा झंडा फहराया हुआ है।[72] मुखर्जी

ने नेहरू को स्पष्ट किया कि यह बयान केवल आधा सही है। मुखर्जी ने कहा कि कभी-कभी भगवा झंडा फहराया जाता है लेकिन वह स्थायी रूप से फहरे राष्ट्रीय झंडे के साथ होता है।[73] जाहिर है कि महासभा अध्यक्ष को सचाई की चिंता नहीं थी। वह तो लोगों के दिमाग में यह बात बैठाना चाहता था कि महासभा सरकार की नाक के नीचे उसकी अवज्ञा कर सकती है और उसका कोई कुछ नहीं बिगाड़ सकता। यदि यह दिखा दिया जाए कि सरकार के पास कोई ताकत नहीं है तो लोग महासभा की ओर आएंगे। यह आधिपत्य, भारी संख्या में लोगों की निष्ठा प्राप्त करने के लिए लड़ाई थी।

कश्मीर की तरह अन्य मामलों में हिंदू सांप्रदायिकता ने यह दिखाया कि वह सरकार की नीतियों की धज्जियां उड़ा सकती है और उसके द्वारा मेहनत से बनाई गई विश्वसनीयता को नष्ट कर सकती है। जिस समय सरकार कश्मीरी मुसलमानों को यह भरोसा देने की कोशिश कर रही थी कि पाकिस्तान के बजाए भारत में उसके हित अधिक सुरक्षित रहेंगे उस समय महासभा ने जनमत संग्रह के वायदे और प्रशासन के प्रमुख के रूप में नेशनल कॉन्फ्रेंस नेता शेख अब्दुल्ला की नियुक्ति का बहुत जोरदार विरोध किया। हालात को और खराब करते हुए आर एस एस ने 500 स्वयंसेवकों से भरा ट्रक मुसलमानों के खिलाफ प्रचार के उद्देश्य से पंजाब से जम्मू भेजे। महाराजा की सरकार के कार्यों ने भी अपनी मुसलमान जनता को आश्वस्त नहीं किया। उदाहरण के लिए आर एस एस तत्वों के नजदीक समझे जाने वाले एक भर्ती अधिकारी को सिखों और डोगराओं की भर्ती के लिए गुरदासपुर और कांगड़ा भेजा गया। इस तरह के कार्यों और प्रचार ने नेहरू को बहुत दुःख पहुंचाया क्योंकि इससे पाकिस्तान को एक हथियार मिल जाता था। वह देश में और देश के बाहर मंचों पर बड़े कौशल के साथ इसका प्रयोग करता था। उन्होंने पटेल के सामने अपना डर व्यक्त किया कि यदि मुसलमानों के खिलाफ अभियान नहीं रुका तो 'पूरे कश्मीर की स्थिति खराब हो जाएगी।'[74]

अगले कुछ महीनों में हिंदू महासभा नेताओं के भाषणों का जहरीलापन बढ़ता गया।[75] एक प्रमुख हिंदू महासभा नेता ने सार्वजनिक रूप से मांग की कि नेहरू, पटेल और आजाद को फांसी दे देनी चाहिए। उनके प्रदर्शनों और बैठकों में गांधी मुर्दाबाद आम नारा हुआ करता था। नवंबर 1947 में बिहार के सी पी आई नेता कार्यानंद शर्मा ने चेतावनी दी थी कि 'हिंदू राज की मांग बहुत गलत है और इसके पीछे गांधी जी और पंडित जी की हत्या का षड्यंत्र चल रहा है।'[76] राष्ट्रीय नेताओं पर लगातार यह आरोप लगाया जाता रहा कि उन्होंने हिंदू भारत के हितों के साथ गद्दारी की है। पाकिस्तान को 550 मिलियन रु. के भुगतान के मुद्दे से हिंदू संप्रदायवादियों को इस बात का अंतिम 'सबूत' मिल गया कि भारत सरकार पाकिस्तान का मुकाबला करने में नाकाबिल है। भारतीय क्षेत्र में अचल आस्तियों में पाकिस्तान का हिस्सा 550 मिलियन रु. बनता था। इस बीच कश्मीर को लेकर भारत और पाकिस्तान के बीच लड़ाई के कारण इस भुगतान को रोक लिया गया क्योंकि इस समय

धन की अदायगी करने का मतलब भारत के विरुद्ध युद्ध में पाकिस्तान को आर्थिक सहायता देना होता। पाकिस्तान ने तुरंत यह शोर मचाना शुरू कर दिया कि भारत सरकार अपने वायदे से मुकर रही है। गांधी भारतीय सरकार के इस रुख के खिलाफ 13 जनवरी 1948 को उपवास पर चले गए। सरकार के पास निर्धारित रकम अदा करने के सिवाय और कोई चारा नहीं रह गया।[77] राष्ट्रीय नेताओं को राष्ट्र विरोधी बताने का हिंदू संप्रदायवादियों को इससे बढ़िया और क्या अवसर मिलता।

गांधी को आलोचना का निशाना बनाया गया। नई दिल्ली में बिड़ला हाउस के बाहर जबर्दस्त प्रदर्शन हुए जिसमें गांधी मुर्दाबाद के नारे लगाए गए। 20 जनवरी 1948 को गांधी की हत्या की नाकामयाब कोशिश की गई। कुछ जांच पड़ताल की गई। षड्यंत्र का पता लगाने के लिए गुप्तचर अधिकारी महाराष्ट्र भेजे गए लेकिन वे कुछ पता नहीं लगा सके। 30 जनवरी 1948 को हत्यारे ने कोई गलती नहीं की। गांधी की नजदीक से गोली चलाकर हत्या कर दी गई।

छह महीने की *छोटी सी* अवधि के भीतर नवजात राष्ट्र पर सांप्रदायिकता का यह दूसरा गंभीर आघात था। अगस्त 1947 में देश का विभाजन हो गया। मुसलिम सांप्रदायिकता की इस सफलता से हिंदू सांप्रदायिकता को हौसला मिला और उसने गांधी का जीवन ले लिया। गांधी की हत्या के चार महीने बाद एक आम भाषण में नेहरू ने कहा कि सांप्रदायिकता विभाजन और गांधी की हत्या को जोड़ने वाली कड़ी है : 'सांप्रदायिकता ने देश का विभाजन कर दिया। इससे लोगों के दिलों में गहरी चोट लगी है। इस चोट को भरने में बहुत समय लगेगा। सांप्रदायिकता ने राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की हत्या भी की।'[78] गांधी की मृत्यु पूरे राष्ट्र के लिए त्रासदी थी। लेकिन सरकार में उनके साथियों के लिए यह असहनीय थी। निवारक उपाय न कर पाने के लिए उनके मन में बहुत पछतावा था : 'शायद देश में इन तत्वों से निपटने में हमने बहुत ढील बरती। हमें उसी का नुकसान उठाना पड़ा है।'[79]

सरकार समय पर कार्रवाई क्यों नहीं कर सकी ? यह निष्क्रियता जागरूकता के अभाव या इच्छाशक्ति के पंगु हो जाने के कारण नहीं थी। यह एक अनसुलझी उलझन का परिणाम थी। प्रधानमंत्री सहित उच्च प्राधिकारियों ने चुनौती की गंभीरता को समझ लिया था। कठोर कार्रवाई की जरूरत के बारे में भी उन्हें कोई शक नहीं रह गया था। लेकिन वर्षों तक नागरिक स्वतंत्रता के पक्षधर रहने के कारण अपने राजनीतिक विरोधियों के खिलाफ दमन का सहारा लेने में हिचक रहे थे।[80] यह मौजूदा जरूरतों और पिछली परंपराओं के बीच संघर्ष था। सरकार ने दोनों में तालमेल बैठाने की कोशिश की। इसकी वजह से जरूरी कार्रवाई और वास्तव में की गई कार्रवाई में भारी अंतर आ गया।

नेहरू में यह विषमता सबसे ज्यादा मुखर है। सितंबर 1947 से जनवरी 1948 के बीच उनके पत्राचार और भाषणों से स्पष्ट है कि आर एस एस और हिंदू महासभा के स्वरूप और उनके इरादों के बारे में उन्हें कोई भ्रम नहीं था। उनके विचार से आर एस एस

न केवल 'घातक और खतरनाक संगठन' था बल्कि 'सही मायनों में फासीवादी था।'[81] 7 दिसंबर 1947 को मुख्यमंत्रियों को लिखे गए पत्र में उन्होंने अपनी बात स्पष्ट रूप से रखी। यह पत्र पूरी तरह से इन प्रवृत्तियों द्वारा पैदा किए गए खतरों के बारे में था : 'आर एस एस संगठन निजी सेना की तरह से है। यह निश्चित रूप से नाजियों के नक्शे कदम पर चल रहा है।'[82] आर एस एस कार्यकर्ताओं के अनुशासन की एस. राधाकृष्णन द्वारा सार्वजनिक रूप से प्रशंसा की नेहरू ने आलोचना की : 'मुझे कुछ समय पहले यह पढ़कर खेद हुआ कि आपने आर एस एस को बढ़ावा दिया। इस समय यह भारत का सबसे अधिक हानिकर संगठन है।'[83]

नेहरू ने यह समझ लिया था कि हिंदू संप्रदायवादी कानून और व्यवस्था या मुसलमानों की सुरक्षा के लिए ही नहीं भारत देश के धर्म निरपेक्ष स्वरूप के लिए भी खतरा है। इससे पहले मुसलिम सांप्रदायिकता ने कोशिश की थी कि कांग्रेस अपनी धर्मनिरपेक्षता छोड़ दे। लेकिन वह उसे दो राष्ट्रों के सिद्धांत को स्वीकार नहीं करा सकी, केवल विभाजन के लिए राजी करा सकी। विभाजन के बाद हिंदू संप्रदायवादियों ने वहीं से लड़ाई शुरू कर दी जहां मुसलमान संप्रदायवादियों ने छोड़ी थी। उन्होंने धर्मनिरपेक्ष भारत के निर्माण के कार्य में तोड़-फोड़ की कोशिश की। नेहरू जैसे जो लोग स्थिति को समझ सकते थे उन्होंने सितंबर 1947 के दिल्ली दंगों से हिंदू संप्रदायवादी ताकतों के मनसूबों को भांप लिया। नेहरू ने पटेल को बताया कि ये दंगे केवल दंगे नहीं हैं बल्कि व्यापक दंश का हिस्सा हैं। इस बात को समझा जाना चाहिए :[84]

> जहां तक मैं समझता हूं हमें सरकार को उलटने या कम से कम इसके वर्तमान स्वरूप को खत्म करने के कुछ सिख और हिंदू फासीवादी तत्वों के निश्चित और सुसंगठित प्रयासों का मुकाबला करना है। यह सांप्रदायिक उपद्रवों से कहीं अधिक बड़ी बात है। इनमें से कुछ निहायत नृशंस और बेरहम लोग हैं। इन्होंने घनघोर आतंकवादियों के रूप में कार्य किया है। वे केवल अनुकूल वातावरण में ही सफलता प्राप्त कर सकते हैं। उन्हें इस तरह का वातावरण मिला। थोड़ा बहुत किया जरूर गया लेकिन उनके गिरोहों को पूरी तरह से तोड़ा नहीं जा सका है। अभी भी वे शरारत करने में सक्षम हैं।

उसी दिन, 30 सितंबर 1947 को उन्होंने भारत में ब्रिटिश उच्चायुक्त सर टैरेंस शोन से बात की कि किस प्रकार वे और उनके साथी विभिन्न समुदायों के बीच मित्रता के लिए अभियान चला रहे हैं। इसका 'वास्तविक प्रभाव पड़ा' लेकिन 'इसकी जड़' पर प्रभाव नहीं पड़ा। इसे किसी न किसी तरह उखाड़ना जरूरी था।'[85] वे बार-बार इसी विषय पर आए और उनके शब्द कठोर होते गए। 22 नवंबर 1947 को मुख्यमंत्रियों को अपने पाक्षिक पत्र में उन्होंने चेतावनी दी : 'हमारे लिए खतरा बाहरी उतना नहीं है जितना कि भीतरी है।

प्रतिक्रियावादी ताकतें और सांप्रदायिक संगठन स्वतंत्र भारत के ढांचे को अस्त-व्यस्त करने में लगे हैं।[86] एक पखवाड़े बाद उन्होंने अपने मुख्यमंत्रियों से कहा कि आर एस एस के खिलाफ शीघ्र कार्रवाई की आवश्यकता है क्योंकि वह अत्यधिक हठी होती जा रही है। इससे भी खराब बात यह है कि कांग्रेसजन उसकी ओर आकर्षित हो रहे हैं : 'इसलिए मैंने इस ओर आपका ध्यान दिलाया है। इस कार्य में लापरवाही हमारी बरबादी का मार्ग खोल देगी। मुझे इस बारे में कोई शक नहीं है कि यदि भारत में इन प्रवृत्तियों को फैलने और बढ़ने दिया गया तो इससे भारत का बहुत नुकसान होगा। इसमें शक नहीं कि भारत बचेगा। लेकिन उसे गंभीर चोट पहुंचेगी और उसे संभलने में बहुत समय लगेगा।'[87]

जनवरी 1948 तक आते-आते उनके धैर्य ने जवाब दे दिया। उन्होंने पटेल को लिखा : 'हिंदू महासभा और आर एस एस के रवैए को देखते हुए उनके प्रति तटस्थ रहना दिन पर दिन मुश्किल होता जा रहा है।'[88] गांधी की मृत्यु के दो दिन पहले जब महासभा नेता 'गांधी' और दूसरे राष्ट्रीय नेताओं की 'मृत्यु' की मांग कर रहे थे और 'लगातार हिंसा भड़का रहे थे' तो नेहरू ने हिंदू महासभा सदस्यों के भड़काने वाले भाषणों और कार्यों के बारे में श्यामाप्रसाद मुखर्जी से शिकायत की, 'मेरा मानना है कि बात हद से आगे बढ़ गई है।'[89] उन्होंने मुखर्जी से केवल यह पूछा कि हम दोनों के लिए परेशानी पैदा करने वाली इस स्थिति से हम कैसे निपटेंगे। अगले दिन भारत पाकिस्तान सीमा पर अटारी में अपने भाषण में वे स्वतंत्रता दिवस, 26 जनवरी को अमृतसर में राष्ट्रीय ध्वज का अपमान करने वाले सांप्रदायिक सिखों के समूह पर जमकर बरसे : 'मैं सांप्रदायिक संगठनों को चुनौती देता हूं यदि वे कांग्रेस सरकार से लड़कर अपनी ताकत आजमाना चाहते हैं तो खुलकर सामने आएं।'[90]

नेहरू के इन साहसपूर्ण शब्दों से मुसलमान आश्वस्त हुए होंगे और भटकाव के खतरों से उलझे कांग्रेसजनों को रास्ता मिला होगा। दु:ख की बात यह थी कि ये केवल खोखले शब्द मात्र रह गए। ये उन ताकतों के खिलाफ मारक कार्रवाई नहीं बन सके जिनके खतरे को नेहरू ने देख लिया था और जिनके बारे में उन्होंने दूसरों से चर्चा की थी। दंगों को तो दबा दिया गया लेकिन इस बुराई की जड़, सांप्रदायिक जहर को खत्म नहीं किया जा सका।

गांधी की हत्या के परिणाम

गांधी की मृत्यु ने सब कुछ बदल दिया। एस.पी. मुखर्जी को नम्र पत्र भेजने और महासभा के मामले में अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए कहने के दिन चले गए। गांधी की हत्या के चार दिन बाद नेहरू ने मुखर्जी से दृढ़ता के साथ कहा कि वे महासभा से खुद को अलग करें और इस संगठन के खिलाफ आवाज उठाएं क्योंकि लोगों के अनुसार इसका गांधी की हत्या के साथ साफ संबंध था।[91] 1 फरवरी 1948 को पंजाब के मुख्यमंत्री को भेजे गए पत्र से स्पष्ट होता है कि वे किसी प्रकार की उदारता नहीं दिखाना चाहते थे : 'इन लोगों के

हाथ गांधी के खून से रंगे हैं। अपना हाथ न होने की ये जो बात कर रहे हैं अब उसका कोई मतलब नहीं है।'[92] उन्होंने सार्वजनिक रूप से बताया कि ये 'कौन लोग' हैं : 'हाल ही में कुछ संगठनों ने हिंदू राष्ट्र के लिए शोर मचाया। हिंदू राष्ट्र की मांग करने वालों में से ही एक ने सबसे महान हिंदू को मार डाला।'[93] मुख्यमंत्रियों को हिदायतें दी गई कि सांप्रदायिकता के दानव का पूरी तरह से दमन कर दिए जाने तक प्रयासों में कोई ढील न की जाए।[94] उन्होंने आग्रह किया कि ऐसे सभी क्षेत्रों विशेषकर नौकरशाही में ऐसे क्षेत्रों का पता लगाया जाए जहां सांप्रदायिक ताकतों की जड़ें फैल चुकी हैं : 'हमें उनका सफाया करना होगा। हमें अपने प्रशासन और सेवाओं को शुद्ध करना होगा।'[95]

4 फरवरी 1948 को पूरे देश में हिंदू महासभा के महासचिव, आशुतोष लाहिड़ी समेत उसके 25000 सदस्यों और समर्थकों को गिरफतार कर लिया गया। हिंदू महासभा ने अपनी कार्य समिति की एक बैठक बुलाई और इससे पहले कि उसे खत्म कर दिया जाता उसने खुद को भंग कर दिया। रजवाड़ों में इन संगठनों के ज्ञात अड्डों को खत्म कर दिया गया। अलवर और भरतपुर हिंदू संप्रदायवादियों द्वारा खुलकर खेले जाने के लिए बदनाम हो गए थे। अलवर के महाराजा और प्रधानमंत्री को राज्य के क्षेत्र में नहीं घुसने दिया गया और भरतपुर एक प्रशासक को सौंप दिया गया।[96]

लेकिन सरकारी कार्रवाई लोक इच्छा का स्थान नहीं ले सकती थी। नेहरू ने यह बात समझ ली कि सांप्रदायिकता को तभी खत्म किया जा सकता है जब लोग उसके खतरे के प्रति जागरूक हो जाएं और इसका मुकाबला करने का संकल्प कर लें। यही कारण है कि वे इस त्रासदी के लिए निजी जिम्मेदारी के प्रति अत्यधिक सचेत होने के साथ-साथ राष्ट्र के सामूहिक अपराध पर लगातार बल देते रहे। अपने निजी अकेले में पश्चाताप से नहीं बल्कि इसी सामूहिक अपराध बोझ से वे आगे आने वाली लड़ाई के लिए निश्चय और एकता पैदा करना चाहते थे : 'इस अभूतपूर्व त्रासदी के लिए हम सब जिम्मेदार हैं। हमने हमेशा गांधी जी की जय कहा। लेकिन हम उनकी रक्षा नहीं कर सके। यह सोचकर हमारा सिर शर्म से झुक जाता है।'[97] गांधी की अस्थियां जल में प्रवाहित करने के बाद इलाहाबाद में त्रिवेणी संगम के किनारे पर खड़े होकर उन्होंने देशवासियों को अपने कर्तव्य की याद दिलाई : 'हमने भयंकर कीमत चुकाकर सबक सीखा है। क्या हममें से कोई ऐसा है जो गांधी की मृत्यु के बाद उनके मिशन को पूरा करने की शपथ नहीं लेगा – एक ऐसा मिशन जिसके लिए हमारे देश के महानतम पुरुष, दुनिया के महानतम पुरुष ने अपने प्राण न्योछावर कर दिए ?'[98] यह मिशन राष्ट्रीय एकता था : 'हम सबको इकट्ठे होकर सांप्रदायिकता के उस भयानक जहर से लड़ना है जिसने हमारे युग के महानतम पुरुष के प्राण ले लिए।'[99]

जनता गांधी की हत्या से भयभीत हो गई थी। हिंदू सांप्रदायिक ताकतों के मनसूबे साफ हो जाने के बाद वह उनका समर्थन करने से कतरा रही थी। 1949 तक सरकार को यह विश्वास हो गया था कि वह प्रतिबंध के बगैर भी आर एस एस से निपट सकती है। यह

प्रतिबंध इस शर्त पर हटा दिया गया कि वह राजनीतिक गतिविधियों में भाग नहीं लेगी। सांप्रदायिक ताकतों के पंगु बनाने में सरकार के संकल्प की कम भूमिका नहीं थी। गांधी की हत्या ने इस संकल्प को और पक्का कर दिया। अपने जीवन की तरह अपनी मृत्यु द्वारा भी गांधी ने नई और सकारात्मक प्रवृत्तियां शुरू कीं।

कांग्रेस और हिंदू सांप्रदायिक दबाव : समग्र आकलन

हिंदू सांप्रदायिकता के मोर्चे पर कांग्रेस के रिकार्ड का यदि चिट्ठा तैयार किया जाए तो बड़ी विरोधी तसवीर उभरती है। यह इस बात पर निर्भर करती है कि हम कांग्रेसजन को एक व्यक्ति के रूप में लेते हैं, कांग्रेस को एक पार्टी के रूप में, प्रांतों में सत्ताधारी कांग्रेस के रूप में या भारत देश की सत्ताधारी पार्टी के रूप में लेते हैं। कमजोरी और मजबूती का स्तर भी अलग-अलग था। भारत देश, प्रांतीय सरकारें और पार्टी अपनी जगह पर अटल रहीं। लेकिन व्यक्तियों ने कमजोरी दिखाई। जैसा कि हमने देखा कांग्रेस ने महासभा के साथ गठबंधन नामंजूर कर दिया और राष्ट्रवादी मुसलमानों को त्यागने या ताकत द्वारा एकता के लिए मजबूर करने से इनकार कर दिया था। कांग्रेस प्रांतीय मंत्रिमंडलों ने हिंदू दंगाइयों के खिलाफ सख्त कार्रवाई की, मुसलमान अधिकारियों को निशाना बनाने का विरोध किया और हिंदू तथा मुसलमान रियाया के बीच भेदभाव करने से इनकार कर दिया। प्रधानमंत्री नेहरू के नेतृत्व में भारतीय शासन ने खुद को हिंदू दिशा देने के सभी प्रयासों को विफल कर दिया।

इस चेन की सबसे कमजोर कड़ी बहुत से कांग्रेसजन थे जो बढ़ते हुए तनाव की कसौटी पर खरे नहीं उतर सकें। उन्होंने हिंदू सांप्रदायिक रुख का समर्थन करना शुरू कर दिया। नेताओं में से नेहरू इस प्रवृत्ति पर कड़ी नजर रखे हुए थे क्योंकि वे इसके खतरे को समझते थे। काफी पहले 14 जुलाई 1945 को नेहरू ने वाइसरॉय वावेल के सामने स्वीकार किया कि 'कुछ कांग्रेसी हिंदू 'मुसलमानों के खिलाफ हैं।'[100] एक वर्ष बाद उन्होंने प्रस्ताव किया कि ए आई सी सी कार्यालय में एक अल्पसंख्यक विभाग बनाया जाए जिसका कार्य होगा 'कांग्रेसजनों में सांप्रदायिक और कट्टरता की भावना पैदा होने को रोकने के लिए उपाय सुझाना।'[101]

आजादी के बाद इस प्रवृत्ति ने और भी खराब रूप ले लिया। विभाजन और उसके बाद विध्वंस ने राजनीति का और भी संप्रदायीकरण कर दिया। हिंदू सांप्रदायिक ताकतों ने न केवल अपनी शक्ति बढ़ा ली बल्कि राष्ट्रवादी खेमे में घुसपैठ कर दी। बंबई के मुख्यमंत्री बी.जी. खैर ने इस प्रवृत्ति के बारे में 26 मई 1948 को पटेल को लिखा : 'पिछले साल के हिंदू-मुसलिम संबंधों ने हिंदू उपदेशों को और भी लोकप्रिय बना दिया है। कांग्रेसजन भी सांप्रदायिक विषाणु से प्रभावित हुए हैं।'[102] हिंदू सांप्रदायिक तत्वों के प्रति क्या रुख अपनाया जाए इस सवाल पर कांग्रेसजनों के भीतर तीखे मतभेद नवंबर 1947 में ए आई सी सी

अधिवेशन में उभरकर सामने आए। स्वीकार किए गए अंतिम संकल्पों में कांग्रेस की धर्म निरपेक्ष स्थिति पर बल दिया गया : 'उनमें यह साफ कर दिया गया है कि सांप्रदायिक संगठनों द्वारा मचाए जा रहे शोर के कारण हम अपने आदर्शों के साथ समझौता नहीं कर सकते।'[103] बहस के दौरान कांग्रेसजनों ने अस्पष्टता दिखाई। नेहरू इसकी वजह से बहुत परेशान थे। उन्होंने मुख्यमंत्रियों के सामने दु:ख व्यक्त किया : 'यह मानसिक खलबली और अस्त-व्यस्तता कांग्रेसजनों के दिमाग में भी छा गई है।'[104] नेहरू ने कहा कि यह अस्पष्टता इसलिए आई है क्योंकि आर एस एस और हिंदू महासभा जैसी संस्थाओं के नजरिए से कुछ लोग घनिष्ठ संबंध रखते हैं : 'दुर्भाग्य से कुछ कांग्रेसजन बगैर सोचे-समझे विचार और व्यवहार के इस फासीवादी और नाजी तरीकों की ओर आकर्षित हो जाते हैं।'[105] इसने हिंदू सांप्रदायिक ताकतों के दमन को निस्संदेह मुश्किल बना दिया। लेकिन साथ ही इसे बहुत जरूरी भी बना दिया। शत्रु हमारे भीतर ही है। यह दूर स्थित खतरा नहीं है। नेहरू ने अपने मुख्यमंत्रियों को चेतावनी दी यदि हमने इस कार्य में लापरवाही की तो हम 'नष्ट हो जाएंगे।'[106]

दंगा पीड़ितों को राहत के मामले पर कांग्रेस नेताओं में मतभेद उभर कर सामने आए। पुरुषोत्तम दास टंडन एक ओर थे और नेहरू दूसरी ओर। पटेल इन दोनों के बीच में कहीं थे। बिहार दंगों पर हमारे विचार विमर्श से स्पष्ट है कि पटेल मुसलमानों की दशा के प्रति थोड़ा असंवेदनशील थे और बिहार सरकार द्वारा राहत प्रयासों को बढ़ाए जाने के बारे में यहां तक कि गांधी की ओर से आए सुझावों को सुनकर बेचैन हो जाते थे। पुरुषोत्तम दास टंडन को इस बात का कोई कारण नजर नहीं आया कि कांग्रेस सरकार मुसलमानों की रक्षा क्यों करे और उन्हें राहत क्यों दे जबकि लीग मंत्रिमंडल हिंदू विरोधी नीतियां अपना रहे थे और दंगे उकसा रहे थे। उन्होंने यू.पी. और बिहार सरकारों की विशेष रूप से आलोचना की।[107] इसके विपरीत नेहरू ने पंजाब कांग्रेस के नेता भीमसेन सच्चर से सवाल किया कि पंजाब में राहत राशि केवल हिंदुओं और सिखों को ही आबंटित क्यों की जा रही है : 'इस समाचार ने मुझे परेशान कर दिया है। गांधी जी भी दु:खी हैं ... हमारा घोषित लक्ष्य यह होना चाहिए कि समुदाय, धर्म या जाति का ध्यान किए बगैर राहत उसे दी जाए जिसकी उसे जरूरत है।'[108]

मुसलिम दंगा पीड़ितों के प्रति सहानुभूति का अभाव शीघ्र ही सामान्य रूप से मुसलमानों और विशेष रूप से मुसलमान नागरिक और सेना अधिकारियों के प्रति अविश्वास में बदल गया। कानपुर के एक सुविख्यात कांग्रेस नेता रामरतन गुप्ता ने संविधान सभा के सदस्यों को चेतावनी दी कि भारतीय मुसलमान पाकिस्तान के जासूस और मुसलिम देसी राज्य उसके एजेंट होंगे।[109] यू.पी. और बिहार में बहुत से हिंदुओं ने आवाज उठाई कि मुसलिम अधिकारी लीग के एजेंट हैं और उनका उनमें विश्वास खत्म हो गया है। उन्होंने मांग की कि उन्हें नाजुक पदों से हटा दिया जाए और शेष की संख्या जनसंख्या में उनके अनुपात के

अनुसार हो। यू.पी. और बिहार के मुख्यमंत्रियों ने इनमें से कोई भी मांग मानने से इनकार कर दिया। बिहार के मुख्यमंत्री ने तो अपनी मुसलमान जनता के प्रति अपना कर्तव्य ऐसे शब्दों में बताया जिस पर गांधी को भी फख्र होता।[110] यह प्रवृत्ति उस समय चिंता का विषय बन गई जब कांग्रेसजन और विख्यात नेता आम लोगों की तरह मुसलमानों में अविश्वास करने लगे। बंगाल के कांग्रेस नेता पी.सी. घोष ने कांग्रेस अध्यक्ष कृपलानी को लिखा कि विभाजन के पहले के तनावपूर्ण दिनों में कलकत्ता में सेना की व्यवस्था की जाए : 'मुझे केवल हिंदू सैनिक चाहिए। मैं मुसलमान सैनिकों की निष्ठा पर भरोसा नहीं कर सकता।'[111] दिल्ली में करोलबाग के निवासियों के साथ एक बैठक के बाद राजेंद्र प्रसाद ने पटेल से उस इलाके के मुसलमान अफसरों का तबादला करने के लिए कहा : 'हिंदुओं को स्वाभाविक डर है कि उपद्रव होने की स्थिति में उन्हें उनसे सुरक्षा नहीं मिलेगी।'[112]

पटेल ने हिंदुओं के डर का उपहास किया और प्रसाद को याद दिलाया कि 'ज्यादातर हमले इकतरफा हुए हैं और हमलावर हिंदू या सिख हैं।'[113] लेकिन मुसलमान अधिकारियों की विश्वसनीयता के बारे में उनका मत प्रचलित हिंदू मत से मेल खाता था। गोविंद मालवीय ने सुझाव दिया कि अब पाकिस्तान बनने वाला है। इसलिए मुसलमान अधिकारियों को 'अपने इलाके में जाने' के लिए कहा जाए। पटेल ने इसका विरोध किया और कहा कि केवल पाकिस्तान समर्थक अधिकारियों को जाने के लिए कहा जाए। लेकिन पटेल ने स्वीकार किया कि उनकी निष्ठा के बारे में उनकी अपनी आशंकाएं हैं : 'पिछले 10 महीनों में मेरा यह अनुभव रहा है कि सेवाओं में मुसलमान कार्मिक सरकार के प्रति पूरी तरह से निष्ठाहीन हैं। इसके कारण प्रशासन को सक्षमता के साथ या पर्याप्त ठीक ढंग से चलाना असंभव है।'[114] उन्होंने राजेंद्र प्रसाद को सूचित किया कि वे पाकिस्तान से हिंदू अधिकारियों को मुसलमान अधिकारियों से बदलने के पक्ष में हैं और सरकार ने अधिक प्रतिनिधित्व का मामला पहले ही उठाया हुआ है : 'पुलिस बल के ऊपर के रैंकों में विभिन्न समुदायों के प्रतिनिधित्व में हम संतुलन बहाल कर पाए हैं। नीचे के रैंकों की स्थिति थोड़ी मुश्किल है। मैं मुसलमान तत्वों को यथासंभव ऐसा बनाने में लगा हूं कि वे हानि न पहुंचा सकें।'[115]

यह सही है कि समस्या बहुत टेढ़ी थी। हिंदुओं के इस प्रचार में सचाई थी कि मुसलमानों को अधिक प्रतिनिधित्व था। मुसलमानों को कांग्रेस से अलग रखने की अपनी रणनीति के अंग के रूप में ब्रिटिश सरकार ने लगनपूर्वक ऐसा किया था। क्या इस सांप्रदायिक नीति को बदला नहीं जाना चाहिए ? लेकिन समस्या यह थी कि भारतीय मुसलमान पहले ही बहुत दबाव में थे। ऐसी स्थिति में एक गलती को ठीक करने से दूसरी गलती हो सकती थी। दूसरे मुसलिम सांप्रदायिकता द्वारा पाकिस्तान में क्षेत्रीय आधार बना लिए जाने के बाद हिंदू और मुसलमान अधिकारियों में पक्षपात के रूप अलग-अलग थे। सांप्रदायिक मुसलमान अधिकारी पाकिस्तान समर्थक हो सकते थे लेकिन सांप्रदायिक हिंदू अधिकारी

केवल भारतीय समर्थक हो सकते थे। व्यावहारिक स्तर पर कोई भी भारतीय प्रशासक इन दो स्थितियों में अंतर करता। मुसलिम लीग ने पूरे मुसलिम मध्य वर्ग का संप्रदायीकरण कर दिया था। ऐसी स्थिति में 1946-47 के अत्यधिक संप्रदायीकृत माहौल में कानून और व्यवस्था में लगे मुसलमान अधिकारियों को हटाने की मांग का क्या कोई आधार नहीं था? लेकिन हिंदू अधिकारियों के लिए पटेल की सहज सहानुभूति और मुसलमान अधिकारियों के लिए उनका बुनियादी अविश्वास अत्यंत बेचैनी पैदा करने वाला था। नेहरू ने जब हिंदू अधिकारियों के पक्षपात के मामलों की ओर उनका ध्यान दिलाया तो वे बहुत व्याकुल हुए:[116]

> हम कितना भी चाहें कि अधिकारी देवताओं की तरह व्यवहार करें लेकिन हमें इस सचाई को मानना पड़ेगा कि वे भी मानव हैं। हो सकता है कि जहां तहां कुछ अधिकारी अपनी आंतरिक सहानुभूति के कारण अपना कर्तव्य भूल गए हों और आपत्तिजनक व्यवहार कर दिया हो ... मुझे पहले उन्हें मुअत्तिल करने और बाद में सबूत इकट्ठा करने के लिए कहा गया है। जाहिर है कि इस तरह की कार्रवाई अनुचित और अन्यायपूर्ण होगी और प्रशासन को पूरी तरह से ठप्प कर देगी।

नेहरू थोड़ी बात मानने के लिए मजबूर हो गए : 'पंजाब से आए अधिकारियों की स्वाभाविक भावनाएं समझ में आती हैं। मैं उन सबको दोष नहीं देना चाहता।'[117] लेकिन तीन दिन बाद मुख्यमंत्रियों को लिखे गए एक पत्र में उन्होंने पूर्वी पंजाब में विशेषकर पुलिस की गलतियों के बारे में बताया। उन्होंने 'जन सेवाओं को सांप्रदायिक विषाणु से सुरक्षित रखने के सर्वोपरि महत्व' पर बल दिया और चेतावनी दी कि 'यदि हम चौकस नहीं रहे तो यह बीमारी फैलती जाएगी।'[118] सांप्रदायिक समस्या के प्रति नेहरू का रुख एक अथक अभियानकर्ता का था जो अपने मकसद को पूरा करने के किसी भी अवसर को छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। हर अवसर पर वे खुद मैदान में कूद पड़े और जहां भी उपद्रव हुए वहां दौड़कर गए और इसके लिए दोषी लोगों को फटकारा। गांधी की मृत्यु के बाद पहली बार वर्धा पहुंचने पर उन्होंने अपने मन की इच्छा बताई : 'कई बार मैं सोचता हूं कि पद छोड़ दूं और खुलकर इस चुनौती का मुकाबला करूं।'[119]

पटेल सरकार और उसके तंत्र को सुचारु रूप से चलाना अपना काम मानते थे और प्रशासन में कमी के बारे में नेहरू के उल्लेखों और उनके शांति प्रस्तावों का बुरा मानते थे। नेहरू की कार्रवाइयों को गृहमंत्री के रूप में उनके कार्य की आलोचना के रूप में देखा जाता था और उनके कार्य में अनावश्यक हस्तक्षेप माना जाता था। काफी तनाव पैदा हुआ। गांधी की मध्यस्थता की याचना की गई और दोनों ने त्यागपत्र देने का प्रस्ताव किया।[120] गांधी की मृत्यु के आघात ने दोनों को इकट्ठा कर दिया। नेहरू ने पटेल को लिखा कि गांधी के मिशन को पूरा करने के लिए दोनों मिलकर काम करें। पटेल ने इसके बदले में पूरी निष्ठा का वचन दिया।

उनके निजी मतभेद तो दूर हा गए लेकिन उनके राजनीतिक विचारों में अंतर बना रहा। एक ही घटना, गांधी की हत्या से उन्होंने बिलकुल विरोधी निष्कर्ष निकाले। नेहरू के 26 फरवरी 1948 के पत्र का स्वर वही था जो कि दिल्ली दंगों के बाद लिखे गए 30 सितंबर 1947 के पत्र का था : 'धीरे-धीरे मेरा यह पक्का विचार बन रहा है कि बापू की हत्या अलग-थलग कार्य नहीं बल्कि मुख्य रूप से आर एस एस द्वारा चलाए जा रहे व्यापक अभियान का हिस्सा है ... ऐसा लगता है कि व्यापक षड्यंत्र को खोजने के वास्तविक प्रयासों में कमी रह गई है।'[121] पटेल ने हमेशा की तरह संदेह व्यक्त किया : 'मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि बापू की हत्या की साजिश इतनी व्यापक नहीं थी जितनी कि समझी जाती है। यह कुछ मुट्ठी भर लोगों का काम था।'[122] तीन महीने बाद एस.पी. मुखर्जी के सामने उन्होंने यही विचार व्यक्त किए : 'मैं इस बात से आपके साथ सहमत हूं कि संस्था के रूप में ...महासभा का गांधी की हत्या से कुछ लेना-देना नहीं था।'[123] यह या तो मात्र भोलापन था या बाल की खाल निकालना था। जाहिर है कि हिंदू महासभा ने षड्यंत्र नहीं रचा लेकिन क्या वह इसकी जिम्मेदारी से बच सकती है ? इसे प्रमुख नेताओं ने राष्ट्रीय नेताओं को फांसी पर चढ़ाने की बात की। जैसा कि पटेल ने खुद एस.पी. मुखर्जी को बताया कि गांधी की हत्या के षड्यंत्रकर्ता महासभा के महासचिव आशुतोष लाहिड़ी के घर गए।[124]

पटेल ने महासभा को गांधी की हत्या की जिम्मेदारी से तो मुक्त कर दिया लेकिन वे आम माफी के पक्ष में नहीं थे। गांधी की हत्या के एक सप्ताह बाद एस.पी. मुखर्जी ने लाहिड़ी की गिरफ्तारी की जांच कराने के लिए कहा। उन्होंने महासभा की कार्यसमिति की आगामी बैठक के लिए उसके प्रमुख नेताओं को रिहा करने के लिए कहा। इस बैठक में पार्टी अपनी सांप्रदायिक राजनीति को छोड़ने वाली थी लेकिन पटेल ने इनकार कर दिया।[125] तीन महीने बाद मुखर्जी ने शिकायत की कि भारी संख्या में महासभाइयों की लगातार नजरबंदी अनुचित है क्योंकि हिंदू महासभा का गांधी की हत्या से कुछ लेना-देना नहीं है। जैसा कि हमने देखा पटेल ने महासभा का हाथ न होने की बात तो मान ली लेकिन शीघ्र रिहाई से इनकार कर दिया। उन्होंने गांधी की हत्या पर जश्न मनाने और जुझारु सांप्रदायिकता का प्रचार करने के लिए महासभा की आलोचना की।[126]

जाहिर है कि पटेल की स्थिति बहुत जटिल थी। इसका स्वरूप तय करना सरल नहीं था। कई बार उनके दृष्टिकोण में सांप्रदायिक पक्षपात दिखाई दिया। लेकिन जब कांग्रेस पर हिंदू दबाव बढ़ा उन्होंने शेष कांग्रेसियों का साथ दिया और संस्था के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप के मामले में कोई समझौता करने से इनकार कर दिया। उन्होंने महासभा के साथ किसी भी प्रकार के गठबंधन से इनकार कर दिया और हिंदू देश का कड़ा विरोध किया। उन्हें सांप्रदायिक नहीं कहा जा सकता लेकिन उनकी धर्मनिरपेक्षता में गांधी और नेहरू के कार्यों जैसी चट्टानी क्वालिटी नहीं थी। यह कहा जा सकता है कि पटेल की धर्मनिरपेक्षता हिंदुओं की दिशा में झुकी हुई थी।

लेकिन यदि पटेल की धर्म निरपेक्षता हिंदुओं की ओर झुकी हुई थी तो नेहरू की मुसलमानों की ओर झुकी धर्म निरपेक्षता ने इसमें संतुलन पैदा कर दिया। दोनों व्यक्ति एक दूसरे के लिए तलवार भी थे और संतुलनकर्ता भी। पटेल औसत कांग्रेसजनों की विचारधारा को प्रतिबिंबित करते थे जिनके लिए अत्यधिक सांप्रदायिक माहौल में धर्म निरपेक्ष बने रहना मुश्किल था। नेहरू ने उन्हें बताया कि उनके विचारों में क्या खोट है। उन्होंने फटकार और निजी मिसाल द्वारा भटकाव से सही रास्ते पर लाने की कोशिश की। इसी प्रकार यदि कांग्रेस में पुरुषोत्तम दास टंडन जैसे लोग थे तो श्रीकृष्ण सिन्हा जैसे लोग भी थे जिन्होंने मुसलमानों के प्रति कांग्रेस के कर्तव्य को नेहरू के जैसे साहसपूर्ण शब्दों में व्यक्त किया।[127] विचारधारा में यह विविधता कांग्रेस की ताकत थी जिसने उसे उस उपद्रवग्रस्त काल में अलग-अलग तरह के दबावों को झेलने की सक्षमता दी।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. कार्य समिति के लिए मसौदा संकल्प, *ऑल इंडिया हिंदू महासभा पेपर्स* (इसके बाद *ए आई एच एम पी*), फाइल सं सी-65/1945. एन एम एम एल, नई दिल्ली.
2. कार्य समिति को रिपोर्ट, 8, 9, और 10 फरवरी 1947, वही, फाइल सं. सी-138/1946-47
3. 5 नवंबर 1945, *आर पी पेपर्स*, फाइल सं. 7-एस/45-6, एन ए आई. कुछ समय पहले हिंदू महासभा भागलपुर के सूर्य नारायण प्रसाद ने इसी आधार पर समझौते के लिए तर्क दिया था. 7 अक्तूबर 1945, वही, फाइल सं. 9-आर/45-6, कॉलम I.
4. पटेल से नेहरू, 12 अक्तूबर 1945, *एस पी सी*, वॉल्यूम 2, पृ. 121.
5. पटेल से प्रसाद, 8 अक्तूबर 1945, वही, पृ. 11.
6. आजाद से पटेल, 21 अक्तूबर 1945, वही, पृ. 25.
7. पत्र यू.पी. प्रमुख जी.बी. पंत के साथ चर्चा के बाद लिखा गया और इसमें पंत के विचार बताए जाते हैं, नेहरू से राजेंद्र प्रसाद, *आर पी पेपर्स*, फाइल सं. 7-एस/45-6, क्र.सं. 11.
8. पटेल से डॉ. गोपीचंद भार्गव, 5 नवंबर 1945, *एस पी सी*, वॉल्यूम 2, पृ. 141
9. 20 सितंबर 1945, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 1, पृ. 31.
10. 6 अक्तूबर 1946, *जयकर पेपर्स*, फाइल सं. 833, क्र.सं. 67.
11. *आर पी पेपर्स*, फाइल सं. 3-एन/45-6-7, कॉलम V, क्र.सं. 79.
12. 20 मार्च 1947, *ए आई एच एम पी*, फाइल सं. सी-138/1946-47. मूल हिंदी में है.
13. 14 सितंबर 1946, वही, फाइल सं. एम-14/1946.
14. *ओ एच टी*, 384, एन एम एम एल.
15. मनमोहन से जी बी पंत, 23 जून 1947, *पी डी टंडन पेपर्स,* पार्ट-II, फाइल 231, जून 1947, एन ए आई, नई दिल्ली.
16. वावेल को, 26 सितंबर 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 85, पृ. 383.
17. पटेल को, 21 जून 1946, वही, पृ. 353.
18. 19 जून 1946, वही, वॉल्यूम 84, पृ. 347.
19. शिलांग में भाषण, 17 दिसंबर 1945, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 14.
20. गांधी से नॉर्मन क्लिफ, 29 जून 1946, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 84, पृ. 388.

21. कांग्रेस कार्य समिति की बैठक में गांधी का भाषण, 18 जून 1946, वही, पृ. 345.
22. टाइप किया हुआ नोट, 4 जून 1947, वही, समूह 13, क्र सं. 361. टंडन के एक साथी ने टिप्पणी की : 'पाकिस्तान भारत और कांग्रेस का म्युनिख है'. आर एन धर से टंडन, 19 जुलाई 1947, *पी डी टंडन पेपर्स*, भाग-22, फाइल सं. 231.
23. 19 जुलाई 1947, वही, भाग-II, फाइल सं. 231.
24. 21 मई 1947, *सपरु पेपर्स*, एस-I, रॉल 3, जे-100.
25. *जयकर पेपर्स*, फाइल सं. 866, क्र.सं. 35.
26. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉलयूम 88 और 86, पृ. 73 और 106.
27. ए आई सी सी की बैठक में भाषण, 15 जून 1947. *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 112.
28. स्वतंत्रता सप्ताह बैठक में भाषण, 9 अगस्त 1947, वही, पृ. 134.
29. 17 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 308-9.
30 11 अप्रैल 1947, वही, पृ. 194-96.
31 10 अप्रैल 1947, वही, पृ. 179-80.
32. राधाकृष्णन को, 6 मई 1947, *आर पी पेपर्स*, फाइल सं 19-पी/47, कॉलम-I.
33. यू.पी. सरकार को खुला पत्र - 'यह हिंदू विरोधी नीति क्यों ? -हिंदू राहत समिति मेरठ से, वही, पृ.20, फाइल सं. 3-एन/45-6-7, कॉलम 5, क्र.सं. 79.
34. *ए आई एच एम पी*. फाइल सं. सी-138/1946-47.
35 राजेंद्र प्रसाद ने पत्र दिनांक 11 अगस्त 1947 द्वारा शिकायतों की सूचना बिहार के मुख्यमंत्री श्रीकृष्ण सिन्हा को दी, *आर पी पेपर्स*, फाइल सं. 24-सी/46-7, कॉलम-I, क्र.सं. 143. बाद के उद्धरण इसी पत्र से हैं.
36. राजेंद्र प्रसाद को, 3 सितंबर 1947, वही, 24-सी/46-7, कॉलम-I, क्र.सं. 155.
37. *ए आई एच एम पी*, सी-138/1946-7
38. अखिल भारतीय हिंदू महाजाति सम्मेलन कुरुक्षेत्र में संबोधन, 19 अगस्त 1946, वही, सी 105/1946
39. हापुड़ दगों पर मेरठ हिंदू राहत समिति और हिंदू सभा की रिपोर्ट, 21 दिसंबर 1946, *आर पी पेपर्स*, 3-एन/46-6-47.
40. 22 मई 1947, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 1, पृ. 22.
41 राजेंद्र प्रसाद द्वारा श्रीकृष्ण सिन्हा को सूचित बापू नवल किशोर प्रसाद की शिकायतें, 11 अगस्त 1947, *आर पी पेपर्स*, फाइल सं. 24-सी/46-7, कॉलम-I, क्र.सं. 143.
42. श्रीकृष्ण सिन्हा का राजेंद्र प्रसाद को उत्तर, 3 सितंबर 1947, वही, 24-सी/46-7, कॉलम-I, क्र. सं. 155.
43 राजेंद्र प्रसाद से श्रीकृष्ण सिन्हा, 28 अक्तूबर 1947 और श्रीकृष्ण सिन्हा का उत्तर, 12 दिसंबर 1947. *आर पी पेपर्स*, 24-सी/46-7, कॉलम-I, पृ. सं.197.
44. श्रीकृष्ण सिन्हा से राजेंद्र प्रसाद, 3 सितंबर 1947, वही, कॉलम-I, क्र.सं. 155.
45. ए आई एच एम पी, फाइल सं. सी-162/1947.
46. बी एम बिड़ला से पटेल, 5 जून 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम-4, पृ. 56.
47. पटेल से बी एम बिड़ला, 10 जून 1947, वही पृ. 56.
48. 12 अक्तूबर 1947 को दिल्ली में प्रेस सम्मेलन, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 152.
49. दिल्ली में भाषण, 6 नवंबर 1947, वही, पृ. 320.
50. दिल्ली में कांग्रेस कार्यकर्ताओं और विद्यार्थियों को संबोधन, 3 अक्तूबर 1947, वही,पृ. 118.

51. दिल्ली में सार्वजनिक सभा, 6 अक्तूबर 1947 और कानपुर में भाषण, 16 दिसंबर 1947, वही, पृ. क्रमशः 124 और 219.
52. दिल्ली में सार्वजनिक सभा, 6 अक्तूबर 1947, वही, पृ. 124.
53. वही, पृ. 152
54. दिल्ली में भाषण, 6 नवंबर 1947, वही, पृ. 320
55. बिहार के सी पी आई किसान नेता कार्यानंद शर्मा ने इस अंतर को पहचाना. नरकटियागंज, शिकारपुरा, चंपारण में नवंबर 1947 के शुरू में एक भाषण में हिंदू देश की मांग के खिलाफ यह कहा : 'हिंदू राज का नारा लगाकर लोग जिन्नाह के दो राष्ट्रों के सिद्धांत का ही समर्थन करेंगे गांधी और नेहरू को यह अभी भी स्वीकार्य नहीं है' बिहार सरकार, राजनीतिक विभाग (विशेष), 1947 की फाइल सं. 113 (V), गोपनीय, बिहार स्टेट आरकाइब्ज, पटना.
56 अखिल भारतीय हिंदू महाजाति सम्मेलन में भाषण, 19 अगस्त 1946, *ए आई एच एम पी*, सी-105/46.
57 दिनांक 14-9-46, वही, एम-14/1946.
58. वही. सी-138/1947.
59. 19 मार्च 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 5, पृ 283.
60. 25 मार्च 1947, वही, पृ. 285.
61. *ए आई एच एम पी*, सी-162/1947.
62 22 जुलाई 1947 को लिखा गया नोट, *पी डी टंडन पेपर्स*, ग्रुप XI, क्र सं. 907. एक साथी ने टंडन को सुझाव दिया कि मंदिरों के गहनों और खजाने सहित 'हिंदू धन' का उपयोग हिंदुओं के लिए हथियार खरीदने के लिए किया जाना चाहिए, के एस पई से टंडन, वही, पार्ट-II, फाइल 231, जून 1947.
63. जुलाई 1947 के दूसरे पखवाड़े के लिए एफ आर, होमपॉल 18/7/1947.
64. कानपुर का भाषण, 16 दिसंबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 219.
65. नेहरू से पटेल, 22 अक्तूबर 1947, वही, पृ. 174. अलवर रियासत के प्रमुख और प्रसिद्ध हिंदू संप्रदायवादी एन.बी. खरे ने प्रोत्साहन दिया कि जो कोई भी पहले मसजिद तोड़ेगा उसे वह जमीन दे दी जाएगी जिस पर मसजिद बनी है. नेहरू से पटेल, 3 दिसंबर 1947, वही, पृ. 533.
66. नेहरू से पटेल, 22 अक्तूबर 1947, वही, वॉल्यूम 4, पृ. 174.
67. नेहरू से पटेल, 30 सितंबर 1947, वही, पृ. 114.
68. नेहरू से एस.पी. मुखर्जी, 28 जनवरी 1948, वही, वॉल्यूम 5, पृ. 31.
69. वही.
70. इस बारे में बिहार के मुख्यमंत्री ने राजेंद्र प्रसाद को चेतावनी दी थी : 'मुझे इस बात में शक नहीं कि यदि इस प्रकार का प्रचार चलता रहा तो प्रांत में गंभीर सांप्रदायिक मुसीबत खड़ी होगी. यहां सांप्रदायिक संबंध अभी सामान्य नहीं हैं.
71. नेहरू से पटेल, 27 अक्तूबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 517.
72. इस भाषण के बारे में नेहरू ने एस.पी. मुखर्जी से शिकायत की, 28 सितंबर 1947, वही, पृ. 506.
73. एस.पी. मुखर्जी से नेहरू, 30 सितंबर 1947, वही, पृ. 507.
74. नेहरू से पटेल, 30 अक्तूबर 1947, वही, पृ. 90.
75. संजीवी को, 27 जनवरी 1947, वही, वॉल्यूम 5, पृ. 29. उसी दिन उन्होंने बिहार के मुख्यमंत्री को लिखा : 'मुझे ऐसा लगता है कि हिंदू सभा के भाषण दिन पर दिन बर्दाश्त के बाहर और आपत्तिजनक होते जा रहे हैं. इस समस्या से निपटने के लिए कुछ करना पड़ेगा'. वही, पृ. 29-30.
76. अखिल भारतीय हिंदू महाजाति सम्मेलन में भाषण, 19 अगस्त 1946, *ए आई एच एम पी*, सी-105/46.

77. उपवास के पहले और बाद में भारत सरकार के रुख के लिए देखें *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 90 का परिशिष्ट, पृ. 500-506.
78. कोयंबटूर, 3 जून 1948, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 6, पृ. 25.
79 नेहरू से अपने मुख्यमंत्रियों को, 5 फरवरी 1948, वही, वॉल्यूम 5, पृ. 312.
80. नेहरू से एस.पी. मुखर्जी, 28 जनवरी 1948, वही, पृ. 31.
81. कंवर दलीपसिंह, 21 नवंबर 1947, वही, वॉल्यूम 4, पृ. 330.
82 वही, पृ. 461.
83. 22 जनवरी 1948, वही, वॉल्यूम 4, पृ. 23.
84. 30 सितंबर 1947, वही, वॉल्यूम 4, पृ. 114. माउंटबैटन के प्रमुख सहायक इस्मै ने 3 अक्तूबर 1947 को नेहरू के साथ वार्तालाप की अपनी रिपोर्ट में मौजूदा मुसीबत के स्वरूप का विश्लेषण किया है और इसे हिंदू सांप्रदायिक तत्वों की कार्रवाई बताया है, वही, पृ. 244, 'अब मुझे विश्वास हो गया है कि पंजाब और दिल्ली प्रांतों में हिंसा के मौजूदा अभियान के समर्थन के पीछे वास्तव में षड्यंत्र है', लॉकहार्ट से माउंटबैटन, 22 सितंबर 1947, आई ओ आर आर/3/1/87, एन ए आई.
85. *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम-4, पृ. 240. इस्मे ने सेनाध्यक्षों को बताया कि सितंबर में दिल्ली में अव्यवस्था थी लेकिन भारत सरकार ने दृढ़ता के साथ कार्रवाई की. सी ओ एस (47) 125वीं बैठक, 8 अक्तूबर 1947, एल/डब्ल्यू एस/1/1137. फाइल डब्ल्यू एस 17132/1, एन ए आई एक्सेशन सं 5153
86. वही, पृ. 456
87. वही, पृ. 461.
88. वही, वॉल्यूम 5, पृ. 21.
89. वही, पृ. 21.
90. वही, पृ. 32.
91. 4 फरवरी 1948, वही, पृ. 46
92. 11 फरवरी 1948, वही, पृ. 53.
93 नई दिल्ली में भाषण, 2 फरवरी 1948, वही, पृ. 44.
94. 5 फरवरी 1948, वही,पृ 312 और 313.
95. वही
96. वही, पृ 52 और 53, नोट 2 और 3
97 जालंधर में भाषण, 24 फरवरी 1948, वही, पृ. 63.
98 12 फरवरी 1948, वही, पृ. 55.
99. नेहरू से मुख्यमंत्रियों को, 5 फरवरी 1948, वही, पृ. 312.
100 वही, वॉल्यूम 14, पृ. 46.
101. 6 अगस्त 1946, वही, वॉल्यूम 15, पृ. 488.
102. *एस पी सी*, वॉल्यूम 6, पृ. 78.
103. नेहरू से अपने मुख्यमंत्रियों को, 22 नवंबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 453.
104. वही.
105 नेहरू से मुख्यमंत्री, 7 दिसंबर 1947, वही, पृ. 461.
106. वही.
107. नोट, 22 जुलाई 1947, *पी डी टंडन पेपर्स*, ग्रुप XI, क्र. सं. 907. जैसा कि हमने देखा है टंडन के मत

को अकसर हिंदू सांप्रदायिक नजरिए से अलग नहीं किया जा सकता था उन्होंने कांग्रेस द्वारा विभाजन को स्वीकार कर लिए जाने का विरोध किया और देश के मर्दों से इस विश्वासघात को रोकने के लिए कहा. उनके द्वारा बनाए गए हिंद रक्षक दल का एक घोषित उद्देश्य भारतीय और पाकिस्तानी सरकार का तख्ता उलटना था.

108 14 अप्रैल 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ 304.

109. 7 जून 1947, प्रतिलिपि *पी डी टंडन पेपर्स* में, भाग- II, सं. 231, जून 1947

110. इस अध्याय में पहले आए प्रांतीय मंत्रिमंडलों पर खंड को देखें .

111. कृपलानी से राजेंद्र प्रसाद का अनुलग्नक, 13 जुलाई 1947, *आर पी पेपर्स*, फाइल 16-पी/46-6-7, क्र.सं. 83.

112 5 सितंबर 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 338

113 वही, पृ. 339

114. 7 जुलाई 1947. वही, पृ. 413.

115. 5 सितंबर 1947, वही, पृ 339.

116 नेहरू को, 12 अक्तूबर 1947, वही, पृ. 303. दिल्ली के जिला आयुक्त एम एस रणधावा के रवैए और कार्य की नेहरू ने तीखी आलोचना की उन्होंने पटेल से शिकायत की कि सितंबर दंगों में दिल्ली पुलिस ने कार्रवाई करने में ढील दिखाई. नियुक्त किए गए विशेष अधिकारियों में आर एस एस से सहानुभूति रखने वाले लोग भी थे. हो सकता है उन्होंने दंगे कराए भी हों. रणधावा के एक वार्तालाप से नेहरू की बात की पुष्टि होती है : 'उसकी बातचीत से स्पष्ट है कि उसकी सहानुभूति एक निश्चित दिशा में है. शायद इसी वजह से सख्त कार्रवाई नहीं की गई.' नेहरू से पटेल, 30 सितंबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉलयूम 4, पृ. 112-13.

117 पटेल को 12 अक्तूबर 1947. वही, पृ 509.

118 15 अक्तूबर 1947, वही, पृ. 44

119 13 मार्च 1948, वही, वॉल्यूम 5, पृ. 75.

120. संघर्ष के बारे में नेहरू के विवरण के लिए देखें *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 538-39, वॉल्यूम 5, पृ 473-75; और *एस पी सी*, वॉल्यूम 6, पृ 9-10, 12 13, 21-26

121. वही, वाल्यूम 5, पृ. 67. ऐसा लगता है कि गांधी जवाहरलाल से सहमत हो गए होंगे 20 जनवरी 1948 को जब उनकी हत्या का प्रयास किया गया और बिड़ला हाउस में एक साथी ने गांधी से कहा कि विस्फोट आकस्मिक हो सकता है तो गांधी ने कहा : 'मूर्ख ! क्या तुम इसके पीछे भयानक और व्यापक साजिश को नहीं देख रहे हो ?' प्यारे लाल, महात्मा गांधी - दि लास्ट फेज, वॉल्यूम-II, अहमदाबाद, 1958, पृ. 750

122 उन्होंने नेहरू द्वारा दिए गए तथ्यों में संशोधन किया - इसमें आर एस एस नहीं महासभा के लोग शामिल थे और दिल्ली महासभा का केंद्र नहीं थी, 27 फरवरी 1948, *एस पी सी*, वॉल्यूम 5, पृ. 66

123. 6 मई 1948, वही, वॉल्यूम 6, पृ. 66.

124. 8 फरवरी 1948, वही, पृ 37.

125 वही, पृ 36 और 37

126. 6 मई 1948, वही, पृ. 66.

127 श्रीकृष्ण सिन्हा ने सांप्रदायिक नेताओं और उनकी मांगों को नामंजूर कर दिया : 'यदि मुझे नवल बाबू और उनके जैसे दूसरे लोगों को संतुष्ट करने के लिए यह कीमत चुकानी है तो उन्हें नाराज ही रहने दें.' यह 'कीमत' थी 'मुसलमानों की भावनाओं और उचित अपेक्षाओं' की उपेक्षा करना. नेहरू ने अपने मुख्यमंत्रियों को संबोधित किया : 'मुसलमानों को भारत में रहना है... पाकिस्तान जितना मर्जी भड़काए

और वहां गैर मुसलमानों की जितनी मर्जी बेइज्जती हो या डराया जाए, हम इन अल्पसंख्यकों के साथ सभ्य व्यवहार करेंगे' एस के सिन्हा से राजेंद्र प्रसाद, *आर पी पेपर्स*, 24-सी/46-7, कॉलम-1, क्र सं. 155 और नेहरू से मुख्यमंत्रियों को, 15 अक्तूबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 442.

भाग पांच

पटाक्षेप

अध्याय बारह

कांग्रेस ने विभाजन स्वीकार किया

एकता के लिए कांग्रेस की इच्छा धीरे-धीरे कम होती गई। 1946 के शुरू में नेहरू ने बड़े विश्वास के साथ कहा था कि परमाणु बम के युग में पाकिस्तान अस्तित्व में नहीं रह सकता। इसके एक साल बाद उन्होंने देशवासियों से अपील की कि वे विभाजन को यथासंभव अच्छी भावना के साथ लें। पटेल ने लीग द्वारा सीधी कार्रवाई की संभावना को हंसकर उड़ा दिया था और 1946 के मध्य में अविभाजित भारत की संभावना देखी थी। अप्रैल 1947 में उन्होंने 'विभाजन के सिवाय और कोई विकल्प न होने' 'और कोई रास्ता न होने' की बात कही। अप्रैल के शुरू में विभाजन को गृहयुद्ध या एकता लादने से बेहतर माना जाने लगा। कृपलानी, राजगोपालाचारी, प्रसाद और पटेल माउंटबैटन से मिले और उसे इस बारे में बताया।[1] 1 मई 1947 को कार्यसमिति ने विभाजन स्वीकार कर लिया। लीग की मांग के रूप में नहीं बल्कि इसे 'निश्चित रूप से अंकित क्षेत्रों पर लागू आत्मनिर्णय पर आधारित विभाजन के सिद्धांत' के रूप में स्वीकार किया। ऐसा लगता है कि अप्रैल के मध्य से अंत के बीच कांग्रेस ने देश के विभाजन के लिए मन बना लिया।[2]

पाकिस्तान के लिए लीग की लगातार मांग को जन कार्रवाई के रूप में समर्थन मिला। इसे देखते हुए कांग्रेस की यह बात कमजोर पड़ गई कि लीग के दावे की कोई वैधता नहीं है। उपनिवेशवादी सत्ता को कमजोर करने के लिए कांग्रेस ने जिस रणनीति का प्रयोग किया था उसी का लीग ने बड़ी अच्छी तरह से कांग्रेस के खिलाफ इस्तेमाल किया। भारत आजादी के लिए जन दबाव तथा दृढ़ विश्वास ने साम्राज्य की जड़ें हिला दी थीं। जिस प्रकार इस प्रक्रिया ने आई सी एस अधिकारियों का मनोबल गिरा दिया था उसी प्रकार इसने कांग्रेस नेतृत्व के मनोबल को धक्का पहुंचाया।

कांग्रेस ने विभाजन को स्वीकार कर लेने के लिए भिन्न तर्क दिए। पहले नेताओं ने तर्क दिया कि विभाजन जन-इच्छा को प्रतिबिंबित करता है और 'आजादी प्राप्त करने का यही रास्ता' है। इसके बाद आशाएं व्यक्त की कि यह अंतिम समझौता नहीं बल्कि अस्थायी उपाय है। इससे सांप्रदायिक हिंसा समाप्त हो जाएगी। उन्हें विश्वास था कि वे बाल्कनीकरण और गृहयुद्ध के सबसे बुरे विकल्पों को टाल रहे हैं। अंततः उन्होंने स्वीकार किया कि और कोई विकल्प नहीं बचा है। जो विकल्प खोजे गए उन पर आगे कार्रवाई संभव नहीं हुई। पार्टी द्वारा सांप्रदायिकता विरोधी संघर्ष और बल प्रयोग के विकल्प ही रह गए थे। पहले विकल्प के लिए समय निकल चुका था और पार्टी के पास राज सत्ता नहीं थी। इसलिए

SEPARATION, NOT LIQUIDATION!



'3 जून की योजना का मतलब है राष्ट्र के रूप में भारत का अंत', श्री बी. भोपटकर अध्यक्ष, अखिल भारतीय हिंदू महासभा

स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, 1 अगस्त 1947

ये कोई विकल्प नहीं थे। अंततः यही निष्कर्ष निकलता है कि वे अपने ख़िलाफ़ खड़ी सांप्रदायिक ताकतों के वास्तविक स्वरूप को नहीं समझ सके।

'लोक' इच्छा का विभाजन

कांग्रेस नेतृत्व ने बार-बार इस बात पर बल दिया कि उन्होंने लोगों की इच्छा को देखते हुए विभाजन को स्वीकार किया। गांधी ने सबसे अधिक स्पष्ट बात की :[3]

> आपने कहा इसलिए मांग मान ली गई है। कांग्रेस ने कभी इसकी मांग नहीं की ... लेकिन कांग्रेस लोगों की नब्ज पहचानती है। इसने देख लिया है कि खालसा और हिंदू भी यही चाहते हैं... उन्होंने यह रास्ता इसलिए चुना क्योंकि उन्होंने यह समझ लिया कि मुसलिम लीग से निपटने का और कोई तरीका नहीं है ... हम किसी को मजबूर नहीं करना चाहते। हमने बहुत कोशिश की। हमने उनको तर्क दिए लेकिन उन्होंने संविधान सभा में आने से इनकार कर दिया।

नेहरू ने भी 'भारत के विभाजन को स्वीकार करने के लिए कांग्रेस के बाध्य होने' का खुलासा करते हुए दोनों और से दबाव का संकेत दिया है। पहला दबाव बंगालियों और पंजाबियों की ओर से था। उन्होंने दो प्रांतों के विभाजन के लिए दबाव डाला।[4] दूसरा दबाव मुसलमानों के भारत में रहने के प्रति अनिच्छा से आया : 'कांग्रेस को इस तथ्य का सामना करना है कि लोगों के कुछ वर्ग शेष भारत के साथ नहीं रहना चाहते।'[5] 1942 से ही नेहरू और कांग्रेस[6] का यह मानना था कि वे पाकिस्तान के लिए लीग की मांग का तो विरोध करते हैं लेकिन 'यदि मुसलमान पाकिस्तान चाहते हैं तो उन्हें इससे वंचित नहीं किया जाएगा।'[7]

नेहरू ने मई 1947 में इसे अधिक दृढ़ता के साथ दोहराया। उन्होंने इसे गांधी का विचार बताया।[8] गांधी का यह विचार था कि भारत या प्रांतों के विभाजन के लिए कोई समझौता अंग्रेजों के मार्फत न किया जाए। यदि संबंधित क्षेत्र के लोग विभाजन चाहते हैं तो उसमें कोई रोड़ा नहीं अटकाया जाएगा। 1 जून 1947 की कांग्रेस कार्यसमिति (सी डब्ल्यू सी) की बैठक में पटेल और नेहरू ने कहा कि उनका यह रुख स्वयं ए आई सी सी द्वारा पास किए संकल्पों के अनुरूप है जिनमें कहा गया है कि भारत के किसी भी हिस्से को उसकी इच्छा के खिलाफ किसी गठन को स्वीकार करने के लिए दबाया नहीं जाएगा।[9] 15 जून 1947 को जब ए आई सी सी ने विभाजन को अंततः स्वीकार किया तो उस समय भी क्रिप्स योजना के बारे में नेहरू द्वारा तैयार और गांधी तथा कांग्रेस द्वारा स्वीकार सी डब्ल्यू सी संकल्प के उसी खंड का हवाला दिया गया।[10]

कांग्रेस ने हमेशा यह कहा कि वह मुसलमानों की लोकप्रिय मांग पर पाकिस्तान को स्वीकार करेगी। यह उसने जनमत को साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष की ओर मोड़ने के वर्षों

के अपने आत्मविश्वास के बल पर कहा। इसके तहत कांग्रेस जन इच्छा का अंदाजा लगा लेती थी और उससे एक कदम आगे की सोचती थी तथा आंदोलन करने और उसे वापस लेने में जनता का नेतृत्व करती थी। सांप्रदायिक मोर्चे पर वह न केवल जन इच्छा को प्रतिबिंबित करती थी बल्कि जनमत के अनुसार काम भी करती थी। इसका मतलब सारी पहल लोगों पर छोड़ देना और उन्हें यह विश्वास दिलाना था कि वे जो चाहेंगे वही होगा। लेकिन व्यवहार में इस रूप में थोड़ा संशोधन किया जाता था। वास्तविकता यह थी कि जनमत कांग्रेस द्वारा अपनाए रुख से बहुत प्रभावित होता था। केवल कांग्रेस जनमत को प्रतिबिंबित नहीं करती थी। पूर्व में बंगाल के विभाजन पर विवाद के संदर्भ में शरत बोस ने यही बात स्पष्ट की थी। उन्होंने तर्क दिया कि कांग्रेस को जनमत की आड़ नहीं लेनी चाहिए बल्कि बंगाल के विभाजन के खिलाफ दृढ़ रुख अपनाना चाहिए। इससे उन लोगों के हाथ मजबूत होंगे जो अविभाजित बंगाल के पक्ष में हैं और हिंदू महासभा को नई प्राप्त शक्ति कम होगी। वे हिंदू महासभा को कांग्रेस की रचना मानते थे।[11]

जन इच्छा के विचार में एक और कमी थी। इसकी मात्रा तय नहीं की जा सकती थी अथवा इसे आसानी से प्रदर्शित नहीं किया जा सकता था। इसलिए इसकी अलग-अलग व्याख्याएं और परस्पर विरोधी इस्तेमाल संभव थे। पंजाब के विभाजन से जुड़े विवाद ने इस समस्या को एक बार फिर उजागर कर दिया। नेहरू और पटेल विभाजन के लिए तर्क दे रहे थे और शरत बोस इसका विरोध कर रहे थे। दोनों पक्ष जन इच्छा को आधार बना रहे थे।[12] दोनों पक्ष जन समर्थन का दावा कर रहे थे। इसलिए जनमत को निष्पक्ष न्यायाधिकरण नहीं माना जा सकता। नेहरू ने 3 जून 1947 को आकाशवाणी से अपने प्रसारण में जनमत और विभाजन को स्वीकार करने के बीच दोतरफा प्रतिक्रिया का संकेत दिया। उन्होंने स्वीकार किया कि 'भारत का भविष्य लोगों द्वारा ही तय किया जा सकता है' लेकिन इस बात पर बल दिया कि 'निर्णय सामान्य घटनाक्रम पूरे होने तक इंतजार नहीं कर सकते। हमें लोगों के अंतिम निर्णय का अनिवार्य रूप से पालन करना चाहिए लेकिन हमें कुछ निर्णय खुद लेने होंगे और लोगों से उन्हें स्वीकार करने के लिए अनुशंसा करनी होगी।'[13] इससे यह सवाल पैदा हुआ कि क्या लोगों ने विभाजन की अनुशंसा की अथवा इसके लिए जनमत ने आदेश दिया।

विभाजन के अंतिम समझौते के रूप में कांग्रेस नेताओं को विश्वास था कि 3 जून की योजना से समझौता होगा। इसकी शर्त अर्थात भारत का विभाजन दुर्भाग्यपूर्ण बात थी लेकिन इसकी निश्चयात्मकता ने संतुलन पैदा कर दिया था। नेहरू द्वारा तैयार किए गए और कांग्रेस अध्यक्ष द्वारा वाइसरॉय को भेजे गए 2 जून 1947 के पत्र में यह बिलकुल साफ कर दिया गया था कि 'अंतिम समझौते के लिए'[14] कांग्रेस ने प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया है। 20 दिन बाद नेहरू द्वारा माउंटबैटन को लिखे गए पत्र में लोक मंजूरी के इस पहलू पर बल दिया गया है : 'लोग निर्णय को पसंद करें या नहीं, वे उन्हें मंजूर करते हैं।

उनका आम तौर पर यही मानना है कि समझौता हो गया है।'[15] पटेल ने भी यही भावना व्यक्त की : 'मुझे भी इस बात की खुशी है कि 3 जून की घोषणा से चीजें कम से कम एक तरफ हुई हैं। अब कोई अनिश्चितता नहीं है।'[16] जैसा कि नेहरू ने कहा समझौते में लीग की भूमिका थी : 'यह मुसलिम लीग द्वारा प्रस्तावों को मंजूर कर लिए जाने तथा और दावे प्रस्तुत न किए जाने पर निर्भर है।'[17]

शीघ्र ही यह साफ हो गया कि लीग अपनी आदत के अनुसार मंजूरी नहीं देगी। पंजाब के गवर्नर जेनकिन्स ने पहले से ही निराश नेहरू को सावधान किया कि लियाकत अली खान ने कहा है कि महामहिम की सरकार को विभाजन स्वीकार करना होगा। लीग इसे मंजूरी नहीं देगी।'[18] प्रस्ताव को 'मंजूर' किए जाने के बारे में आकाशवाणी पर जिन्नाह का प्रसारण नेहरू की भावपूर्ण अपील के बिलकुल उलटा था।[19] जिन्नाह ने काफी बेपरदा सांप्रदायिक भाषण दिया। इसका पटेल ने अब तक नैमी बन चुका विरोध किया और वाइसरॉय ने इतना ही नैमी उत्तर दिया।[20] लीग की कौंसिल ने 3 जून की योजना को स्वीकार अवश्य किया लेकिन पटेल का यह कहना था कि लीग के संकल्प में 'विरोधाभास' है। सीधी मंजूरी से जानबूझकर बचा गया है ... जून का बयान पाकिस्तान द्वारा हिंदुस्तान के खिलाफ कार्रवाई करने के लिए केवल स्पिरिंग बोर्ड होगा ... इस आधार पर समझौते की कोई संभावना नहीं है।'[21]

आखिरकार लीग ने केवल आधे मन से मंजूरी दी। पाकिस्तान की मांग पूरी हो जाने के बाद कांग्रेस ने लीग से जिस सहयोग और मन से मंजूरी की उम्मीद की थी वह पूरी नहीं हुई : 'हमने योजना को इस उम्मीद के साथ मंजूर किया कि अपनी मनचाही चीज पाने के बाद मुसलिम लीग सांप्रदायिक घृणा फैलाना बंद कर देगी और दोनों के सामाजिक और आर्थिक निर्माण में सहयोग करेगी।'[22] गांधी ने भी थोड़े संशोधन के साथ ऐसी ही उम्मीद जताई : 'मैं आपसे मुसलमान नेताओं के वचन पर भरोसा करने के लिए कहूंगा। उन्हें अपना पाकिस्तान मिल गया है। भारत में उनका अब किसी से कोई झगड़ा नहीं है ... कम से कम होना नहीं चाहिए।[23]

कांग्रेस नेताओं ने पिछले कुछ वर्षों में अपने विरोधी ब्रिटिश शासन के साथ अनुभव को देखते हुए उम्मीद बांधी थीं। अंग्रेजों द्वारा भारत को छोड़ने की घोषणा के बाद कांग्रेस ने राज के खिलाफ टकराव की मुद्रा त्याग दी। उनकी प्रमुख मांग पूरी हो गई थी। वे छोटी-मोटी मांगों को इस उम्मीद में छोड़ने के लिए तैयार थे कि उपनिवेशवादी संबंध बगैर किसी तकलीफ के खत्म हो जाएं और भावी संबंध सद्भावपूर्ण बने रहें। आई एन ए बंदियों के भविष्य और 1942 की ज्यादतियों के दोषी अधिकारियों को सजा जैसे विवादग्रस्त विषयों पर ब्रिटिश नजरिए को देखते हुए उन्होंने काफी हद तक अपना आग्रह छोड़ा। ऐसा लगता है कि कांग्रेस ने लीग से भी इसी प्रकार की उम्मीद की अर्थात कांग्रेस द्वारा विभाजन स्वीकार कर लिए जाने के बाद सहयोग की मुद्रा जिससे अलगाव आसान और बगैर खून

खराबे के हो जाए। लेकिन ऐसा नहीं होना था।

एक अलग संदर्भ में नेहरू ने कहा : 'आपसी सहमति से समझौता होता है। किसी चीज को लादना विवाद को आगे ले जाना है।'[24] इससे 3 जून की योजना कलह बन गई। दोनों पक्षों ने इसे मंजूर तो कर लिया लेकिन यह अंग्रेजों द्वारा लादा गया फैसला ही रहा, कांग्रेस और लीग के बीच समझौता नहीं बना। गिरिजाशंकर बाजपेई ने स्पष्ट निष्कर्ष निकाला : 'आज सार्वजनिक किए जाने वाले तथाकथित समझौते में बहुत सी चीज बगैर सुलझी रह गई हैं।'[25]

विभाजन के जरिए एकता

विभाजन के बारे में एक प्रतिक्रिया यह भी थी कि यह अस्थायी उपाय है। बहुत से लोग यह मानने को तैयार नहीं थे कि पाकिस्तान हमेशा के लिए बन गया है। वे यह मानते रहे कि भारत एक हो जाएगा। दोनों देशों को फिर एक कर दिया जाएगा। कांग्रेस नेता भी इसके अपवाद नहीं थे। उन्हें भी उम्मीद थी कि 'पाकिस्तान एक दिन हमारे पास वापस आ जाएगा।'[26] अंतत: अविभाजित भारत की उम्मीद में उन्होंने विभाजन स्वीकार कर लिया।

विभाजन के बाद फिर से एकता की संभावना 1945 में नेहरू को बेकार का सपना लगती थी। 1947 में उन्हें इसकी अच्छी संभावना लगने लगी। उन्होंने तर्क दिया कि विभाजन के बाद एकता न केवल आएगी बल्कि इससे ही आएगी।[27] यह इसलिए होगा क्योंकि कोई दबाव नहीं डाला जा रहा है। 3 जून 1947 को अपने आकाशवाणी प्रसारण में लोगों से योजना को स्वीकार करने की अपील करते हुए नेहरू ने यह विचार रखा : 'हमने जिस अविभाजित भारत के लिए मेहनत की उसमें मजबूरी और जोर-जबर्दस्ती के लिए कोई जगह नहीं थी बल्कि वह आजाद लोगों द्वारा अपनी स्वतंत्र स्वेच्छा से बनने वाला संघ था। हो सकता है कि और किसी रास्ते के बजाए इस रास्ते से हमें संयुक्त भारत जल्दी मिल जाए। ऐसा भारत जिसका आधार अधिक मजबूत तथा अधिक सुरक्षित होगा।'[28] इस प्रकार विभाजन देश के कुछ हिस्सों द्वारा स्वतंत्र रूप से रहने की इच्छा का परिणाम था। आवेग के कम हो जाने के बाद समान हित उन हिस्सों और शेष भारत को इकट्ठा कर देगा और भारत एक हो जाएगा।[29]

लेकिन जब नेहरू ने देखा कि भारत और पाकिस्तान के एक होने की उनकी आशा को गलत ढंग से पेश करके भारत की साजिश बताया जा रहा है तो उन्होंने अविभाजित भारत की बात करनी बंद कर दी।[30] अब उन्होंने भारत और पाकिस्तान का नाम न लेकर दो देशों द्वारा संयुक्त कार्रवाई की बात करनी शुरू कर दी।[31]

> मेरा यह मानना है कि वर्तमान आवेग के ठंडे हो जाने और हम सब में आजादी की भावना आ जाने के बाद हम आपसी संबंधों पर अधिक बेहतर वातावरण और संदर्भ

में विचार कर सकते हैं। मेरे विचार से इसके बाद भारत और उससे अलग हुए हिस्सों में नजदीकी संबंध निश्चित रूप से बनेंगे।

राजेंद्र प्रसाद और सुब्बारायन सहित दूसरे लोगों ने भी नेहरू की तरह आशा जताई।[32] लेकिन सुब्बारायन नहीं सपरु के दूसरे साथी गिरिजाशंकर बाजपेई की भविष्यवाणी सही निकली: 'दो भारत वास्तव में काफी लंबे समय तक दोस्त नहीं दुश्मन होंगे।'[33]

नेहरू की व्याख्या से अपरिहार्य बात वांछनीय वन गई। गांधी ने वांछनीय को वास्तविक बनाने की कोशिश की। उन्होंने सोचा कि सबसे पहले विभाजन का निर्णय बदले जाने योग्य है : 'वाइसरॉय पहले ही अपने भाषण में कह चुका है और उसने मुझे भी आश्वासन दिया है कि यदि हम उसके पास इकट्ठे जाएं तो इस निर्णय को वापस लिया जा सकता है।'[34] जब गांधी ने यह देखा कि बहुत कम लोग विभाजन के खिलाफ बोलने के लिए सामने आए हैं तो उन्होंने लोगों से कहा कि वे विभाजन को दिल से स्वीकार न करें। यह भी विभाजन के विरोध का एक तरीका होगा और यह विभाजन भौगोलिक विभाजन मात्र रह जाएगा : 'हम यह मानकर चलें कि भौतिक विभाजन तो निश्चित है। कांग्रेस ने योजना को स्वीकार कर लिया है। इसलिए अब हमें और काई रास्ता खोजना चाहिए। वही रास्ता मैं आपको दिखा रहा हूं। जिस प्रकार भूमि या अन्य संपत्ति को बांटा जा सकता है उसी प्रकार आदमियों के दिलों को भी बांटा जा सकता है। इसलिए अगर हमारे दिल सच्चे हैं तो हम अपने व्यवहार से यह दिखा सकते हैं कि हमारे दिल नहीं बंटे हैं।'[35] देश की अविभाज्य एकता में उनका विश्वास भावपूर्ण रूप में व्यक्त हुआ : 'जिस बात पर दोनों पक्ष सहमत नहीं हैं वह कब तक चल सकती है ? भौगोलिक रूप में हमारा विभाजन हो गया है। लेकिन यदि हमारे हृदय नहीं बंटे हैं तो रोने की जरूरत नहीं है। यदि हमारे दिल एक हैं तो सब कुछ ठीक होगा। देश पाकिस्तान और हिंदुस्तान में विभाजित हो सकता है। अंततः हमें एक होना है।'[36] यदि गांधी ने भावपूर्ण तरीके से बात की तो नेहरू ने काव्यात्मक तरीके से : 'लेकिन एक बात का मुझे पक्का यकीन है कि अंततः हमारे सामने एक मजबूत और अविभाजित भारत होगा। चमचमाते पर्वत शिखर पर पहुंचने से पहले हमें अकसर अंधेरी घाटी से गुजरना होता है।'[37]

गांधी के विचार से यह बहुत जरूरी था कि विभाजन के निर्णय को अन्य कार्यों से मजबूत न बनाया जाए। यही कारण है कि उन्होंने सेना के विभाजन, देश छोड़कर सीमा के उस पार चले जाने का विरोध किया।[38] सबसे अधिक उन्होंने इंडिया इंडिपेंडेंस बिल का विरोध किया क्योंकि इसने दो 'राष्ट्र' 'बनाए', भारत और पाकिस्तान जिनको ब्रिटेन सत्ता हस्तांतरित करेगा। उन्होंने पटेल को लिखा : 'आज के समाचार से तो हद हो गई है। रायटर केबल पर देखो। बिल में दो राष्ट्रों की बात कही गई है। फिर यहां बड़ी-बड़ी बातें करने की क्या तुक है ... यदि हमने कोई मौन मंजूरी नहीं दी है तो आप लोग इस अपराध को रोक सकते हैं।'[39] गांधी ने महसूस किया कि अंग्रेजों के कार्यों के विभाजन के निर्णय को

उलटना अधिक से अधिक मुश्किल होता जा रहा है। हर कदम अविभाजित भारत के ताबूत में कील है और ऐसे बहुत से कदम उठाए गए हैं। आर्थर मूर ने गांधी को बताया कि पटेल और दूसरे लोग यह मानते हैं कि पाकिस्तान के क्षेत्र को वापस ले लिया जाएगा। गांधी ने इससे साफ इनकार किया : 'यहां आप बहुत बड़ी गलती कर रहे हैं। निजी तौर पर मेरा यह मानना है कि पाकिस्तान रहेगा। वे यह समझते हैं।'[40]

विभाजन हिंसा को समाप्त करने के रूप में ?

3 जून की योजना से एक उम्मीद यह थी कि इससे सांप्रदायिक हिंसा समाप्त हो जाएगी। कांग्रेस नेता इस तूफान को रोकने में अपनी शक्तिहीनता को बहुत महसूस कर रहे थे। अंत में उनका यह विचार बना कि लीग की आकांक्षा केवल विभाजन से पूरी होगी। इसलिए अंतिम समझौते के हित में इसे स्वीकार कर लिया जाए। राजनीतिक गतिरोध के टूट जाने के बाद सांप्रदायिक तनाव कम हो जाएगा।[41] इसी विश्वास के साथ यह कहा गया था कि विभाजन के बाद हिंसा खत्म हो जाएगी। इसी के आधार पर नेहरू ने बयान दिया था कि पाकिस्तान में हिंदू और सिख सुरक्षित रहेंगे।[42] पटेल ने बताया कि वे वहां क्यों सुरक्षित होंगे : 'यह संभव है कि पाकिस्तान सरकार हिंदुओं और सिखों की उपस्थिति को अनिवार्य समझे ...वह यह सोचे कि जिस देश के लिए मुसलमानों ने वक्त बे वक्त आंदोलन किया वह उन्हें मिल गया। उसे यह लगने लगे कि अल्पसंख्यकों की रक्षा और उनको न्याय उसके अपने हित में है।'[43] उन्होंने स्पष्ट किया कि 'हम अल्पसंख्यकों के साथ जैसा व्यवहार करेंगे उसके बदले में हम शायद उनको सुरक्षा दिला सकें।'[44] पटेल का मानना था कि 'पाकिस्तान इस डर से अल्पसंख्यकों के प्रति सहानुभूति का रुख रखेगा कि यदि उसने हिंदुओं और सिखों के प्रति बुरा व्यवहार किया तो भारत सरकार मुसलमानों से कठोरता से पेश आएगी।'[45] नेहरू को आशा थी कि 3 जून की घोषणा का 'संयमित और शांत करने वाला' प्रभाव जारी रहेगा।[46] पटेल इस बारे में अधिक सावधान थे : 'विभाजन के बाद ये उपद्रव जारी रहेंगे या नहीं, इस बारे में भविष्यवाणी करना थोड़ा मुश्किल है। क्या होगा यह समय ही बताएगा।'[47] सच्चिदानंद सिन्हा को गंभीर गड़बड़ी की आशंका थी : 'आसार ऐसे हैं कि शीघ्र ही हम ऐसी स्थितियों में फंस जाएंगे जो 1707 में औरंगजेब की मृत्यु के बाद अठारहवीं शताब्दी में पैदा हो गई थी।'[48] अप्रैल 1947 में पंजाब के गवर्नर, जेनकिन्स ने प्राधिकारियों को चेतावनी दी थी कि विभाजन की घोषणा के बाद उसे सांप्रदायिक स्थिति के और खराब होने की आशंका है।[49] मई में वाइसरॉय ने जेनकिन्स को बताया कि 'पंजाब के लिए और सेना उपलब्ध नहीं होगी क्योंकि जून में सरकारी घोषणा के बाद अंग्रेजों को भारत के दूसरे हिस्सों में गड़बड़ी की आशंका है।'[50]

दुर्भाग्य से घटनाओं ने नेहरू को नहीं बल्कि जेनकिन्स, माउंटबैटन और सिन्हा को सही सिद्ध किया। विभाजन के बाद हिंसा जारी रही। वास्तव में वह और भी तेज हो गई।

अगस्त 1947 में राजगोपालाचारी ने टिप्पणी की, 'हमने नरकों की जो बात सुनी है, पंजाब की उनसे भी बुरी हालत हो गई है।'[51] नेताओं की आशंकाओं से भी बुरी घटनाएं हुई हैं। पंजाब में अल्पसंख्यकों को बहुत परेशान किया गया। गांधी ने कहा 'मैं जो कह रहा हूं वह शायद मुसलमानों के कानों तक पहुंचे' : 'मुसलमान तबाही मचा रहे हैं। वे यह कहते हैं कि उन्हें पाकिस्तान मिल रहा है। अब वे सबको अपना गुलाम बनाएंगे ... पाकिस्तान बनने के बाद यदि संघर्ष तेज हुआ तो हम यही कहेंगे कि हमें बेवकूफ बनाया गया है।'[52] सीमा पार लोगों का जाना इतना अधिक था कि इसका पहले तो विरोध किया गया लेकिन बाद में उसी के लिए दोनों सरकारों को इंतजाम करना पड़ा। नेहरू ने घोषणा की थी कि वे 'जनसंख्या अदला-बदली के खिलाफ हैं।'[53] पटेल ने बड़े गर्व के साथ घोषणा की थी कि वे 'कभी भी हिंदुओं को आने के लिए कहने की इस तरह की कायरतापूर्ण सलाह के दोषी नही बनेंगे,[54] बाद में ये दोनों ही उस सरकार के उच्च पदों पर थे जिसने जनसंख्या की अदला-बदली कराई। पटेल को उम्मीद थी कि 'अल्पसंख्यकों को डरने की कोई जरूरत नहीं है। इसके उपरांत एक लंबी यात्रा के बाद राजेंद्र प्रसाद ने नृशंस सत्य को स्वीकार किया : 'ऐसा लगता है कि पश्चिमी पंजाब और सीमा प्रांत में कोई हिंदू या सिख नहीं वचेगा। इसी प्रकार पूर्वी पंजाब में कोई मुसलमान नहीं बचेगा।'[55] नेहरू ने रुख में इस परिवर्तन को 12 अक्तूबर 1947 को एक सम्मेलन में स्पष्ट किया। शेखूपुरा में उन्हें अपने कुछ पुराने साथी मिले। उन्होंने मुझ पर आरोप लगाया कि मैंने उन्हें धोखा दिया है। वे मेरे द्वारा दस दिन पहले आकाशवाणी से किए गए प्रसारण की बात कर रहे थे जिसमें मैंने लोगों से अपील की थी कि वे स्थानों को छोड़कर न जाएं और वहीं रहें। उन्होंने मुझसे कहा कि उन्होंने मेरी सलाह मानी। परिणामस्वरूप उनके परिवार के सब लोग मारे जा चुके हैं। केवल वही बचे हैं। इसके बाद हम उनसे यह नहीं कह सके कि वे इसके बावजूद वहीं रहें और इससे भी बड़े खतरे झेलें।'[56]

जब किसी भी उपाय से हिंसा नहीं रुकी तो कांग्रेस ने विभाजन को आखिरी उपाय के रूप में स्वीकार किया। लेकिन दूसरी युक्तियों की तरह इस युक्ति से भी हिंसा नहीं रुकी। विडंबना बहुत बेरहम थी : 'कांग्रेस नेताओं ने हिंदुओं और मुसलमानों के बीच गृहयुद्ध को टालने के लिए भारत का विभाजन स्वीकार किया था (3 जून की अपनी रेडियो वार्ता में नेहरू ने यही घोषणा की थी) लेकिन गृहयुद्ध हुआ शायद और भी भयानक रूप में हुआ।'[57] यदि कांग्रेस नेताओं को लगा होता कि विभाजन से और भी भयंकर हिंसा होगी तो उन्होंने विभाजन स्वीकार न किया होता।[58] नंदा के अनुसार, 'गृहयुद्ध के लिए उनका डर गांधी के डर से अधिक था। गांधी का मानना था कि अंग्रेजों के चले जाने के बाद कुछ दिन के खून-खराबे से उन्हें अक्ल आ जाएगी।'[59] गांधी अव्यवस्था का जोखिम उठाना चाहते थे लेकिन कांग्रेस तैयार नहीं थी :

उनके विचार से देश का विभाजन बेहतर था ताकि देश के टुकड़े-टुकड़े न हों और

> दोनों हिस्से खुशी और शांति के साथ रह सकें। इस बारे में मेरा अलग विचार था। मेरा विचार था कि हिंसा और हत्या का सहारा लेकर कोई एक इंच जमीन भी नहीं ले सकता। पूरे देश को खाक में मिल जाने दो।[60]

उन्होंने बार-बार अंग्रेजों से कहा कि वे भारत छोड़ दें और यदि जरूरी हो तो अराजकता के साथ ही छोड़ दें : 'यदि भारत के भाग्य में अराजकता है तो वह (अंग्रेज) यह कहकर आत्मछल ही कर रहा है कि वह भारत को संभावित अराजक स्थिति में नहीं छोड़ सकता। वह दो संगठित सेनाओं के बीच अखाड़े में भारत को छोड़ने के लिए राजी है।'[61] दिल्ली में रायटर के संवाददाता डी कैंपबेल के साथ एक प्रश्नोत्तर सत्र में उन्होंने कहा : 'यदि अंग्रेज आज ही चले जाएं तो अच्छा होगा। तेरह महीनों का मतलब है भारत के साथ शरारत। भारत को अव्यवस्था या अराजकता की हालत में छोड़ने का जोखिम अंग्रेजों को उठाना पड़ेगा। अंग्रेजों का शासन लोगों पर लादा गया है। जब आप इस शासन को हटाएंगे तो हो सकता है कि शुरू में कोई शासन न रहे।'[62] यदि हम पीछे मुड़कर देखें तो अराजकता के लिए गांधी का जोखिम शांति के लिए कांग्रेस नेताओं की जिद से ज्यादा सही लगता है।

विभाजन और मजबूत केंद्र बनाम एकता और कमजोर केंद्र

आशा की एक किरण थी। इससे कैबिनेट मिशन द्वारा लाई गई खंडों, समूह बनाने और सबसे अधिक कमजोर केंद्र की बातों से बचा जा सकता था। 20 फरवरी 1947 के बयान के मतलबों पर टिप्पणी करते हुए नेहरू ने पहले भी इसे लाभकारी रूप में देखा था।[63] उन्होंने यह बात समझ ली थी कि संविधान सभा 'भारत के जिस भाग का प्रतिनिधित्व करती है उसके लिए वह अधिक आजादी के साथ काम कर सकती है।'[64] समय के साथ उनका विश्वास और उनका स्वर अधिक स्पष्ट होता गया : 'मैं चाहता हूं कि जो हमारे रास्ते में रोड़ा अटकाना चाहते हैं वे अपना रास्ता पकड़ें। मेरी इच्छा है कि भारत का कम से कम 80 या 90 प्रतिशत हिस्सा भारत के उस नक्शे के साथ आगे बढ़े जो कि मेरे दिमाग में है... यदि एकता संभव नहीं है तो हम देश के उन हिस्सों पर अपने प्रयास केंद्रित करेंगे जहां हम आदर्श रूप में विकास कर सकते हैं।'[65] राधाकृष्णन ने कहा कि 'भारत के नक्शे' की दो मुख्य विशेषताएं होनी चाहिए—एक लोकतांत्रिक समाजवादी देश और मजबूत केंद्र।[66] पटेल ने मजबूत केंद्र पर बल दिया :[67]

> अब हम अपने देश के 80 प्रतिशत हिस्से को अपने हिसाब से विकसित करने के लिए आजाद हैं। यदि हम अपनी ताकतों को संगठित कर सकें, मजबूत केंद्र सरकार और मजबूत सेना बना सकें तो हम अगले पांच वर्षों में अच्छी तरक्की कर सकते हैं। यदि हम इस समय चल रही विकास योजनाओं में काफी प्रगति कर लें तो देश के लिए बहुत बड़ी उम्मीद बनेगी।

इसके अलावा भार को हलका करना आसान होगा : 'हमें भार और सांप्रदायिक मतदाताओं से नजात ले लेनी चाहिए।'[68]

विभाजन, बाल्कनीकरण नहीं

दो डोमिनियनों को सत्ता हस्तांतरण के विचार वाली 3 जून की योजना से पहले 10 मई 1947 को शिमला में 'बम धमाका' हुआ। माउंटबैटन का दावा है कि उसने मसौदा प्रस्ताव नेहरू को 'दिखाए' थे।[69] इन पर नेहरू ने निराशापूर्ण स्वर में प्रतिक्रिया व्यक्त की : 'भारत की जो तसवीर उभरी है उसने मुझे डरा दिया है ... टुकड़े-टुकड़े होने, संघर्ष और अव्यवस्था की तसवीर तथा भारत और ब्रिटेन के संबंधों के खराब होने की तसवीर।'[70] नेहरू को डर था कि प्रस्तावों से 'बाल्कनीकरण होगा ... संघर्ष को बढ़ावा मिलेगा और ... भारत में कई 'अल्स्टर' पैदा होंगे।' नेहरू के विचार से कठिन समस्या यह थी कि 'प्रस्तावों के प्रारंभ में ही भारतीय संघ को सत्ता का उत्तराधिकारी न मानने की बात कही गई है। इसमें भारी संख्या में उत्तराधिकारी राज्यों से दावे आमंत्रित किए गए हैं। उन्हें दो या अधिक देशों के रूप में एक होने की अनुमति दी गई है।' पहली प्रक्रिया एकता के अनुरोध के साथ शुरू हुई थी। इसके बाद अलग होने का विकल्प दिया गया था। अब अलग होने के बाद फिर मिलने का अनुरोध किया जाएगा।[71]

माउंटबैटन ने महामहिम की सरकार को शीघ्र स्पष्ट किया कि केवल दो उत्तराधिकारी देशों की अनुमति होगी। अप्रैल 1947 के मध्य में गवर्नरों के सम्मेलन में माउंटबैटन ने यही तर्क दिया था कि प्रांतों को या तो भारतीय या पाकिस्तानी संविधान सभा में शामिल होने का विकल्प मिलेगा।[72] उनके स्वतंत्र होने और भारत के बाल्कनीकरण की कोई संभावना नहीं रहेगी। अधिकांश गवर्नर सहमत हो गए, हालांकि वे प्रांतों को बाद में निकलने का विकल्प देना चाहते थे। लेकिन इस्मै ने इस बात पर बल दिया कि महामहिम की सरकार तब तक सहमत नहीं होगी जब तक कि प्रांतों को खुली छूट नहीं दी जाएगी। कोरफील्ड ने उसका समर्थन किया और कहा कि राज्यों को खुली छूट दी जा रही है। ऐसा लगता है कि इस्मै के मत को स्वीकार कर लिया गया। नेहरू मसौदा प्रस्तावों द्वारा प्रांतों और राज्यों को व्यापक आजादी दिए जाने से परेशान थे।

पहले के सूत्र राजाओं को राजी करने के लिए बनाए गए थे। उनमें से बहुत से किसी भी संघ, भारत या पाकिस्तान से अलग रहने के अधिकार की मांग कर रहे थे। यह तर्क दिया गया था कि बाल्कनीकरण का खतरा वास्तविक नहीं है।[73] राजाओं का जहां तक सवाल है (प्रांतों की बात अलग थी) मसौदा प्रस्तावों और 3 जून की अंतिम योजना में कोई फर्क नहीं था क्योंकि वास्तविक राजनीति को ध्यान में रखते हुए वे प्रशासनिक रूप में या अन्यथा किसी न किसी संघ से मिलते। क्या बाल्कनीकरण का खतरा केवल दिखाई दे रहा था या वास्तविक था ? यह वास्तविक लग रहा था हालांकि काल्पनिक प्रमेय को

कोई सिद्ध नहीं कर सकता। चाहे जो भी हो नेहरू को 3 जून की योजना और पहले के प्रस्तावों में भारी अंतर नजर आ रहा था। योजना में प्रस्तावों के मुकाबले काफी सुधार नजर आ रहा था। इसी वजह से नेहरू ने अंतिम योजना को स्वीकार किया होगा। बाल्कनीकरण की संभावना को देखते हुए विभाजन अपेक्षाकृत कम बुरा नजर आ रहा था।

दमन कोई विकल्प नहीं

अंततः कांग्रेस अपने पास दो महत्वपूर्ण हथियार न होने की वजह से लड़ाई हार गई। पहले तो उसके पास राज सत्ता नहीं थी। इसके कारण वह शासन की ताकत का इस्तेमाल नहीं कर सकती थी। प्राधिकार प्राप्त होने के बावजूद कांग्रेस के पास शक्ति का बहुत अभाव था। प्रांतीय स्वायत्तता ने अंतरिम सरकार की शक्ति को और भी कम कर दिया था। जैसा कि हमने देखा अंतरिम सरकार के भीतर और बाहर लीग के असहयोग के कारण कांग्रेस निष्क्रिय होने के लिए बाध्य हो गई। कानून और व्यवस्था के मामले में अंतरिम सरकार के पास वाइसरॉय को विरोध जताने का अधिकार मात्र था। हद से हद स्थिति के अनुसार वह इस्तीफे की धमकी दे सकती थी या लीग का इस्तीफा मांग सकती थी।[74] लेकिन अंग्रेज शक्तिहीन नहीं थे। यदि 'वे चाहते तो कानून और व्यवस्था कायम कर सकते थे।'[75] माउंटबैटन पर दबाव डाला गया कि वह खून-खराबे को रोकने के लिए अपनी शक्तियों का प्रयोग करे और वावेल ने केंद्र को कमजोर बनाने की जो प्रक्रिया शुरू की उसे रोके।[76] नेहरू ने पंजाब के गवर्नर से कहा कि वह सेना का उपयोग करे क्योंकि पुलिस के मुकाबले उससे लोगों में ज्यादा विश्वास पैदा होता है।[77]

गांधी का नजरिया भिन्न था। उन्होंने बताया कि अंग्रेजों का मुंह ताकना गलत है। यह कमजोरी की निशानी है। सेना की सहायता मांगना तो दुगुना गलत है।[78] ये विचार उन्होंने 1946 के मध्य में व्यक्त किए। उस समय उन्होंने चेतावनी दी थी कि बेकार की हिंसा से संगीनों का प्रयोग होगा और इससे ब्रिटिश शासन का जीवनकाल बढ़ेगा।[79] खून-खराबे और दंगों के सैलाब के बावजूद गांधी का यह विश्वास नहीं डिगा कि अंग्रेज तुरंत भारत छोड़ दें। इनसे उनका विश्वास उलटे और मजबूत हुआ।

यदि शासन की ताकत अकेले फासीवादी सांप्रदायिकता को परास्त कर सकती थी तो अंग्रेजों ने उसका प्रयोग क्यों नहीं किया ? सांप्रदायिकता की आग को ब्रिटिश अधिकारी चुपचाप जलते क्यों देखते रहे ? नेहरू का विचार था कि ब्रिटिश अधिकारी न तो सांप्रदायिक विषाणु को फैलने से रोकने में सक्षम थे और न उनकी इसमें कोई रुचि थी।[80] उनकी उदासीनता और बेरहमी का प्रमुख कारण यह था कि भारत में उनका अब कोई हित नहीं रह गया था। अब उनका भविष्य भारत के साथ नहीं जुड़ा था।[81] नेहरू ने इसे साफ-साफ देख लिया। 'वे सोचते हैं कि वे जल्दी ही यहां से चले जाएंगे। इसलिए क्यों चिंता करें ?'[82]

उनके भविष्य ने यदि उन्हें बेरहम बना दिया तो अतीत ने उन्हें प्रतिशोधी बना दिया। हाल ही में अर्थात 1942 में कांग्रेस आंदोलनों ने उनकी हालत खराब कर दी थी। इसलिए कांग्रेसजनों को मुसीबत में देखकर वे दु:खी नहीं थे।[83] पटेल ने बताया है कि गुड़गांव का डी सी भारत छोड़ो के खिलाफ था। उसे इन घटनाओं पर मजा आया।[84] नेहरू ने कहा है कि 'वे चुपचाप इस बात पर संतोष व्यक्त करते हैं कि भारत के टुकड़े हो रहे हैं।'[85]

ब्रिटिश अधिकारियों और वास्तविकता के बारे में कांग्रेस नेताओं की राय पूरी तरह से सही नहीं थी। कुछ अधिकारी एकता का सपना देखते थे। भारत में इसे वे अपना लंबा और कठिन मिशन मानते थे। इसे खतरा पहुंचाने वाले सांप्रदायिक दंगों को दबाने के लिए उन्होंने उत्कृष्ट कार्य किया। बड़े अधिकारियों ने बड़े रोष के साथ नेहरू के इस आरोप का खंडन किया कि अधिकांश उपद्रव वहीं हुए जहां ब्रिटिश अधिकारियों के पास चार्ज था।[86] अनिता इंद्रसिंह का यह विचार सही लगता है कि ब्रिटिश अधिकारी दूसरे अधिकारियों से बुरे नहीं थे। दोनों तरफ सब तरह के अधिकारी थे।[87]

एक पहलू और था। वह था सिविल सत्ता के ढांचे का धीरे-धीरे पतन। कांग्रेस नेता इसे मानने के लिए तैयार नहीं थे।[88] सत्ता के पतन और दुराग्रह के कारण ब्रिटिश अधिकारी प्राधिकार के प्रयोग के नाकाबिल हो गए।[89] नेहरू ने अगथ हैरिसन से कहा : 'ब्रिटिश सिविल सेवक न तो मौजूदा हालात से निपटना चाहते हैं और न इसके काबिल हैं।'[90]

यहां दो प्रक्रियाएं जुड़ गईं। वे नेहरू की नजरों में थीं। प्राधिकार के पतन ने ब्रिटिश शासन के जारी रहने को असंभव बना दिया। इससे सांप्रदायिक हिंसा को दबाना भी मुश्किल हो गया। सबके अनुसार पहली उलझन का समाधान था आजादी और दूसरी का विभाजन। माउंटबैटन 'शीघ्र निर्णय' चाहता था। ऐसा न करने का मतलब होगा 'वाइसरॉय के कंधों से गृहयुद्ध की जिम्मेदारी को न हटाना। इसके अलावा वह केवल तुरंत चले जाने की सिफारिश कर सकता है।'[91] गांधी का उत्तर यह था कि अंग्रेज तुरंत भारत छोड़ दें। इससे अराजकता आए तो आए लेकिन वे तुरंत चले जाएं। कांग्रेस ने अपना उत्तर तैयार करने के लिए माउंटबैटन और गांधी दोनों से बराबर मात्रा में बातें कीं। उसका उत्तर था कि अंग्रेज तुरंत चले जाएं लेकिन समझौता कराकर जाएं, अराजकता छोड़कर नहीं।[92] मिश्रण विस्फोटक था। गृहयुद्ध के जो संभावित स्रोत बताए गए थे, वे थे 'बल प्रयोग द्वारा एकता' और 'बहाव के खतरे'। इसे रोकने के लिए दो रणनीति सोची गई—विभाजन मंजूर करना और सत्ता जल्दी हस्तांतरित करना। समझौता न होने में खतरा था और समझौते में समाधान था। दुखद विरोधाभास यह था कि विभाजन के लिए समझौते के बावजूद गृहयुद्ध हुआ। बल्कि समझौते से गृहयुद्ध का दूसरा दौर शुरू हुआ। इसकी उम्मीद नहीं थी। लेकिन समझौते अकसर मतभेद का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यदि ब्रिटिश अफसरों ने 'ध्यान रखना बंद कर दिया' तो कुछ भारतीय अफसरों ने केवल अपने समुदाय का ध्यान रखा। राष्ट्रीय राजनीति में फैला सांप्रदायिक संघर्ष नौकरशाही,

पुलिस और सेना में भी घुस गया।[93] सांप्रदायिक भावना केवल सहानुभूति की अवस्था तक रही। पक्षपात भी था लेकिन उसे साफ-साफ जाहिर नहीं किया गया। दंगों के दौरान बीच- बीच में यह सक्रिय या चुपचाप मिलीभगत का रूप ले लेता था। बिहार में इसी तरह का आरोप लगाया गया लेकिन यह काफी निराधार लगा। घटनाओं से लगा कि केवल निष्क्रियता थी। सांप्रदायिक कार्रवाई नहीं की गई। बाद के महीनों में जब दंगे फैले और लोगों का पलायन शुरू हुआ तो अधिकारियों की सहानुभूति साफ जाहिर होने लगी। नेहरू पक्षपात करने वाले हिंदू अधिकारियों की आलोचना करते थे। पटेल उनसे सहानुभूति रखते थे लेकिन मुसलमान अधिकारियों का बिलकुल भी भरोसा नहीं करते थे। नेहरू ने यह पाया कि दिल्ली का मुख्य आयुक्त वैसे तो अच्छा अधिकारी था लेकिन वह एक तरह का भेदभाव रखता था। नेहरू का विचार था कि वह आर एस एस के साथ सख्ती से पेश नहीं आता था। लेकिन पटेल ने उसे पूरी तरह से आरोप मुक्त कर दिया। पटेल का यह तर्क अकाट्य हो सकता है कि अधिकारी भी आखिरकार मनुष्य हैं और वे दूसरे लोगों की तरह सहानुभूति रख सकते है। नेहरू ने केवल इतना कहा कि वे उनकी भावनाओं को समझते हैं।[94]

लेकिन केवल समझने से समाधान नहीं होता। आंशिक रूप से संप्रदायीकृत पुलिस और यहां तक कि सेना की मदद से सांप्रदायिक हिंसा को कैसे रोका जा सकता था ? या संप्रदायीकृत प्रशासन की सहायता से घृणारहित वातावरण फिर से कैसे बनाया जा सकता था ? एक तरह से यह काम उतना ही मुश्किल था जितना कि संप्रदायीकृत संवर्गों और लोगों की मदद से एकता के लिए जन आंदोलन शुरू करना।

एक और विकल्प : कांग्रेस पार्टी द्वारा सांप्रदायिकता विरोधी संघर्ष

कांग्रेस नेताओं के पास सीमित विकल्पों का कारण पार्टी की दशा थी। बहुत से कांग्रेसजनों का सांप्रदायिकता की ओर झुकाव था और दंगों के कारण कुछ सांप्रदायिक हो गए। दंगों ने कांग्रेसजनों, हिंदुओं और मुसलमानों, कार्यकर्ताओं और मंत्रियों के छिपे हुए सांप्रदायिक पूर्वग्रहों को उजागर कर दिया।[95] राष्ट्रवादी मुसलमानों की संख्या पहले ही कम थी। चुनाव के बाद उनमें से भी कई लीग में चले गए। मुसलमान आवाम के पास कौन जाए यह समस्या पहले की तरह बनी रही।

संप्रदायीकृत संवर्गों ने कैसे बाधा पैदा की ? यह इस रूप में पैदा हुई कि जिन लोगों की धर्मनिरपेक्षता में खुद दोष हो वह दूसरों को पक्की धर्मनिरपेक्षता की सीख कैसे दे सकते हैं। सांप्रदायिक होने का मतलब यदि सांप्रदायिक विचारधारा का प्रचारक होना है तो वे सांप्रदायिक नहीं थे। वे तो शेष समाज की कमजोरियों और ताकतों को ही प्रतिबिंबित कर रहे थे। अपनी जान जोखिम में डालकर वे 'करो या मरो' के आहवान पर दूसरों की जान बचाने के लिए कूद पड़ेंगे इसकी संभावना कम ही थी। गांधी यह समझते थे। इसलिए

उन्होंने ऐसा आह्वान ही नहीं किया जिसका उत्तर न मिले।[96]

सांप्रदायिकता पार्टी के लिए अकेली बीमारी नहीं थी। वह असंगठित और अनुशासनहीन थी। युद्ध के वर्षों की दुर्दशा के बाद 1945 में इसे ठीक ठाक करने की योजना बनाई गई। लेकिन दूसरे जरूरी सरोकारों - चुनाव लड़ने, मंत्रिमंडल बनाने, अंतरिम सरकार चलाने और इनसे भी बढ़कर बातचीत और संविधान सभा में भाग लेने के कारण इसमें बाधा आ गई।[97] नेहरू सहित बहुत से नेता पार्टी के पुनर्गठन की जरूरत को समझते थे लेकिन इस कार्य को ठंडे बस्ते में डाल दिया गया।[98] प्रांतीय विधानसभाओं और संविधान सभाओं में सीटों के लिए कांग्रेसजनों में छीना-झपटी से गांधी खिन्न थे क्योंकि राजनीतिक कार्य के लिए यही एकमात्र क्षेत्र नहीं था। उनके विचार से यह सर्वाधिक महत्वपूर्ण क्षेत्र भी नहीं था।[99] पार्टी को फिर से जीवित करने के लिए नेहरू ने अध्यक्ष का पद संभाला। लेकिन अंतिरम सरकार के प्रधान का पद संभालने के लिए उन्होंने इसे छोड़ दिया। बाद के महीनों में उन्होंने कार्यालय के कामों की वजह से पार्टी और लोगों से संपर्क टूट जाने की बात कही। लेकिन स्थिति को ठीक करने के लिए उन्होंने कुछ नहीं किया।

कोई विकल्प शेष नहीं

आशाओं, विश्वासों, तर्कों और औचित्यों की बात की जाती है लेकिन वास्तविकता यह है कि विभाजन को स्वीकार करने के सिवाय कांग्रेस के पास और कोई चारा नहीं था। 'और कोई विकल्प नहीं था इसलिए कांग्रेस को इसके लिए राजी होना पड़ा।'[100] यह बात नेहरू ने सार्वजनिक रूप में ए आई सी सी के सदस्यों के सामने स्वीकार की। उन्होंने कहा कि इससे फिर एकता का मार्ग प्रशस्त होगा। इसका उत्तरदायित्व लोगों पर डाला गया आदि। इसके दो महीने पहले उन्होंने विभाजन को अलहदगी बताते हुए उससे इनकार किया था। पटेल ने निजी तौर पर एक बात स्वीकार की : 'साफ बात यह है कि हम सब इससे घृणा करते हैं लेकिन हमें कोई रास्ता नजर नहीं आता।'[101] अमृत कौर ने लंदन में सुधीर घोष को कांग्रेस का रुख स्पष्ट किया : 'जाहिर है कि कांग्रेस के पास कोई विकल्प नहीं रह गया था।'[102] अप्रैल 1947 के मध्य में माउंटबैटन के साथ एक बातचीत में राजेंद्र प्रसाद ने संकेत दिया कि यदि और कोई विकल्प नहीं बचा तो कांग्रेस विभाजन स्वीकार कर लेगी।[103]

कांग्रेस के पास इस अर्थ में कोई विकल्प नहीं था कि उसने जो विकल्प सोचे थे वे अवरुद्ध हो गए। जिन कारणों से अन्य विकल्पों पर विचार नहीं किया जा सकता था वे अभी भी मौजूद थे। नेहरू के अनुसार ये विकल्प थे बातचीत या लड़ाई।[104] उन्होंने कहा कि उन्होंने बातचीत का मार्ग चुना है, जोर जबर्दस्ती का नहीं। बातचीत का अंत शीघ्र ही आ गया। जिन्नाह ने अपना प्रिय शब्द 'नहीं' कहा और रुकावट पैदा करने की अपनी प्रिय कार्रवाई की। लड़ाई दो प्रकार की हो सकती थी -अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई जिसका परिणाम होता एकता या लीग और मुसलमानों के खिलाफ लड़ाई। दोनों तरह के संघर्षों

पर विचार किया गया। लेकिन अलग-अलग कारणों से दोनों विकल्पों को नामंजूर कर दिया गया।[105]

दो विकल्पों पर कांग्रेस में बहस नहीं हुई। ये थे सांप्रदायिकता के खिलाफ शासन की ताकत का प्रयोग और विचारात्मक संघर्ष। यह सांप्रदायिकता को काबू में करने के दो आयामी रणनीति हो सकती थी। 1947 में इन दोनों विकल्पों को किनारे रख दिया गया।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ क्रमशः 308-9, 194-46, 179-80, 213-15.
2. अनिता इंद्रसिंह के अनुसार कांग्रेस ने फरवरी 1947 में अविभाजित भारत की आशा छोड़ दी, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 226. गोपाल ने स्पष्ट किया है कि मार्च 1947 तक कांग्रेस ने पंजाब और बंगाल के विभाजन के लिए मन बना लिया था. गोपाल, *जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी*, वॉल्यूम -I, पृ. 343 यह देश के विभाजन की हालत में होना था.
3. प्रार्थना सभा में गांधी का संबोधन, 11 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 73-75
4. देखें अध्याय-दस पंजाब और बंगाल के विभाजन पर खंड.
5. स्वतंत्रता सप्ताह बैठक में नेहरू का भाषण, 9 अगस्त 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 134.
6. यह अंतर्विरोध गांधी में भी था. एक ओर उन्होंने चुनौती दी कि पाकिस्तान उनके शव पर बनेगा और दूसरी ओर उन्होंने स्वीकार किया कि यदि मुसलमान विभाजन चाहते हैं तो उसे कोई नहीं रोक सकता मुसलिम लीग और पाकिस्तान की मांग के बारे में विस्तृत विवरण के लिए अध्याय नौ देखें.
7. 10 मार्च 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यूम 15, पृ. 34.
8. नॉर्मन क्लिफ को इंटरव्यू, 25 मई 1947, वही, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 180.
9. ए आई सी सी पेपर्स, जी-30, 1946-48, सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन* में उद्धृत, पृ 230 सिंह ने 1 और 2 जून 1947 को ए आई सी सी की बैठक का गलत उल्लेख किया है.
10. ए.एम. जैदी संपादित, *दि एनसाइक्लोपीडिया आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस*, वॉल्यूम-6, नई दिल्ली, 1981, पृ. 110-14.
11. 'विभाजन के बारे में कांग्रेस के रुख का उपर्युक्त वर्गों ने सांप्रदायिक भावनाएं भड़काने के लिए इस्तेमाल किया है... बंगाल का जहां तक संबंध है विभाजन के आंदोलन ने इसलिए जोर पकड़ा है क्योंकि कांग्रेस हिंदू महासभा की मदद के लिए आ गई है और क्योंकि पिछले अगस्त से बाद की घटनाओं के कारण हिंदुओं की सांप्रदायिक भावनाओं को भड़काया गया है.' पटेल को, 27 मई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 45-46
12. शरत बोस ने पटेल को बताया कि पश्चिमी और पूर्वी बंगाल दोनों जगहों पर जनमत के नजदीक होने के कारण : 'मैं कह सकता हूं कि बंगाली हिंदू विभाजन की मांग को लेकर एकमत नहीं हैं', इसके बिलकुल विपरीत बात करते हुए श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने शरत बोस का खंडन किया : 'उन्हें हिंदुओं का कोई समर्थन प्राप्त नहीं है और उन्होंने एक भी जनसभा को संबोधित नहीं किया है.' 27 और 11 मई 1947, वही, पृ. क्रमशः 45 और 40.
13. 3 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 99.
14. वही, पृ. 91. जलाल ने स्वभाव के अनुसार वास्तविकता को बिलकुल उलट दिया है और तर्क दिया है कि कांग्रेस ने पूरी सत्ता पाने के लिए विभाजन पर बल दिया. उन्होंने कांग्रेस पर आरोप लगाया कि वह

पूरा तलाक चाहती थी, कुछ समय के लिए जुदाई नहीं, जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 280

15 22 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 181.

16. पटेल से बी.एम. बिड़ला, 10 जून 1947, *एस पी सी*, वाल्यूम 4, पृ 56.

17. कांग्रेस अध्यक्ष से वाइसरॉय, 2 जून 1947, मसौदा नेहरू द्वारा तैयार, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वाल्यूम 3, पृ. 91.

18. नेहरू के साथ इंटरव्यू का त्रैमासिक का रिकार्ड, 30 मई 1947, वही, वॉल्यूम 2, पृ. 311.

19 दोनों भाषणों के लिए देखें *एस पी सी*, वाल्यूम 4, पृ. 121-24.

20 3 जून 1947, वही, पृ. 125.

21. पटेल से माउंटबैटन, 10 जून 1947, वही, पृ. 147.

22 ए आई सी सी अधिवेशन में कृपलानी का भाषण, 14 जून 1947, *ए आई सी सी पेपर्स*, जी- 71, 46/7.

23. गुरुद्वारा पंजा साहिब में भाषण, 5 अगस्त 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 89, पृ. 5.

24 न्यूज क्रॉनिकल संवाददाता नॉर्मन क्लिफ को इंटरव्यू, 25 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 180.

25 गिरिजाशंकर बाजपेई से सपरु, 3 जून 1947, *सपरु पेपर्स*, एस-1, रॉल-1, बी 39

26. पटेल से बॉजमैन, 11 जुलाई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 469 एस. राधाकृष्णन को भेजे गए एक पत्र में राजेंद्र प्रसाद ने ऐसी ही भावनाएं व्यक्त कीं, 'हमें नहीं मालूम कि क्या होने वाला है लेकिन हमने यह उम्मीद नहीं छोड़ी है कि कुछ समय बाद फिर से एक हो सकते हैं ' 6 मई 1947, *आर पी पेपर्स*, 19-पी.47, कॉलम I, भाग -II, क्र सं. 1

27 नेहरू और पटेल के विचार भी मिल गए थे : 'विभाजन के अपने पिछले कड़े विरोध के बावजूद मैं इसके लिए इसलिए सहमत हो गया हूं क्योंकि अब मेरी समझ मे भारत को एक रखने के लिए उसका विभाजन होना चाहिए.' स्वतंत्रता सप्ताह समारोहों में पटेल का भाषण, 11 अगस्त 1947, नंदूर्कर, *इन ट्यून विद मिलियन्स*, वॉल्यूम 1, पृ. 4.

28 *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ 99. आश्चर्य की बात है कि 'विभाजन के जरिए एकता' जैसे अपरंपरागत स्लोगन को सिंध के लीग समर्थक गवर्नर मडी ने भी स्वीकार किया. 15 अप्रैल 1947 को गवर्नरों के सम्मेलन में उसने तर्क दिया कि कागज पर पाकिस्तान की बात मान लिए जाने के बाद दोनों पक्ष एकता की बात करेंगे. *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 242-45

29 नेहरू से सुलतान स्जाहरिर, 17 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 197.

30 5 जनवरी 1948, वही, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 5, पृ. 177.

31 नेहरू से सुलतान स्जाहरिर, 17 जून 1947, वही, वॉल्यूम 3, पृ. 157. जिन्नाह को इस तरह के 'निकट संबंधों' की उम्मीद नहीं थी. 17 अप्रैल 1947 को उसने वाइसरॉय को बताया: 'आपको सर्जिकल आपरेशन कर देना चाहिए, आप भारत और उसकी सेना को दृढ़ता के साथ दो हिस्सों में बांट दीजिए और मुस्लिम लीग का आधा हिस्सा मुझे दे दीजिए.' वाइसरॉय की निजी रिपोर्ट, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 298-301.

32 राजेंद्र प्रसाद ने सिन्हा को लिखा, 'मेरा विचार है कि पाकिस्तान शीघ्र ही भारत के साथ संघ की उपयोगिता को पहचानेगा. जब ऐसा होगा तो हमें बहुत खुशी होगी. ऐसा हो या न हो हमें अपनी मौजूदा योजना के अनुसार काम करना होगा.' 5 जून 1947, *आर पी पेपर्स*, 6-I/45-6-7, क्र.सं. 51. सुब्बारान ने सपरु को लिखा : 'लेकिन मुझे उम्मीद है कि विभाजन हो जाने और गठन का काम शुरू कर देने के बाद दोनों हिस्से कम से कम रक्षा और विदेश संबंधों के लिए करारों द्वारा एक साथ काम करेंगे.' 27 जून 1947, *सपरु पेपर्स*, एस-2, रॉल 5, एस-613.

33. गिरिजाशंकर बाजपेई से सपरु, 3 जून 1947, *सपरु पेपर्स*, एस-1, बी-39. यू पी के गवर्नर वाइली ने

सहमति जताई : 'भारत के विभाजित होते ही दो अलग देशों में सभी तरह के निहित स्वार्थ उठ खड़े होंगे और आप उन्हें कभी एक नहीं कर सकेंगे.' होरेस अलैक्जेंडर द्वारा उद्धृत, *ओ एच टी*, सं 12, एन एम एम एल

34. प्रार्थना सभा में गांधी का भाषण, 4 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू,* वॉल्यूम 88, पृ. 75 वास्तव में माउंटबैटन चाहता था कि विभाजन का अनुमोदन एक साल बाद हो ताकि भारतीय यह देख सकें कि इसका 'क्या मतलब है और इससे क्या होगा' तथा अपना नजरिया बदल सकें. लेकिन इस्मै ने 'बहिर्गमन खंड' को गलत और निश्चयात्मकता से बचना बताकर उससे इनकार कर दिया. यह वाइसरॉय का 21 अप्रैल 1947 को 18वीं स्टाफ बैठक में हुआ. *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ.347–49
35. गांधी से मुन्नालाल शाह, 11 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 130
36 प्रार्थना सभा भाषण, 12 जून 1947, वही, पृ 138–39 नेहरू पटेल और कृपलानी सब गांधी के स्वर मे बोले. पटेल के शब्दों में, 'प्रकृति और ईश्वर ने जिसे एक बनाया है वह हमेशा के लिए दो हिस्सों में बंटा नहीं रह सकता.' एच टी, 12 अगस्त 1947 कृपलानी ने यही बात कही 'देर-सबेर बुनियादी एकता प्रबल होगी और जो लोग इस समय अलग होने के उत्सुक हैं वे एक गोद में लौटने के लिए उत्सुक होंगे', वही, 20 जून 1947
37 नेहरू से ब्रिगेडियर करियप्पा, 29 अप्रैल 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 377 साथ ही सिख सेवा दल द्वारा रिसेप्शन देखें, 28 नवंबर 1947,वही, वॉल्यूम 4, पृ 189 90
38 'विभाजन वास्तव में गलती थी लेकिन सेना का विभाजन करके हम भयंकर गलती कर रहे हैं' 15 जुलाई 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ 341 साथ ही देखें, वही, पृ 335
39 23 जून 1947, वही, पृ. 190
40 आर्थर मूर को इंटरव्यू, 10 जुलाई 1947, वही, पृ 311, सुब्बारायन ने गांधी की निराशा के बारे में सपरू को बताया . 'उनके शब्दों में उन्होंने महसूस किया कि हिंदुओं को कसा जा रहा है (उन्होंने पंडित शुक्ला के भाषण का उदाहरण दिया) भविष्य में दो समुदायों को इकट्ठा करना मुश्किल होगा,' 27 जून 1947, *सपरू पेपर्स*, एस 2, रॉल–5, एस-613
41. नेहरू ने तर्क दिया कि निर्दोष नागरिकों की हत्या से विभाजन बेहतर है. राजेंद्र प्रसाद ने एस. सिन्हा से यह कहा : 'जो कुछ हो रहा था उसे और भविष्य को देखते हुए हमने यह महसूस किया कि विभाजन से कोई छुटकारा नहीं है यह तभी रुक सकता है जब हम न केवल अनिश्चितता और अस्थिरता बल्कि देश के बड़े हिस्से में संघर्ष और खून खराबे के लंबे दौर के लिए तैयार हों हमें आशा है कि सद्भावना नहीं तो शांति के माहौल में हम राष्ट्र निर्माण के बड़े काम पूरा कर सकेंगे ' 5 जून 1947, *आर पी पेपर्स*, 6–1/45 6-7, क्र सं 51, 14 जून 1947 को ए आई सी सी में कृपलानी के भाषण में पहली बार कहा गया कि विभाजन ही अंग्रेजों से आजादी लेने का एकमात्र रास्ता है : 'दूसरे, योजना पंजाब, बंगाल, बिहार और सीमा प्रांत में बिगड़ती सांप्रदायिक स्थिति से उत्पन्न गुत्थी, अव्यवस्था और कुंठा से बाहर निकलने का मार्ग दिखा सकती है प्रांतीय सरकारें दंगों से निपटने में नाकामयाब रही हैं '" *ए आई सी सी पेपर्स*, जी-71/46-7
42. नेहरू से ए आई सी सी प्रतिनिधियों को, 15 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ 112.
43. पटेल से जैन बिरादरी शिरोमणि समिति, रावलपिंडी, 22 जून 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 5, पृ. 287
44. वही
45. पटेल से परमानंद त्रेहन, 16 जून 1947, वही, वॉल्यूम 5, पृ. 289
46. नेहरू से माउंटबैटन, 22 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 181.
47. पटेल से सचिव, जैन बिरादरी शिरोमणि समिति रावलपिंडी को, 22 जून 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 5,

पृ. 287.

48 एस. सिन्हा से राजेंद्र प्रसाद, 9 जुलाई 1947, *आर पी पेपर्स*, 5 डी/96 7.

49 14 अप्रैल 1947 को जेनकिन्स ने इस्मे को चेतावनी दी कि विभाजन की घोषणा के बाद विस्फोट होगा बहुत बड़ी सैनिक समस्या खड़ी होगी '*टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 231 34. 4 अगस्त 1947 को जेनकिन्स ने माउंटबैटन को लिखा, 'न ही राजा के सब घोड़े और न राजा के सब लोग देश के विस्तृत क्षेत्र में गांवों में समुदायों के बीच संघर्ष को रोक सकेंगे. वे केवल उन्हें सजा दे सकेंगे.' वही, वाल्यूम 12, पृ. 516.

50 सिंह में उद्धृत, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 224.

51 राजा जी से राजेंद्र प्रसाद, 30 अगस्त 1947, *आर पी पेपर्स*, 23- सी/46 - 7

52 प्रार्थना सभा में संबोधन, 14 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 152.

53 माउंटबैटन से इंटरव्यू, 10 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 212 गांधी ने सिंध के हिंदुओं को भागने के बजाए रुकने के लिए कहा 30 जनवरी 1948 को गांधी ने गिडवानी से यहां तक कहा : 'यदि कश्मीर के लिए युद्ध हो सकता है तो पाकिस्तान में सिंधी हिंदुओं के अधिकारों के लिए भी युद्ध हो सकता है.' के.आर. मलकानी, *दि सिंध स्टोरी*, नई दिल्ली, 1984, पृ. 100-11, 126

54 पटेल से आर के सिधवा, एम एल ए, सिंध, 23 मई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 5, पृ 317.

55 राजेंद्र प्रसाद से एस सिन्हा, 23 सितंबर 197, *आर पी पेपर्स*, 5 डी/46- 7

56 *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 147.

57 राजेंद्र प्रसाद को एस सिन्हा के शब्द तकलीफदेह लेकिन सही लगे होंगे. 16 सितंबर 1947, *आर पी पेपर्स*, 5 डी/46 7. 'लेकिन जब हम विभाजन के लिए सहमत हुए थे तो हमने यह सब नहीं सोचा था हमने यह नहीं सोचा था कि व्यवस्थित और सुनियोजित तरीके से हिंदुओं और सिखों को पाकिस्तान से निचोड़कर निकाला जाएगा.' हैदराबाद में पटेल का भाषण, 7 अक्तूबर 1950, नंदूकर, *इन ट्यून विद दि मिलियन्स*, वॉल्यूम 2, पृ. 166 'कांग्रेस अब तक निष्फल इस उम्मीद के साथ देश के विभाजन के लिए राजी हुई थी कि इससे आंतरिक संघर्ष रुक जाएगा लेकिन वह कभी भी इस विचार से सहमत नहीं थी कि भारत में दो या अधिक राष्ट्र हैं,' ए आई सी सी संकल्प, 15 नवंबर 1947, जे न एस डब्ल्यू, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 180. अब्दुल माजिद खान के विचार से मार्च दंगों से कांग्रेस डर गई और वापसी की तारीख को जून 1948 से पीछे हटाकर 15 अगस्त 1947 करने की 'रणनीतिक गलती' कर बैठी. यदि वे ऐसा नहीं करते तो 'दंगे 2 या 3 महीनों में खत्म हो जाते.' तीनों समुदायों में से भारी संख्या में हत्याएं हुई होतीं लेकिन देश का विभाजन नहीं होता, *ओ एच टी*, 348, एन एम एम एल, एच. के. महताब ने तर्क दिया है कि नाइजीरिया की तरह इसे लड़कर खत्म करना बेहतर होता : 'कोई पार्टी हार जाती. उसके बाद कोई समझौता हो जाता, लेकिन भारत मे दुर्भाग्य से विभाजन समझौते द्वारा कर दिया गया. कोई लड़ाई नहीं हुई. दोनों पक्ष अलग होने के लिए सहमत हो गए '*ओ एच टी*, 306, एन एम एम एल.

58. 'घटनाओं ने हमारी गणनाओं को गलत साबित कर दिया है. पता नहीं क्यों 15 अगस्त और उसके बाद पूरे देश में लोगों ने बड़ी खुशी मनाई. हमने सोचा था कि हमने ठीक किया. लेकिन जहर मौजूद था. वह बड़ी तेजी से फूटा और फैला'. नेहरू से शेख अब्दुल्ला, 10 अक्तूबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 269. एस. गोपाल ने कहा है : 'जैसा कि नेहरू ने माना यदि कांग्रेस के नेताओं को इसकी उम्मीद होती तो वे भारत को अविभाजित और परेशान रखना पसंद करते', जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी, वॉल्यूम 2, पृ. 14.

59. नंदा, *महात्मा गांधी : ए बायोग्राफी*, पृ. 489. गांधी का मानना था कि ब्रिटिश शासन में सांप्रदायिक हिंसा बहुत घातक थी अंग्रेजों के चले जाने के बाद देश आग में से गुजरेगा. लेकिन वह आग शुद्ध करने

वाली होगी. और विवरण के लिए देखें *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 86, 87 और 88, पृ. क्रमश: 83. 152 और 416 तथा 14.

60. पंजाब से आगंतुकों के साथ बातचीत, 17 जुलाई 1947, वही, वॉल्यूम 88, पृ. 356.
61 *हरिजन*, 20 जुलाई 1947
62. वही, 18 मई 1947. 'यदि यह हत्याकांड होना था तो वह (माउंटबैटन) उसे होने देता. उन्होंने कहा कि वे तलवार के आगे नहीं झुकेंगे.' प्रार्थना सभा संबोधन, 14 जून 1947, *एम जी सी डबल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 153
63. नेहरू से आसफ अली, 24 फरवरी 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 51.
64. नेहरू से कृष्णमैनन, 23 फरवरी 1947, वही, पृ. 45.
65. जलियांवाला दिवस बैठक 13 अप्रैल 1947, वही, पृ. 89–90 एक केंद्र होने से लीग हमेशा सरकार छोड़ने की धमकी देती रहती. वाइसरांय की 6ठी विविध बैठक, 22 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 363–64, ब्रेचर का मत था कि बड़े भारत में विखंडन की अधिक प्रवृत्तियां होतीं, '*इंडियाज डिसिजन*', पृ. 77.
66. 'यदि उत्तर और उत्तर पूर्व में मुस्लिम बहुल क्षेत्र जाने वाले हैं तो हमें मजबूत समाजवादी देश बनाना चाहिए'. एस राधाकृष्णन से राजेंद्र प्रसाद, 29 अप्रैल 1947, *आर पी पेपर्स*, 1-बी/47, क्र.सं. 2.
67. पटेल से नियोगी, 18 जून 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 5, पृ. 72. नियोगी ने लिखा था, 'प्रत्येक देशभक्त भारतीय को भारत के विभाजन पर दुख होगा लेकिन इस समय घोषित योजना मौजूदा परिस्थितियों में सबसे अच्छी है केंद्र सरकार में बाधा पहुंचाने वाले तत्व अब चले जाएंगे इसलिए हिंदुस्तान को अपने भावी विकास के लिए योजना बनाने का मौका मिलेगा'. नियोगी से पटेल, 7 जून 1947, वही, पृ 71
68 पटेल से एन वी गाडगिल, 23 जून 1947, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 2, पृ. 230
69 वाइसरॉय से लार्ड इस्मै (भारत कार्यालय के माध्यम से), 11 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ 776
70 नेहरू से माउंटबैटन, 11 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 131–33. उन्होंने शिकायत की कि मीविले ने उन्हें केवल डेढ़ पृष्ठ का कच्चा मसौदा दिखाया. लेकिन मीविले ने जोर देकर कहा कि उसने पूरा मसौदा दिखाया था. वास्तव में माउंटबैटन ने उनमें बाद में संशोधन कर दिया था. नेहरू का मानना था कि महामहिम की सरकार ने प्रस्तावों को 'अनिष्टसूचक अर्थ' दे दिया है. उन्होंने माउंटबैटन को तुरंत एक विरोधपत्र भेजा. इसके बाद उन्होंने प्रस्तावों पर लंबा तर्कमूलक नोट भेजा. 'शिमला घटना' की विभिन्न व्याख्याएं की गई हैं. इनमें से मुख्य हैं टिंकर, मोरिस जोन्स, गोपाल और मूर सारांश के लिए देखें मूर, *एस्केप फ्रॉम एंपायर*, पृ. 272–80.
71 अपने स्टाफ के साथ वाइसरॉय की बैठक जिसमें नेहरू ने भाग लिया, 11 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ 142.
72 माउंटबैटन ने महामहिम की सरकार के सामने बल दिया था कि नेहरू की आपत्तियों को दूर करने के लिए प्रस्तावों में संशोधन किया जाए. इसे देखते हुए इतिहासकार यह गलत तर्क देते हैं कि विभाजन नेहरू की इच्छाओं का आदर करते हुए किया गया और विभाजन कांग्रेस की मांग थी. उदाहरण के लिए जलाल ने यह तर्क दिया है कि माउंटबैटन ने इस मुद्दे पर कांग्रेस की बात इसलिए मानी क्योंकि यदि कांग्रेस से उसकी बिगड़ जाती तो देश को चलाना मुश्किल हो जाता. जलाल, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 262. वास्तव में यह नेहरू के दबाव से माउंटबैटन में परिवर्तन नहीं था बल्कि उसी स्थिति में लौटना था जिसके लिए उसकी नेहरू से बातचीत हुई थी और जिसे छोड़ने के लिए महामहिम की सरकार और इस्मै–कोरफील्ड लौबी ने उससे कहा था. ऐसा लगता है कि सुमित सरकार ने वह सब स्वीकार कर लिया है जो माउंटबैटन दिखाना चाहता है. उन्होंने (नेहरू की आपत्तियों के उत्तर में) महामहिम की सरकार के प्रस्तावों में माउंटबैटन के संशोधन को इस बात का 'प्रमाण' माना है कि कांग्रेस ब्रिटिश

प्राधिकारियों पर दबाव डाल सकती थी लेकिन उसने दबाव नहीं डाला. हमारे विचार से कांग्रेस की ताकत का सही प्रमाण तब मिलता जब वह किसी ऐसे निर्णय को रद्द करवा देती जिसके रद्द करने से ब्रिटिश हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता और जो वाइसरॉय की अभिरुचि के खिलाफ होते

73. जलाल के विचार से भारत के बाल्कनीकरण का 'जाहिर' खतरा इसलिए दिखाया गया जिससे कि कांग्रेस राष्ट्रमंडल में शामिल होने के लिए प्रेरित हो. कांग्रेस ने माउंटबैटन को यह लालच दिया कि वह राष्ट्रमंडल की सदस्यता ले लेगी. इसके बदले में माउंटबैटन ने संघ को सत्ता हस्तांतरण का उपहार दिया. मांउटबैटन ने बाल्कन योजना में कांग्रेस की जरूरतों के *अनुसार* संशोधन किया और प्रांतों को आजादी से वंचित किया, *दि सोल स्पोक्समैन*, पृ. 249 जलाल के ठीक उलट मूर का विचार है जिसमें उसने संभावित वैकल्पिक तसवीर पेश की है (यदि दो डोमिनियनों के बारे में शिमला समझौता न हुआ होता) :
   'अस्थिर सरकारों का रेला', पुलिस कार्रवाई और शायद विदेशी हस्तक्षेप (जैसे कि 1979 में अफगानिस्तान में) शिमला समझौते ने ब्रिटिश भारत के टुकड़े-टुकड़े होने को टाल दिया उसने मुसलिम बहुल क्षेत्रों को केवल यह विकल्प दिया कि वे या तो भारत या पाकिस्तान की सदस्यता स्वीकार करें. इस प्रकार उसमें एकता की सीमाएं तय कर दी गईं. ... इस समझौते में कांग्रेस के लिए मुख्य आकर्षण संभवत: यह था कि इससे रजवाड़ों के रूप में अलस्टरों की आशंका दूर हो गई. समझौते का बुनियादी महत्व 562 रजवाड़ों के दो डोमिनियनों में एकीकरण के लिए तैयारी के रूप में देखा जाएगा. माउंटबैटन के वाइसरॉयत्व को भी इस प्रक्रिया में उसके योगदान के रूप में आंका जाएगा ... माउंटबैटन, नेहरू, पटेल और बी.पी. मैनन को दो डोमिनियन सौदे में ब्रिटिश भारत के टुकड़े-टुकड़े हो जाने की समस्या का हल दिखाई दिया .. राजनीतिक वास्तविकताओं के अनुरूप समझौता हुआ, बगैर सेना लगाए अधिकतम एकता हो गई, *एंडगेम्स आफ एंपायर*, पृ. 180 और 200.
   बिमल प्रसाद के विचार से माउंटबैटन योजना को मांउटबैटन-नेहरू योजना कहा जाना चाहिए क्योंकि इसने बहुत से विभाजनों को रोककर 'एक गंभीर समस्या को पैदा होते ही खत्म कर दिया': 'यह कम उपलब्धि नहीं थी,' गांधी, नेहरू एंड जे पी, पृ. 120. बी.आर. नंदा का विचार है कि रजवाड़ों की स्वतंत्रता विभाजन से भी बुरी होती. 'नेहरू एंड दि पार्टिशन और इंडिया', फिलिप्स और वेनराइट संपादित, ओ पी सी आई टी में. सीमित विखंडन लेबर पार्टी की उपलब्धि थी, इस तर्क के लिए देखें एच ब्रास्टेड और सी ब्रिज, '15 अगस्त 1947 : लेबर्स पार्टिंग गिफ्ट टु इंडिया' जो मासेलोस संपादित, *इंडिया : क्रिएटिंग ए मॉडर्न नेशन* में, नई दिल्ली 1990.

74. देखें अध्याय - नौ.

75. कृपलानी के साथ वाइसरॉय का इंटरव्यू, 17 अप्रैल, 47, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 308-9.

76. पटेल के साथ वाइसरॉय का इंटरव्यू, 12 अप्रैल 1947, वही, पृ. 213-15.

77. नेहरू से जेनकिन्स, इंटरव्यू, 30 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 309. जेनकिन्स ने इससे इनकार किया. उसने इसे सूचना के अभाव और गलत युक्तियों की समस्या के रूप में देखा. नेहरू ने निजी तत्व का पुट देते हुए माउंटबैटन से लाहौर को बचाने की अपील की : 'मेरी मां लाहौर से थीं और मैंने अपना थोड़ा बचपन वहां बिताया'. वे चाहते थे कि माउंटबैटन मार्शल लॉ की घोषणा करे और उपद्रवों को पूरी ताकत के साथ दबाने के लिए सेना को आदेश दे. माउंटबैटन ने केवल सहमति जताई कि 'कुछ किया जाना चाहिए.' नेहरू से माउंटबैटन, 22 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 139.

78. एक प्रभावशाली ब्रिटिश दैनिक के निदेशक को गांधी का बयान, नई दिल्ली, *हरिजन*, 10 नवंबर 1946 शंकरराव देव को उनका उत्तर भी देखें, *हरिजन*, 15 सितंबर 1946.

79. 'यह फिजूल की हिंसा ब्रिटिश या विदेशी शासन के जीवन को बढ़ाती है. मेरा मानना है कि कैबिनेट

मिशन द्वारा जारी स्टेट पेपर के लेखक भारतीय प्रतिनिधियों को शांति के साथ सत्ता हस्तांतरित करना चाहते हैं. लेकिन यदि हमें अंग्रेजों की बंदूकें और तलवारें चाहिए तो वे नहीं जाएंगे. यदि जाएंगे तो और कोई विदेशी ताकत उनका स्थान ले लेगी.' *हरिजन*, 25 अगस्त 1946.

80. नेहरू से अगथ हैरिसन, 22 मई 1947. *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 337 हजारा दंगों पर पटेल ने कड़ी प्रतिक्रिया की : 'ब्रिटिश नागरिक इस आग को शांत नहीं कर पाएंगे. उन्होंने इसे फैलने दिया है. कुछ ने तो इसे और भड़काया है ' पटेल से गांधी 17 जनवरी 1947, *एस एल एम यू*, वॉल्यूम 1, पृ. 196. देखें कृपलानी के साथ वाइसरॉय का इंटरव्यू, 17 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 308-9.
81 जयप्रकाश नारायण के अनुसार ब्रिटिश अधिकारियों ने भारतीयों से कहा कि वे अपने भावी शासकों के पास चले जाएं. 21 मार्च 1947 का बयान, सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन* में उद्धृत, पृ. 219. माउंटबैटन ने अपने गवर्नरों को बताया कि अंतरिम सरकार के एक सदस्य ने उसको बताया है कि जब उसने एक ब्रिटिश अधिकारी को फोन पर सूचित किया कि दूर के एक जिले में मकानों में आग लगाई जा रही है तो उसने उत्तर दिया, 'हम तो अब जा रहे हैं, हमें इससे क्या लेना है?' गवर्नरों का सम्मेलन, 15 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 242-45.
82. देखें फुटनोट 80. एक ब्रिटिश अधिकारी ने पत्रकार से कहा, 'सिविल सेवा मे बिलकुल दूर हटकर, ब्रिटिश सिपाही भारतीयों को एक दूसरे को कत्ल करने से रोकने के लिए हमेशा भारत में गर्मी में नहीं मरेगा.' दि संडे टाइम रिपोर्ट जोसलिन हेनेसी, सी, मई 1947, फाइल-1, सं.16, *बेल पेपर्स*.
83 सिंध के गवर्नर मडी ने उलटा आरोप लगाया कि कांग्रेसजन उससे नाराज हैं और उस पर लीग का पक्ष लेने का आरोप लगा रहे हैं क्योंकि 1942 के आंदोलन के दौरान वह यू.पी. का मुख्य सचिव था और उसने कांग्रेस नेताओं को गिरफ्तार किया था मडी के साथ नेहरू का इंटरव्यू, 15 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ 259-80.
84 गृह सदस्य के रूप में पटेल गुड़गांव के डी एम का तबादला नहीं करा सके, देखें नंदुर्कर, *इन ट्यून विद मिलियन्स*, वॉल्यूम 2, पृ. 124.
85. नेहरू से अगथ हैरिसन, 22 मई 1947. *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 337, साथ ही देखें सुधीर घोष से पटेल, 26 अगस्त 1947, *सुधीर घोष पेपर्स*, एन एम एम एल, नई दिल्ली.
86. ए आई सी सी में नेहरू का भाषण, 15 जून 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ. 10. ऐसा बताते हैं कि मून लूटपाट कर रहे सशस्त्र सिपाही के पास गया और उसके चूतड़ पर लात मारी आई ओ आर एम एस एम ई यू आर सी 601 जेनकिन्स इस आरोप से सहमत नहीं था कि अधिकारियों ने अपनी ड्यूटी नहीं की : 'रावलपिंडी और अटक में तैनात सभी बड़े अफसर अंग्रेज हैं और मुझे इस बात की तसल्ली है कि सरकारी नजरिया बिलकुल निष्पक्ष है.' जेनकिन्स से अमृतकौर, 24 अप्रैल 1947, *राजकुमारी अमृत कौर पेपर्स*, फाइल सं. 3, एन एम एम एल, नई दिल्ली. गांधी ने सेनाओं पर जिम्मेदारी डाली : 'उन्हें इस शक को दूर करना चाहिए कि दंगों के पीछे उनका हाथ है ' प्रार्थना सभा, 10 अप्रैल 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 252.
87. सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 219.
88. कृपलानी माउंटबैटन के इस तर्क को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं थे कि बदली हुई स्थितियों में ब्रिटिश गवर्नर मंत्रियों की बातों को नामंजूर नहीं कर सकते. उनके विचार से ब्रिटिश गवर्नर की प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि उनमें से हिम्मत रखने वाला कोई भी अपनी सरकार से कानून और व्यवस्था कायम करा सकता था, कृपलानी के साथ माउंटबैटन का इंटरव्यू, 17 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 309. एन डब्ल्यू एफ पी के गवर्नर का भी यही विचार था कि 'जाने वाली सरकार की जो थोड़ी-बहुत प्रतिष्ठा बची है उससे स्थिति ... संभाली जा रही है.' करोए से वाइसरॉय, 23 नवंबर 1946, *करोए*

कलेक्शन, एम एस एस ई यू आर एफ 203/1 और 2, एन ए आई, नई दिल्ली, एक्सेशन सं 4780

89. देखें जेनकिन्स से वाइसरॉय, 25 जून 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 676 साथ ही देखें जैनकिन्स से वाइसरॉय, 11 जून 1947, डी ओ 680, जेनकिन्स-ममदोत कॉरेसपोंडेंस, आई ओ आर आर/3/1/77, एन ए आई, एक्सेशन सं. 4121.
90. 22 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 337.
91. माउंटबैटन ने हमेशा की तरह चालबाजी दिखाई उसने इस धमकी के साथ मसौदा बयान लेकर इस्मै को लंदन भेजा, वाइसरॉय की स्टाफ बैठक, 14 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ.223.
92 'अब मेरा बापू के पिछले वर्ष के कथन पर पूरा भरोसा हो गया है कि पहला काम किसी भारतीय प्राधिकारी को सत्ता का तुरंत हस्तांतरण होना चाहिए ' नेहरू से अगथ हैरिसन, 22 मई 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 2, पृ. 337. (गांधी ने वास्तव मे कहा था कि यदि जरूरत हो तो अराजकता को ही सत्ता दे दो - लेखक का नोट)
93. 'समुदायों में भावनाएं कुछ ऐसी ही हैं जैसे कि गृहयुद्ध चल रहा हो यदि कोई अधिकारी निष्पक्ष रहना चाहता है तो दोनों पक्ष उस पर शक करते हैं. इसलिए वह अपने समुदाय के अनुसार किसी न किसी की शरण लेता है'. आबैल का नोट, 26 मई 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 26 27. सेनाध्यक्ष के मत के अनुसार पिछले तीन महीनों में स्थिति तेजी से बिगड़ी माउंटबैटन से इंटरव्यू, 14 अप्रैल 1947, वही, पृ. 223-26. सेना में सांप्रदायिकता के लिख देखें वही, पृ.60 और 1033 साथ ही देखें हंट और हैरिसन, *डिस्ट्रिक्ट आफिसर इन इंडिया*, पृ. 243
94 विस्तृत विवरण और संदर्भों के लिए देखें अध्याय ग्यारह
95 इस तथा ऐसे ही दूसरे उदाहरणों और कांग्रेस के भीतर साप्रदायिकता पर चर्चा के लिए अध्याय दस में बिहार दंगों पर खंड देखें.
96 गांधी द्वारा जन आंदोलन न छेड़े जाने का एक कारण पार्टी के लोगों और आम लोगों का संप्रदायीकरण भी था लोगों के संप्रदायीकरण पर हमने अध्याय तेरह में जन आंदोलन के लिए गांधी के इनकार खंड में चर्चा की है.
97 1945 के मध्य से ही कांग्रेस नेताओं ने यह अनुभव कर लिया था कि पार्टी में फिर से जान डालने की आवश्यकता है लेकिन 'बातचीत में लगे रहने का संगठनात्मक कार्य पर असर पड़ा और अगस्त 1946 में नेहरू को यह दोहराना पड़ा कि कांग्रेस ने अपनी जीवन शक्ति खो दी है नेहरू को आशा थी कि अंतरिम सरकार द्वारा कांग्रेस के कार्यक्रम को लागू करने का मौका मिलेगा लेकिन ऐसा नहीं हुआ ' सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 230-31.
98 ए आई सी सी के लिए नेहरू के नोट, 6 अगस्त 1946, *ए आई सी सी पेपर्स*, 69 (भाग-2), 1946, साथ ही देखें फाइल जी-39 (के डब्ल्यू-1) 1946, पी-1, भाग 3, 1946-8, जी-6 (के डब्ल्यू-1) 1947, 27/1947 और 6/1947, *ए आई सी सी पेपर्स*, एन एम एम एल
99 डी.जी. तेंदुलकर, *दि महात्मा*, वॉल्यूम 7, दिल्ली, 1960-63, पृ. 186. कलकत्ता से प्रसाद के पत्राचार पर यदि भरोसा किया जाए तो छीना-झपटी करने वालों में कुछ को रिश्वत देकर चुप किया जा सकता था. उन्हें डर था कि स्वतंत्र बंगाल के समर्थन के लिए लीग बंगाल के विधायकों को खरीद लेगी. देखें *आर पी पेपर्स*, 6-1/45-6-7 विस्तृत विवरण और संदर्भों के लिए देखें अध्याय दस में बंगाल के विभाजन पर खंड.
100. ए आई सी सी में नेहरू का भाषण, 9 अगस्त 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वॉल्यूम 3, पृ 134.
101. पटेल से बोजमैन, 11 जुलाई 1947, *एस पी सी*, वॉल्यूम 4, पृ. 469.
102. अमृत कौर से सुधीर घोष, 9 जुलाई 1947, *सुधीर घोष पेपर्स*, पृ. 1

103. कृपलानी ने यही कहा. देखें प्रसाद और कृपलानी के साथ इंटरव्यू, 10 और 17 अप्रैल 47, *टी पी*, वाल्यूम 10, पृ. क्रमश: 179-80 और 308-9.

104. 'मैं पाकिस्तान के लिए मुसलिम लीग की मांग की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं. इसके समाधान के दो ही तरीके हैं : आपसी बातचीत द्वारा या लड़ाई द्वारा', जलियांवाला बाग दिवस बैठक, 13 अप्रैल 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी शृंखला, वाल्यूम 2, पृ. 88-89.

105. देखें अध्याय तेरह में, गांधी और जन आंदोलन पर खंड और अध्याय ग्यारह.

अध्याय तेरह

गांधी ने भारत के विभाजन के निर्णय को क्यों स्वीकार कर लिया

विभाजन को स्वीकार करने के कांग्रेस के निर्णय के कई कारण थे। गांधी के अनुसार इनमें से एक कारण ने कार्य किया। 4 जून 1947 को प्रार्थना सभा में उन्होंने स्पष्ट किया कि कांग्रेस ने विभाजन इसलिए स्वीकार किया क्योंकि लोग यह चाहते थे : 'मांग इसलिए मानी गई है क्योंकि आपने इसके लिए कहा। कांग्रेस ने कभी ऐसा नहीं कहा ... लेकिन कांग्रेस लोगों की नब्ज पहचानती है। उसने समझ लिया है कि खालसा और हिंदू यह चाहते हैं।'[1] आखिरकार 'देश के प्रतिनिधि होने के नाते वे जनमत के खिलाफ नहीं जा सकते। उन्हें अपनी शक्ति लोगों से ही प्राप्त होती है'।[2] एन.के. बोस ने कहा कि विभाजन के बारे में कार्य समिति का समर्थन करके वे कांग्रेस नेताओं का बचाव कर रहे हैं। इस पर गांधी का उत्तर स्थिति को बिलकुल साफ कर देता है : 'क्या आप यह नहीं समझते कि एक वर्ष से चल रहे सांप्रदायिक दंगों के कारण भारत के लोग सांप्रदायिक बन गए हैं। वे सांप्रदायिकता से आगे देख ही नहीं सकते। वे थके और डरे हुए हैं। कांग्रेस पूरे राष्ट्र की भावनाओं का ही प्रतिनिधित्व कर रही है। मैं इसका विरोध कैसे कर सकता हूं ?'[3]

उन्होंने वही सवाल किया जो कि लोग उनसे कर रहे थे। उन्होंने यह सवाल जोर से उठाया -- मैं विभाजन का विरोध क्यों नहीं कर रहा हूं जबकि मैंने ऐसा करने के लिए कहा था। अपने आलोचकों को उनके उत्तर में कांग्रेस के आलोचकों के लिए उनके उत्तर की गूंज थी : 'जब मैंने कहा कि देश का विभाजन नहीं होना चाहिए तो मुझे जनता के समर्थन का विश्वास था। लेकिन जब लोक विचार मेरे विचार का उलटा है तो क्या मैं अपने विचार लोगों पर लाद दूं ?' वे चुनौती को स्वीकार करने के लिए तैयार थे : 'आज मैं विश्वास के साथ कह सकता हूं कि यदि सभी गैर मुसलमान मेरे साथ हों तो मैं भारत का विभाजन नहीं होने दूंगा। लेकिन मैं मानता हूं कि आम राय मेरे साथ नहीं है। इसलिए मुझे अलग हटकर एक तरफ बैठ जाना चाहिए।'[4]

'यदि सभी गैर मुसलमान मेरे साथ हों' में छिपा उनका दर्द कांग्रेस की मजबूरी जैसी ही था, हिंदू और सिख विभाजन चाहते हैं। ऐसा नहीं है कि गांधी (या कांग्रेस) केवल हिंदुओं की बात सुन रहे हैं या उनकी बात अधिक सुन रहे हैं। वे छोड़कर गैर मुसलमानों के चले जाने को अपनी मजबूरी का मूल कारण मानते थे।[5] ऐसा इसलिए क्योंकि उन्होंने स्वीकार कर लिया था कि मुसलमान उनसे दूर चले गए हैं। इससे नोआखाली में उन्हें

OUT OF THE WILDERNESS



स्रोत : दि हिंदुस्तान टाइम्स, स्वाधीनता अंक, 15 अगस्त 1947

बहुत ज्यादा तकलीफ हुई थी।[6] गांधी को अभी भी विश्वास था कि हिंदू उनका साथ देंगे : 'मैं मुसलमानों के बारे में कुछ नहीं कहता। वे समझते हैं कि मैं उनका दुश्मन हूं लेकिन हिंदू और सिख तो मुझे अपना दुश्मन नहीं समझते. यदि केवल हिंदू मेरी बात सुन लें तो आप दुनिया में भारत का सिर ऊंचा उठा देखेंगे।'[7] लेकिन भारी संख्या में हिंदू न केवल सांप्रदायिकता या विभाजन के विरोध में उनका साथ नहीं दे रहे हैं बल्कि हिंसा रोकने के उनके आह्वान को भी नही मान रहे हैं। गांधी केवल शोक व्यक्त कर सकते थे, 'काश कि मैं इस बारे में हिंदुओं को समझा पाता ...'[8]

गांधी के रुख ने अधिकांश लोगों को हैरत में डाल दिया। यह एक ऐसे जन नेता का उदाहरण था जो 'लोगों पर अपने विचार नहीं लादेगा और कांग्रेस का ऐसा 'तानाशाह' जो पार्टी पर अपनी इच्छा लादने के लिए अपनी हैसियत का प्रयोग करने के लिए तैयार नहीं था।[9] कांग्रेस कार्य समिति द्वारा विभाजन की योजना को स्वीकार कर लिए जाने का जिक्र करते हुए गांधी ने यह सवाल रखा जो लोगों के दिमाग में था: 'पूछा जा सकता है कि मैंने ऐसा क्यों होने दिया। तो क्या मैं यह कहूं कि कांग्रेस हर काम मुझसे सलाह करके करे ? मैं इतना मूर्ख नहीं हूं।'[10]

हो सकता है कि पार्टी के भीतर और बाहर जनमत उनके साथ न हो लेकिन उस रंग-बिरंगी भीड़ (समाजवादियों, पंजाब से आने वाले लोगों, सांप्रदायिक संस्थाओं) का क्या किया जाए जिसने उनसे पहल करने के लिए कहा। गांधी ने स्पष्ट किया कि उनकी बात में कोई दम नहीं है। मुझमें और मुझसे पाकिस्तान का विरोध करवाने की इच्छा रखने वाले लोगों में इसके अलावा और कोई सामान्य बात नहीं है कि हम दोनों देश के विभाजन के खिलाफ हैं। मेरे और उनके विरोध मे बुनियादी अंतर है। प्रेम और दुश्मनी एक साथ कैसे चल सकते हैं ?'[11]

1947 की गर्मियों में गांधी ने स्वयं के लोगों से दूर हो जाने पर क्षोभ व्यक्त किया :[12]

> अब काई मेरी बात नहीं सुनता। मैं एक छोटा आदमी हूं। एक समय था जब मेरी बात सुनी जाती थी। उस समय मैं जो कुछ कहता था लोग उसका पालन करते थे। अब कांग्रेस, हिंदू या मुसलमान कोई मेरी बात नहीं सुनता। कांग्रेस अब कहां बची है ? वह तो बिखर रही है। मैं बेकार में चिल्ला रहा हूं।

लेकिन उनकी चीत्कार का कोई असर नहीं हुआ। अपने एक साथी के साथ दो महीने बाद हुई बात में यही दर्द था :[13]

> गांधी : आज कौन मेरी बात सुनता है ?
>
> उत्तर : नेता भले ही न सुनें लेकिन लोग आपके साथ हैं।
>
> गांधी : वे भी नहीं हैं। मुझसे कहा जाता है कि मैं हिमालय चला जाऊं। हर आदमी

> मेरे चित्रों और मूर्तियों पर हार चढ़ाने के लिए उत्सुक है। वास्तव में कोई भी मेरी सलाह नहीं मानना चाहता।

जून 1947 के शुरू में उन्होंने एक वाक्य में अपने अनुभव का निचोड़ दे दिया : 'यदि,मैं कांग्रेस से बगावत करता हूं तो इसे पूरे देश के साथ बगावत माना जाएगा।'[14]

गांधी ने जन आंदोलन के लिए मना क्यों किया

गांधी से की गई मांगों को पूरा करना असंभव था : जब आप खुद को अहिंसा का प्रचारक कहते हैं तो हिंसा का समर्थन कैसे करते हैं ? अब यह सवाल किया गया : 'आप जन आंदोलन क्यों नहीं शुरू करते ?' इसके लिए पत्रों में मांग की गई ; प्रार्थना सभाओं में आने वाले लोगों ने भी यही कहा : निकट के एक साथी ने इसे गांधी की इच्छा बताया। समाजवादियों ने समर्थन का प्रस्ताव किया। एक साथी ने एक लाख स्वयंसेवक देने का प्रस्ताव किया।

'आंदोलन' के बारे में अलग-अलग विचार था। एक विचार यह था कि यह अंग्रेजों के खिलाफ जन संघर्ष होगा[15] जिसके परिणामस्वरूप हिंदू-मुसलमान एकता कायम होगी।[16] दूसरों का विचार था कि यह विभाजन के लिए गांधीवादी उत्तर होगा और यदि जरूरत पड़ी तो कांग्रेस को भी नजरअंदाज किया जाएगा।[17] लेकिन सब में एक विवेकहीन विश्वास था कि जन आंदोलन मरहम का काम करेंगे। वे गंगाजल की तरह मानव हृदय से सांप्रदायिक भावनाओं को साफ कर देंगे और विभक्त लोगों में एकता पैदा कर देंगे। गांधी की सोच दूसरी थी। गांधी का विचार अलग था। आंदोलन हिंसा को शांत करे या न करे लेकिन मौजूदा हिंसा ने आंदोलन की संभावना को समाप्त कर दिया है। महत्वपूर्ण बात यह है कि सांप्रदायिक हिंसा के व्यापक रूप से फैलने से पहले ही गांधी ने 1946 की गर्मियों में लुइस फिशर को इसका संकेत दे दिया था। उन्होंने स्पष्ट किया कि 1942 में वे अनजाने समुद्रों में यात्रा पर निकल पड़े थे: 'उस समय मैं लोगों को नहीं जानता था। अब मैं जानता हूं कि मुझे क्या करना चाहिए और क्या नहीं।'[18] फिशर ने विशेष रूप से उनसे पूछा कि क्या वे संविधान सभा के विफल हो जाने के बारे में भी नागरिक अवज्ञा शुरू नहीं करेंगे। गांधी ने उत्तर दिया 'तब तक नहीं जब तक समाजवादी और कम्युनिस्ट शांत नहीं हो जाते।' फिशर ने कहा कि यह नहीं हो सकता। इस पर गांधी ने साफ-साफ कहा : 'इतनी हिंसा के बीच मैं नागरिक अवज्ञा की बात नहीं सोच सकता।'[19]

एक वर्ष बाद और इस बार सांप्रदायिक हिंसा के संदर्भ में गांधी ने अपने साथी एन.के. बोस को स्पष्टीकरण दिया कि उन्होंने विभाजन पर कांग्रेस के रुख का क्यों समर्थन किया। सांप्रदायिकता के कारण स्थिति विस्फोटक नहीं हुई थी और ऐसी स्थिति में संघर्ष अनुकूल बात नहीं होती।[20] गांधी अपने अनुभव के आधार पर बोल रहे थे। नोआखाली में अपनी

अकेली मुहिम के दौरान उन्होंने सांप्रदायिक भावना के कारण कई बार ठोकर खाई।[21] यदि सांप्रदायिक भावना उनके वैयक्तिक शांति मिशन को नाकामयाब कर सकती थी तो वे आंदोलन की बात कैसे सोच सकते थे ?[22]

हिंसा के अलावा सांप्रदायिक स्थिति के दो आयाम और थे। उन्होंने भी बाधा पैदा की। गांधी ने इसकी ओर संकेत नहीं किया। इस दौरान वरिष्ठ राजनीतिक की भूमिका अदा करने वाले सपरु ने इनकी ओर ध्यान दिलाया है। पदों से कांग्रेस के इस्तीफे से मुसलिम लीग का पूरा नियंत्रण हो जाता। ब्रिटिश-लीग गठजोड़ उस समय अंग्रेजों के खिलाफ नागरिक अवज्ञा आंदोलन से निपट लेता। अगस्त 1946 में सुहरावर्दी के अपने बदमाश अनुयायियों के हाथों में खेलने और अंग्रेजों द्वारा अपनी असमर्थता जता दिए जाने के बाद कांग्रेस-लीग के पास कैसे चली जाती। सपरु ने कांग्रेस के आलोचकों की निंदा की। ये आलोचक यह चाहते थे कि कांग्रेस पद छोड़ दे, नागरिक अवज्ञा शुरू करे और 'इसे मुसलिम लीग द्वारा निपटे जाने के लिए छोड़ दे।' उन्होंने सावधान किया कि यह व्यावहारिक सवाल है और इसका व्यावहारिक तरीके से ही उत्तर दिया जाना चाहिए।'[23]

एक अन्य रूप में भी गांधी ने सांप्रदायिक भावना को देखते हुए विभाजन का विरोध नहीं किया। उनके सामने समस्या यह थी कि जो लोग उनसे विभाजन का विरोध कराना चाहते थे वे सांप्रदायिक भावनाओं से प्रेरित होकर ऐसा कर रहे थे। उनका साथ देना या उनका साथ लेना बहुत बड़ी राजनीतिक भूल होती।[24]

गांधी को सफल जन आंदोलन चलाने में माहिर माना जाता था। इसलिए जब उन्होंने दूषित उपकरणों से आपरेशन करने में अपनी असमर्थता जाहिर की तो दुर्भाग्य से किसी ने उनका विश्वास नहीं किया। उनके एक निकट के साथी श्रीमन नारायण अग्रवाल ने लिखा (1 जून 1947 के *हरिजन* में) कि जन आंदोलन इसका जवाब है। इसका यह मतलब निकाला जा सकता था कि गांधी इसके पक्ष में थे :[25]

> यदि हम अंग्रेजों को भारत छोड़ने के लिए बाध्य कर सकते हैं तो हम उन्हें दृढ़ता के साथ साफ-साफ कह सकते हैं : 'नहीं, भारत का विभाजन नहीं होगा।' और यदि पाकिस्तान हम पर थोपा जाता है तो राष्ट्र को देशव्यापी विद्रोह शुरू करके पूरी ताकत के साथ इसका विरोध करना चाहिए ...

उनके नेतृत्व में चलाए गए आंदोलनों को उनका जादू समझा जाता था। इस जादू में कोई कमी हो सकती है यह भी लोग मानने को तैयार नहीं होते थे। बहुत कम लोग यह समझते थे कि सत्याग्रह शुरू करने से पहले लोगों की ताकत का अध्ययन किया जाता था और उनकी नब्ज लगातार परखी जाती थी।

जरूरत बहुत ज्यादा थी लेकिन झरने से पानी नहीं निकला। स्रोत सूख गया था। लोगों का उत्साह और उनकी ताकत जिसे वे बाहर ले आते थे अब शेष नहीं रह गई थी। जब

जनता प्लेग का शिकार हो गई हो तो जन नेता भी क्या कर सकता है। वे शिकार नहीं हो सकते थे। कोई उनके आगे भी नहीं चल सकता था लेकिन वे नेतृत्त्व भी नहीं कर सकते थे। 'आप कहते हैं कि यदि मैं आपका नेतृत्व करूं तो आप मेरे पीछे चल सकते हैं। क्या आपने कभी यह सोचा है कि मैं किसके खिलाफ किसका नेतृत्व कर सकता हूं ?'[26] शिष्यों को वे छोड़ सकते थे – क्या पिछले वर्षों में उनमें से कुछ बहकर नहीं चले गए थे, कुछ चुपचाप और कुछ उनकी निंदा करके। वे नेताओं की सलाह की उपेक्षा कर सकते थे जैसा कि उन्होंने 1942 में किया। उन्होंने देखा कि वे सही हैं और नेता गलत। देश संघर्ष के लिए तैयार था।[27] लेकिन लोग ? वे तो वह मिट्टी थे जिनसे वे बर्तन बनाते थे। जब उनका लोगों से तालमेल नहीं बैठ रहा था तो वे क्या करते ?

एन.के. बोस ने बड़े भोलेपन से सुझाव दिया : 'आप अपने प्रयासों से वैसी ही स्थिति पैदा क्यों नहीं करते जो कि आपने पहले पैदा की थी ?' अपने उत्तर में गांधी ने थोड़े से शब्दों में नेता और उसकी जनता के बीच संबंध का सारांश दे दिया :[28]

> मैंने अपने जीवन में कभी स्थिति तैयार नहीं की है। मुझमें एक खूबी है जो आप लोगों में से बहुतों में नहीं है। मैं सहज ही यह समझ लता हूं कि लोगों के हृदय में क्या घुमड़ रहा है। और जब मुझे लगता है कि अच्छाई की ताकतें धीमे से घुमड़ रही है तो मैं अवसर को पकड़ लेता हूं और एक कार्यक्रम बना देता हूं। वे इसका उत्तर देते हैं। लोग कहते हैं कि मैंने स्थिति तैयार कर दी है। लेकिन मैं जो पहले से ही मौजूद हैं उसे आकार दे देता हूं। आज उस स्वस्थ भावना का कोई संकेत नहीं है। इसलिए मुझे सही समय की प्रतीक्षा करनी होगी।

गांधी ने कांग्रेस के खिलाफ विद्रोह क्यों नहीं किया

विरोधाभास यह था कि वे जिन लोगों और जिस पार्टी को अपने साथ रखना चाहते थे वह उनके साथ नहीं थी और जो लोग विभाजन का विरोध करने में उनका साथ देना चाहते थे उनसे उनकी पटरी नहीं बैठती थी। इससे निकलने का एक ही रास्ता था : 'हमारे लिए सबसे अच्छा और एक मात्र रास्ता यह है कि हम राष्ट्रीय सरकार को पूरा सहयोग दें ... हम सब एक संस्था हैं।'[29] उन्होंने समाजवादियों से कांग्रेस के साथ विवाद बंद करने के लिए कहा क्योंकि वे विभाजन के समय विभक्त मोर्चा नहीं चाहते थे।'[30]

उन्होंने खुद मिसाल रखी। अपनी प्रार्थना सभाओं (इस समय ये सभाएं अपनी आत्म खोज के बारे में दूसरों से बात करने के लिए उनका प्रिय मंच बन गई थीं) में उन्होंने बताया कि वे कांग्रेस के साथ क्यों है। एक क्रुद्ध व्यक्ति ने तार देकर उनसे पूछा कि उन्होंने कांग्रेस द्वारा विभाजन स्वीकार कर लिए जाने के खिलाफ उपवास क्यों नहीं किया ? क्या उन्होंने कुछ दिन पूर्व यह घोषणा नहीं की थी कि पाकिस्तान की मांग जोर-जबर्दस्ती से

नहीं मानी जाएगी ? गांधी ने 5 जून 1947 को प्रार्थना सभा में श्रोताओं के सामने यह सवाल रखा :[31]

> मैंने कांग्रेस के खिलाफ विद्रोह क्यों नहीं किया ? मैं गुलाम की तरह उनके पीछे क्यों चल रहा हूं ? मैं कांग्रेस का सेवक कैसे रह सकता हूं ? मैं उपवास करके अपना जीवन क्यों नहीं दे देता ?...
>
> किसी के कहने पर मैं उपवास पर क्यों चला जाऊं ? मुझे विश्वास है कि मुझे जीवन में एक बार फिर उपवास पर जाना पड़ेगा ... लेकिन मैं किसी के कहने पर यह नहीं करूंगा.... मैं ईश्वर के आदेश पर यह करूंगा ...
>
> और भारत में अब क्या रह गया है जिससे मेरा हृदय खुश हो ? लेकिन मैं अभी भी यहां मौजूद हूं क्योंकि कांग्रेस अभी महान संस्था नहीं बनी है और मैं इसके खिलाफ उपवास पर नहीं जा सकता, लेकिन मुझे लगता है कि मुझे आग में धकेल दिया गया है और मेरा हृदय जल रहा है। केवल ईश्वर ही जानता है कि इसके बावजूद मैं क्यों जीवित हूं ?
>
> मैं जो कुछ भी हूं कांग्रेस का सेवक हूं। यदि कांग्रेस पर पागलपन सवार हो गया है तो क्या मैं भी पागल हो जाऊं ? क्या मैं यह साबित करने के लिए मर जाऊं कि मैं ही सही था ?

गांधी शहादत नहीं एक मार्ग की तलाश में थे। वे अपनी स्थिति को बहाल करने के लिए विरोध के किसी प्रतीक की तलाश में नहीं थे।[32] जिस संस्था की सदाशयता में उनका अभी भी यकीन था उसके खिलाफ संघर्ष तो बहुत दूर की बात थी। कुछ दिन पहले एक साथी ने भारत के सांप्रदायिक आधार पर विभाजन अथवा राज्यों के रूप में टुकड़े करने के खिलाफ संघर्ष के लिए एक लाख स्वयंसेवक देने का प्रस्ताव किया।[33] गांधी ने दृढ़ता के साथ इससे इनकार कर दिया :[34]

> भारत के आसन्न विभाजन पर और कोई शायद इतना दु:खी नहीं है जितना कि मैं हूं लेकिन जो सचाई बन चुका है उसके खिलाफ संघर्ष शुरू करने की मेरी कोई इच्छा नहीं है। मैंने इस विभाजन को गलत माना है। इसलिए मैं कभी इसका समर्थन नहीं करूंगा। लेकिन यदि कांग्रेस अनिच्छा से विभाजन को स्वीकार करती है तो मैं इस संस्था के खिलाफ कोई आंदोलन नहीं चलाऊंगा। किसी भी परिस्थिति में इस तरह के कदम के बारे में सोचा नहीं जा सकता। प्रस्तावित विभाजन में कांग्रेस की भागीदारी के लिए किसी भी परिस्थिति में ऐसा संघर्ष शुरू नहीं किया जा सकता जैसा कि आप चाहते हैं।

तो गांधी किस परिस्थिति में कांग्रेस के खिलाफ विद्रोह करते। गांधी ने स्पष्ट किया: 'मैं

ऐसा तभी करूंगा जब मुझे लगेगा कि कांग्रेस पूंजीवादियों की ओर चली गई है। लेकिन अभी कांग्रेस गरीबों के लिए काम कर रही है।'[35] 7 जून 1947 को एक प्रार्थना सभा में उन्होंने इन विचारों को आगे स्पष्ट करते हुए कहा कि कांग्रेस एक महान संगठन है जो अच्छा काम कर रहा है और कांग्रेस का निर्णय अनचाही मंजूरी है जानबूझकर की गई गलती नहीं :[36]

> हम कांग्रेस के प्रति पूरी तरह से निष्ठावान रहे हैं। उसकी पूरी दुनिया में प्रतिष्ठा है और उसने इतना काम किया है। इसलिए हमें अचानक उसका विरोध शुरू नहीं कर देना चाहिए... यह (कांग्रेस से लड़ाई) हम तब शुरू करेंगे जब हमें लगेगा कि कांग्रेस जानबूझकर गलती कर रही है। मेरे विचार से इसने जानबूझकर भूल नहीं की है। विभाजन अब पूरा हो चुका काम है।

14 जून 1947 को एआईसीसी के सत्र में गांधी ने चुनौतीपूर्ण रुख अपनाया। यह निष्ठा के लिए पहले की उनकी अपीलों से बहुत अलग था। उन्होंने सदस्यों को उनकी शक्तियों की याद दिलाई और कहा कि यदि उन्हें लगे कि नेतृत्व गलत है तो वे उन्हें हटाकर स्वयं नेतृत्व संभाल लें : 'लेकिन आज हममें वह ताकत नहीं है। यदि आपमें वह ताकत है तो मैं भी आपके साथ हूंगा। यदि मुझमें ताकत आई तो मैं खुद विद्रोह का झंडा उठाऊंगा। लेकिन अभी मुझे वे हालात नजर नहीं आते।'[37] खुद संभालने की बात तो दूर वे नेताओं को बदलना भी नहीं चाहते थे : 'हां, मैं उनकी आलोचना करता हूं लेकिन इसके बाद क्या ? क्या मैं नेहरू या सरदार या राजेंद्र प्रसाद बन जाऊं ? यदि आप मुझे उनकी जगह बैठा भी दें तो मेरी समझ में नहीं आता कि मैं क्या कर पाऊंगा। लेकिन यहां मैं उनकी वकालत करने के लिए नहीं आया हूं। मेरी बात कौन सुनेगा ?'[38]

गांधी का भी अपने साथियों के साथ मतभेद था। उनमें इन मतभेदों को छिपाने के बजाए उजागर कर देने की आदत थी। 14 जुलाई 1947 को प्रार्थना सभा के अपने श्रोताओं को उन्होंने बताया : 'यह सच है कि मेरे और मेरे निकट साथियों के बीच मतभेद है। मैं उनके द्वारा किए गए या किए जा रहे कुछ कार्यों का अनुमोदन नहीं करता।'[39] जुलाई 1947 में उन्होंने कांग्रेस में धीरे-धीरे आ रहे लगाव, धन और सत्ता के पदों[40] से चिपकने की कांग्रेसजनों की प्रवृत्ति की ओर संकेत किया था। यदि उनके निकट साथियों में यह प्रवृत्ति होती तो वे लोगों को इस बारे में चेतावनी देते या उसे नोट तो अवश्य करते। क्या नेहरू, पटेल या प्रसाद पद के पीछे भागे अथवा उन्होंने उत्तरदायित्व संभाला ? 1 जून 1947 की प्रार्थना सभा में उनके शब्द थे 'जवाहरलाल आपका वास्तविक राजा है।'[41] उसी दिन उन्होंने अपनी 'चलती- फिरती छड़ी' अपनी पौत्री मनु के सामने स्वीकार किया कि वे बिलकुल अलग पड़ गए हैं। यहां तक कि नेहरू और पटेल भी स्थिति के बारे में उनकी राय से सहमत नहीं होते।[42] उन्होंने मनु से नेहरू के बारे में गर्मजोशी से बात की। उनका प्यार

'जिसने मुझे मोहित कर दिया है' और उनकी ईमानदारी : 'वे चीजों को इतनी आसानी से त्याग सकते हैं जितनी आसानी के साथ सांप अपनी कंचुली छोड़ सकता है।'[43]

अपने साथियों के बारे में गांधी का विचार अपने समकालीन लोगों तथा हाल के कुछ टीकाकारों के विचार से भिन्न था। विचारों में विभिन्नता के बावजूद टीकाकारों से एक बात पर सहमत हैं कि इस काल में गांधी का प्रभाव कम हुआ। गोपाल ने लिखा है : 'गांधी के लिए देश की एकता अभी भी महत्वपूर्ण थी लेकिन इस समय तक वे अंधेरे में ओझल हो गए थे। कांग्रेस में उनकी भूमिका आक्सब्रिज कॉलेज के प्रधान जैसी थी जिसकी इज्जत तो बहुत की जाती है लेकिन प्रबंध परिषद पर उसका कोई प्रभाव नहीं होता।'[44] कमला देवी चट्टोपाध्याय[45] जैसे समाजवादियों, एन.बी. खरे[46] जैसे दक्षिणपंथियों, मार्क्सवादी तथा गांधीवादी लेखकों[47] ने गांधी की इस निस्साहयता का कारण उनके शिष्यों की तथा कथित सत्ता की भूख बताया है। के.एम. मुंशी और बी.आर. नंदा उक्त विचार से सहमत नहीं हैं। उन्होंने ठीक ही इसे निजी नहीं व्यापक राजनीतिक कारणों से सत्ता अपने पास रखने की कांग्रेस नेताओं की चिंता का परिणाम बताया है। मुंशी के विचार से नेहरू और पटेल राष्ट्रीय हित में पद प्राप्त करना चाहते थे। 'सत्ता का अवसर पकड़कर और आजादी के विकास के लिए उसका उपयोग करके उन्होंने अक्लमंदी ही दिखाई।'[48] बी आर नंदा के अनुसार गांधी ने कांग्रेसजनों को सलाह दी थी कि वे जल्दबाजी में कोई समझौता स्वीकार न करें : 'अधिक से अधिक कांग्रेसजनों को फिर से बीहड़ में चले जाने के लिए तैयार किया जाना था। यह सलाह कांग्रेसजनों को नही जमीं। वे (अंग्रेजों की तरह) राजनीतिक आवश्यकता के अनुसार चीजों को देखना चाहते थे। हिचकिचाहट और देरी से उन्हें गृहयुद्ध का डर था।'[49]

गांधी के कांग्रेस के साथ संबंधों की परंपरागत तसवीर को (नेताओं की सत्ता के लिए भूख के अलावा) दूसरे आधारों पर भी परखा जाना चाहिए। गांधी के प्रभाव में कमी और उनका अलग-थलग पड़ जाना कोई बाध्यता थी या वे स्वेच्छा से मुख्यधारा की राजनीति से अलग हो गए ? क्या वे अंतिम रूप से अंधेरे में विलीन हो गए अथवा उजाले में उनकी जगह बनी रही ? क्या वे कांग्रेस से सामान्य मोहभंग के कारण या अकेले चलने के विश्वास के कारण पीछे हटे ? क्या निर्दिष्ट मुद्दों पर मतभेदों के कारण अलंघ्य खाई पैदा हो गई या कुछ मुद्दों पर गंभीर मतभेद हो गए थे और कुछ पर समझौते की गुंजाइश रह गई थी ? क्या यह मतभेद नेताओं तक ही सीमित था या लोगों तक फैल गया था ? क्या इस पराएपन के कारण उन्होंने स्वयं द्वारा घोषित 125 वर्ष के जीवन की इच्छा से बहुत पहले मृत्यु की कामना की ?

मोहभंग या मजबूरन अलहदगी सही विचार नहीं लगते। लेकिन मतभेद था जो कि अकसर अलंघ्य लगता था। यह गांधी को दुख पहुंचाने के लिए काफी था।[50] महत्वपूर्ण मुद्दों पर जब उनके विचार अपने साथियों से नहीं मिलते थे तो उन्हें तकलीफ होती थी

और वे अपने पराएपन को उनके तथा दूसरे लोगों के सामने प्रकट करते थे : 'आज मैं अकेला पड़ गया हूं। सरदार और जवाहरलाल भी यह सोचते हैं कि मैंने स्थिति को ठीक नहीं समझा है और विभाजन पर महमत हो जाने से शांति लौट आएगी।'[51] आसफ अली 14 जुलाई 1947 को उनसे मिले। उनसे उन्होंने कहा : 'मुझे लगता है कि मैं पुराना राग हूं।'[52]

लेकिन उनकी नाराजगी इस कारण नहीं थी कि उनके साथियों ने उनकी उपेक्षा की बल्कि इस कारण थी कि वे उन्हें अपने साथ लेकर नहीं चल सके। उन्होंने मनु को बताया कि वे अलग पड़ गए हैं लेकिन साथ ही स्पष्ट किया कि 'वे सब आते हैं और मेरी सलाह मांगते हैं।'[53] इसके अलावा वास्तविक त्रासदी जिसे उन्होंने समझा (लेकिन उनके आलोचकों ने नहीं समझा) यह थी कि साथियों से उनका परायापन लोगों से उनके पराएपन को प्रतिबिंबित करता था। विभाजन के लिए स्वीकृति, राजनीतिक सवालों के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण, अपूर्ण हिंसा के रूप में नेता लोकमत को ही प्रतिबिंबित कर रहे थे।

यह विचार सही नहीं लगता कि अपने जीवन के अंतिम वर्षों में गांधी को कांग्रेस के हाशिए पर धकेल दिया गया। 1920 के दशक में गांधी निर्माण कार्य के लिए गांवों में चले गए थे। उस समय से ही वे बीच-बीच में मंच से चले जाते थे और जब उन्हें लगता था कि देश उनके पीछे चलने के लिए तैयार है तो वे पार्टी का नेतृत्व, वास्तव में उसकी तानाशाही संभाल लेते थे। 1934 से वे कांग्रेस के चार आने के सदस्य नहीं थे। लेकिन चाहे वे सेवाग्राम आश्रम में हों, रेल के डिब्बे में हों, भंगी कालोनी में, मंदिर में हों, बेलियाघाट में मुसलमान कार्यकर्ता के घर में हों या नोआखाली में झोंपड़ी में हों, लोग उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ते थे और कांग्रेस नेता सलाह के लिए दौड़े आते थे।

युद्ध के बाद के वर्षों में भी गांधी का कांग्रेस के साथ संबंध अपेक्षाकृत स्वायत्तता का संबंध था। वे कभी तो अथक बातचीत और अनंत सौदेबाजी में लगे मंचों, सरकार द्वारा प्रायोजित सम्मेलनों, कार्य समिति, वाइसरॉय के साथ निजी सत्र, कैबिनेट मंत्रियों से भेंट और बाकी सबके द्वारा छोड़ दिए गए जाने के बाद जिन्नाह से वार्तालाप में शामिल हो जाते थे और कभी उसके बाहर। उन्होंने (कांग्रेस नेताओं की रिहाई और शिमला सम्मेलन बुलाए जाने के अवसर पर) अपने एक प्रेस बयान में कांग्रेस के आमने-सामने अपनी स्थिति इस प्रकार संक्षेप में प्रस्तुत की : 'अनेक वर्षों से कांग्रेस के मान्यता प्राप्त प्रतिनिधि के रूप में मेरा कोई स्थान नहीं है। जब कभी जरूरत पड़ी मैंने कांग्रेस के अनौपचारिक सलाहकार के रूप में काम किया।'[54] उन्होंने इस बात पर बल दिया कि कांग्रेस अध्यक्ष सम्मेलन में पार्टी का प्रतिनिधित्व करें लेकिन वे विचार-विमर्श के लिए शिमला में उपलब्ध रहें। उन्होंने सितंबर 1945 में कार्य समिति की बैठकों में भी हिस्सा लिया। इन बैठकों में चुनाव लड़ने के लिए औपचारिक निर्णय लिया गया और राष्ट्रवादी रणनीति की रूपरेखा बनाई गई। कैबिनेट मिशन ने उनसे सम्यक रूप में परामर्श किया (क्रिप्स हरिजन बस्ती में असमय उनके पास गया और एक बार में उनके लिए एक गिलास पानी भी लेकर आया। वावेल ने

इसे ठीक नहीं समझा)।[55] मिशन की योजना पर विचार विमर्श करने के लिए कार्य समिति की अप्रैल में हुई बैठकों में उन्होंने भाग लिया और दूसरे सदस्यों के साथ 1 मई को शिमला गए। जुलाई 1946 के शुरू में ए आई सी सी की बैठक में वे मौजूद थे। इसी बैठक में नेहरू ने वह बयान दिया जिसकी गलत व्याख्याएं की गईं : 'हमने संविधान सभा में जाने का निश्चय किया है। इसके अलावा हम पर और कोई बात बाध्यकारी नहीं है।' नेहरू 26 मई 1946 को हरिजन के संपादकीय में गांधी की टिप्पणी को ही दोहरा रहे थे। गांधी ने कहा था कि संविधान सभा खुद अपनी प्रक्रिया तय करेगी और मिशन योजना बाध्यकारी नहीं है।[56]

इस प्रकार जब भी गांधी बाहर आए इसका उनका अपना समय और कारण होते थे। 24 जनवरी 1946 को उन्होंने कार्य समिति को बताया कि वह अपनी दृष्टि के अनुसार निर्णय ले। वे खुद अंधेरे में हैं। इसलिए उनके मार्ग को प्रकाशित नहीं कर सकते हैं।[57] तेंदुलकर ने एक घटना का जिक्र किया है। 9 अक्तूबर 1946 को गांधी ने कांग्रेस–लीग बातचीत के बारे में एक दस्तावेज का अनुमोदन किया। बाद में उन्होंने महसूस किया कि उन्हें यह नहीं करना चाहिए था। 'आते बुढ़ापे' के बारे में उनके मन में शक हो गया था और उन्होंने सोचा कि 'सार्वजनिक जीवन में रहने का उनके लिए कोई मतलब नहीं रह गया है।'[58] सांप्रदायिक दंगों की बढ़ती आग के सामने निस्सहाय (अथवा यह योग्यता खो देने के बारे में उनके शक का हिस्सा था) होकर वे नोआखाली के लिए निकल पड़े। यहां वे मार्च 1947 तक ओझल रहे। इसके बाद वे बिहार चले गए।

लेकिन यह विचार इकतरफा है कि वे शेष भारत से इतना कट गए थे कि जब नेहरू नोआखाली गए तो उन्होंने उनसे 'राष्ट्र के पुराने सच्चे सेवक' से सलाह करने की अपील की।[59] 'गांधी का संदेशवाहक' सुधीर घोष नेहरू और पटेल से पत्र लेकर नोआखाली आया। गांधी ने उन्हें पढ़ा और टिप्पणी की : 'तो वे चाहते हैं कि मैं दिल्ली वापस चला जाऊं, क्या वे वास्तव में ऐसा चाहते हैं ?' घोष ने हामी भरी। गांधी ने थोड़ी देर सोचा और फिर उत्तर दिया : 'नहीं, मेरी जगह यहीं पर है, मैं यहीं रहूंगा।'[60] मार्च 1947 के शुरू में कांग्रेस अध्यक्ष कृपलानी ने गांधी को तार भेजा कि वे दिल्ली में कांग्रेस कार्य समिति की बैठक में भाग लें। लेकिन वे काफी समय से बकाया बिहार यात्रा को टालना नहीं चाहते थे।[61] इसी बैठक में प्रांतों के विभाजन की मांग पर निर्णय लिया गया। इस काल के बारे में टीकाओं में कृपलानी के आमंत्रण की उपेक्षा कर दी जाती है और केवल गांधी के कथन को स्वीकार कर लिया जाता है कि उन्हें निर्णय के बारे में समाचारपत्रों और अन्य रिपोर्टों से खबर मिली और उन्होंने कांग्रेस नेताओं से अपना रुख साफ करने के लिए कहा।[62]

मार्च 1947 के आखिर में गांधी दिल्ली लौटे और माउंटबैटन से मिले। उन्होंने एक बार फिर जिन्नाह को प्रधानमंत्री बनाने का सुझाव दिया। कैबिनेट का चयन उस पर छोड़ दिया जाए। यदि वह चाहे तो इसके सभी सदस्य मुसलमान हो सकते हैं। शर्तें ये थीं कि

जिन्नाह यह वायदा करें कि उसकी सरकार देश में शांति के लिए काम करेगी, मुसलिम नेशनल गार्ड को भंग कर दिया जाएगा। जिन्नाह पाकिस्तान की मांग करने के लिए स्वतंत्र होगा लेकिन हथियारों के जरिए नहीं। वह इस लक्ष्य के लिए हथियारों का प्रयोग हमेशा के लिए छोड़ देगा।[63] माउंटबैटन ने सोचा कि प्रस्ताव व्यवहार्य है। लेकिन उसका स्टाफ और कांग्रेस कार्य समिति इसके प्रति उतने भी उत्साहित नहीं थे जितने 1946 में थे जब गांधी ने पहली बार यह सुझाव दिया। जैसा कि नंदा ने कहा गांधी इस 'महान त्याग' से जिन्नाह को निरस्त्र करना चाहते थे लेकिन कांग्रेस नेताओं का विचार था कि 'त्याग का समय निकल चुका है।'[64] 11 अप्रैल 1947 को गांधी ने जिन्नाह से कहा कि 'मुझे विचार-विमर्श से अलग रखो' और इसके बाद कार्य समिति से बात करो जो कि 'संपूर्ण सलाहकार'[65] होगी।

(जिन्नाह को प्रधानमंत्री बनाने के मुद्दे पर) गांधी के कांग्रेस से दूर हो जाने, बातचीत से अलग हो जाने और बिहार लौट जाने के बारे में उस समय प्रेस में और बाद में इतिहास लेखन में बहुत बतंगड़ बनाया गया।[66] गांधी ने सार्वजनिक रूप से समाचार रिपोर्टों का खंडन किया : 'मेरे स्पष्टीकरण के बाद भी समाचारपत्र में जो कहा गया है वह कोरी बकवास है। इसमें शक नहीं कि मैं जा रहा हूं लेकिन हमारे बीच कोई लड़ाई नहीं है। हमारे संबंध पहले की तरह ही सद्भावपूर्ण हैं।'[67] उन्होंने पटेल को स्पष्ट किया कि अपने कार्यों में 'जरा सी भी शिकायत नहीं है' : 'मैं यही सोच रहा हूं कि देश की भलाई की दृष्टि से मेरी क्या ड्यूटी है। हो सकता है कि लाखों लोगों के मामलों को संभालते हुए आप जो देखते हैं उसे मैं न समझ पाऊं। यदि मैं आपकी जगह होता तो हो सकता है कि मैं भी वही कहता और करता जो आप कह और कर रहे हैं।'[68]

पता नहीं एक ऐसे प्रस्ताव पर मतभेदों को इतना क्यों उछाला गया जो किसी न किसी कारण से कामयाब नहीं होने वाला था। जिन्नाह का अहं जरूर पूरा होता लेकिन वह पाकिस्तान के मुद्दे को फिर से खोलने या उसे प्राप्त करने के साधनों पर विचार-विमर्श के लिए कभी राज़ी नहीं होता। इसके अलावा गांधी का यह कहना सही हो सकता है कि पाकिस्तान की जड़ें इसके 'एकमात्र प्रवक्ता' के अंतर्मन की गहराइयों में थीं लेकिन इतिहास को जीवनी बनाने की प्रवृत्ति को ज्यादा नहीं खींचा जाना चाहिए। 1946-47 में पाकिस्तान के पीछे ताकतें एक व्यक्ति की घमंडी महत्वाकांक्षा से बहुत बड़ी थीं।[69] कायदे आजम भी अब 1940 में वापस नहीं जा सकते थे। पाकिस्तान की मांग अधिकाश मुसलमानों का समवेत स्वर बन गई थी। मुअज्जिन भी अब इसे वापस नहीं ले सकते थे। जिन्नाह, लीग और उसके अनुयायियों को छोड़कर क्या शेष लोग जिन्नाह को प्रधानमंत्री स्वीकार कर लेते ? एक ऐसे राजनीतिक माहौल में जहां पंजाबी और बंगाली हिंदू अपने प्रांतों में लीग के शासन के बजाए विभाजन को तरजीह दे रहे थे, यह संभव नहीं होता।[70] ऐसी कार्रवाई को तुष्टीकरण बताकर उसकी आलोचना ही नहीं की जाती बल्कि कांग्रेस द्वारा लोगों को त्यागा जाना समझा जाता। इसके अतिरिक्त क्या पूरी तरह से काबिज लीग सरकार कांग्रेस को काम

करने देती। यदि ऐसा है तो जिन्नाह को सर्वोच्च पद देना राजनीतिक हाराकीरी नहीं होता ?'[71]

नेहरू के कहने पर गांधी 1 मई 1947 और बाद में 25 मई को कांग्रेस कार्य समिति की बैठक में भाग लेने के लिए आए।[72] 2 जून 1947 को कार्य समिति की बैठक में भी गांधी ने अपनी नामंजूरी के बावजूद पूरे मामले से पल्ला नहीं झाड़ा।[73] उन्होंने सलाह दी कि लीग की मंजूरी और राष्ट्रमंडल की सदस्यता के बारे में स्पष्टीकरण ले लिया जाए। क्या देश के एक हिस्से के इससे बाहर रहने की हालत में दूसरा उसमें रह सकता है? 14 जून 1947 को ए आई सी सी के महत्वपूर्ण सत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उन्होंने विरोधियों को चुनौती दी कि या तो वे कार्य समिति को बाहर फेंक दें या स्थिति का पूरा लाभ उठाने के लिए एक हो जाएं।[74] आजादी के बाद उथल-पुथल भरे महीनों में वे कांग्रेस नेताओं का मार्गदर्शन करते रहे। वह चाहे हिंदू सांप्रदायिकता के फंदों से शासन को निकाल ले जाने का काम हो, कश्मीर को सेना भेजने का समर्थन हो या शरणार्थियों के पुनर्वास की छिटपुट समस्या हो।[75] गांधी की मृत्यु से पहले कहे गए नेहरू के ये शब्द उनकी विशिष्टता के सूचक हैं : 'हममें से कितने लोग यह समझते हैं कि इन महीनों में महात्मा गांधी की मौजूदगी भारत के लिए क्या मायने रखती है?... सर्वग्रासी उथल-पुथल में वे संकल्प की चट्टान और सत्य का ज्योति-पुंज बने रहे।[76]

अब गांधी 125 वर्ष तक क्यों नहीं जीवित रहना चाहते थे

जैसा कि गांधी के साथियों और टीकाकारों ने बताया,[77] यह सही है कि विभाजन की तकलीफ और अपने अकेलेपन के कारण गांधी अब पहले की तरह 125 वर्ष तक जीवित रहने की इच्छा नहीं जताते थे।[78] विभाजन की योजना के स्वीकार कर लिए जाने से पहले 25 मई 1947 को उन्होंने राजा जी को बताया : 'मैंने 125 वर्ष तक जीवित रहने की आशा छोड़ दी है। लेकिन यदि भारत हिंसा की लपटों में घिरता है जिसका कि खतरा है तो मुझे जीवन की कोई इच्छा नहीं है।'[79] 1947 की गर्मियों में वे अकसर इस बारे में बातें किया करते थे : 'मैंने लंबा जीवन जीने की बात करनी बंद कर दी है ... मुझे आशा और विश्वास है कि ईश्वर मुझे जीवन से छुटकारा देगा।'[80] 1 जून 1947 की सुबह उन्होंने मनु को बताया : 'मैं इसे देखने के लिए शायद जीवित नहीं रहूंगा। लेकिन यदि यह बुराई भारत में आए और उसकी आजादी पर खतरा आए तो भावी पीढ़ी को यह बताया जाए कि यह सोचकर इस बूढ़े आदमी को कितनी तकलीफ हुई थी। भावी पीढ़ी यह कहकर गांधी को न कोसे कि भारत के जीवन पर इस प्रहार में वे भी शामिल थे।'[81] लेकिन यह केवल आधी सचाई थी क्योंकि उन्हीं दिनों गांधी ने जीवन की बहुत जबर्दस्त इच्छा जताई : 'मैं 125 वर्ष तक जीवित रहना चाहता था और अब भी चाहता हूं लेकिन लोगों में मेरा स्थान खो गया है।'[82] उन्होंने उपवास की संभावना से इनकार किया और कहा कि 'मैं इस तरह नहीं मरूंगा।'[83]

सचाई यह है कि दर्द उन्हें ऐसे कगार पर ले आया जहां उनके जीने की इच्छा खत्म हो

गई लेकिन अधूरा काम पूरा करने की इच्छा ने उन्हें जीने का मकसद दिया। उपवास पर न जाने का एक कारण उन्होंने यह बताया : 'मुझे बहुत बड़ा काम करना है ... मेरे विचार वाला उद्योगीकरण हर गांव में होना है। प्रत्येक घर में चरखा चलेगा और हर गांव में कपड़ा बनेगा।'[84]

निर्माण कार्य के अलावा गांधी में बहुत लचीलापन और भरपूर विश्वास था।[85] चीन के राजदूत डॉ. लो चिया लुएन ने उनसे पूछा, 'आप यह कैसे सोचते हैं कि चीजें अपने आप रूप लेंगी ? गांधी ने उत्तर दिया:[86]

> मैं अदम्य आशावादी हूं। हमने इतने सालों तक इसलिए मेहनत नहीं की है कि हम वहशी बन जाएं। बंगाल, बिहार और पंजाब में बेकार के खून-खराबे से तो यही लगता है।
>
> लेकिन संकेत यही लगता है कि विदेशी शासन को दूर फेंकने के वक्त पूरी गंदगी पूरा झाग ऊपर आ रहा है। जब गंगा में बाढ़ आती है तो पानी गदला होता है। पूरी गंदगी ऊपर आ जाती है। बाढ़ के उतर जाने के बाद नयनों को सुख देने वाला साफ, नीला पानी होता है। मैं उसी के लिए जीवित रहना चाहता हूं। मैं भारतीय समुदाय को जंगली बने नहीं देखना चाहता।

काले और सफेद रंगों में बनाई गई गांधी की परंपरागत तसवीर से गांधी के व्यक्तित्व का यह रूप नहीं उभरता, उनका लचीलापन, उनकी व्यावहारिकता, भविष्य में उनका विश्वास और अपने सपने को साकार करने का उनका निश्चय सामने नहीं आता।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 75.
2. प्रार्थना सभा, 9 जून 1947, वही, पृ. 118.
3. एन.के. बोस, 'माई एक्सपिरिएंसेज ऐज ए गांधियन-II' एम.पी. सिन्हा, कंटेंपोरेरी रैलिवेंस आफ गांधिज्म, बंबई, 1970 में, पृ. 52.
4. प्रार्थना सभा, 9 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 118.
5. नंदा का यह जायजा सही है कि सांप्रदायिक ताकतों के खिलाफ गांधी की मुख्य बाधा यह थी कि मुसलमान, विशेषकर बुद्धिजीवी उनकी आवाज को महत्व नहीं देते थे. लेकिन 1947 के मध्य में उनकी बाधा यह थी कि उनकी आवाज हिंदुओं के कानों तक भी नहीं पहुंची. बी.आर. नंदा, *गांधी एंड हिज क्रिटिक्स*, नई दिल्ली, 1985, पृ. 113.
6. इससे पहले गांधी ने स्पष्ट किया था कि मुसलमान उन्हें अपना दोस्त नहीं मानते. इसलिए वे बंगाल दंगों के खिलाफ इस तरह उपवास नहीं कर सकते जिस तरह बिहार में हिंदुओं के खिलाफ कर सकते हैं. देखें *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 86, पृ. 127 और 274.
7. प्रार्थना बैठक, 16 जून 1947, वही, वॉल्यूम 88, पृ. 163.
8. प्रार्थना बैठक, 5 जून 1947, वही, पृ. 77. पंजाब से आए लोगों के एक समूह ने उनसे कहा कि पूरा देश

उनके साथ है. उन्होंने इस बात को काटते हुए कहा कि, 'क्या आप यह सोचते हैं ? मैं आपको यह बताना चाहता हूं कि यदि हिंदू शांति रखें और साहस दिखाएं तो मैं चमत्कार करके दिखा सकता हूं. लेकिन मैं किस बल पर यह कहूं कि लीग हिंसा न करे'. 17 जुलाई 1947, वही, पृ. 356.

9. 14 जून 1947 को ए आई सी सी की बैठक में गांधी के रुख का सतीशचंद्र दासगुप्ता ने जो विवरण दिया है उसमें लोकतंत्र के प्रति गांधी की मजबूत प्रतिबद्धता पर बल दिया गया है. गांधी ने सोचा कि उनके द्वारा कार्य समिति के निर्णय का विरोध निरंकुशता होती उन्होंने इसे कांग्रेस पर छोड़ने और आवश्यकता पड़ने पर अपने ढंग से चलने का निर्णय किया. उन्होंने अपना विकल्प ए आई सी सी के सामने रखा. स्पष्टतः वह कार्य समिति की केवल निंदा करना चाहती थी और गांधी के परामर्श के अनुसार उसे निकाल बाहर नहीं करना चाहती थी. दासगुप्ता के अनुसार महत्वपूर्ण बात यह है कि विभाजन के विरोध का नेतृत्व करने के लिए उन्होंने गांधी से नहीं कहा. इससे बहुत बेचैनी पैदा करने वाला सवाल उठा : 'क्या कांग्रेस के प्रतिनिधित्व में देश यह चाहता है ?' *ओ एच टी,* सं 255, एन एम एम एल.
10 प्रार्थना सभा, 5 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88 पृ. 8
11. देखें जन आंदोलन पर खंड, प्रार्थना सभा. 9 जून 1947, वही, पृ. 118.
12. प्रार्थना बैठक, 1 अप्रैल 1947, वही, वॉल्यूम 87, पृ. 187.
13. 29 मई 1947, वही, वॉल्यूम 88, पृ. 33.
14. प्रार्थना बैठक, 5 जून 1947, वही, पृ. 85.
15. कमला देवी चट्टोपाध्याय का तर्क है कि विभाजन का एकमात्र विकल्प जन आंदोलन था क्योंकि अंग्रेज केवल विभाजन के आधार पर ही जाने के लिए तैयार थे. गांधी का नेतृत्व बहुत महत्वपूर्ण था क्योंकि गांधी के तटस्थ रहने और कांग्रेस के खिलाफ होने की हालत में समाजवादी अपने आप आंदोलन नहीं चला सकते थे *ओ एच टी*, 388, एन एम एम एल. सरकार लिखते हैं : 'एकमात्र रास्ता साम्राज्यवाद और इसके भारतीय साथियों के खिलाफ जुझारु जन आंदोलन था हमने देखा है कि केवल इसी बात से अंग्रेज डरते हैं'. *माडर्न इंडिया*, पृ. 438.
16 वर्षों तक कांग्रेस भी यह मानकर चली थी कि साम्राज्यवादी संघर्ष के फलस्वरूप सांप्रदायिक एकता आएगी लेकिन यह मान्यता निराधार साबित हुई इस अधिक संप्रदायीकृत माहौल में आंदोलन किस प्रकार एकता लाएगा ? आंदोलन के समर्थकों ने यह सवाल तक नहीं उठाया.
17. गांधी विभिन्न कारणों से ऐसा करने के लिए तैयार नहीं थे. उन्होंने विभाजन का विरोध क्यों नहीं किया और कांग्रेस के खिलाफ बगावत क्यों नहीं की इसके लिए अगला खंड देखें. यहां हम केवल इस बात पर विचार कर रहे हैं कि उन्होंने जन आंदोलन से क्यों इनकार किया.
18 लुइस फिशर, *दि लाइफ आफ महात्मा गांधी*, न्यूयॉर्क, 1883, पृ 435.
19. लेकिन एक अन्य संदर्भ में फिशर ने गांधी से कहा कि 'आप अब सुदृढ़ संविधानवादी हैं क्योंकि आप हिंसा से डरते हैं'. इस पर गांधी की टिप्पणी थी कि हमें संविधान सभा के लिए काम करना चाहिए. फिशर ने जिस तरह से यह बात रखी ('हिंसा से डर' - एस एम) उससे गांधी सहमत नहीं हुए होंगे. ऐसा लगता है कि पूरी तरह से मना करने के बजाए उन्होंने अपने 'जुझारुपन' के बारे में सशर्त बयान ठीक समझा - 'तब तक नहीं, जब तक समाजवादी और संप्रदायवादी शांत न हो जाएं.' गांधी की अपनी स्थिति के मुकाबले फिशर का निष्कर्ष अधिक निश्चित है : 'गांधी अपने जीवन में इस समय सबसे कम जुझारु थे ... नागरिक अवज्ञा का जो विशेष हथियार उन्होंने तैयार किया था उसे व्यापक हिंसा ने उनसे छीन लिया था ... गांधी आक्रोश के मार्ग पर आ गए थे. इसके फलस्वरूप ही उनकी मृत्यु हुई'. वही, पृ. क्रमशः 441 और 437.
20. बोस, 'माई एक्सपिरिएंसेज ऐज ए गांधियन-II', पृ. 52. बिमल प्रसाद ने फिशर जैसे निष्कर्ष निकाले हैं : 'उनके नेतृत्व के पीछे सबसे बड़ी ताकत जन आंदोलन का रास्ता था. लेकिन उनका मानना था कि

1947 में मौजूद स्थितियों में यह रास्ता नहीं अपनाया जा सकता था. उस समय माहौल में इतना सांप्रदायिक पागलपन छाया हुआ था कि जन संघर्ष छेड़ने से और ज्यादा सांप्रदायिक हत्याएं होतीं'. *गांधी, नेहरू एंड जे पी.*, पृ. 74. ध्यान देने की बात है कि ऑल इंडिया फॉरवर्ड ब्लॉक को भी ऐसी ही मजबूरी का सामना करना पड़ा— 'सांप्रदायिक स्थिति को देखते हुए सरकार के खिलाफ आंदोलन के सुझाव को नामंजूर कर दिया गया.' देखें कार्य समिति बैठक की रिपोर्ट, नवंबर 1946, आई बी नोट दिनांक 20 फरवरी 1947, *इंडिया पॉलिटिकल इंटेलिजेंस रिकार्ड्स*, आई ओ आर एल/पी एंड जे/12/648, लंदन.

21. एन.के. बोस और गांधी के जीवनीकार बी.आर. नंदा इस बात से सहमत हैं कि गांधी द्वारा पूरी ताकत लगा दिए जाने के बावजूद नोआखाली और कलकत्ता में उनके प्रयासों (अगस्त-सितंबर 1947) को बहुत कम समय के लिए सफलता मिली. स्वतंत्रता दिवस को कलकत्ता में शांति रही. यह चमत्कार था. लेकिन 31 अगस्त 1947 को हिंदू भीड़ ने उनके मकान पर हमला किया. ईंट और लाठियों के आघात से वे बाल-बाल बचे. बोस, *माई डेज विद गांधी*, पृ. 255 और 275 तथा नंदा, *महात्मा गांधी*, पृ. 506.
22. गांधी, बोस और फिशर के भिन्न विचारों के बावजूद सरकार का यह मानना है कि 'दंगों द्वारा स्पष्ट बाधा पहुंचाए जाने के बावजूद यह संभावना (साम्राज्यवाद के खिलाफ जन संघर्ष - एस एम) 1946-47 की सर्दियों में भी पूरी तरह से खत्म नहीं हुई थी. इसके लिए वियतनाम दिवस समारोहों और कलकत्ता में ट्राम हड़ताल के उदाहरण दिए गए हैं. इन दोनों अवसरों पर ही हिंदू- मुसलिम एकता देखने को मिली. सरकार ने आगे कांग्रेस के 'वास्तविक डर' अर्थात वाम का जिक्र किया है: 'कांग्रेस के पास एक ही वास्तविक विकल्प बचा था और वह था व्यापक मुठभेड़ जो सांप्रदायिक दंगों के संदर्भ में मुश्किल और वाम के बढ़ते खतरे को देखते हुए सामाजिक दृष्टि से खतरनाक काम लग रहा था'. दो खतरों के लिए शब्दों के चयन - सांप्रदायिक दंगों के लिए 'मुश्किल' और वाम के लिए 'बहुत खतरनाक' से सरकार के पूर्वग्रह का संकेत मिलता है. *माडर्न इंडिया*, पृ. 438-39.
   भारत के भविष्य (विभाजित या अविभाजित) पर मतभेद और आर्थिक संघर्षों तथा बड़े सांप्रदायिक मुद्दों पर एकता एक साथ चल सकते हैं. यह 1946-47 की परस्पर विरोधी, जटिल वास्तविकता है.
23. सपरु से सर सीताराम, 22 जुलाई 1947, *सीताराम पेपर्स,* एन ए आई, नई दिल्ली.
24. गांधी और विभाजन के दूसरे विरोधियों में कुछ भी सामान्य नहीं था. इसके लिए देखें इस अध्याय का फुटनोट-11.
25. अग्रवाल एक बात भूल गए हैं कि गांधी की सलाह मानने और जन विद्रोह शुरू करने का काम एक साथ नहीं किया जा सकता क्योंकि गांधी एक वर्ष से जन विद्रोह से इनकार कर रहे थे. कृपलानी के विचार से साम्राज्यवाद विरोध और सांप्रदायिकता विरोध दो अलग कार्य थे. गांधी को पहले काम में तो सफलता मिली है लेकिन दूसरे में नहीं मिली है. 14 जुलाई 1947 को ए आई सी सी के महत्वपूर्ण सत्र में अपने समापन भाषण में कृपलानी ने कहा : 'तब मैं उनके साथ क्यों नहीं हूं? यह इसलिए कि मेरे विचार से इस समस्या का व्यापक पैमाने पर हल का रास्ता उन्हें अभी नहीं मिला है. अहिंसा और असहयोग का पाठ पढ़ाकर उन्होंने हमें एक निश्चित मार्ग दिखाया जिस पर हम यंत्र की तरह चले. लेकिन आज उन्हें खुद रास्ता नहीं सूझ रहा है.' उन्होंने पहले नोआखाली और बाद में बिहार को शांत किया. लेकिन अब पंजाब में विस्फोट हो रहा है. 'अहिंसा और असहयोग में ऐसे निश्चित तरीके नहीं है जिनसे हम इच्छित लक्ष्यों तक पहुंच सकें.' जी.डी. तेंदुलकर, *दि महात्मा*, दिल्ली, 1960-63, वॉल्यूम 8, पृ. 22. अपने स्वभाव के अनुसार गांधी ने इस कुशल रणनीति के परिणामों को मानने से इनकार कर दिया. 'ईश्वर की कृपा से हमने कुछ तरीके अपनाए और हालात भी ऐसे बदले कि अंग्रेज जाने की बात कर रहे हैं.' *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 252.
26. पंजाब से आए लोगों को, 17 जुलाई 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 356.
27. लेकिन 1942 के विपरीत 1947 में गांधी को विश्वास नहीं था कि देश आंदोलन के लिए तैयार है

के.एम. मुंशी के अनुसार गांधी के पास एक प्रश्न का कोई उत्तर नहीं था : 'क्या देश निकट भविष्य में संघर्ष के लिए तैयार है? जवाहरलाल और वल्लभ भाई का पक्की तौर पर मानना था कि उस समय लोगों के लिए आंदोलन चलाना संभव नहीं था और सत्ता पाने तथा आजादी के विकास के लिए उसके प्रयोग के अवसर को छोड़ना नहीं चाहिए.' *ओ एच टी*, 15 एन एम एम एल. इस प्रकार 1947 में अपने शिष्यों को छोड़ने का सवाल ही नहीं था. अलग-अलग कारणों से अधिकांश लोग इस बात पर सहमत थे कि आंदोलन नही चलाया जा सकता है.

28. 'माई एक्सपिरिएंसेज ऐज ए गांधियन-II' पृ. 53.
29 पार्वती नारायण और अन्यों को, 30 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 247.
30. समाजवादियों ने कांग्रेस से इस्तीफा देने और उनके साथ आने का प्रस्ताव किया था. कमला देवी चट्टोपाध्याय, *ओ एच टी*, 338 एन एम एम एल. 'आत्म-अस्वीकृति' शब्द से इनकार किया जा सकता है लेकिन नंदा ने कांग्रेस एकता में गांधी के योगदान पर ठीक ही बल दिया है : 'आत्म -स्वीकृति के इस कार्य द्वारा उन्होंने अपनी स्वतंत्रता पर समझौता किए बगैर इस महत्वपूर्ण मौके पर कांग्रेम को विभाजन से बचा लिया है ' नंदा, *महात्मा गांधी*, पृ. 505.
31. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 82-84.
32. मौजूदा स्थिति में उपवास सत्याग्रह का हथियार न बनकर विरोध का प्रतीक मात्र रह जाता एक व्यावहारिक व्यक्ति के रूप में गांधी ने कहा : 'लेकिन एक बात जरूर हो गई है हिंदुस्तान और पाकिस्तान अस्तित्व में आ गए हैं. उनकी अलग संविधान सभाएं बन गई हैं. क्या मैं इसे खत्म करने के लिए अपनी जान दे दूं? मैं इस तरह से अपनी जान नहीं दूंगा.' वही.
33. साथी का नाम तो नहीं बताया गया है लेकिन 1947 में कोई सांप्रदायिक संस्था ही एक लाख स्वयंसेवक दे सकती थी.
34. प्रार्थना सभा, 2 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 63.
35. प्रार्थना सभा, 5 जून 1947, वही, पृ. 85.
36. वही, पृ. 98.
37. वही, पृ. 154.
38 वही
39 गांधी 'इन मतभेदों की जड़ में' गए क्योंकि अहिंसा उनका सिद्धांत था लेकिन नीति कांग्रेस के साथ थी. वही, पृ 336.
40. तेंदुलकर, *महात्मा*, वाल्यूम 7, पृ. 186.
41. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 53.
42 वही, पृ. 50.
43. 14 जून 1947. वही. पृ. 150.
44. नेहरू, पृ. 343. सुमित सरकार लिखते हैं : '1945 से चल रही चक्करदार वार्ताओं में गांधी पीछे रहे.' *माडर्न इंडिया*, पृ. 437. बिमल प्रसाद ने निष्कर्ष निकाला है कि 1946-47 में गांधी के नेतृत्व का पतन हुआ और वह लगभग समाप्त हो गया. कांग्रेस के भीतर निर्णय लेने में 'गांधी प्रमुख व्यक्ति नहीं' रह गए थे. 1919-20 में इस पर उनका वर्चस्व था.' *गांधी, नेहरू एंड जे.पी.*, पृ. 62-64.
45. *ओ एच टी*, 338, एन एम एम एल.
46. *ओ एच टी*, 310, एन एम एम एल.
47. ई एम एस नंबूदरिपाद, *दि महात्मा एंड दि इज्म*, कलकत्ता, 1981, पृ. 110-11 और प्रसाद, *गांधी, नेहरू एंड जे.पी.*, पृ. 64. सरकार के अनुसार सत्ता का सवाल निजी लालच का सवाल नहीं था बल्कि पार्टी को यह डर था कि यदि उसने शीघ्र सत्ता नहीं ली तो वामपंथी ताकतें उसे ले लेंगी. लेकिन फिर भी

उच्च स्तर पर एक सौदा हुआ था जिसमें गांधी भागीदार नहीं थे : 'लेकिन धार्मिक आधार पर विभाजन की कीमत पर देश के बड़े हिस्से पर सत्ता का विचार एक आदमी को बहुत दहलाने वाला तथा अस्वीकार्य लगा था.' सरकार, *मार्डर्न इंडिया*, पृ. 437.

48. *ओ एच टी*, 15, एन एम एम एल.
49. नंदा, *महात्मा गांधी*, पृ. 489.
50. बीस के दशक के मध्य में और तीस के दशक के मध्य में कांग्रेस के साथ गांधी के मतभेद के बाद ई एम एस नंबूदरिपाद 40 के दशक के मध्य पर आते हैं :
    यह स्थिति विशेष रूप से उनके जीवन के अंतिम दिनों में हुई जब उनके आदर्शवाद का 'इस्पाती मन वाले' सरदार पटेल के 'सख्त व्यवहारवाद' और घनघोर बुद्धिजीवी नेहरू के आधुनिकतावाद और कई वर्षों तक उनके साथी और लेफ्टीनेंट रह चुके दूसरे लोगों के विचारों से टकराया. आजादी के बाद के महीनों में उनके और उनके साथ साथियों के बीच बढ़ती खाई ने उनके जीवन को त्रासद बना दिया था. यह उनके जीवन के त्रासद अंत तक चलता रहा. *दि महात्मा एंड दि इज्म*, पृ. 118.
51 टु मनु गांधी, 1 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 50.
52. वही, पृ. 338.
53. नंदा, *महात्मा गांधी*, पृ. 489.
54. 15 जून 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 80, पृ. 331.
55. *वावेल्स जर्नल*, पृ. 236.
56. 7 जुलाई 1946, *जे एन एस डब्ल्यू*, वॉल्यम 15, पृ. 236; *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 84, पृ. 170.
57. तेंदुलकर, *महात्मा*, वॉल्यूम 7, पृ. 163.
58. वही, पृ. 272.
59. प्रसाद, *गांधी, नेहरू एंड जे.पी.*, पृ. 65.
60. सुधीर घोष, *गांधीज एमिस्सरी*, लंदन 1967, पृ. 193.
61. तेंदुलकर, *महात्मा*, वॉल्यूम 7, पृ. 407.
62. प्रसाद, *गांधी, नेहरू एंड जे.पी.*, पृ. 65.
63. माउंटबैटन को गांधी की रुपरेखा योजना, 1 अप्रैल 1947, *टी पी*, वॉल्यूम 10, पृ. 69. 8 अप्रैल 1947 को उन्होंने मालकोम डार्लिंग को बताया : 'पूरा भारत लीग को दे दो', *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 233.
64. नंदा, *महात्मा गांधी*, पृ. 503
65. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 87, पृ. 254.
66. सुमित सरकार ने इसे गांधी द्वारा हस्तक्षेप (पीछे हट जाने के बाद) को असाधारण मामला बताया है, *मार्डर्न इंडिया*, पृ. 437. यह प्रातिनिधिक विचार नहीं है. यह विचार लोक मिथक शास्त्र का ही हिस्सा है कि यदि जिन्नाह को प्रधानमंत्री बना दिया जाता तो विभाजन को टाला जा सकता था.
67. प्रार्थना सभा, 12 अप्रैल 1947, *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉलयूम 87, पृ. 265.
68. 13 अप्रैल 1947, वही, पृ. 271. गांधी ने जो कुछ कहा उसे उसी रूप में लेने के लिए नहीं कहा जा रहा है. उन्होंने बेइज्जत महसूस किया और बातचीत से अलग हो गए. यह भी राजनीति में अलग दृष्टिकोण की बात थी, पद का लालच नहीं.
69. मुसलिम लीग और पाकिस्तान की मांग के लिए देखें. अध्याय नौ.
70. अध्याय दस में प्रांतों के विभाजन पर खंड देखें.
71. इस अध्याय में जन आंदोलन पर खंड देखें.
72. तेंदुलकर, *महात्मा*, वॉल्यूम 7, पृ. 454 और 474.

73. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 61.
74. वही, पृ. 154. गांधी ने विद्रोह क्यों नहीं किया पर खंड देखें.
75 देखें हिंदू सांप्रदायिक दबाव पर अध्याय, स्वतंत्रता के बाद की घटनाओं पर खंड. साथ ही देखें गोपाल, *नेहरु*, वॉल्यूम 2, पृ. 17-20.
76 रजत जयंती दीक्षांत समारोह इलाहाबाद विश्वविद्यालय में भाषण, 13 दिसंबर 1947, *जे एन एस डब्ल्यू*, दूसरी श्रृंखला, वॉल्यूम 4, पृ. 206.
77 नंबूदरिपाद का कहना है कि 'उनका सारा आत्मविश्वास खो गया था, जीवन की खुशी और जीने की इच्छा खो गई थी', *दि महात्मा एंड दि इज्म*, पृ. 111. इसी विचार के समर्थन के लिए बिमल प्रसाद ने प्यारे लाल को उद्धृत किया है, *गांधी, नेहरू एंड जे.पी.*, पृ. 65.
78. तेंदुलकर का कहना है कि 125 वर्ष तक जीवित रहने की योग्यता में उनका विश्वास अक्तूबर 1946 में हिल गया था. उन्होंने कांग्रेस-लीग वार्ता के बारे में एक पैरा पढ़ा और सोचा कि सब कुछ ठीक है जबकि ऐसा नहीं था. उन्हें लगा कि 'बुढ़ापा आ रहा' है और उन्होंने सार्वजनिक जीवन से हट जाने का विचार बनाया, *महात्मा*, वॉल्यूम 7, पृ. 272-73.
79. *एम जी सी डब्ल्यू*, वॉल्यूम 88, पृ. 4.
80 सुशीला गांधी को, 2 जुलाई 1947 और क्वेटा से एक शिष्टमंडल को, 8 जुलाई 1947, वही, पृ 257 और 299.
81 वही, पृ. 52.
82. 6 जुलाई 1947, वही, पृ. 284.
83. प्रार्थना सभा, 5 जून 1947, वही, पृ 84.
84. देखें उपर्युक्त फुटनोट 81. 10 जून 1947 को उन्होंने राजेंद्र प्रसाद को बताया कि यदि उन्हें स्वतंत्रता मिले तो वे युवाओं को निर्माण कार्य में लगाने का आंदोलन चलाने के लिए पूरे देश का दौरा शुरू करना चाहते हैं, वही,पृ. 123. नंदा के अनुसार अपने जीवन के अंतिम दिनों में गांधी का मन सामाजिक और आर्थिक सुधारों और अहिंसा के तकनीक को फिर से चमकाने की ओर झुका हुआ था, *महात्मा गांधी*, पृ 511.
85. फिशर ने कहा कि यद्यपि गांधी ने जीवन की इच्छा खो जाने का जिक्र किया लेकिन 'वे लंबे समय तक निराशावादी नहीं रह सकते थे,' *दि लाइफ आफ महात्मा गांधी*, पृ. 470.
86. वही.

निष्कर्ष

I

युद्ध के बाद के काल की कहानी युद्ध के समाप्त होने के लगभग एक वर्ष पहले शुरू हो गई थी। मई 1944 में गांधी की रिहाई के बाद कांग्रेस पर प्रतिबंध बेअसर हो गया और राजनीतिक गतिविधि में धीरे-धीरे तेजी आ गई। भारत सरकार ने राजनीतिक प्रस्ताव की एक योजना बनाई जिसका लक्ष्य दो मुख्य राजनीतिक पार्टियों को वाइसरॉय की एग्जीक्यूटिव कौंसिल में शामिल करना था। युद्ध समाप्त होने से पहले कोई समझौता कर लेने का इरादा था जिससे कि तूफानी राजनीति में फिर न लौटना पड़े। लेकिन इसके लिए किया गया शिमला सम्मेलन नाकामयाब हो गया क्योंकि सरकार ने राजनीतिक प्रगति के मामले में मुसलिम लीग को दिए गए वीटो को वापस लेने में हिचकिचाहट दिखाई।

इस समय उपनिवेशवादी शासन की इमारत को संभालने वाले स्तंभों में दरार पैदा हो गई और उसका गिरना तय हो गया। धक्का दो ओर से लगा। भीतर की सड़न से और बाहर की चुनौती से। साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलनों ने लगातार आघात किया और गहरे चिह्न छोड़े। उदाहरण के लिए 1920-22, 1930-32 और 1942 के जन आंदोलनों को लिया जा सकता है। राजनीतिक दृष्टि से अछूते क्षेत्र और सामाजिक समूह मुख्यधारा में आ गए। नदी का पाट चौड़ा हो गया और सैलाब किनारों को तोड़कर चारों ओर फैल गया। प्राधिकारियों ने हर सैलाब के बाद किनारों को मजबूत किया, नदी को चुनौती दी लेकिन इसका कुछ असर नहीं हुआ। अधिकारियों की शासन चलाने की इच्छा खत्म हो गई। भारतीय सिविल सेवा के साम्राज्यवाद के मिशन में विश्वास का स्वर्ण युग समाप्त हो चुका था। ग्रामर स्कूलों के दूसरे दर्जे के लोग स्वर्ग से उतरी सेवा में शामिल हो गए। उनमें न तो अपने विक्टोरियाई पूर्वजनों की जैसी भव्य दृष्टि थी और न भारत के 'अबोध लोगों' पर शासन चलाने की अंग्रेजों की नियति में विश्वास था।

सेवा में भर्ती किए गए भारतीय ज्यादातर पूरी तरह से निष्ठावान थे, परीक्षा के कठिन क्षणों में भी। लेकिन समय के साथ उनके मन में संघर्ष शुरू हो गया। इसका विशेष कारण यह था कि उन्हें अहिंसा पर डटे रहने वाले साथी भारतीयों का अकसर दमन करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उनमें भी राष्ट्रवाद की भावना आ गई थी। राष्ट्रीय ताकतों के कदम तेजी से बढ़ रहे थे। 1937-39 में प्रांतीय मंत्रिमंडलों के दौरान इन ताकतों में कुछ को आंशिक सत्ता भी मिली। इसके परिणामस्वरूप बहुत से निष्ठावान भारतीय अधिकारियों

का उनके प्रति विरोधी रुख नरम हो गया। उपनिवेशवादी नीति के अंतर्विरोध तेजी से उजागर होने लगे। दमन और समझौते की दोहरी नीतियां शुरू हुईं। इन विरोधी नीतियों को उन्हीं अधिकारियों द्वारा लागू किया जाता था। इससे समस्याएं पैदा हुईं। जब कांग्रेसजनों को आंदोलनकर्ता और राजद्रोही कहा जाता था तो अधिकारी उनसे सख्ती से निपटते थे। लेकिन जब ये कांग्रेसजन मंत्री और विधायक बने और प्रशासन चलाने लगे तो नौकरशाही को उनके नीचे काम करना पड़ा। बाद में जब कांग्रेसजनों को शासन के लिए खतरा माना जाने लगा (1940-41 के वैयक्तिक सत्याग्रह और 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान) तो अधिकारियों की कार्रवाई में उतनी दृढ़ता नहीं थी। एक और चिंता थी कि यदि युद्ध के बाद नीति बदल गई और कांग्रेस को अधिकार मिल गए तो आंदोलन का दमन करने वाले अधिकारियों के खिलाफ कार्रवाई की जाएगी। कुछ मामलों में कार्रवाई करने से इनकार कर दिया गया। जहां कार्रवाई की गई वहां अकसर उद्देश्य वाली दृढ़ता नहीं होती थी।

युद्ध के बाद की अवधि में ये समस्याएं बढ़ गईं। आई एन ए बंदियों से निपटने के मामले में अधिकारियों में मतभेद पैदा हो गए, उन्हें 'गद्दारों' वाली सबक सिखाने वाली सजा दी जाए या उन्हें 'गुमराह' लोग मानकर नरमी दिखाई जाए। सेना के उच्च अधिकारियों ने महसूस किया कि भारतीय सेना के अधिकांश लोग उनको सजा के लिए चिल्लाने (जैसा कि विश्वास किया जा रहा था) के बजाए 'भगोड़ों' पर दया की इच्छा करने लगे। इसकी वजह से रक्षात्मक रुख अपनाने की बात होने लगी। यह इस बात का संकेत था कि भारतीय अधिकारियों, निष्ठावादियों और अब तक राष्ट्रवादी घेरे से अछूते लोगों की तरह सशस्त्र सेनाओं में भी राष्ट्रवादी भावना आने लगी थी। फरवरी 1946 के नौसैनिक विद्रोह को आसानी से कुचल दिया गया था और वह नौसेना के एक वर्ग तक सीमित था। फिर भी यह भविष्य के लिए संकेत था। जातीय भेदभाव और खराब सेवा स्थितियों से उत्पन्न गुस्से तथा गलत समझी गई लेकिन देशभक्ति की जबर्दस्त भावना के कारण विस्फोटक स्थिति पैदा हो गई।

ढांचा सुरक्षित रहा। मजबूत शासन के लंबे समय तक जारी रहने की बात की जा सकती थी। लेकिन सत्ता और प्राधिकार के गतिविज्ञान को समझने वाले दूरदर्शी अधिकारियों और नीति निर्माताओं ने यह समझ लिया कि इस बार जो तूफान घुमड़ रहा है उसका सामने के बजाए रणनीतिक पलायन से मुकाबला किया जाए। कैबिनेट मिशन का भेजा जाना इसी समझ का परिणाम था।

उस समय कांग्रेस की नीति यह थी कि अहिंसक जन संघर्ष से पहले बातचीत और समझौते के विकल्प का प्रयोग किया जाए। इस दोहरी रणनीति ने ब्रिटिश नीति को अंतर्विरोधों का घालमेल बनाने में प्रशंसनीय कार्य किया। 1945 में कांग्रेस नेताओं ने सत्ता हस्तांतरण मशीनरी तैयार करने के लिए बातचीत में हिस्सा लिया। अंग्रेजों के भारत से शीघ्र चले

जाने की उम्मीद को देखते हुए उन्हें एक और संघर्ष शुरू करने में कोई तुक नजर नहीं आती थी। वामपंथी इतिहासकारों के विपरीत कांग्रेस नेता यह समझते थे कि आजादी 'ऊपर से' आए या 'नीचे से' आए या साम्राज्यवाद पर 'आखिरी आघात' के बजाए समझौते से आए, इससे उसका अर्थ नहीं बदल जाएगा। लेकिन साथ ही कांग्रेस अंग्रेजों द्वारा भारत छोड़ने का वायदा पूरा न किए जाने की हालत में आंदोलन के लिए भी पूरी तैयारी कर रही थी। वास्तव में खत्म हो रही शक्ति के संदर्भ में कांग्रेस के नेतृत्व में एक और आंदोलन का खतरा भारत छोड़ने के वायदे को पूरा करने के लिए भीतर ही भीतर दबाव का काम कर रहा था।

दो प्रक्रियाओं के कारण अंत तेजी से आया - राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता। सांप्रदायिकता अंत को टालने के लिए पैदा की गई थी। लेकिन उसने भी अंतिम अवस्था में तेजी लाने का काम किया। वास्तव में 1945-47 की कहानी में दो कहानियां उलझी हुई थीं। एक कहानी थी राष्ट्रवाद बनाम साम्राज्यवाद जो कि 15 अप्रैल 1947 को औपचारिक रूप से समाप्त हो गई। लेकिन इसमें अनिश्चय कैबिनेट मिशन भेजे जाने के साथ 1946 के शुरू में ही समाप्त हो गया था। इसके बाद दूसरी कहानी केंद्र में आ गई। लीग द्वारा मुस्तैदी से भड़काई गई सांप्रदायिक भावना सांप्रदायिक दंगों में बदल गई जिससे स्वतंत्र, अविभाजित भारत की आशाएं खत्म हो गईं। जो किनारों पर बैठे थे वे गटर में चले गए और कइयों की बेदाग धर्मनिरपेक्षता पर दाग लग गए। कुछ लोगों ने बड़ी मेहनत के साथ अपनी धर्मनिरपेक्षता बनाए रखी लेकिन ये बीच-बीच में सांप्रदायिक ताकतों पर थोड़ा-बहुत आघात ही कर सके। वे खतरे का सामने से मुकाबला करने के लिए स्वतंत्र नहीं थे।

1946 के चुनावों से राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता की इन दो कहानियों के बीच विभेद पैदा हुआ। सामान्य सीटों पर जीत से राष्ट्रवादी आकाश के प्रमुख के रूप में कांग्रेस की स्थिति मजबूत हुई। लेकिन मुसलिम सीटों पर मुसलिम लीग की जीत उतनी ही जोरदार थी। यह भारतीय आवाम का स्वर होने के कांग्रेस के दावे के लिए स्पष्ट चुनौती थी। इसमें एक नया आयाम भी जुड़ा। मुसलिम लीग लगातार ऐसी भाषा बोलने लगी जो कांग्रेस और अंग्रेजों की भाषा से भिन्न थी। राष्ट्रवादी ताकतों की आवाज खतरनाक लगने की हालत में अंग्रेजों के साथ सुर में सुर मिलाने से ही वह अब संतुष्ट नहीं होती थी। लीग 'पाकिस्तान' चाहती थी, अंग्रेजों और हिंदू भारत से आजाद मुसलिम राष्ट्र।

जब 'बच्चे' ने अपने स्वर में बोलने के अपने अधिकार पर जोर दिया तो 'पिता' ने क्या प्रतिक्रिया की? 'अहसान फरोशी' का आरोप लगाया गया। वावेल ने उसे ऐसा दैत्य बताया जिसके तैयार होने में उन्होंने मदद की। माउंटबैटन ने उसे मनोरोगी बताया। विश्वासघात की भावना थी। साथ ही यह भावना थी कि जिस 'दत्तक बच्चे' के साथ क्रूर व्यवहार किया गया था उसने ही अंतिम क्षणों में दया दिखाई। लेकिन जिन्नाह और लीग कितने भी अड़ियल हों उनकी अनदेखी नहीं की जा सकती थी। उनका व्यापक जनाधार

था जो चुनावों में उनकी जीत और प्रत्यक्ष कार्रवाई के लिए उनके आह्वान पर लोगों से मिले उत्तर से साफ था।

बदली परिस्थितियों में अंग्रेज चाहते थे कि भारतीय लोग एक स्वर में बोलें। भारत छोड़ने का निर्णय ले लेने के बाद विभाजन के बजाए एकता उनके अधिक अनुकूल थी। अविभाजित भारत गांधी और भारतीयों का सपना था। वह एटली और ब्रिटिश सेनाध्यक्षों का भी सपना था। विश्व में ब्रिटिश प्रभाव के लिए यह जरूरी था। तो जाने से पहले उन्होंने विभाजन क्यों किया ?

अंग्रेज भारतीय विचार के मुख्य प्रतिनिधि होने के कांग्रेस के दावे को इस आधार पर स्वीकार कर सकते थे कि आवाजों के हो-हल्ले में उनकी आवाज अधिक स्पष्ट और तेज है। लेकिन कांग्रेस से लड़ने के लिए लीग को बढ़ावा देने की जो नीति उन्होंने पहले अपनाई थी उसकी वजह से वे भारत को अविभाजित नहीं रख सके। इसके अलावा कांग्रेस के साथ संतुलन बनाए रखने की दृष्टि से जिन्नाह का अभी भी उपयोग था। अंतरिम सरकार में लीग की मौजूदगी से वाइसरॉय को बिचौलिए की भूमिका फिर से मिल गई। अनिता इंद्रसिंह के शब्दों में उनकी अल्पकालिक युक्तियां दीर्घकालिक लक्ष्यों की प्राप्ति में बाधा बन गई।[1]

अंग्रेज एकता को तरजीह जरूर देते थे लेकिन यह उनके लिए ऐसा दृढ़ विश्वास नहीं था जिसके लिए जान देने की बात तो दूर थोड़ा सा बलिदान भी दे देते। वे गृहयुद्ध को चुपचाप फैलते देखते रहे क्योंकि इसका उन पर सीधा असर नहीं पड़ रहा था। यदि वे हिंसा का निशाना होते तो वे इस प्रकार शांत नहीं बैठते। एकता के लिए समझौता न होने पर विभाजन वास्तविक विकल्प था। यह दमन द्वारा भारत में बने रहने जैसा विकल्प नहीं था। लेकिन यह भी समाप्त हो गया था। इसलिए छोड़कर चले जाना ही एक विकल्प बचा था।

भारत के विभाजन का फैसला पिछली कार्रवाइयों और मौजूदा जरूरतों का ही परिणाम नहीं था। भविष्य की संभावनाओं ने भी इसे प्रभावित किया। अंग्रेजों को इस बारे में पक्का भरोसा नहीं था कि कांग्रेस अविभक्त भारत को राष्ट्रमंडल में उसके लिए सोची गई भूमिका अदा करने देगी। इसलिए वे भावी दोस्त के रूप में पाकिस्तान के विकल्प को छोड़ना नहीं चाहते थे। (पाकिस्तान के समर्थन या उसे मंजूर कर लिए जाने के कारण) भारतीयों की शत्रुता को यह कहकर शांत किया जा सकता है कि कांग्रेस और लीग में खत्म न होने वाले मतभेदों में एकता नहीं रखी जा सकी। यह कुछ कार्रवाई करने के बजाए कोई कार्रवाई न करने का पाप होता। महामहिम की सरकार ने आसान विकल्प अपनाया - सक्रिय हस्तक्षेप के बजाए कोई कार्रवाई नहीं या चुपचाप मंजूरी। इस प्रकार विभाजन को राष्ट्रमंडल कूटनीति के नाटक के प्रथम दृश्य तथा 'विभाजन करो और राज करो' के अंतिम दृश्य के रूप में देखा जाना चाहिए। यह भारत में ब्रिटेन के भविष्य और अतीत का हिस्सा था।

एकता के लिए अंग्रेजों की तरजीह का यह मतलब नहीं है कि विभाजन ब्रिटिश रणनीति की 'विफलता' थी। पार्थसारथी गुप्ता और अनिता इंद्रसिंह ने यही अर्थ निकाला है। रणनीति रूपी वस्त्र को राजनीतिक मापों के अनुसार काटा गया। यह सोचा गया कि दक्षिण एशिया में साम्राज्य के बाद के हित केवल पूरे किए जा सकते हैं, जब भारत राष्ट्रमंडल को प्रतिष्ठा दे और पाकिस्तान पश्चिमी ब्लाक की चौकी बन जाए। यह तर्क दिया जाता है कि अंग्रेजों को वह नहीं मिला जो वे चाहते थे और विभाजन उनके हित में नहीं था। लेकिन इससे वे भारत के विभाजन के दायित्व से मुक्त नहीं हो जाते।

विभाजन जैसी घटना यह सोचने के लिए स्वाभाविक रूप से प्रेरित करती है कि उसे कैसे टाला जा सकता था। 1937 में यू.पी. में संयुक्त मंत्रिमंडल बनाने के लिए बातचीत के विफल हो जाने का अकसर उदाहरण दिया जाता है क्योंकि 1937 के बाद ही मुसलिम लीग की तेजी से वृद्धि हुई। 1939 में कांग्रेस मंत्रिमंडलों के इस्तीफे और इसके बाद 1940-41 तथा 1942 में किए गए आंदोलनों को रणनीतिक भूल माना जाता है। युद्ध के दौरान सरकार का लीग के साथ गठजोड़ मजबूत हुआ। 1942 में कांग्रेस पर प्रतिबंध लगा दिया गया। लीग को चुनौती देने वाला कोई नहीं था और उसे अपना प्रभाव बढ़ाने का मौका मिला। 7 जुलाई 1946 को नेहरू ने बयान दिया कि संविधान सभा अपनी कार्यविधि खुद तय करेगी। ऐसा माना जाता है कि यह रणनीतिक गलती भारत को बहुत महंगी पड़ी। इसके जवाब में मुसलिम लीग ने 29 जुलाई 1946 को कैबिनेट मिशन योजना को अपनी मंजूरी वापस ले ली। नेहरू के साथियों ने भी इसकी आलोचना की। पटेल ने इसे भावुक बुद्धिहीनता का कार्य बताया। मौलाना आजाद ने विभाजन को टालने के अंतिम अवसर को गंवा देने के लिए नेहरू को उत्तरदायी ठहराया।

एक और आम धारणा यह है कि जिन्नाह को प्रधानमंत्री बनाकर विभाजन से बचा जा सकता था। गांधी ने इसका सुझाव दिया लेकिन कांग्रेस नेताओं ने इसे नामंजूर कर दिया। इससे उसकी महत्वाकांक्षा शांत हो जाती। इसी महत्वाकांक्षा के कारण वह नया देश बनाने के लिए 'पागल' हो गया था। एक अंतिम संभावित 'यदि' यह है कि यदि गांधी जन आंदोलन का आह्वान कर देते तो हिंदू और मुसलमान पहले की तरह एक हो जाते। जैसा कि हमने पहले देखा 'यदि ऐसा होता' जैसी बातें मिथक ही हैं। इनमें कोई वास्तविकता नहीं है। कांग्रेस की गलत कारणों के लिए आलोचना की जाती है। यह कहा जाता है कि उसने युक्ति संबंधी भूलें कीं। लेकिन मारक कमी केवल युक्तियों में नहीं थी बल्कि रणनीति में थी।

विभाजन में कांग्रेस की कितनी जिम्मेदारी है? बूढ़े, सत्ता के भूखे 'बुर्जुआ' नेतृत्व के 'बिक जाने' का विचार निराधार है। इसी से जुड़े इस विचार में भी कोई दम नहीं है कि गांधी के शिष्यों ने उनके साथ विश्वासघात किया। दिलचस्प बात यह है कि विभिन्न विचारों के लेखकों ने साम्राज्यवाद और सांप्रदायिकता दोनों ही मोर्चों पर कांग्रेस की नीति की

आलोचना की है। उदारवादी यह चाहते थे कि वह स्थायी रूप से संविधानवादी रहे और रेडिकल यह चाहते थे कि वह लगातार क्रांति में लगी रहे। कूपलैंड का अनुसरण करते हुए गौहर रिजवी का कहना है कि युद्ध के वर्षों के दौरान पद त्याग कर जन आंदोलन शुरू करके कांग्रेस ने लीग के लिए मैदान खाली कर दिया।[2] मूर और जलाल ने कांग्रेस को अड़ियल और सर्वसत्तावादी बताया है और उसे ही मूल रूप से विभाजन के लिए दोषी ठहराया है। 1937 में यू.पी. में संयुक्त सरकार के लिए बातचीत के टूट जाने में इसकी कथित भूमिका तथा 1946 में हिंदू-मुसलिम बराबरी को इसके द्वारा नामंजूर कर दिए जाने को इसके अड़ियल रुख की मिसाल के रूप में पेश किया जाता है।

इसके विपरीत वामपंथी यह चाहते थे कि कांग्रेस साम्राज्यवाद पर अंतिम आघात करे। उनका विश्वास था कि एकता जादू की तरह अपने आप हो जाएगी। यहां तक कि अनिता इंद्रसिंह का भी यह तर्क है कि 1946 में पद को स्वीकार करके कांग्रेस ने 'सबसे बड़ी रणनीतिक भूल' की।[3] पार्टी इस सांप्रदायिक प्रचार का लक्ष्य बन गई कि हिंदू राज लाया जा रहा है।

हमारे विचार में साम्राज्यवाद से लड़ने के लिए कांग्रेस ने जो रणनीति अपनाई वह अपने लक्ष्य अर्थात स्वतंत्रता की प्राप्ति में कामयाब रही। आखिरी चरण में इस नीति में परिवर्तन की कोई जरूरत नहीं थी। कांग्रेस ने अपने दो कार्यों अर्थात धर्म, जाति और क्षेत्र संबंधी भारी अंतर से राष्ट्र की संरचना और इस उभरते राष्ट्र को स्वतंत्रता में से दूसरे में सफलता प्राप्त की। स्वतंत्रता और विभाजन राष्ट्रीय आंदोलन की रणनीति की सफलता और विफलता को उजागर करते थे।

सांप्रदायिकता से लड़ने की रणनीति को साम्राज्यवाद विरोधी रणनीति से जोड़ने की आवश्यकता थी। इससे पूरी सफलता आजादी और एकता मिलती। लेकिन कांग्रेस ने इस ओर ध्यान नहीं दिया और सोचा कि सांप्रदायिकता का सवाल बाद में उठाया जा सकता है या साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में इसका अपने आप समाधान हो जाएगा। लेकिन राष्ट्रवाद और सांप्रदायिकता एक दूसरे से गुंथे हुए थे और अंग्रेज तथा लीग उन्हें कभी भी अलग-अलग नहीं होने देते। सांप्रदायिकता से लड़ने के उद्देश्य से उसे बौद्धिक रूप से समझने का कोई प्रयास नहीं किया गया जैसा कि उपनिवेशवाद को समझने के लिए राष्ट्रवादियों की पीढ़ियों ने किया था। नेहरू की पीढ़ी ने इससे समझौते की कोशिश की लेकिन वह विभिन्न अवस्थाओं में इसके विविध स्वरूप को समझ न सकी। अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता के उग्रवादी, जन सामान्य और फासीवादी चरण में चले जाने के बाद रियायत के तरीके ने भी काम करना बंद कर दिया। यह ज्वार के समय रेत के बांध बनाने जैसी बात थी।

यह बात अकसर भुला दी जाती है 1947 में नेहरू, पटेल और गांधी राष्ट्रीय आंदोलन में मुसलिम आवाम को खींच लाने और मुसलिम सांप्रदायिकता के ज्वार को थाम पाने में कांग्रेस की दीर्घकालिक विफलता को ही स्वीकार कर रहे थे। इस ज्वार की भयंकरता

1937 से बहुत तेजी से बढ़ रही थी। कांग्रेस की विफलता 1946 के चुनावों में बिलकुल साफ हो गई। लीग ने 90 प्रतिशत मुसलिम सीटें जीत लीं। जिन्नाह से लड़ाई 1946 के आरंभ में हारी जा चुकी थी। लेकिन हार कलकत्ता और रावलपिंडी की सड़कों और नोआखाली तथा बिहार के गांवों की गलियों में बेदर्दी के साथ की गई अंतिम लड़ाई के बाद ही स्वीकार की गई। अप्रैल 1947 में कांग्रेस नेताओं ने समझ लिया कि सत्ता के तुरंत हस्तांतरण द्वारा ही सीधी कार्रवाई और सांप्रदायिक उपद्रवों को फैलने से रोका जा सकता है।

अंतरिम सरकार के लगभग ठप्प हो जाने से भी पाकिस्तान न टाली जा सकने वाली हकीकत लगने लगा था। 14 जून 1947 को ए आई सी सी की बैठक में पटेल ने तर्क दिया कि उन्हें यह तथ्य स्वीकार करना होगा कि पाकिस्तान पंजाब, बंगाल और अंतरिम सरकार में काम कर रहा है। नेहरू अंतरिम सरकार को संघर्ष का अखाड़ा बना दिए जाने से बहुत दुखी थे। मंत्री आपस में झगड़ते थे और निर्णय लेने के लिए अलग-अलग मिलते थे। वित्त सदस्य के रूप में लियाकत अली खान ने दूसरे मंत्रालयों को पंगु बना दिया। अंतरिम सरकार के पास गवर्नरों द्वारा लीग को शह दिए जाने तथा दंगों के मामले में प्रांतीय सरकार की निष्क्रियता और यहां तक कि उसकी मिलीभगत को रोकने के लिए कोई शक्ति नहीं थी। नेहरू ने कहा कि जब कत्लेआम को नहीं रोका जा सकता तो अंतरिम सरकार में बने रहने की क्या तुक है। सत्ता के तत्काल हस्तांतरण से वह नियंत्रण तो मिलेगा जो अब नहीं मिल रहा है।

दो डोमिनियनों को सत्ता हस्तांतरण का एक कारण और था। बाल्कनीकरण की आशंका भी नहीं रह गई थी। प्रांतों और राजाओं को स्वतंत्रता का विकल्प नहीं दिया गया था। राजाओं को तो किसी न किसी डोमिनियन में शामिल हो जाने के लिए मनाया और धमकाया गया। यह कम उपलब्धि नहीं थी। रजवाड़ों के अलग होने से पाकिस्तान के बजाए भारत की एकता पर ज्यादा आघात होता।

इस प्रकार 1947 में विभाजन का स्वीकार कर लिया जाना प्रभुता संपन्न मुसलिम देश के लिए मुसलिम लीग की जिद के सामने कदम दर कदम रियायतों की प्रक्रिया का अंतिम चरण था। मुसलिम बहुल प्रांतों को स्वायत्तता की बात 1942 में क्रिप्स मिशन के समय ही मान ली गई थी। गांधी ने एक और कदम आगे बढ़ाते हुए 1944 में जिन्नाह के साथ बातचीत में मुसलमानों के आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार कर लिया था।

जून 1946 में कांग्रेस ने मुसलिम बहुल प्रांतों (जो कैबिनेट मिशन योजना के समूह बी और सी में आते थे) द्वारा अलग संविधान सभा बनाए जाने की संभावना को स्वीकार किया। लेकिन अनिवार्य रूप से समूह बनाने का विरोध करते हुए एन डब्ल्यू एफ पी और असम के इस अधिकार को मंजूर किया कि यदि वे न चाहें तो अपने समूह में शामिल न हों। वर्ष के अंत में नेहरू ने कहा कि समूह बनाना अनिवार्य है या वैकल्पिक इस बारे में वे फेडरल कोर्ट के फैसले को मंजूर कर लेंगे। दिसंबर 1946 में कैबिनेट ने बगैर किसी

आपत्ति के कैबिनेट के इस स्पष्टीकरण को स्वीकार कर लिया कि समूह बनाना अनिवार्य है। कांग्रेस ने अधिकृत रूप से मार्च 1947 के शुरू में विभाजन का जिक्र किया जब कांग्रेस कार्य समिति ने एक संकल्प पास किया कि यदि देश का विभाजन होता है तो पंजाब (बंगाल भी शामिल) का भी विभाजन हो। लीग की मांगों के सामने झुकने की अंतिम कार्रवाई जून 1947 में हुई जब कांग्रेस ने 3 जून की योजना के तहत विभाजन को स्वीकार कर लिया।

नेताओं के जोश भरे शब्द कांग्रेस के त्रासद पलायन के बिलकुल उलटे थे। संविधान सभा की प्रभुसत्ता का जोरदार समर्थन करते हुए कांग्रेस ने अनिवार्य समूहन को चुपचाप स्वीकार कर लिया और एन डब्ल्यू एफ पी पाकिस्तान को दे दिया। इसी प्रकार कांग्रेस नेताओं ने अंततः विभाजन को स्वीकार कर लिया क्योंकि वे दंगों को नहीं रोक सके। लेकिन बातों में वे यही कहते रहे कि हम हिंसा के ब्लैक मेल के आगे नहीं झुकेंगे। 22 अगस्त 1946 को नेहरू ने जोर देकर कहा कि 'हम हत्यारों से हाथ नहीं मिलाएंगे और न ही उन्हें देश की नीति तय करने देंगे।'

वे इस वास्तविकता को मंजूर नहीं कर रहे थे कि अतीत में उनकी विफलता को इस समय शब्दों या कार्रवाई से नहीं बदला जा सकता। किसी ने भी यह नहीं सोचा था कि यह त्रासदी इतनी तेजी से आएगी। कोई यह मानने को भी तैयार नहीं था कि इसे टाला नहीं जा सकता था। यह सचाई है कि आजादी के अगले दिन सीमा के दोनों ओर लाखों लोग अपने ही घरों में विदेशी बन गए।

यह सही है कि भारत के विभाजन के निर्णय को गांधी द्वारा स्वीकार कर लिए जाने के साथ हमारी कहानी समाप्त हो जानी चाहिए क्योंकि इसके बाद और कोई विकल्प रह ही नहीं गया था। इतनी अधिक हिंसा के माहौल में आंदोलन का आह्वान करने का भी कोई सवाल नहीं था। लोगों के संप्रदायीकरण के सामने गांधी असहाय हो गए। उन्होंने कहा कि अहिंसा का मार्ग भले ही ठीक तरह से न अपनाया गया हो लेकिन इसने आजादी दिलाई। परंतु यह हिंदू-मुसलिम एकता नहीं ला सका। जिस व्यक्ति ने पहले यह चुनौती दी थी कि देश का विभाजन करने वालों को पहले उनकी हत्या करनी होगी उसी व्यक्ति ने विभाजन को ए आई सी सी द्वारा स्वीकार कर लिए जाने का सार्वजनिक रूप से समर्थन किया।

इस पुस्तक में गांधी के कार्यों और उनके लेखन पर बराबर फोकस रखा गया है। लेकिन इससे भी ज्यादा जो कुछ हो रहा था उसके कारणों और नतीजों के बारे में गांधी की समझ ने कसौटी का काम किया है। आखिरकार वे ही राष्ट्रीय आंदोलन का साकार रूप थे और वे ही इसके निर्विवाद नेता थे क्योंकि भारतीय आवाम विशेष रूप से अपने विरोधियों के बारे में उनकी समझ अद्वितीय थी।

II

दुर्भाग्य से 1947 को दुख की घड़ी या कवि के शब्दों में 'कलंकित सुबह' के रूप में देखने की प्रवृत्ति रही है। हर सुबह पांडित्यपूर्ण लेखों में हमें याद दिलाया जाता है कि भारत की पचासवीं वर्षगांठ समारोह मनाने का अवसर नहीं है बल्कि शोक, कुछ याद करने का अवसर है। यह अधूरी सचाई है। यदि विभाजन शताब्दी का सबसे बड़ा सदमा था तो स्वतंत्रता बहुत बड़ा मोड़ था।

अधिकांश लेखन में यह स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी गई कि स्वतंत्रता क्यों मिली, मानो कि यह तो होना ही था। साम्राज्यवादियों ने दावा किया कि उन्होंने भारत को स्वयं सरकार के लिए नीति अपनाई। इसी की परिणति स्वतंत्रता के रूप में हुई। जबकि राष्ट्रवादियों का दावा था कि स्वतंत्रता ने उनके इस नैतिक रवैए को सही साबित कर दिया कि विदेशी शासन अस्वाभाविक है और उसे समाप्त होना चाहिए। ये दोनों अपने आप में साफ सचाई थी जिनके लिए किसी भी प्रकार की व्याख्या, वर्णन या विश्लेषण की जरूरत नहीं थी। विभाजन ऐसी बात है जो कि नहीं होनी चाहिए थी। इसलिए उसकी व्याख्या की जरूरत है। व्याख्याएं विश्लेषकों की विचारधारात्मक अभिरुचियों के अनुसार अलग-अलग हैं। विभाजन के बारे में यह कहा गया है कि यह फूट डालो और राज करो नाटक का अंतिम अंक था या हिंदू और मुसलमानों की लंबे समय से चली आ रही दुश्मनी का स्वाभाविक परिणाम था या समझौतापरस्त, बुर्जुआ राष्ट्रवादी नेतृत्व द्वारा किया गया विश्वासघात था।

ये व्याख्याएं 15 अगस्त 1947 की जटिल, परस्पर विरोधी वास्तविकता को नहीं समझतीं। ये यह नहीं समझतीं कि स्वतंत्रता और विभाजन एक समग्र चीज के हिस्से, जुड़वां, सांयोगिक तत्व हैं। हमारे विचार से स्वतंत्रता-विभाजन का विरोधाभास इस विरोधाभास को प्रतिबिंबित करता है कि राष्ट्रवादी आंदोलन सफल भी था और विफल भी। राष्ट्रीय आंदोलन को दोहरा कार्य करना था— वर्गों, समुदायों और क्षेत्रों की राष्ट्र के रूप में संरचना और इस उभरते राष्ट्र के लिए उपनिवेशवादी शासन से आजादी। राष्ट्रवादी आंदोलन आजादी छीनने के लिए पर्याप्त राष्ट्रीय चेतना तो जगा सका लेकिन राष्ट्र निर्माण की प्रक्रिया पूरी नहीं हो सकी। राष्ट्रीय आंदोलन चलाने वाली पार्टी कांग्रेस देश को एक नहीं रख सकी। 15 अगस्त 1947 एक जटिल, परस्पर विरोधी वास्तविकता का प्रतीक है। कड़ी मेहनत के पुरस्कारस्वरूप स्वतंत्रता तो मिली लेकिन खून से रंगे त्रासद विभाजन ने उभरते राष्ट्र के ताने-बाने को चीर-चीर कर दिया।

नियत दिन 15 अगस्त 1947 को गांधी कलकत्ता में थे और नेहरू नई दिल्ली में। वे देशवासियों की परस्पर विरोधी भावनाओं को प्रकट कर रहे थे। हत्याकांड की समाप्ति के लिए गांधी द्वारा पूरे दिन की गई चुपचाप प्रार्थनाएं हत्याओं, बलात्कारों और अपहरणों को उजागर कर रही थीं। दूसरे लोग वाह, नोआखाली, मसौढ़ी, जहानाबाद या अन्य स्थानों में

चौकियों पर थे जहां कुछ लोग दूसरे लोगों को केवल इसलिए मार रहे थे कि वे दूसरे भगवान में विश्वास करते थे। जवाहरलाल नेहरू ने नई सुबह, स्वतंत्र भारत के जन्म की ओर इशारा किया। 'आधी रात के समय जब शेष विश्व सो रहा होगा, भारत प्रकाश और स्वतंत्रता में कदम रखेगा।' उनके आह्वानकारी शब्दों 'बहुत साल पहले नियति से हमारी पूर्व निश्चित भेंट हुई' ने लोगों को याद दिलाया कि उनकी गुस्से भरी घबराहट ही एकमात्र सचाई नहीं है। इससे भी बड़ा सच है और वह सच है एक शानदार संघर्ष जिसमें बहुत से लोगों ने इस विश्वास के साथ अपने प्राण न्योछावर कर दिए और दूसरे लोगों ने बलिदान किए कि एक दिन भारत आजाद होगा।

ऐसे क्षण रहे होंगे जब विभाजन से क्षत-विक्षत भूमि पर धर्मनिरपेक्ष राज्य व्यवस्था कायम करना असंभव लगा हो। चमत्कार ही है कि भवन बना और वह आज भी खड़ा है। जबर्दस्त धैर्य, जबर्दस्त व्यक्तिगत साहस और तकलीफ से उबरने का दृढ निश्चय केवल गांधी और नेहरू ही नहीं बल्कि ग्राम और तालुका स्तर पर साधारण कांग्रेस कार्यकर्ता की भी विशेषताएं थीं। नेहरू अकसर मैदान में कूद पड़ते थे और दंगाइयों को चुनौती देते थे कि किसी मुसलमान को नुकसान पहुंचाने से पहले वे उन्हें मारें। आई एन ए के शाहनवाज मसौढ़ी, बिहार में रक्षक बन गए। कलकत्ता और दिल्ली में हिंसा को शांत करने के लिए गांधी ने उपवास किया। सुशीला नायर एन डब्ल्यू एफ पी में वाह शिविर में बेघर शरणार्थियों के लिए दया की देवी बन गईं। देहरादून में मुसलमान मोहल्लों को हमले से बचाने के लिए कांग्रेस कार्यकर्ता छतों पर पहरा देते रहे। उनके कार्यों ने सांप्रदायिक हिंसा को पूर्व में यू.पी. और बिहार के गांवों में फैलने से रोका। नेहरू और पंत को डर था कि यहां यह हिंसा बेकाबू प्रेयरी आग बन जाती। गुमनाम कांग्रेसी कार्यकर्ताओं ने जहानाबाद में गांधी के अहिंसा के संदेश को फैलाया। इन्होंने तथा दूसरे जिलों में कांग्रेसजनों ने यदि सांप्रदायिक जहर को न रोका होता तो बिहार में बहुत भयानक कार्य होता। इस समय हिंदू और मुसलमान संप्रदायवादी घृणा फैला रहे थे। रावलपिंडी, कसूर और नोआखाली में हिंदू स्त्रियों पर अत्याचार की सचित्र पुस्तिकाएं प्रांत से गुजरने वाली 'कुली ट्रेनों' में फेंकी गईं। स्थानीय उर्दू प्रेस ने आह्वान किया कि पाकिस्तान द्वारा भारत पर हमले की हालत में आम मुसलमान हिंदू राज के खिलाफ खड़ा हो जाए।

हम अकसर यह भूल जाते हैं कि कांग्रेस द्वारा पाकिस्तान की मंजूरी कितनी भी दुर्भाग्यपूर्ण हो लेकिन इसका यह मतलब नहीं है कि उसने पाकिस्तान के आधार दो राष्ट्रों के सिद्धांत को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस ने विभाजन को अपरिहार्य मानकर उसे खेदपूर्वक मंजूर कर लिया था लेकिन उम्मीद कायम रखी, 'चमचमाते पर्वत शिखर पर पहुंचने से पहले हमें अकसर अंधेरी घाटी से गुजरना पड़ता है।' यह नेहरू ने करिअप्पा को लिखा। उसने न तो सांप्रदायिकता के खिलाफ लड़ाई में हार मानी और न ही अपने धर्मनिरपेक्ष सिद्धांतों को बलि चढ़ाया। नवंबर 1947 के शुरू में नरकटियागंज, चंपारण, बिहार में

अपने एक भाषण में कम्युनिस्ट किसान नेता कार्यानंद शर्मा ने चेतावनी दी कि 'हिंदू राज का नारा लगाकर लोग मि. जिन्ना के दो राष्ट्रों के सिद्धांत का ही समर्थन करेंगे जो अभी भी गांधी और नेहरू को स्वीकार्य नहीं है।' नेहरू ने यह समझ लिया था कि सांप्रदायिकता कानून और व्यवस्था के लिए ही नहीं बल्कि भारत देश के धर्मनिरपेक्ष रूप के लिए भी खतरा है। पहले मुसलिम संप्रदायवादियों ने कोशिश की थी कि कांग्रेस अपनी धर्मनिरपेक्षता को छोड़ दे। लेकिन वह विभाजन के लिए ही कांग्रेस की मंजूरी ले सकी दो राष्ट्रों के सिद्धांत के लिए नहीं। मुसलिम संप्रदायवादियों ने जिस जगह अपनी लड़ाई छोड़ी उसे उस जगह हिंदू संप्रदायवादियों ने पकड़ लिया और धर्मनिरपेक्ष भारत के निर्माण में तोड़-फोड़ की कोशिश की। यदि कांग्रेस हिंदू राज स्थापित करने के लिए दबाव के सामने झुक जाती तो यह सांप्रदायिक ताकतों के लिए पूरी विजय होती और उन्हें पाकिस्तान के निर्माण से भी बड़ा इनाम मिल जाता।

संदर्भ और टिप्पणियां

1. सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 250.
2. गौहर रिजवी, 'ट्रांसफर आफ पावर इन इंडिया : ए रिस्टेटमेंट आफ एन आल्टरनेटिव एप्रोच', *जर्नल आफ कंटेंपोरेरी हिस्टरी*, 2 जनवरी 1984, पृ. 127-44.
3. सिंह, *ऑरिजिन्स आफ पार्टिशन*, पृ. 251.

परिशिष्ट

होमइन से सभी प्रांतों को तार सं 2080, नई दिल्ली, 27 फरवरी 1946 के उत्तरों का सारांश

प्रांत : क्या गड़बड़ी संगठित रूप से पैदा करने या उसका लाभ उठाने के प्रमाण हैं और यदि हां तो किन वर्गों ने ऐसा किया ?

बंबई : गड़बड़ी कांग्रेस के भाषणों में हिंसा और विद्रोह की बार बार सराहना तथा आई एन.ए. के विशेष रूप से तथा विद्रोहात्मक कार्रवाई के आम तौर पर महिमामंडन के कारण हुई। बंबई में गड़बड़ी कांग्रेस समाजवादी पार्टी ने कराई और इसका लाभ कम्युनिस्टों ने उठाया। गुंडे प्रमुख सक्रिय तत्व थे।

सिंध : गड़बड़ी संगठित रूप से कराने अथवा उसका लाभ उठाने का अभी तक कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिला है। आम धारणा यह है कि इसके पीछे कम्युनिस्ट थे और कांग्रेस को उनके साथ सहानुभूति थी।

मद्रास : गड़बड़ी संगठित रूप से पैदा करने का कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन कम्युनिस्टों ने इसका लाभ उठाया। कांग्रेस और कम्युनिस्ट दोनों ही पार्टियों के नेताओं ने गड़बड़ी के लिए वातावरण पैदा कर दिया। भीड़ को बंबई और कलकत्ता में गड़बड़ी का उदाहरण देकर भड़काया गया।

बंगाल : गड़बड़ी आई.एन.ए. और 1942 में कांग्रेस विद्रोह की प्रशंसा में प्रचार से उत्पन्न सरकार विरोधी तीव्र भावना के कारण हुई। एक जगह कांग्रेस ने तथा दूसरी जगह मुसलिम लीग ने गड़बड़ी शुरू की। दोनों ही जगह कम्युनिस्टों तथा कुछ आतंकवादी समूहों ने जानबूझकर इसका लाभ उठाया।

पंजाब : यह गड़बड़ी ढुलमुल और तुष्टीकरण की नीति तथा ब्रिटिश सरकार को बदनाम करने के लिए प्रेस और सार्वजनिक वक्ताओं को मिली आजादी तथा हड़तालों के खिलाफ सख्त कार्रवाई के अभाव तथा विद्रोह की व्यर्थता न दिखा पाने की तार्किक परिणति थी। जनमत के विरुद्ध आई एन.ए. मुकदमे चलाने के निर्णय को भी गड़बड़ी का कारण बताया गया है। पंजाब में सभी गड़बड़ियों में छात्रों ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

बिहार : प्रेस तथा सार्वजनिक भाषणों में सरकार विरोधी अभियान का कटु स्वर और छात्रों की गतिविधियां गड़बड़ी का कारण थीं। रूसी पैसे की मदद से कम्युनिस्टों द्वारा इसमें हिस्सा लिए जाने का भी संदेह है।

सी.पी. : सशस्त्र बलों की निष्ठा को तोड़ने के लिए कुछ संगठित प्रयास किया गया। लेकिन जबलपुर में हड़ताल बाहरी तत्वों द्वारा उकसाए जाने के बारे में कोई निश्चित सूचना नहीं है।

फॉरवर्ड ब्लॉक के नेता विद्रोहियों का सक्रिय समर्थन कर रहे हैं और कांग्रेस खाद्य स्थिति का लाभ उठा रही है।

उड़ीसा : रेलवे या डाक व तार विभाग में मजदूर अशांति पैदा करने या उसे बढ़ावा देने के राजनीतिक पार्टियों के प्रयासों के बारे में कोई प्रमाण नहीं है। लेकिन कांग्रेस और कम्युनिस्ट राजनीतिक उद्देश्यों के लिए असंतोष का लाभ उठा सकते हैं। दोनों ही खाद्य स्थिति को सरकार पर आक्रमण का उद्देश्य बना रहे हैं।

एन.डब्ल्यू.एफ.पी. : कोई टिप्पणी नहीं।

यू.पी. : कोई टिप्पणी नहीं।

प्रांत : इस कार्रवाई को रोकने तथा संगठित भड़कावे के निवारण के लिए आप किन उपायों की सिफारिश करते हैं ?

बंबई : प्रमुख आंदोलनकर्ताओं की धड़पकड़ और अवांछित प्रचार पर नियंत्रण। चुनावों तथा सभी पार्टियों को उचित अवसर देने की वांछनीयता के मद्देनजर अभी तक इस कार्रवाई से बचा गया है।

सिंध : कम्युनिस्ट नेताओं को दंड प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के तहत गिरफ्तार किया जाएगा और उनकी बैठकों को नियंत्रित किया जाएगा।

मद्रास :
1. सशस्त्र रिजर्व पुलिस को मजबूत बनाया जाए।
2. पुलिस को बेहतर परिवहन सुविधा दी जाए।
3. 1920 के मद्रास बाल अधिनियम के अंतर्गत लावारिसों और भटके हुओं से निपटा जाए।
4. प्रेस सलाहकार समिति में समाचारपत्रों को शामिल किए जाने के बारे में उससे परामर्श किया जाए ताकि गड़बड़ी के बारे में सही विवरण दिया जा सके।

बंगाल : संगठन पर प्रतिबंध लगाने के लिए आपराधिक विधि संशोधन अधिनियम का प्रयोग वांछनीय नहीं है क्योंकि इससे आंदोलन होगा जिसमें सभी पार्टियां हिस्सा लेंगी तथा इसका मकसद ही विफल हो जाएगा। सामान्य कानून का सहारा लेना ही बेहतर होगा। कुछ समाचारपत्रों में तथा पर्चों के रूप सरकुलेट की गई उत्तेजक सामग्री के विरुद्ध कार्रवाई की जा रही है। पुलिस के विस्तार और उसे उपकरणों से लैस करने के लिए कार्रवाई की जा रही है।

पंजाब : छात्रों का जहां तक संबंध है, उनके कॉलेजों को बंद करने के अलावा और कोई चारा नहीं है। पार्टियों के खिलाफ कार्रवाई का जहां तक सवाल है, कांग्रेस मुख्य शत्रु है। इसे बगैर किसी बाधा के खुले आम काम करते रहने देना और सी.एस.पी. या कम्युनिस्ट पार्टी जैसे छोटे संगठनों पर प्रतिबंध लगाना गलत होगा। कैबिनेट मिशन की समाप्ति तक पुलिस के मनोबल को ऊंचा करने, उसकी सेवा स्थितियों को सुधारने तथा देश में ब्रिटिश की संख्या बढ़ाने के सिवाय कुछ नहीं किया जा सकता।

बिहार : उत्तेजक प्रेस सामग्री और भाषणों के खिलाफ कार्रवाई की जाए और जहां कहीं गड़बड़ी की आशंका हो वहां पर पुलिस की पर्याप्त व्यवस्था हो।

सी.पी. : फॉरवर्ड ब्लॉक और कम्युनिस्ट नेताओं जैसे कि रुइकर के खिलाफ कार्रवाइ आवश्यक है।

उड़ीसा : आगे की घटनाओं मे भारत रक्षा नियमों की निवारक धाराओं के प्रयोग का औचित्य सिद्ध हो सकता है।

एन.डब्ल्यू.एफ.पी. : कोई टिप्पणी नहीं।

यू.पी. : कोई टिप्पणी नहीं।

संदर्भ सूची

I. प्रमुख स्रोत

क. अभिलेखागार की मामग्री

आंध्र प्रदेश राज्य अभिलेखागार, हैदराबाद, भारत

हिस्ट्री आफ फ्रीडम स्ट्रगल आफ आंध्र प्रदेश पेपर्स.

बिहार राज्य अभिलेखागार, पटना, भारत

गवर्नमेंट आफ बिहार, पालिटिकल (स्पेशल) डिपार्टमेंट रिकाड्‌र्स, 1942-47.

फ्रीडम मूवमेंट पेपर्स—सेलेक्शन फ्राम प्रोविंसियल गवर्नमेंट एंड कलेक्टरेट रिकाड्‌र्स.

इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन, इंगलैंड.

इंडियन पालिटिकल इंटेलिजेंस रिकाड्‌र्स, 1937-47, आई ओ आर एल/पी एंड जे/12 सीरीज.

महाराष्ट्र राज्य अभिलेखागार, बंबई, भारत

होम स्पेशल डिपार्टमेंट, 1942-45.

भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार (एन ए आई), नई दिल्ली, भारत

कैबिनेट पेपर्स, इंडिया कांस्टीट्यूशन पेपर्स, सी ए बी 127/115, पब्लिक रिकार्ड आफिस, एन ए आई एक्सेशन सं. 6784, माइक्रोफिल्म.

गवर्नमेंट आफ इंडिया रिकाड्‌र्स, होम पालिटिकल डिपार्टमेंट, 1943-47 और होम डिपार्टमेंट, 1945-47.

प्राइम मिनिस्टर्स पेपर्स, पी आर ई एम 8 सीरीज फार एटलीज प्रीमियरशिप, फाइल्स 574-82, पब्लिक रिकार्ड आफिस, एन ए आई एक्सेशन सं. 4049.

यूनाइटेड स्टेट्स डिपार्टमेंट सेंट्रल फाइल्स (कानफिडेंशियल) इंडिया : इंटरनल एफेयर्स, 1945-49, एन ए आई एक्सेशन सं. 5484.

वार स्टाफ डिपार्टमेंट पेपर्स, आई ओ आर एल/डब्ल्यू एस/1/1/748, 1040, एन ए आई एक्सेशन सं. 4355 और 4356.

नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत

कैबिनेट पेपर्स (सेलेक्शन) 1942-45, जैरोक्स कापियां।

एल/पी एंड जे/10 सीरीज, ट्रांसफर आफ पावर, इंडिया आफिस रिकाड्‌र्स (आई ओ आर), माइक्रोफिल्म.

आर/3/I सीरीज, प्राइवेट सेक्रेटरी आफ वाइसरायज आफिस पेपर्स, माइक्रोफिल्म.

सचिवालय अभिलेख कक्ष, त्रिवेंद्रम, भारत

ट्रावनकोर गवर्नमेंट रिकार्ड्स, 1942-47.

तमिलनाडु राज्य अभिलेखागार, मद्रास, भारत

गवर्नमेंट आफ मद्रास, अंडर सेक्रेटरीज सेफ फाइल्स एंड पब्लिक डिपार्टमेंट रिकार्ड्स (वार,प्रेस एंड कान्फिडेंशियल सेक्शन्स), 1943 47.

ख. संस्थागत अभिलेख

आरकाइव्ज कंटेंपरेरी हिस्ट्री, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, भारत

डाक्यूमेंट्स आफ दि कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया.

भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार (एन ए आई), नई दिल्ली, भारत

लेबर पार्टी आरकाइव्ज, इंटरनेशनल डिपार्टमेंट, पेपर्स ऑन इंडिया, वाल्यूम 2, जनरल कॉरेसपोंडेंस आई डी/आई एन डी/1.

नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत

आल इंडिया कांग्रेस कमेटी पेपर्स.

बांबे प्रोवेंशियल कांग्रेस कमेटी पेपर्स.

महाकौशल प्रोवेंशियल कांग्रेस कमेटी पेपर्स

आल इंडिया हिंदू महासभा पेपर्स.

ग. मौखिक साक्ष्य

नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत

(क) ट्रांस्क्रिप्ट्स मैनुस्क्रिप्ट सेक्शन.

कमलादेवी चट्टोपाध्याय.

अब्दुल मजीद खान.

एच के. मेहताब.

के.एम. मुंशी.

एच.एम. पटेल.

शांतिलाल शाह.

मोहम्मद युनुस.

(ख) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के इतिहास के बारे में आई सी एस एस आर प्रोजेक्ट के तत्वावधान में इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के प्रोफेसर बिपन चंद्रा के नेतृत्व में लेखिका और उसके साथियों द्वारा लिए गए इंटरव्यू. प्रतिलिपि प्रो. बिपन चंद्रा के पास उपलब्ध है.

कर्नल महबूब अहमद, पटना के साथ इंटरव्यू, नवंबर 1985.

वाई.बी. चव्हाण, नई दिल्ली के साथ इंटरव्यू, 2 मई 1984.

मृणालिनी देसाई, बंबई के साथ इंटरव्यू, 22 मई 1985
निरंजन सिंह गिल, अमृतसर के साथ इंटरव्यू, 2 और 3 अप्रैल 1985.
शिरूभाऊ लिमए, पुणे के साथ इंटरव्यू, 5 जून 1985.
विश्वनाथ प्रसाद मर्दना, लखनऊ के साथ इंटरव्यू, 20 और 21 अप्रैल 1986.
पारसनाथ मिश्रा, लखनऊ के साथ इंटरव्यू, 20 और 21 अप्रैल 1986.
लालभाई दयाभाइ नायक, नवसारी (गुजरात) के साथ इंटरव्यू, 27 जून 1985
अन्नादादा नारदे, बंबई के साथ इंटरव्यू, 25 मई 1985
वी.एस. पागे, बंबई के साथ इंटरव्यू, 7 जून 1985.
वसंत दादा पाटिल, बंबई के साथ इंटरव्यू, 14 जून 1985.
अच्युत पटवर्धन, बंगलौर के साथ इंटरव्यू, 9 दिसंबर 1984.
जी.पी प्रधान, पुणे के साथ इंटरव्यू, 6 जून 1985.
लक्ष्मी सहगल, कानपुर के साथ इंटरव्यू, 27 सितंबर 1986
पी के. सहगल, कानपुर के साथ इंटरव्यू, 23 सितंबर 1986.
जयंती ठाकुर, अहमदाबाद के साथ इंटरव्यू, 7 और 8 जुलाई 1985.

घ. निजी पेपर

कैंब्रिज साउथ एशिया, आरकाइव्ज, कैंब्रिज, यू के

ए.जी.वी. आर्थर पेपर्स.

जे.एम.जी. बेल पेपर्स.

एच.बी. मार्टिन पेपर्स.

चर्चिल कालेज आरकाइव, कैंब्रिज, यू के

अर्नेस्ट बेविन पेपर्स

इंडिया आफिस लाइब्रेरी, लंदन, यू के

विलफ्रेड रसेल कलेक्शन.

भारतीय राष्ट्रीय अभिलेखागार (एन ए आई), नई दिल्ली, भारत

एटली पेपर्स (माइक्रोफिल्म).

एन.के. बोस पेपर्स.

करोए कलेक्शन, आई ओ आर एम एस एस. युर. डी 670/21 और 23, एन ए आई एक्सेशन सं. 4244.

गांधी जी के पेपर्स.

पंजाब के गवर्नर, जेनकिन्स का ममदोत के खान के साथ पत्राचार, अप्रैल- जून 1947, आई ओ आर/3/1/177, एन ए आई एक्सेशन सं. 4121.

ह्यूम कलेक्शन, आई ओ आर एम एस एस. युर. डी. 724/12, 13, 29, 30 और 31, एन ए आई एक्सेशन संख्या 2041.

एम.आर. जयकर पेपर्स.

किंग्सले मार्टिन पेपर्स, यूनिवर्सिटी आफ ससेक्स लाइब्रेरी, जेरोक्स प्रतियां.

लिस्टोवेल-माउंटबैटन पत्राचार, आई ओ आर एम एस एस. युर. सी. 357, वॉल्यूम ए और बी, अप्रैल से अगस्त 1947. एन ए आई एक्सेशन सं. 4203.

मडी कलेक्शन, आई ओ आर एम एस एस युर. एफ 164/10, 11, 12, 15, 17, 40, एन ए आई एक्सेशन सं. 4231. 4232 और 4234.

के.एम. पणिक्कर पेपर्स.

पैथिक-लॉरेंस कलेक्शन, आई ओ आर एम एस एस. युर. 540/1 और 2, एन ए आई एक्सेशन सं. 4781.

राजेंद्र प्रसाद पेपर्स.

सर सीताराम पेपर्स.

संपूर्णानंद पेपर्स.

पी.डी. टंडन पेपर्स.

नेहरू स्मारक, संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत

होरेस अलैक्जेंडर पेपर्स

बी.आर. अंबेडकर पेपर्स.

एस.ए. बरेलवी पेपर्स.

भूलाभाई देसाई पेपर्स.

सुधीर घोष पेपर्स.

हेग पेपर्स (माइक्रोफिल्म).

राजकुमारी अमृत कौर पेपर्स

बी.जी. खेर पेपर्स.

जे.बी. कृपलानी पेपर्स.

लिंलिथगो पेपर्स (माइक्रोफिल्म).

सैयद महमूद पेपर्स.

युसुफ मेहरअली पेपर्स.

रामनंदन मिश्रा पेपर्स.

बी.एस. मुंजे पेपर्स (माइक्रोफिल्म).

माउंटबैटन पेपर्स-इंडिया-सरकारी वाइसरायीय पत्राचार, 1947-48 (माइक्रोफिल्म).

जयप्रकाश नारायण पेपर्स.

जवाहरलाल नेहरू पेपर्स.

नानकचंद पंडित पेपर्स.

जी.बी. पंत पेपर्स (माइक्रोफिल्म).

श्री प्रकाश पेपर्स.

बी. शिवराव पेपर्स.

बी.सी. राय पेपर्स.

एम.एन. राय पेपर्स (माइक्रोफिल्म).

सी.बी. अमतस सलाम पेपर्स.

टी.बी. सपरु पेपर्स (माइक्रोफिल्म).

सहजानंद सरस्वती पेपर्स (माइक्रोफिल्म).
वी.एस. श्रीनिवास शास्त्री पेपर्स.
डी.जी. तेंदुलकर पेपर्स.
पुरुषोत्तम दास ठाकुरदास पेपर्स.
जेतलैंड पेपर्स (माइक्रोफिल्म).
नफील्ड कॉलेज, आक्सफोर्ड, यू के
स्टैफोर्ड क्रिप्स पेपर्स.

ङ. प्रकाशित प्राथमिक स्त्रोत

सरकारी प्रकाशन

संसदीय वाद विवाद (हंसर्ड), केंद्रीय सचिवालय पुस्तकालय, नई दिल्ली.
ग्रेट ब्रिटेन, भारत की कैबिनेट मिशन, भारत को मिशन से संबंधित पेपर, 1946, दिल्ली 1946.
कांस्टीट्यूशनल रिलेशन्स बिटविन ग्रेट ब्रिटेन एंड इंडिया, ट्रांसफर आफ पावर, 1942-47, संपादक एन. मानसर्घ, ई.डब्ल्यू.आर. लंबी और ई.पी मून, वॉल्यूम 1-12, लंदन, 1970-1983
टुवर्ड्स फ्रीडम : डाक्यूमेंट्स आन दि मूवमेंट फार इंडिपेंडेंस इन इंडिया, 1943-44, पार्ट 1-3, संपादक पार्थसारथी गुप्ता, दिल्ली, 1997.

राजनीतिक दलों के कागजात

अधिकारी, जी., *कम्युनिस्ट पार्टी एंड इंडियाज पाथ टू नेशनल रिजेनेरेशन एंड सोशलिज्म*, नई दिल्ली, 1964.
चटर्जी, एन.सी., *हिंदू पालिटिक्स—दि मैसेज आफ दि महासभा—कलेक्शन आफ स्पीचेज एंड एडरेसिज बाई एन.सी. चटर्जी, कार्यवाहक अध्यक्ष, बंगाल प्रोविंसियल हिंदू महासभा और उपाध्यक्ष, अखिल भारतीय हिंदू महासभा*, कलकत्ता, 1944.
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, *रेजोल्यूशन्स ऑन इकोनोमिक पालिसी, प्रोग्राम एंड अलाइड मैटर्स, 1924-1969*, नई दिल्ली, 1969.
———, *मार्च 1940 टु सितंबर 1946 : बींग दि रेजोल्यूशन्स पास्ड बाई दि कांग्रेस, दि ए आई सी सी एंड दि वर्किंग कमेटी*, नई दिल्ली 1946.
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, *रिपोर्ट आफ जनरल सेक्रेटरीज*, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली (माइक्रोफिल्म).
जोशी, पी.सी., *फार दि फाइनल बिड फार पावर : दि कम्युनिस्ट प्लैन एक्सप्लेन्ड*, बंबई 1946.
मोमन, मोहम्मद, *विदर मुसलिम इंडिया? आल इंडिया मुसलिम स्टुडेंट फेडरेशन पंफलेट*, 1940.
पीरजादा, सैयद शरीफुद्दीन, संपादित, *फाउंडेशन्स आफ पाकिस्तान : आल इंडिया मुसलिम लीग डाक्यूमेंट्स : 1906-47*, 2 वॉल्यूम, कराची, 1969-70.
सीतारमैया, पट्टाभि, *हिस्ट्री आफ इंडियन नेशनल कांग्रेस*, वॉल्यूम 1 और 2, बंबई, 1947.
जैदी, ए.एम. संपादित, *इवोल्यूशन आफ मुसलिम पालिटिकल थॉट इन इंडिया*, वॉल्यूम 6,फ्रीडम

एट लास्ट, नई दिल्ली, 1979.
जैदी, ए.एम. संपादित, *इनसाइक्लोपीडिया आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस*, वॉल्यूम 12 और 13, नई दिल्ली, 1981.

वाइसरायों, अधिकारियों और राजनीतिक नेताओं के पत्राचार, भाषण और लेखन

एटली, सी.आर., *एज इट हैपन्ड*, लंदन, 1954.
आजाद, मौलाना, *इंडिया विन्स फ्रीडम*, नई दिल्ली, 1989.
बोस, एस.सी., *आई वार्न्ड माई कंट्रीमैन*, कलकत्ता, 1968.
डाल्टन, हघ, *हाई टाइड एंड आफ्टर मेमोयर्स*, 1945–60, लंदन, 1963
देव, नरेंद्र, *सोशलिज्म एंड नेशनल रेवोल्यूशन*, बंबई, 1946.
गांधी, महात्मा, *कलेक्टेड वर्क्स*, वॉल्यूम 78–79, नई दिल्ली, 1979–84.
गोलवलकर, एम.एस., *वी ऑर अवर नेशनहुड डिफाइन्ड*, नागपुर, 1947.
गोपालन, ए.के., *इन दि कॉज आफ दि पीपुल*, नई दिल्ली, 1978.
जिन्नाह, एम.ए., *स्पीचेज एंड राइटिंग्स*, संपादक, जमीलुद्दीन, वॉल्यूम 1 व 2, लाहौर, 1964.
खलीकुज्जमान, *पाथवे टु पाकिस्तान*, लाहौर, 1961.
कृपलानी, जे.बी., *फेटफुल इयर* (कांग्रेस के अध्यक्ष पद के वर्ष के दौरान भाषण और लेखन), बंबई 1948.
कृपलानी, सुचेता, *सुचेता, एन अनफिनिस्ड ऑटोबायोग्राफी*, संपादक के.एन. वसानी, अहमदाबाद 1979.
लिंलिथगो, *मारक्वेस आफ, स्पीचेज एंड स्टेटमेंट्स*, 1936–43, नई दिल्ली, 1945.
मिश्रा, डी.पी., *लिविंग एन इरा*, वाल्यूम 1, *इंडिया मार्च टु फ्रीडम*, नई दिल्ली, 1975.
मुकर्जी, श्यामा प्रसाद, *लीव्ज फ्राम ए डायरी*, कलकत्ता, 1993.
मुंशी, के.एम., *दि इंडियन डैडलॉक*, इलाहाबाद, 1945.
नंबूदरीपाद, ई.एम.एस., *हिस्ट्री आफ इंडिया फ्रीडम स्ट्रगल*, त्रिवेंद्रम, 1986.
नेहरू, जवाहरलाल, *सेलेक्टेड वर्क्स*, संपादक एस. गोपाल, वॉल्यूम 14–15, 1981–82 और दूसरी सीरीज, वॉल्यूम 1–4, नई दिल्ली, 1984–86.
———, *डिस्कवरी आफ इंडिया*, बंबई, 1981.
———, *दि फर्स्ट सिक्सटी इयर्स*, वॉल्यूम 2, संपादक दोरोथी नॉरमन, बंबई, 1965.
पटेल, सरदार, *सेलेक्ट कॉरेसपोंडेंस*, संपादक वी. शंकर, वॉल्यूम 1, 1945–50, अहमदाबाद, 1977.
———, *कॉरेसपोंडेंस*, संपादक दुर्गादास, वॉल्यूम 1–10, अहमदाबाद, 1971–74.
पटेल, सरदार, *सेंटेनरी वॉल्यूम*, संपादक जी.एम. नंदुर्कर, वॉल्यूम 1–5, अहमदाबाद, 1970.
प्रसाद, राजेंद्र, *कॉरेसपोंडेंस एंड सेलेक्ट डॉक्यूमेंट्स*, वॉल्यूम 1–9, बंबई, 1987.
———, *इंडिया डिवाइडेड*, बंबई, 1946.
———, *आटोबायोग्राफी*, बंबई, 1957.
रंगा, एन.जी., *फाइट फॉर फ्रीडम*, नई दिल्ली, 1968.
सपरु, टी.बी., *बेल्डिंग दि नेशन*, संपादक के.एन. रैना, बंबई, 1974.

सावरकर, बी.डी., *हिंदू राष्ट्र दर्शन, ए कलेक्शन आफ दी प्रेजिडंशियल स्पीचेज*, बबंई, 1949.
वावेल, *दि वाइसरॉय 'ज जनरल*, संपादक पेंडेरल मून, नई दिल्ली, 1977.

इयर बुक्स

इंडियन एनुअल रजिस्टर
इंडियन इनफॉरमेशन

च. समाचारपत्र

अमृत बाजार पत्रिका, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत.

बांबे क्रोनिकल, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत

डान, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत.

हरिजन, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत.

पीपुल्स वार एंड पीपुल्स एज, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत और आरकाइव्ज ऑफ कंटेंपरेरी हिस्ट्री, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.

दि हिंदुस्तान टाइम्स, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत.

दि टाइम्स आफ इंडिया, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली भारत.

दि ट्रिब्यून, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, भारत.

II. गौण स्रोत

क. पुस्तकें

अधिकारी, जी, संपादित, *स्टराइक : दि स्टोरी आफ दि स्टराइक आफ दि इंडियन नेवी*, बंबई, 1946.

——, *कम्युनिस्ट पार्टी एंड इंडियाज पाथ टु नेशनल रिजैनेरेशन एंड सोशलिज्म*, नई दिल्ली, 1964.

अहमद, जमीलुद्दीन, *कैदे आजम एज सीन बाई हिज कंटेंपरेरीज*, लाहौर, 1966.

अहमद, रफिउद्दीन, *दि बंगाल मुसलिम्स, 1871-1906, ए क्वेस्ट फार आईडेंटिटी*, दिल्ली 1981.

अकबर, एम.जे., *इंडिया : दी सीज विदिन*, न्यूयार्क 1985.

अली, सी. मोहम्मद, *दि इमरजेंस आफ पाकिस्तान*, लाहौर, 1973.

अली, इमरान, *दि पंजाब अंडर इंपिरियलिज्म, 1885-1947*, नई दिल्ली, 1988.

अली. तारिक. *कैन पाकिस्तान सरवाइव?* हेमंड्स बर्थ, 1983.

आमेरी. आई.एल.एम.एस., *इंडिया एंड फ्रीडम*, आक्सफोर्ड, 1942.

अशरफ. मोहम्मद, *कैबिनेट मिशन एंड आफ्टर*, लाहौर. 1946.

अय्यर, एस.ए., *स्टोरी आफ आई एन ए*, दिल्ली. 1972.

आजाद, मौलाना, *इंडिया विन्स फ्रीडम : एन आटोबाइग्राफिकल नैरेटिव*, कलकत्ता, 1959.

अजीज. के.के., *दि मेकिंग आफ पाकिस्तान, ए स्टडी इन नेशनलिज्म*, लंदन, 1967.

वी.वी. बालाबुशेविच और ए.एम. दियाकोव संपादित *कंटेंपरेरी हिस्ट्री आफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1964.

सुब्रता बनर्जी, *दि आर आई एन स्टाराइक*, नई दिल्ली, 1981.

वियुमेंट, रोजर, *स्वोर्ड आफ दि राज. दि ब्रिटिश आर्मी इन इंडिया, 1757-1947*. इंडियनपोलिस, न्यूयार्क, 1977.

भिडे. ए.एस., *फ्राम क्विट इंडिया टु स्पिलिट इंडिया*. पूना. 1945.

बिड़ला, जी.डी., *इन दि शैडो आफ महात्मा*. कलकत्ता, 1953.

———, *बापू : ए यूनीक एसोसिएशन*, बंबई, 1977.

बोलिथो, हेक्टर, *जिन्नाह : क्रियेटर आफ पाकिस्तान*, लंदन, 1954.

बांडुरंट, जीन, *कांक्वेस्ट आफ वायलेंस*, बंबई. 1958.

बोस, एन.के., *माई डेज विद गांधी*, कलकत्ता, 1953.

ब्रेचर, माइकल, *नेहरू : ए पालिटिकल बायोग्राफी*. लंदन, 1961.

ब्रिस्टोव, आर.सी.बी., *मेमोरीज आफ दि ब्रिटिश राज—ए सोलजियर इन इंडिया*, लंदन 1974.

ब्रोकवे, फैनर, *टुवड्र्स टुमारो—आटोबायोग्राफी*, लंदन, 1977.

ब्राउन जुदिथ, *गांधी : प्रिजनर आफ होप*, लंदन, 1990.

बुलॉक, एलन, *अर्नेस्ट बेविन, फॉरेन् सेक्रेटरी*. 1945-51, लंदन, 1983.

कैंपबेल जानसन, *एलेन, मिशन विद माउंटबैटन*, लंदन, 1972.

कैरिट, माइकल, *ए मोल इन दि क्राउन*, कलकत्ता, 1986.

चागला, एम.सी., *रोजेज इन दिसंबर : एन आटोबायोग्राफी*, बंबई, 1973.

चंद्रा, बिपन, *नेशनलिज्म एंड कालोनियलिज्म इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1979.

———, संपादित, *दि इंडियन लेफ्ट : क्रिटिकल एप्रेजल्स*, नई दिल्ली, 1983.

———, *कम्युनलिज्म इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1984.

———, *इंडियन नेशनल मूवमेंट, लोंग टर्म डायनामिक्स*, नई दिल्ली, 1988.

———, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी, के.एन. पणिक्कर, सुचेता महाजन, *इंडियाज स्ट्रगल फार इंडिपेंडेंस*, नई दिल्ली, 1988.

चंद्र प्रबोध, *रेप आफ रावलपिंडी*, लाहौर, 1947.

चटर्जी, ए.सी., *इंडियाज स्ट्रगल फार फ्रीडम*, कलकत्ता, 1947.

चटर्जी, जोया, *बंगाल डिवाइडेड—हिंदू कम्यूनलिज्म एंड पार्टिशन, 1932-1947*, कैंब्रिज, 1996.

चट्टोपाध्याय, कमलादेवी, *एट दि क्रासरोड्स*, बंबई, 1947.

चौधरी, संध्या, *गांधी एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1984.

चोपड़ा, पी.एन. संपादित, *क्विट इंडिया मूवमेंट : ब्रिटिश सीक्रेट डाक्यूमेंट्स*, नई दिल्ली, 1986.

चौधरी, जी.डब्ल्यू, *पाकिस्तान रिलेशन्स विद इंडिया, 1945 66*, लाहौर, 1968.

कनेल, जे., *औचिनलेक*, लंदन, 1949.

कूपलैंड, आर., *इंडियन पालिटिक्स, 1936-42*, आक्सफोर्ड, 1944.

दास, दुर्गा, संपादित, *सरदार पटेल्स कारेसपोंडेंस, 1945-50*, अहमदाबाद, 1971 74.

दास, एम.एन., *पार्टिशन एंड इनडिपेंडेंस आफ इंडिया : इनसाइड स्टोरी आफ दि माउंटबैटन डेज*, नई दिल्ली, 1982.

दास सुरंजन, *कम्यूनल रायट्स इन बंगाल, 1905-1947*, दिल्ली, 1991.

दासगुप्ता, रणजीत, *इकानोमी, सोसाइटी एंड पालिटिक्स इन बंगाल, जलपाईगुड़ी, 1869-1947*, दिल्ली, 1992.

देसाई, ए.आर. संपादित, *पीजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया*, बंबई, 1979.

ड्रमोंड, आई.एम., *ब्रिटिश इकानोमिक पालिसी एंड दि एंपायर, 1919 39*, लंदन, 1972.

दत्त, बी.सी., *म्यूटिनी आफ दि इन्नोसेंट्स*, बंबई, 1971.

दत्त, आर.पी., *इंडिया टुडे*, बंबई, 1949.

———, *फ्रीडम फार इंडिया : दि ट्रुथ अबाउट दि कैबिनेट मिशन*, लंदन, 1946.

एप्सटीन, साइमन, *दि अर्थली साइल—बंबई पीजेंट्स इंड दि इंडियन नेशनल मूवमेंट, 1919 47*, दिल्ली, 1988.

इवान्स, हर्बर्ट, *लुकिंग बैक ऑन इंडिया*, लंदन, 1988.

फारुकी, एम., *इंडियाज फ्रीडम स्ट्रगल एंड दि कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1974.

फारुकी, जिया उल हसन, *दि देवबंद स्कूल एंड दि डिमांड फार पाकिस्तान*, बंबई, 1963.

फिशर लुइस, *दि लाइफ आफ महात्मा गांधी*, न्यूयार्क, 1983.

फ्रेजर, टी.जी., *पार्टिशन इन आयरलैंड, इंडिया एंड पैलेस्टाइन*, लंदन, 1985.

फ्रीटेग, सेंडरिया, बी., *कलेक्टिव एक्शन एंड कम्यूनिटी—पब्लिक एरीनाज एंड दि इमरजेंस आफ कम्युनिलिज्म इन नार्थ इंडिया*, दिल्ली, 1990.

फ्रैंच, पैट्रिक, *लाइब्रेरी आर डेथ, इंडियाज जरनी टु इनडिपेंडेंस एंड डिविजन*, लंदन, 1997.

गालाघेर, जान, *दि डिकलाइन, रिवाइवल एंड फाल आफ दि ब्रिटिश एंपायर*, संपादक अनिल सील, कैंब्रिज, 1982.

गांधी, देवदास, *इंडिया अनरिकसाइल्ड, ए डाक्यूमेंटेड हिस्ट्री आफ इंडियन पालिटिकल इवेंट्स फ्राम दि क्राइसिस आफ अगस्त 1942 टु अक्तूबर 1943*, नई दिल्ली, दिसंबर 1943.

गांधी, राजमोहन, *दि गुड बोटमैन : ए पोटरैट आफ गांधी*, नई दिल्ली, वाइकिंग, 1995.

गेलनर, अर्नेस्ट, *पोस्ट माडर्निज्म, रीजन एंड रिलीजन*, लंदन एंड न्यूयार्क, राउटलेज, 1992.

जार्ज, के.सी., *इम्मार्टल पुन्नप्रा बयालार*, नई दिल्ली, 1975.

घोष, के.के., *दि इंडिया नेशनल आर्मी : सेकेंड फ्रंट आफ दि इंडियन इनडिपेंडेंस मूवमेंट*, मेरठ, 1969.

घोष, सुधीर, *गांधीज एम्मिसरी*, लंदन, 1967.

गिलबर्ट, मार्टिन, *विंसटन चर्चिल : नेवर डिस्पेयर, 1945-65*, लंदन, 1985.

ग्लेंडेवन, जान, *दि वाइसराय एट बे : लार्ड लिंलिथगो इन इंडिया, 1936-43*, लंदन, 1971.

गोपाल, राम, *हाऊ इंडिया स्ट्रगल्ड फार फ्रीडम*, बंबई, 1967.

गोपाल, एस., *जवाहरलाल नेहरू : ए बायोग्राफी, वॉल्यूम 1, 1889-1947*, नई दिल्ली, 1976.

———, संपादित, *जवाहरलाल नेहरू : एन एंथोलोजी*, दिल्ली, 1980

———, संपादित, *जवाहरलाल नेहरू, सेलेक्टेड वर्क्स*, नई दिल्ली, 1981.

गौड़, राजबहादुर तथा अन्य, *ग्लोरियस तेलंगाना आर्म्ड स्ट्रगल*, नई दिल्ली, 1973.

गुप्ता, ए.के. संपादित, *मिथ एंड रियलटी, दि स्ट्रगल फार फ्रीडम इन इंडिया, 1945-47*, नई दिल्ली, 1987.

गुप्ता, पार्थसारथी, *इंपिरियलिज्म एंड दि ब्रिटिश लेबर मूवमेंट*, 1914-64, लंदन, 1975

हमीद, शाहिद, *डिसासट्रस ट्विलाइट : ए पर्सनल रिकार्ड आफ दि पार्टिशन आफ इंडिया*, लंदन, 1986.

हैरिस, किनीथ, *एटली*, लंदन, 1982.

हसन, मुशिरूल, संपादित, *इंडियाज पार्टिशन—प्रोसेस, स्ट्रेटेजी एंड मोबिलाइजेशन*, दिल्ली, 1993.

हडसन, एच.बी., *दि ग्रेट डिवाइड : ब्रिटेन, इंडिया*, पाकिस्तान, लंदन, 1969.

हालैंड, आर.एफ., *यूरोपियन डिकोलोनाइजेशन, 1918-81 : एन इंट्रोडक्टरी सर्वे*, लंदन, 1985.

हालैंड, आर.एफ. एंड गौहर रिजवी संपादित, *पर्सपैक्टिव्ज आन इंपीरियलिज्म एंड डिकालोनाइजेशन : एस्सेज इन ऑनर आफ ए.एफ. मड्डेन*, लंदन, 1984.

हघ, रिचर्ड, *माउंटबैटन—हीरो आफ आवर टाइम्स*, लंदन, 1980.

आर. हंट एंड जे. हैरिसन, *दि डिस्ट्रिक्ट आफिसर्स इन इंडिया 1930-47*, लंदन, 1980.

हचिन्स, फ्रांसिस, *स्पॉटेनियस रिवोल्यूशन : दि क्विट इंडिया मूवमेंट*, नई दिल्ली, 1971.

इस्मै, लार्ड, *मेमोयर्स*, लंदन, 1960.

जलाल, आयशा, *दि सोल स्पोक्समैन : जिन्नाह, दि मुसलिम लीग एंड दि डिमांड फार पाकिस्तान*, कैंब्रिज, 1985

जयकर, एम.आर., *दि स्टोरी आफ माई लाइफ*, लंदन, 1959.

जानसन, कैंपबेल, *मिशन विद माउंटबैटन*, लंदन, 1972.

जोश, भगवान, *कम्युनिस्ट मूवमेंट इन पंजाब*, दिल्ली, 1979.

कारनिक, वी.बी., *स्ट्राइक्स इन इंडिया*, बंबई, 1967.

खलीकुज्जमान, सी., *पाथवे टु पाकिस्तान*, लाहौर, 1961.

खान, शादिक अली, *टू नेशन थ्यरी, एज ए कंसेप्ट, स्ट्रैटेजी एंड आइडियोलोजी*, कराची, 1973.

———, *इकबाल्स कंसेप्ट आफ ए सैपरेट नार्थ-वेस्ट मुसलिम स्टेट* (ए क्रिटिक आफ हिज इलाहाबाद एड्रेस आफ 1930), कराची, 1987.

खान, शाहनवाज, *माई मेमोरीज आफ आई एन ए एंड इट्स नेताजी*, दिल्ली, 1946.

खोसला, जी.डी., *स्ट्रेन रेकलिंग—ए सर्वे आफ दि इवेंट्स लीडिंग अप टु एंड फालोइंग दि पार्टिशन आफ इंडिया*, दिल्ली, 1989.

कृपलानी, जे.बी., *गांधी—हिज लाइफ एंड थॉट*, नई दिल्ली, 1970.

कृपलानी, सुचेता, *एन अनफिनिश्ड आटोबायोग्राफी*, अहमदाबाद, 1978.

कुवाजिम, शो, *मुसलिम, नेशनलिज्म एंड दि पार्टिशन : 1946 प्रोवेंशियल इलेक्शन्स इन इंडिया*, दिल्ली 1998.

लेकलउ, ई. संपादित, *दि मेकिंग आफ पालिटिकल आईडेंटिटीज*, लंदन, एन.वाई., 1994.

लक्ष्मण, पी.पी., *कांग्रेस एंड लेबर मूवमेंट इन इंडिया*, इलाहाबाद, 1947.

लपीरे, डोमिनीक्यू एंड लेरी कालिन्स, *माउंटबैटन एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया*, साहिबाबाद, 1983.

लुइस, डब्ल्यू. रोजर, *इंपिरियलिज्म एट बे : दि यूनाइटेड स्टेट्स एंड दि डिकोलोनाइजेशन आफ दि ब्रिटिश एंपायर, 1941-45*, न्यूयार्क, 1978.

लो, डी.ए. संपादित, *कांग्रेस एंड दि राज, फैसेट्स आफ दि इंडिया स्ट्रगल, 1917-1947*, लंदन, 1977.

———, संपादित, *दि इंडियन नेशलन कांग्रेस, सेंटेनरी हाइलाइट्स*, दिल्ली, 1988.

———, संपादित, *दि पालिटिकल इनहेरीटेंस आफ पाकिस्तान*, हेंपशायर एंड लंदन, 1991.

महाजन, एम.सी., *लुकिंग बैक*, बंबई, 1963.

मलकानी, के.आर., *दि सिंध स्टोरी*, नई दिल्ली, 1984.

मेसन, फिलिप, *दि मेन हू रूल्ड इंडिया*, लंदन, 1985.

मेसलोस, जे. संपादित, *इंडिया : क्रिएटिंग ए माडर्न नेशन*, नई दिल्ली, 1990.

मेहोत्रा, एस.आर., *टुवड्र्स इंडियाज फ्रीडम एंड पार्टिशन*, नई दिल्ली, 1979

मेहता, अशोक और कुसुम नायर, *दि शिमला कॉन्फ्रेंस, प्रोजेक्शन आफ दि कम्युनल ट्राएंगल*, बंबई, 1945.

मेनन, बी.पी., *दि ट्रांसफर आफ पावर इन इंडिया*, मद्रास, 1968.

मित्रा, अशोक, *टुवड्र्स इनडिपेंडेंस, 1940-47 : मेमोयर्स आफ एन इंडियन सिविल सरवेंट*, बंबई, 1991.

एन.एन. मित्रा, *इंडियन एनुअल रजिस्टर, एन एनुअल डाइजेस्ट आफ पब्लिक एफेयर्स इन इंडिया*, कलकत्ता, 1945-46.

मिर्जा, सरफराज हुसैन, *दि पंजाब मुसलिम स्टुडेंट्स फैडरेशन, 1937-47 : ए स्टडी आफ दि फोरमेशन, ग्रोथ एंड पार्टिसिपेशन इन दि पाकिस्तान मूवमेंट*, इस्लामाबाद, 1991.

मोल्सवर्थ, जी.एन., *कर्फ्यू आन ओलिमपस*, लंदन, 1965.

मून, पेंडेरेल, *डिवाइड एंड क्विट*, लंदन, 1964.

———, संपादित, *वावेल : दि वाइसरॉयस जनरल*, नई दिल्ली, 1977.

मूर, आर.जे., *क्राइसिस आफ इंडियन, यूनिटी, 1917-1940*, नई दिल्ली, 1974.

———, *चर्चिल, क्रिप्स, एंड इंडिया 1939-1945*, ऑक्सफोर्ड, 1979.

———, *एस्केप फ्राम पावर : दि एटली गवर्नमेंट एंड दि इंडियन प्राब्लम*, ऑक्सफोर्ड, 1983.

———, *एंडगेम्स आफ एंपायर : स्टडीज आफ ब्रिटेन्स इंडियन प्राब्लम*, दिल्ली, 1988.

मोरिस-जोन्स, डब्ल्यू.एच. एंड एम. फिशर, संपादित, *डिकोलोनाइजेशन एंड आफ्टर : दि ब्रिटिश एंड फ्रेंच एक्सपीरिएंस*, लंदन, 1980.

मुजाहिद, शरीफ अल, *कायदे आजम जिन्नाह, स्टडीज इन इंटरप्रिटेशन*, कराची, 1981.

नंबूदरीपाद, ई.एम.एस., *दि महात्मा एंड दि इज्म*, कलकत्ता, 1981.

नंदा, बी.आर., *महात्मा गांधी : ए बायोग्राफी*, नई दिल्ली, 1968.

———, *गांधी एंड हिज क्रिटिक्स*, नई दिल्ली, 1985.

नंदुर्कर, जी.एम., संपादित, *सरदार्स लेटर्स, मोस्टली अननोन*, वाल्यूम I, अहमदाबाद, 1977.

——, संपादित, *सरदार पटेल—इन ट्यून विद दि मिलियन्स*, वाल्यूम I. अहमदाबाद. 1975.

नेहरू, जवाहरलाल, *डिस्कवरी आफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1981.

निबलेट, *कांग्रेस रिबेलियन इन आजमगढ़*, अगस्त-सितंबर 1942, इलाहाबाद. 1957

नोरोन्हा, आर.पी., *ए टेल टोल्ड बाई एन इडियट*, नई दिल्ली, 1976.

आवेनडेल, रिची, *दि इंग्लिश स्पीकिंग एलाइंस : ब्रिटेन, दि यू.एस., दि डोमिनियन्स एंड दि कोल्ड वार*, 1945-51, लंदन, 1985.

ओवरस्ट्रीट, जीन डी. एंड मार्शल विंडमिलर, *कम्युनिस्ट इन इंडिया*, बर्कले एंड लोस एंजिल्स, 1959.

पेज, डेविड, *प्रिल्यूड टु पार्टिशन*, आक्सफोर्ड, 1982.

पांडे, ज्ञानेंद्र, संपादित, *इंडियन नेशन इन 1942*, कलकत्ता, 1988.

पाणिग्रही, डी.एन., संपादित, *इकॉनोमी, सोसाइटी एंड पालिटिक्स इन माडर्न इंडिया*, नई दिल्ली, 1984.

पारेख, भीखू, *कोलोनियलिज्म, ट्रेडिशन एंड रिफोर्म : एन एनालिसिस आफ गांधीज पालिटिकल डिस्कोर्स*, नई दिल्ली, 1989.

परुलेकर, गोदावरी, *आदिवासीज रिवोल्ट : दि स्टोरी आफ वर्ली पीजेंट्स इन स्ट्रगल*, कलकत्ता, 1975.

परुलेकर, एस.बी., *रिवोल्ट आफ दि वर्लिज*, बंबई, 1947.

फिलिप्स, सी.एच. एंड एम.डी. वेनराइट संपादित, *दि पार्टिशन आफ इंडिया : पालिसीज एंड पर्सपेक्टिव्ज*, लंदन, 1970.

पीरजाद, सैयद शरीफुद्दीन, *फाउंडेशन्स आफ पाकिस्तान : आल इंडिया मुसलिम लीग डाक्यूमेंट्स*, वाल्यूम 2, 1924-47, कराची, 1970.

——, *इवोल्यूशन आफ पाकिस्तान*, नई दिल्ली, 1987.

पोर्टर, बरनार्ड एंड ए.जे. स्टाकवेल, *ब्रिटिश इंपीरियल पालिसी एंड डिकोलोनाइजेशन*, वाल्यूम I, 1938-51, हाउंडमिल्स, 1987.

पोटर, डेविड, *इंडियाज पालिटिकल एडमिनिस्ट्रेटर्स, 1919-83*, आक्सफोर्ड, 1986.

प्रसाद, बिमल, *गांधी, नेहरू एंड जे.पी. : स्टडीज इन लीडरशिप*, दिल्ली, 1985.

प्रसाद, राजेंद्र, *आटोबायोग्राफी*, बंबई, 1957.

प्यारेलाल, *महात्मा गांधी : दि लास्ट फेज*, वाल्यूम 1 और 2, अहमदाबाद, 1956-58.

राव, सी. राजेश्वर, *दि हिस्टोरिक तेलंगाना स्ट्रगल—सम यूजफुल लेसन्स फ्राम इट्स रिच एक्सपीरिएंस*, नई दिल्ली, 1972.

रसूल, एम.ए., *ए हिस्ट्री आफ दि आल इंडिया किसान सभा*, कलकत्ता, 1974.

रजा, सैयद हसीन, संपादित. *माउंटबैटन एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया*, नई दिल्ली, 1989.

रेड्डी रविनारायण, हिरोइक तेलंगाना : *रैमिनीसेंसेज एंड एक्सपीरिएंसिज*, नई दिल्ली, 1973.

रेवरी, सी., *दि इंडियन ट्रेड यूनियन मूवमेंट, एन आउटलाइन हिस्ट्री, 1930-1947*, नई दिल्ली, 1972.

रॉय, दिलीप के., *नेताजी : दि मैन*, बंबई, 1966.

साहनी, भीष्म, *तमस*, नई दिल्ली, 1984.

सैयद. एम.एच., *दि साउंड आफ फ्यूरी : ए पालिटिकल स्टडी आफ मोहम्मद अली जिन्नाह*. नई दिल्ली, 1981.

सामंत. एस.सी., *अगस्त रिवोल्यूशन एंड टू इयर्स नेशनल गवर्नमेंट इन मिदनापुर*, कलकत्ता, 1946.

सपरू, टी.बी., *बेल्डिंग दि नेशन*, संपादक के.एन. रैना, बंबई, 1974.

सरकार, सुमित, *माडर्न इंडिया, 1885-1945*. नई दिल्ली. 1983.

सैयद, के.बी., *पाकिस्तान : दि फोर्मेटिव फेज, 1857-1948*, लंदन, 1968.

सेन, मोहित, *रेवोल्यूशन इन इंडिया : पाथ एंड प्राब्लम*, नई दिल्ली, 1976

सेन, शीला, *मुसलिम पोलिटिक्स इन बंगाल, 1937-1947*, नई दिल्ली, 1976.

सेन, सुकोमल, *वर्किंग क्लास आफ इंडिया, हिस्ट्री आफ इमर्जेन्स एंड मूवमेंट, 1930-1970*, कलकत्ता, 1977.

सेन. सुनील. *एग्रेरियन स्ट्रगल इन बंगाल 1946 47*. नई दिल्ली, 1972.

शेख, फरजाना, *कम्युनिटी एंड कनसेंसस इन इसलाम : मुसलिम रिप्रेजेंटेशन इन कोलोनियल इंडिया, 1860-1947*. लंदन, 1969.

शेरवानी, लतीफ, अहमद, *दि पार्टिशन आफ इंडिया एंड माउंटबैटन*, नई दिल्ली, 1989.

सिंह, अनीता इंदर, *दि आरिजिन्स आफ दि पार्टिशन आफ इंडिया 1936-1947*, नई दिल्ली, 1987.

सिंह, हरि, *पंजाब पीजेंट इन फ्रीडम स्ट्रगल*, वाल्यूम 2, नई दिल्ली, 1984

सिंह, कृपाल संपादित, *सेलेक्ट डाक्यूमेंट आन पार्टिशन आफ पंजाब, 1947, इंडिया एंड पाकिस्तान*, दिल्ली, 1991.

सिंह, आर.सी., *इंडियन पी एंड टी एंपलाइज मूवमेंट*, इलाहाबाद, 1974.

सिन्हा, एम.पी., *कंटेंपरेरी रेलिवेंस आफ गांधीज्म*, बंबई. 1970.

सिन्हा, एन.सी., *इंडियन वार इकोनोमी*, कलकत्ता, 1962.

स्मिथ, डी.ई., *इंडिया एज ए सेक्यूलर स्टेट*, प्रिंसटन, एन जे, 1963.

स्मिथ, डब्ल्यू.सी., *माडर्न इसलाम इन इंडिया*, लंदन, 1974, रिप्रिंट आफ 1946 एडिशन.

सोरेन सेन, रेगिनाल्ड डब्ल्यू., *माई इंप्रेशन आफ इंडिया*, लंदन, 1946.

स्पेंजनबर्ग, बी., *ब्रिटिश ब्यूरोक्रेसी इन इंडिया*, दिल्ली, 1956.

सुलेरी, जैड.ए., *माई लीडर*, लाहौर, 1982.

सुंदरैया, पी., *तेलंगाना पीपुल्स स्ट्रगल एंड इट्स लेसन्स*, कलकत्ता, 1972.

सुर, अतुल, *बिल दि टू बंगाल्स बी वन?* कलकत्ता, 1989.

ताराचंद, *हिस्ट्री आफ दि फ्रीडम मूवमेंट आफ इंडिया*, वाल्यूम 4, नई दिल्ली, 1972.

तेंदुलकर, डी.जी., *दि महात्मा गांधी*, दिल्ली, 1960-63.

थार्न, सी., *अलाइज आफ ए काइंड*, लंदन, 1978.

टिंकर, एच.आर., *एक्सपेरीमेंट विद फ्रीडम : इंडिया एंड पाकिस्तान*, 1947, लंदन, 1967.

टोमलिंसन, बी.आर., *दि इंडियन नेशनल कांग्रेस एंड दि राज, 1929-42 : दि पेनल्टीमेट फेज*, लंदन, 1976.

ट्रेवेलियन, एच., *दि इंडिया वी लेफ्ट*, लंदन, 1972.

टाय, हघ, *दि स्प्रिंग टाइगर : सुभाष चंद्र बोस*, बंबई, 1974.

टुकर, सर एफ., *व्हाइल मेमोरी सर्व्ज*, लंदन, 1950.
विवेकानंद, बी., *शिरींकिंग सर्किल : दि कामनवेल्थ इन ब्रिटिश फारेन पालिसी, 1945-74*, बंबई, 1983.
वोइग्ट, जे.एच , *इंडिया इन दि सेकेंड वर्ल्ड वार*, नई दिल्ली, 1987.
वेकफील्ड, एडवर्ड, *पास्ट इंपेरेटिव : माई लाइफ इन इंडिया, 1927-47*, लंदन, 1966.
विलियम्स, फ्रांसिस, *ए प्राइम मिनिस्टर रिमेंबर्स : दि वार एंड पोस्ट वार मेमोयर्स आफ दि अर्ल एटली*, लदन, 1961.
विनगेट, रोनाल्ड, *लार्ड इस्मै : ए बायोग्राफी*, लंदन, 1970.
वोलपैट, स्टेनले, *जिन्नाह आफ पाकिस्तान*, न्यूयार्क, 1984.
जैदी, ए एम. संपादित, *इवोल्यूशन आफ मुसलिम पालिटिकल थॉट इन इंडिया, वाल्यूम 6, फ्रीडम एट लास्ट*, नई दिल्ली, 1979.
——, संपादित, *दि एनसाइकलोपीडिया आफ दि इंडियन नेशनल कांग्रेस*, वाल्यूम 6,नई दिल्ली, 1981.
जैदी, जैड एच. संपादित, *इंट्रोडक्शन टु एम.ए. जिन्नाह—इस्पहानी कारेसपोंडेंस, 1936-48*, करार्ची, 1976.

ख. लेख

अधिकारी, जी. ''इयर आफ अनप्रेसेडेंटिड रेवोल्यूशनरी अपसर्ज : 1946 इन रिव्यू'', *पीपुल्स एज*, 5(30), 26 जनवरी 1947.
अय्यर, स्वर्ण, '''अगस्त अनार्की': दि पार्टिशन मैस्कर्स इन पंजाब, 1947'', *साउथ एशिया*, स्पेशल इश्यू, 18, 1995.
अलावी, हमजा, ''पीजेंट्स एंड रेवोल्यूशन'', ए.आर. देसाई संपादित, *पीजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया* में, बंबई, 1979.
बीगलेहोल, टी., ''फ्राम रूलर्स टु सर्वेंट्स : दि आई सी एस एंड दि ब्रिटिश डेमिनेशन आफ पावर इन इंडिया'', *माडर्न एशियन स्टडीज*, 11(2), 1977 : 237-53.
भट्टाचार्य, संजय, ''दि कोलोनियल स्टेट एंड दि कम्युनिस्ट पार्टी आफ इंडिया, 1942-45 : ए रिएप्रेजल'' *साउथ एशिया रिसर्च*, 15(1), स्प्रिंग 1995.
बोस, एन.के., ''माई एक्सपीरिएंसेज एज ए गांधीयन -II'' एम.पी. सिन्हा, *कंटेंपरेरी रेलिवेंस आफ गांधीज्म* में, बंबई, 1970.
बोस, सुगत, ''नेशन, रीजन एंड रिलीजन : इंडियाज इंडिपेंडेंस इन इंटरनेशलन पर्सपैक्टिव'', *इकोनोमिक एंड पालिटिकल वीकली*, 33(31), 1 अगस्त 1998, पृ. 2090-97.
चटर्जी, पार्था, ''सेक्यूलरिज्म एंड टोलरेशन'', *इकोनोमिक एंड पालिटिकल वीकली*, 29(28), 9 जुलाई 1994 : 1768-77.
कोपलैंड, इयान, ''दि प्रिंसली स्टेट्स, दि मुसलिम लीग एंड दि पार्टीशन आफ इंडिया इन 1947'', *इंटरनेशनल हिस्ट्री रिव्यू*, 12(1), फरवरी 1991.
——, ''लार्ड माउंटबैटन एंड दि इंटेग्रेशन आफ दि इंडियन स्टेट्स : ए रिएप्रेजल'', *जनरल*

आफ इंपीरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री, 21(2). मई 1993.

ब्रास्टेड, एच. एंड सी. ब्रिज, "लेबर एंड दि ट्रांसफर आफ पावर : ए केस फार रिएप्रेजल". *इंडो-ब्रिटिश रिव्यू*, 14(2). 1988 : 70-90.

———, "15 अगस्त 1947 : लेबर्स पार्टिंग गिफ्ट टु इंडिया", मैसेलोम संपादित, *इंडिया : क्रिएटिंग ए माडर्न नेशन* में, नई दिल्ली, 1990.

ब्रेचर माइकल, "इंडियाज डिसीजन टु दि मेन इन दि कॉमनवेल्थ", *जनरल आफ कामनवेल्थ एंड कंपेयरिटिव पालिटिक्स*, 12, 1974 : 62-90.

सेल, जान डब्ल्यू. "आन दि इव आफ डिकोलोनाइजेशन : दि कोलोनियल आफिसेज प्लेन्स फार दि ट्रांसफर आफ पावर इन अफ्रीका, 1947". *जनरल आफ इंपीरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री*, 8, 1979.

चटर्जी, बासुदेव, "बिजनेस एंड पालिटिक्स इन दि 1930ज लंकाशायर एंड दि मेकिंग आफ दि इंडो-ब्रिटिश ट्रेड एग्रीमेंट, 1939", *माडर्न एशियन स्टडीज*, 15(3), 1981 : 527-29.

चटर्जी पार्था, "बंगाल पालिटिक्स एंड दि मुसलिम मासेज, 1920-47", जनरल आफ कॉमनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पालिटिक्स, 20(1), मार्च 1982 : 25-41.

चट्टोपाध्याय, गौतम, "दि आलमोस्ट रेवोल्यूशन : ए केस स्टडी आफ इंडिया इन फरवरी 1946", *एस्सेज इन आनर आफ प्रो. एस.सी. सरकार*, नई दिल्ली, 1976.

चट्टोपाध्याय, आर., "लियाकत अली खान एंड दि बजट आफ 1947-48 : दि ट्रिस्ट विद डैस्टिनी", *सोशल साइंटिस्ट*, 16(697), जून-जुलाई, 1988 : 77-89.

चौधुरी, प्रेम, "दि कांग्रेस ट्राइम्फ इन साउथ-ईस्ट पंजाब : इलेक्शन्स आफ 1946", *स्टडीज इन हिस्ट्री* 2(2), 1980 : 81-110.

दामोदरन, विनीता, "बिहार इन दि 1940ज : कम्युनिटीज, रायट्स एंड दि स्टेट", *साउथ एशिया*, स्पेशल इशु, 18, 1995.

दासगुप्ता, रणजीत, "पीजेन्ट्स, वर्कर्स एंड फ्रीडम स्ट्रगल : जलपाईगुड़ी, 1945-47", ए.के. गुप्ता संपादित, *मिथ एंड रियलिटी : दि स्ट्रगल फार फ्रीडम इन इंडिया*, 1945-47, नई दिल्ली, 1987.

देसाई, ए.आर., "इंट्रोडक्शन", ए.आर. देसाई संपादित, *पीजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया*, बंबई, 1979.

डिबे, क्लाइव, "दि एंड आफ इंपिरियलिज्म आफ फ्री ट्रेड : दि इक्लिप्स आफ दि लंकाशायर लाबी एंड दि कंशेसन आफ फिस्कल आटोनोमी टु इंडिया", क्लाइव डिवे एंड ए.जी. होपकिन्स संपादित, *इंपिरियल इंपेक्ट : स्टडीज इन दि इकोनोमिक हिस्ट्री आफ अफ्रीका एंड इंडिया*, लंदन, 1978.

एप्सटीन, साइमन, "डिस्ट्रिक्ट आफीसर्स इन डिक्लाइन : इरोजन आफ अथारिटी इन दि बंबई कंट्रीसाइड,1919 टु 1947", *माडर्न एशियन स्टडीज*, 16(3), 1982 : 493-518.

गैलेकर जान एंड अनिल सील, "ब्रिटेन एंड इंडिया बिटविन दि वार्स", *माडर्न एशियन स्टडीज*, 15(3), 1981 : 387-414.

गिल मार्टिन, डेविड, "रिलिजियस लीडरशिप एंड दि पाकिस्तान मूवमेंट इन दि पंजाब" *माडर्न एशियन स्टडीज*, 13(3), 1979 : 485-517.

गफ, कथलीन, "पीजेंट रेसिस्टेंस एंड रिवोल्ट इन साउथ इंडिया". ए.आर. देसाई संपादित, *पीजेंट*

स्ट्रगल्स इन इंडिया में, बंबई 1979.

गुप्ता, पार्थसारथी, ''इंपिरियलिज्म एंड दि लेबर गवर्नमेंट आफ 1945-51'' जे. विंटर संपादित, *दि वर्किंग क्लास इन माडर्न ब्रिटिश हिस्ट्री* में, बाथ, 1983.

———, ''इंपिरियल स्ट्रैटेजी एंड ट्रांसफर आफ पावर, 1939-51''. ए.के. गुप्ता संपादित, *मिथ एंड रियलिटी : दि स्ट्रगल फार फ्रीडम इन इंडिया, 1945-47*, नई दिल्ली, 1987.

गोर्डन, लियोनार्ड, ''डिवाइडेड बंगाल : प्राब्लम आफ नेशनलिज्म एंड आईडेंटिटी इन दि 1947 पार्टिशन'', *जनरल आफ कामनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पालिटिक्स*, 16(1), मार्च 1978 : 136-68.

हसन मुशिरूल, ''नेशनलिस्ट एंड सेपरेटिस्ट ट्रेंड्स इन अलीगढ़, 1915-47'', ए.के. गुप्ता संपादित, *मिथ एंड रियलिटी : स्ट्रगल फार फ्रीडम इन इंडिया, 1945-47*, नई दिल्ली, 1987.

होडसन, एच.बी., ''दि रोल आफ लार्ड माउंटबैटन'', सी.एच. फिलिप्स एंड एम.डी. वेनराइट, संपादित, *दि पार्टिशन आफ इंडिया : पालिसीज एंड पर्सपेक्टिव्ज*, लंदन 1970

हालैंड, आर.एफ., ''दि इंपिरियल फैक्टर इन ब्रिटिश स्ट्रैटेजीज फ्राम एटली टु मैकमिलन, 1945-63'', *जनरल आफ इंपीरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री*, 12(2), 1984 : 168-69.

जफरलौट, क्रिस्टोफी, ''हिंदू नेशनलिज्म : स्ट्रैटजिक सिंक्रीटिज्म इन आइडियोलोजी बिल्डिंग'', *इकोनोमिक एंड पालिटिकल वीकली*, 28 (12 एंड 13), 20-27 मार्च 1993 : 517 24.

जलाल, आयशा, ''सेक्यूलरिस्ट्स, सबाल्टर्न्स एंड दि स्टिग्मा आफ 'कम्युनलिज्म' : पार्टिशन हिस्ट्रीओग्राफी रिविजिटेड'' *माडर्न एशियन स्टडीज*, 30(3), 1996 : 681-89.

———, ''एक्सप्लोडिंग कम्यूनिलिज्म : डिपालिटिक्स आफ मुसलिम आइडेंटिटी इन साउथ एशिया'', सौगत बोस औंर आयशा जलाल संपादित, *नेशनलिज्म, डेमोक्रेसी एंड डेवेलपमेंट स्टेट एंड पालिटिक्स इन इंडिया*, दिल्ली, 1997.

———, ''नेशन, रीजन एंड रिलीजन : पंजाब्स रोल इन दि पार्टिशन आफ इंडिया'', *इकोनोमिक एंड पालिटिकल वीकली*, 33(32), 8 अगस्त 1998,पृ. 183-190.

जैफरे, आर. ''दि पंजाब बाउंड्री कोर्स एंड दि प्राब्लम आफ आर्डर, अगस्त 1947'', *माडर्न एशियन स्टडीज*, 8(4), 1974 : 491-520.

———, ''इंडियाज वर्किंग क्लास रिवोल्ट : पुन्नप्रा वयालार एंड दि कम्युनिस्ट कांसपायरेसी आफ 1946'', *इंडियन इकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 18(2).

कृष्णन, वाई., ''माउंटबैटन एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया'', *हिस्ट्री*, 68(222), फरवरी 1983 : 22-38.

कुदेस्या, मेधा मलिक, ''जी.डी. बिड़ला, बिग बिजनेस एंड इंडियाज पार्टिशन'', *साउथ एशिया*, स्पेशल इश्यु, 18, 1995.

मदन, टी.एन., ''विदर इंडियन सेक्युलरिज्म'' *माडर्न एशियन स्टडीज*, 27(3), 1993 : 667-97.

महाजन, सुचेता, ''ब्रिटिश पालिसी, नेशनलिस्ट स्ट्रैटेजी एंड पापुलर नेशनल अपसर्ज, 1945-47'', ए.के. गुप्ता संपादित, *मिथ एंड रियलिटी : दि स्ट्रगल फार फ्रीडम इन इंडिया, 1945-47*, नई दिल्ली, 1987.

———, ''पोस्टवार नेशनल अपसर्ज'' एंड ''फ्रीडम एंड पार्टिशन'' बिपन चंद्रा तथा अन्य,

इंडियाज स्ट्रगल फार इंडिपेंडेंस, नई दिल्ली, 1988.

———. मोशल प्रेशर्स टुवर्ड्स पार्टिशन : नोआखाली रायट्स आफ 1946''. *प्रोसिडिंग्स आफ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस*, गोवा, 1987.

———, ''हिंदू कम्युनलिज्म प्रेशर्स आन दि कांग्रेस इन 1947 : दि सेक्यूलर स्टेंस आफ कांग्रेस मिनिस्ट्रीज''. *जनरल आफ हिस्टोरिकल स्टडीज*. 2 दिसंबर 1996

महरोत्रा, एस.आर.. ''दि कांग्रेस एंड दि पार्टिशन आफ इंडिया''. जी.एच. फिलिप्स एंड एम.डी. वेनराइट, संपादित. *दि पार्टिशन आफ इंडिया, पालिसीज एंड पर्सपेक्टिव्ज*, लंदन, 1970.

मूर, आर जे., ''माउंटबैटन, इंडिया एंड दि कामनवेल्थ''. *जनरल आफ कामनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पालिटिक्स*, 19(1). मार्च 1981.

———, ''रिसेंट हिस्टोरिकल राइटिंग आन दि माडर्न ब्रिटिश इंपायर एंड कामनवेल्थ : लेटर इंपिरियल इंडिया'', *जनरल आफ इंपिरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री*, 4(1), अक्तूबर 1975 : 55-76.

———, ''दि माउंटबैटन वाइसरायलिटी'' *जनरल आफ कामनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पालिटिक्स*, 222, 1984 : 204-15.

———. ''टुवर्ड्स पार्टिशन एंड इनडिपेंडेंस इन इंडिया'' *जनरल आफ कामनवेल्थ एंड कंपेरेटिव पालिटिक्स*, 20(2), जुलाई 1982 : 189-99.

मोरिस जोन्स, डब्ल्यू.एच., ''दि ट्रांसफर आफ पावर, 1947 : ए व्यू फ्राम दि साइडलाइन्स''. *माडर्न एशियन स्टडीज*, 16(1), 1982, पी पी 1-32.

मुखर्जी, आदित्य, ''दि इंडियन कैपिटलिस्ट क्लास : आसपेक्ट्स आफ इट्स इकोनोमिक, पालिटिकल एंड आइडियोलोजिकल डेवेलपमेंट इन दि कोलोनियल पीरियड, 1930-47'' सव्यसाची भट्टाचार्य एंड रोमिला थापर संपादित, *सिचुएटिंग इंडियन हिस्ट्री*, नई दिल्ली, 1986.

मुखर्जी, मृदुला, ''पीजेंट मूवमेंट इन ए प्रिंसली स्टेट : पटियाला, 1937-48'', *स्टडीज इन हिस्ट्री*, 1(2), 1979.

———, ''कम्युनिस्ट्स एंड पीजेंट्स इन पंजाब : ए फोकस आन दि मुजारा मूवमेंट इन पटियाला, 1937 53'' बिपन चंद्रा संपादित, *दि इंडियन लेफ्ट : क्रिटिकल एप्रेजल्स*, नई दिल्ली, 1983.

नंदी आशीष, ''दि पालिटिक्स आफ सेक्यूलरिज्म एंड दि रिकवरी आफ रिलिजियस टालरेंस'' वीनादास संपादित, *कम्युनिटीज, रायट्स एंड सरवाइवर्स इन साउथ एशिया*, दिल्ली, 1990 : 69-93.

ओमवेत गैल, ''दि सतारा पैरेलल गवर्नमेंट, 1942-47'' डी.एन. पाणिग्रही संपादित, *इकोनोमी, सोसाइटी एंड पालिटिक्स इन माडर्न इंडिया* में, नई दिल्ली,1985.

———, ''दि पालिटिकल इकोनोमी आफ स्टारवेशन : बंगाल 1943''. *रेस एंड क्लास*. 17(2), अगस्त 1975 : 111-39.

पांडे, ज्ञानेंद्र ''दि प्रोज आफ अदरनेस'', *सबाल्टर्न स्टडीज, एक्सेज इन आनर आफ रणजीत गुहा*, वाल्यूम 8 में, नई दिल्ली, 1994, पृ. 188-221.

पारुलेकर, एस.वी., ''वारलीज'', ए.आर. देसाई संपादित, *पीजेंट स्ट्रगल्स इन इंडिया* में, बंबई 1979.

पोटर डेविड, ''मैनपावर शार्टेज एंड दि एंड आफ कोलोनियलिज्म : दि केस आफ दि इंडियन सिविल सर्विस'' *माडर्न एशियन स्टडीज*, 7(1). 1973 : 47-73.

प्रसाद, बिमल, ''गांधी एंड इंडियाज पार्टिशन'', ए.के. गुप्ता संपादित, *मिथ एंड रियलिटी : दि स्ट्रगल्स फार फ्रीडम इन इंडिया*, 1945 -47, नई दिल्ली, 1987.

राउ, मोहन, ''दि तेलंगाना पीजेंट आर्म्ड स्ट्रगल, 1946-51'', *इकोनोमिक एंड पालिटिकल वीकली*, 8(23), जनवरी 1973 : 1028-32.

रिजवी, गौहर, ''ट्रांसफर आफ पावर इन इंडिया : ए रिस्टेटमेंट आफ एन आल्टरनेटिव एप्रोच'', *जनरल आफ कांटेंपरेरी हिस्ट्री*, 2 जनवरी 1984: 127-44.

राय, अजीत, ''सोशो-पालिटिकल बैकग्राउंड आफ माउंटबैटन अवार्ड'', *दि मार्क्सिस्ट रिव्यू*, 16(5, 6 व 7), 1982 : 171-91.

सरकार, कृष्णकांत, ''काकद्वीप तेभागा आंदोलन'', ए.आर. देसाई संपादित, *पीजेंट स्ट्रगल इन इंडिया*, बंबई, 1979.

सरकार, सुमित, ''पापुलर मूवमेंट्स एंड नेशनल लीडरशिप, 1945-47'', *इकोनोमिक एंड पालिटिकल वीकली*, 17(14 व 15), 1982 : 677-89.

शर्मा, सुरेश, ''सावरकर्स क्वेस्ट फार ए माडर्न हिंदू कंसोलिडेशन'', *स्टडीज इन ह्यूमनिटीज एंड सोशल साइंसेज* 2(2), विंटर 1995 : 189-216.

सिंह, अनिता इंदर, ''पोस्ट इंपिरियल ब्रिटिश एट्टीट्यूड्स टु इंडिया : दि मिलिटरी आसपेक्ट, 1947-51'', *दि राउंड टेबल*, 296, अक्तूबर 1985 : 360-75.

———, ''डिकोलोनाइजेशन इन इंडिया : दि स्टेटमेंट आफ 20 फरवरी 1947'', *इंटरनेशनल हिस्टोरिकल रिव्यू*, 6(2), 1984 : 191-209.

———, ''कीपिंग इंडिया इन दि कामनवेल्थ : ब्रिटिश पालिटिकल एंड मिलिटरी एम्स, 1947-49'', *जनरल आफ कंटेपरेरी हिस्ट्री*, 20(3), 1985.

टालबोट, आई.ए., ''दि 1946 पंजाब इलेक्शन्स'', *माडर्न एशियन स्टडीज*, 14(1), 1980 : 65-91.

———, ''दि रोल आफ दि क्राउड इन दि मुसलिम लीग स्ट्रगल फार पाकिस्तान'', *जनरल आफ इंपिरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री*, 21(2), मई 1993.

टिंकर हफ, ''जवाहरलाल नेहरू एट शिमला, मई 1947'', *माडर्न एशियन स्टडीज*, 4(4), 1970 : 349-58.

———, ''दि कांट्रेक्शन आफ इंपायर इन एशिया, 1945-48 : दि मिलिटरी डाइमेंशन'', *जनरल आफ इंपीरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री*, 16(2), 1988 : 218-33.

टोमलिंसन, बी.आर., ''इंडिया एंड दि ब्रिटिश एंपायर, 1935-47''. *इंडियन इकोनोमिक एंड सोशल हिस्ट्री रिव्यू*, 13(3), 1975 : 331-52.

———, ''कांट्रेक्शन आफ इंगलैंड : नेशनल डिक्लाइन एंड लॉस आफ इंपायर'', *जनरल आफ इंपिरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री*, 11(1), 1982 : 58-72.

———, ''इंडो ब्रिटिश रिलेशन्स इन दि पोस्ट कोलोनियल इरा : दि स्टैर्लिंग बैलेंसेज नेगोसिएशन्स, 1947-49'', *जनरल आफ इंपिरियल एंड कामनवेल्थ हिस्ट्री*, 13(3), 1985 : 142-62.

वेंकटचार, सी.एस., "आई सी एस : दि लास्ट फेज", *इंडो ब्रिटिश रिव्यू*, 7(3 और 4), 1974.

वेनराइट, मेरी, "कीपिंग दि पीस इन इंडिया, 1946-47", सी.एच. फिलिप्स और एम.डी वेनराइट संपादित, *दि पार्टिशन आफ इंडिया, पालिसीज एंड पर्सपेक्टिव्ज*, 1935-1947, लंदन, 1970.

जैदी, जैड.एच., "आस्पेक्ट्स आफ दि डेवेलपमेंट आफ मुसलिम लीग पालिसी, 1937-47" सी.एच. फिलिप्स और एम.डी वेनराइट संपादित, *दि पार्टिशन आफ इंडिया, पालिसीज एंड पर्सपेक्टिव्ज*, लंदन, 1970.

ग. अप्रकाशित काम

अहमद, मजरुद्दीन, "दि रूट्स आफ पार्टिशन : ए सोशो-इकोनोमिक एनालिसिज", "दि पार्टिशन आफ इंडिया (1947)" विषय पर सेमिनार में प्रस्तुत पर्चा, साउथ एशिया स्टडीज सेंटर, जयपुर विश्वविद्यालय, मार्च 1991

दास, सुरंजन, "ए न्यू आर्डर इन कम्युनल डिसआर्डर : दि ग्रेट कलकत्ता कीलिंग आफ 1946", "दि पार्टिशन आफ इंडिया (1947)" विषय पर सेमिनार में प्रस्तुत पर्चा, साउथ एशिया स्टडीज सेंटर, जयपुर विश्वविद्यालय, मार्च 1991.

———, "दि कम्युनल चैलेंज इन बंगाल पालिटिक्स, 1940-1947", "नार्थ इंडिया एंड इंडियन इनडिपेंडेंस" विषय पर प्रस्तुत पर्चा, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, 6-9 दिसंबर 1993.

चक्रवर्ती, विद्युत, "दि यूनाइटेड बंगाल मूवमेंट एंड दि 1947 ग्रेट डिवाइड", "नार्दर्न इंडिया एंड इंडियन इंडिपेंडेंस" विषय पर प्रस्तुत पर्चा, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, 6-9 दिसंबर 1993.

केसवन, मुकुल, "इनवोकिंग ए मेजोरिटी—कांग्रेस इन दि यूनाइटेड प्राविंसेज, 1945-47", इतिहास और समाज पर अनियमित पेपर, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय, दूसरी सीरीज, सं. 19, 1989.

कुदेस्या, ज्ञानेश, "आफिस एक्सेप्टेंस एंड दि कांग्रेस, 1937-39" एम.फिल. डिजर्टेशन, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1985.

महाजन, सुचेता, "ब्रिटिश पालिसी टुवड्र्स लेफ्ट नेशनलिज्म : नेहरूज चैलेंज, 1934-37" अप्रकाशित सेमिनार पेपर, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1979.

———, "ब्रिटिश पालिसी टुवड्र्स गांधीज फास्ट, 1943" अप्रकाशित सेमिनार पेपर, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1980.

मत्थेन, उसेप, "मोनेट्री आसपेक्ट्स आफ दि इंटरवार इकोनोमी आफ इंडिया" अप्रकाशित पी.एच.डी. शोधपत्र, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, 1980.

मेनन, विशालाक्षी, "नेशनल मूवमेंट, कांग्रेस मिनिस्ट्रीज एंड इंपिरियल पालिसी : ए केस स्टडी आफ दि यू.पी., 1937-39", एम.फिल. डिजर्टेशन, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, 1981.

मित्रा, चंदन, ''कंट्रीज आफ पापुलर प्रोस्टेट : दि क्विट इंडिया मूवमेंट आफ 1942'', ''ए हिस्ट्री आफ इंडियन नेशनल कांग्रेस, 1885-1947'' विषय पर सेमिनार में प्रस्तुत पेपर, नेहरू स्मारक संग्रहालय और पुस्तकालय (एन एम एम एल), नई दिल्ली, 22-24 जुलाई 1985.

मुखर्जी, मृदुला, ''पीजेंट मूवमेंट्स एंड नेशनल मूवमेंट'', ''नेशनलिज्म एंड नेशनल मूवमेंट्स'' पर इंडो जी डी आर सेमिनार में प्रस्तुत पेपर, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली, मार्च 1988.

थामस, एंटोनी, ''लार्ड लिंलिथगो एंड दि लीग : ब्रिटिश पालिसी टुवड्र्स दि मुसलिम लीग, 1937-42'' अप्रकाशित सेमिनार पेपर, इतिहास अध्ययन केंद्र, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली.

अनुक्रमणिका